वाल्लभमतानुसारी

श्रीमद् भगवद् गीता

विवेचनकर्ता

गो. वा. श्री नानुलाल गांधी

अनुवादक

(गुजराती से हिन्दी)

गोपाल कृष्ण गौड़

दामोदर गौड़

प्रकाशक :
प्रभावती प्रकाशन,
'अड़ेल'
नया शहर, किशनगढ (अजमेर) 305802 राजस्थान।

♦♦♦

सम्पादक :
पूज्य गोस्वामी शरद कुमार जी,
हालोल, माण्डवी

♦♦♦

हिन्दी अनुवाद :
गोपाल कृष्ण गौड़
दामोदर गौड़

♦♦♦

प्रथम हिन्दी संस्करण - वि.स. 2075

प्रतियाँ - 1000

निःशुल्क वितरणार्थ।

♦♦♦

प्राप्ति स्थान :
पुष्टिमार्गीय श्री गोवर्धनधर पुस्तकालय
'अड़ेल'
नया शहर, किशनगढ (अजमेर) 305802 राजस्थान।
मो. 9413228885

♦♦♦

दामोदर गौड़
प्लाट नं. 9, गणपति नगर,
माहेश्वरी पब्लिक स्कूल के पीछे, अजमेर (राज.)
मो. : 919967809647

समर्पित...

पूज्य गोस्वामी श्री श्याम मनोहर जी
(किशनगढ़, पार्ला) के कृपा पात्र,
गो. वा. श्री मोहनलाल जी गौड़
एवं
श्रीमती सोहनी देवी को
जिनकी गोद में पुष्टिमार्ग का
क. ख. ग. सीखा।

आपके आत्मज।

आशीर्वचन.....

स्वमार्गीय संस्कृत ग्रंथों के गुजराती भाषा में अनुवाद करने वालों में आदरणीय श्री नानुलाल गांधी का स्थान और योगदान अविस्मरणीय है. मूल आकर ग्रंथों का उनका अवगाहन अति स्पृहणीय था।

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि प्रिय श्री गोपाल गौड़ ने विद्वान श्री नानुभाई की श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या जो प्राचीन संस्कृत भाषा में लिखी गई व्याख्याओं के आशयको संकलित करके प्रकट की थी, उसका हिन्दी भाषा में अनुवाद बहुत निष्ठा और परिश्रम पूर्वक किया।

मेरी हार्दिक बधाई तथा शुभकामनाएं। इनके घर में बिराजमान पुष्टिप्रभु तथा वाक्पति महाप्रभु इन्हें स्वमार्गीय सिद्धांत की सेवा और भी भविष्य में इसी तरह करते रहने की सामर्थ्य निष्ठा और अनुकूलता प्रदान करें।

गोस्वामी श्याम मनोहर
दिनांक 13 फरवरी 2019
पारला मुंबई

आशीर्वचन.....

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गोलोकवासी श्री नानुलाल गांधी द्वारा गुजराती भाषा मे लिखित भगवद्गीता के विवेचन का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। यह प्रकाशन भगवद्गीता के प्रेमी हिंदी भाषी लोगों को गीता विषयक वल्लभ सम्प्रदाय के अभिप्राय को समझने में अवश्य सहायक होगा। इस समयोचित उत्तम कार्य मे जुड़े अनुवादक प्रकाशक आदि सभी धन्यवादर्ह हैं।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

गोस्वामी शरद
माण्डवी-हालोल
श्रीनाथजी पाटोत्सव
फाल्गुन कृष्ण 7, वि सं 2075

आशीर्वचन.....

सभी वैदिक सनातन धर्मावलम्बी जनों के लिए वेद में श्रद्धा होना अनिवार्य है, वेद के तात्पर्य का ज्ञान श्रीमद्भगवद्गीता के बिना नहीं हो सकता। इसलिए वेद को मानने वाले सभी आस्तिकों की श्रद्धा प्राचीन काल से श्रीमद्भगवद्गीता में भी उतनी ही रही है। आचार्य शंकर से लेकर अपने श्रीवल्लभाचार्यचरण तक सभी आचार्यों ने श्रीमद्भगवद्गीता का माहात्म्य स्थापन किया है। श्री आचार्यचरण आज्ञा करते हैं 'कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थ ये वदन्ति हि, ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः' अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार वेदादि शास्त्रों के अर्थ कहने वाले जो पण्डित हैं वही परम भगवदीय है। वह ही यथार्थ कर्म के स्वरूप को जानते हैं, जो श्रीगीतानुसार वेदोक्त कर्म करे हैं। तथा वह ही पूर्ण ब्रह्मज्ञानी है जो विद्वान श्रीगीता के अनुसार ब्रह्मस्वरूप को जानते हैं, अतः सभी पुष्टिमार्गीय वैष्णवजनों के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

गो. वा. परम वैष्णव नानुभाईगांधी के द्वारा गुजराती भाषा में पुष्टि सम्प्रदाय सम्मत श्रीगीता की व्याख्या मिलती है, जो पुष्टिसम्प्रदाय के अनुयायीजनों के लिए अत्यन्त उपकारक है। हिन्दी भाषी पुष्टिमार्गीयजनों के लाभार्थ प.वै. दामोदरजी गौड़ एवं प.वै. गोपाल कृष्ण जी गौड़ ने वही गुजराती व्याख्या का अनुवाद करके पुष्टिसम्प्रदाय की महती सेवा की है तदर्थ साधुवाद के पात्र हैं। श्री प्रभावती प्रकाशन किशनगढ के प्रथम पुष्प को श्रीआचार्यचरणों के चरणारविन्द में समर्पित करते हुए अत्यन्त आनन्द की अनुभूति हो रही है। आगे भी मार्ग की सेवा करने का बल श्रीपुष्टिप्रभु, श्री आचार्य चरण, श्री प्रभुचरण गोपीनाथजी एवं श्री गुसांईजी प्रदान करें, यही प्रार्थना करता हूँ।

'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिर्गताः ।

गोस्वामी पुरुषोत्तम

''अड़ेल''
नया शहर, किशनगढ, अजमेर
चैत्र शुक्ल 12, वल्लभाब्द 541

निवेदन

कुछेक वर्ष पूर्व पूज्य श्री पुरुषोत्तमबाबा (किशनगढ-जूनागढ) ने अपने किशनगढ प्रवास के समय आज्ञा की कि, गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी की गुजराती भाषा में 'वाल्लभमतानुसारी' श्रीमद्भगवद्गीता का अवगाहन हिन्दी भाषी लोग भी कर सकें, इस हेतु से उक्त ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अपेक्षित है। उस प्रेरणा में शायद कोई आशीर्वाद ही छुपा था कि, यह हिन्दी अनुवाद सम्भव हो पाया।

अनुवाद के प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान सामान्यतया श्रेष्ठ अनुवाद उसे मानते हैं, जिसमें स्रोत भाषा की सामग्री को यथा संभव सहज अभिव्यक्ति द्वारा लक्ष्य भाषा में लाया जा सके। अर्थात् मूल भाषा को हानि पहुंचाये बिना उसकी निकटतम अभिव्यक्ति लक्ष्य भाषा में हो सके। इस कसौटी पर प्रस्तुत अनुवाद कितना खरा है, कहना कठिन है। हमारे लिए तो इतना ही हर्ष-संतोष पर्याप्त है कि, पूज्य श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ,पार्ला) ने अनुवाद के इस प्रयास को आशीर्वाद प्रदान किया है।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद में पुस्तक के आकार-विस्तार के भय से पूज्य शरद बाबा (माण्डवी,हालोल) द्वारा संपादित गुजराती ग्रन्थ से 'प्रास्ताविक', श्रीप्रभुचरण कृत गीतातात्पर्य, गीताजी के मूल श्लोक, शब्दान्वय और विवेचन को ही सम्मिलित किया गया है। आर्ष ग्रन्थों, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीता के प्रति पाश्चात्य और उनके अनुगामी पौर्वात्य आलोचकों की पूर्वाग्रहयुक्त धारणाओं का सप्रमाण खण्डन करने एवं पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिए गीता का महत्व प्रतिपादित करने से संबंधित पूज्य श्रीशरद बाबा का 'प्रास्ताविक' पठनीय एवं मननीय होने से यह पुस्तक सभी के लिए उपादेय होगी।

अनुवाद से लेकर प्रकाशन तक जिन लोगों का सहयोग इसमें प्राप्त हुआ है, उनके प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही चि. धरेश व चि. विभव को भी धन्यवाद देना आवश्यक है, जिन्होंने कम्प्यूटर एवं तकनीकी कार्य में सक्रिय सहयोग दिया।

अनुवादक

द्वितीया पाटोत्सव, वि.सं. 2075

प्रास्ताविक

वेदों का सार, अतएव उपनिषदों का भी सार है- भगवद्गीता। सार निकालने वाले / बताने वाले भी जब 'वेदांतकृत वेद विदेवचाहम्' प्रभु स्वयं हों तो गीता- ''एकम् शास्त्रम् - सभी शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ है'' - इस प्रकार सर्वोच्च पदवी को धारण करें तो इसमें आश्चर्य क्या है?

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के मत में ''भावी जीवों के उद्धारार्थ भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध के अवसर पर सर्वगूढ़ प्रमेय-साधन-फल संबधी सर्वतत्व का अर्जुन को उपदेश दिया है। उस उपदेश को ही सत्यवती सुत व्यासावतार ने महाभारत में समाहित किया है।'' इसलिए श्री आचार्य चरण का दृढ़ आग्रह है कि ''कृष्णवाक्य-गीता के अनुसार जो शास्त्र का अर्थ कहता है वही सच्चा भागवत/भगवदीय है और वही शुद्ध ब्रह्मवादी है।''

महाप्रभु के मत में भागवत पुराण, भगवद् गीता का ही विस्तृत स्वरूप है। इसीलिए महाप्रभु विरचित भागवत व्याख्या सुबोधिनी में गीता का अर्थ गतार्थ होने से आचार्य चरण ने भगवद् गीता पर स्वतंत्र व्याख्या न लिखकर तत्त्वार्थदीप निबंध के प्रथम शास्त्रार्थ प्रकरण के रूप में शास्त्रीय तत्त्वों का गीता के अनुसार निरूपण किया है। आप लिखते है - शास्त्रार्थो गीतार्थः - शास्त्रार्थ प्रकरण गीता का ही अर्थ है।

भगवद्गीता पर संप्रदाय के अनुसार संस्कृत-साहित्य निम्नवत उपलब्ध है-

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य विरचितः तत्त्वार्थ दीप निबंधान्तर्गत शास्त्रार्थ प्रकरण

श्री विट्ठलनाथ प्रभुचरण विरचितः गीता तात्पर्य

न्यासादेश विवरणम्

गीतार्थ विवरणम्

भगवद्-गीता पर उपलब्ध संस्कृत टीकाएं-

अमृत तरंगिणी-गोस्वामी श्री पुरूषोत्तम चरण

तत्त्वदीपिका-गोस्वामी श्री वल्लभजी

रसिक रंजनी-श्री कल्याण भट्ट, प्रकाशितः प्रथमाध्याय मात्र

2. अनुवादः - भगवद्- गीता के संप्रदायनुसार गुजराती-हिंदी अनुवाद नीचे बताए अनुसार हुए हैं :-

1. गो.वा. श्री छगनजी अमर जी शास्त्री - गो.श्रीवल्लभ जी विरचित टीका के आधार पर संक्षिप्त भावानुवाद वि.स. - 1968

2. गो.वा. श्री चिमनलाल हरिशंकर शास्त्री, सूरत, श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा की धार्मिक परीक्षा की पाठ्य पुस्तक के रूप में, अतिसंक्षिप्त वि.सं. - 2007

3. गो.वा. श्री मूलशंकर मोतीराम शास्त्री, भरूच।

शब्दार्थ - शब्दपरिचय - श्लोकार्थ-भावार्थ सहित वि.सं. - 2015

4. गो.वा. श्रीजटाशंकर शास्त्री

5. अमृततरंगिणी - टीका का श्री वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी कृत हिंदी अनुवाद का गुजराती अनुवाद। अनुवादक : श्री मगन भाई तन्ना। प्रकाशन : वल्लभ सुधा मासिक पत्रिका ई.- 1983 से 91

6. श्री कल्याण भट्ट विरचित भगवत गीता की रसिकरंजनी टीका गुजराती अनुवाद सहित - प्रथमाध्याय मात्र। अनुवादकः गो.वा. श्री नागरीदास वांभणिया। प्रकाशक : अनुग्रह मासिक पत्रिका वर्ष 1-3 तथा पुस्तकाकार गो.वा. श्री गिरधारीलाल शाह

7. अमृततरंगिणी टीका का हिंदी अनुवादः श्रीवासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी। प्रकाशक : श्री विद्या विभाग, कांकरोली, वि.सं.2035 कुछेक अंशों का अनुवाद छूट गया है।

8. गो.वा. श्री नानुलाल नारायण दास गांधी, प्रस्तुत प्रकाशन। अनुवादेतर प्रमुख प्रकाशित साहित्य: – गीता गुंजन, हिंदी लेखक: श्री नवनीत प्रिय शास्त्री अध्ययनार्थ सांगोपांग शुद्ध संप्रदायानुसारी उत्तम कृति।

गीता-मंथन-गुजराती.लेखक: गोस्वामी इंदिरा बेटी जी नाति संक्षिप्त, नाति विस्तृत, सरल भाषा, दशमाध्याय पर्यन्त।

3. पुरूषोत्तम योग: गोस्वामी श्याम मनोहर जी (किशनगढ-पार्ला) :
गो.वा. श्री रमानाथ शास्त्री :
गो.वा. श्री वसंत राम शास्त्री
कर्म रहस्य : गोस्वामी श्री चंद्र गोपाल जी
गीता का पृथक शरण मार्ग, गो.वा. श्री रमानाथ शास्त्री
इनके अलावा भी पुष्टिमार्ग से संकलित किए हुए भगवद-गीता विषयक कितने ही ऐसे प्रकाशन हैं जो प्रसंगवश अलग समीक्षा की मांग करते हैं।

9. श्रीमद् भगवतगीता : तात्त्विक अभ्यास, श्री के. का. शास्त्री अंतरंग व बहिरंग निरीक्षण। इस प्रकार दो भाग में विभक्त इस पुस्तिका के पृष्ठ 84 पर शास्त्री जी का यह विधान अत्यंत आश्चर्यजनक है कि – पौर्वात्य अथवा पाश्चात्य किसी भी विद्वान ने गीता में आने वाले – 'गुह्य गुह्यतर सर्वगुह्यतम्' इस प्रकार के वचनों का तत्-तत् प्रसंग के संदर्भ में विचार नही किया है।

यह विधान/कथन विस्मय जनक है। पाश्चात्य और वाल्लभ विद्वानों को छोड़कर पूर्व के अन्य विद्वानों के विषय में तो स्वयं लेखक जाने परंतु जहां तक वल्लभ संप्रदाय का प्रश्न है अधोनिर्दिष्ट उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भगवदुक्त 'गुह्य गुह्यतर गुह्यतम सर्वगुह्यतम' के बारे में संप्रदाय में पर्याप्त एवं बारंबार विचार हुआ है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित और स्वमार्गीयसंस्कृत ग्रंथों के अध्येता, अनुवादक, संपादक और प्रकाशक शास्त्री जी, महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य विरचित तत्वार्थदीप निबंध के सर्वनिर्णय प्रकरण की कारिकाओं–

सर्वतत्वं सर्वगूढं प्रसंगाद् आह पांडवे (59)
सर्वगोप्योहि धर्मस्तु.... इदानीं तु गीतायां प्रकटोभगवत्कृत: (63-64)
इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत,
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते (305)

तथा प्रकाश और आवरणभंग की उनकी संस्कृत विवृतियों में गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम, सर्वगुह्यतम वचनों से उपलब्ध प्रसंगोचित विचार –सारणियों से अनभिज्ञ होंगे, यह मानने वाली बात नहीं है।

देखिये – ''आवरण भंग'': ''सप्तामाष्टमाभ्याम् सपरिकरम् ज्ञानम् उक्त्वा ततो नवमाध्याये इदन्तु ते गुह्यतमम्'' इति प्रतिज्ञाय गुह्यतमे ज्ञान विज्ञाने पापमोक्षाय वदता..... राजविद्यातोपि यद् राजगुह्यं बुद्धिस्थं प्रवक्ष्यामि इत्यनुषंगेन द्वाभ्यां प्रतिज्ञातं..... अष्टादशे च सर्व गुह्यतमं शृणु'' इति प्रतिज्ञाय ''मन्मना भव'' ''सर्वधर्मान् परित्यज्य'' इति कथितम्''। देखिये कारिका 222 पर आवरणभंग की टीका भी।

गीता के बहिरंग निरीक्षण में शास्त्री जी ने महाभारत और भगवद् गीता के विषय में, भारतीय परंपरागत मत के अत्यंत विरूद्ध और षडयंत्रकारी पश्चिमी ईसाई आक्रांताओं की दुष्ट मानसिकता से भगवद्गीता के विषय में प्रचारित अप्रामाणिक मान्यता के समर्थन में अपना अभिप्राय किंचित संशोधन-परिवर्धन के साथ प्रस्तुत किया है। देखिये निम्नांकित उद्धृतांश:

''भीष्म पर्व के अंतर्गत ''भगवद्गीता पर्व'' मूलत: कम श्लोक युक्त कोई पुराना पद्यात्मक उपनिषद था जिसे ''महाभारत'' में समाविष्ट कर लिया गया। (पृ 67)

महाभारत में बाद में अंतर्विष्ट गीता के 700 में से बाद के 101 श्लोकों के अतिरिक्त सभी चमत्कारमूलक और पुराण कोटि के श्लोक हटाने योग्य हैं। क्योंकि अर्जुन के विषाद को दूर करने के लिए उतना ही पर्याप्त था! (पृ. 70)

स्वयं की उल्लिखित मान्यताओं का अद्यावधि किसी ने खंडन नहीं किया, इस बात पर उन्होने ''शतश्लोकी गीता'' नामक पुस्तिका की भूमिका में हर्ष व्यक्त किया हैं। यहाँ , यह कहना पड़ रहा है कि यदि लेखक ने ''गोरावाक्यं प्रमाणम्'' वाली गुलाम मानसिकता को कुछ क्षण के लिए एक तरफ रखकर अपने पूर्व समकालिक और भारतीय इतिहास एवं धर्म-परंपरा के रक्षक श्री भगवददत्त, श्री बालगंगाधर तिलक इत्यादि; अपने समकालिक श्री वीर मणि प्रसाद उपाध्याय, श्री कृष्णमणि त्रिपाठी, श्री रामदास गौड़ आदि तथा उत्तर समकालिक एन एस राजाराम,स्टीफन कनाप्प, प्रो. दिनेश अग्रवाल, डॉ. एस. बालकृष्ण, डेविड क्रेवली, श्री वी वी गिरी, श्री पी. वी. वर्तक, बी. बी. लाल इत्यादि इतिहासविदों के लेखन का अध्ययन करने का श्रम किया होता तो उन्होने गीता-महाभारत विषयक जो अप्रामाणिक और विचित्र विधान किया है वह नहीं किया होता।

वस्तुतः तो लेखक ने ईसाई षड्यंत्रकारी पश्चिमी अनुसंधानकर्ताओं द्वारा किए गए विधान का मात्र पुनरूच्चार किया है जिनका अक्षर-अक्षर खंडन अनेक प्रमाणों और युक्तियों के साथ उपर्युक्त इतिहाविदों-विशेषकर पं. भगवद दत्त और श्री तिलक ने अपनी - अपनी कृतियों में किया ही है। अतः जब तक उक्त विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रमाणों और युक्तियों का सबल और सटीक प्रत्युत्तर नहीं दिया जाता तब तक लेखक की धारणायें प्रतिज्ञा मात्र और आनंदाभिव्यक्ति, मिथ्या गर्वोक्ति के अलावा कुछ नहीं है।

इतने पर भी, इस विषय पर प्रसंगवश कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है-

यह एक वास्तविकता है कि प्राचीन भारतीय धर्मवेत्ताओं द्वारा बहिरंग विषयों की तुलना में ग्रंथ में निरूपित तत्व-धर्म सिद्धांतों के विवेचन पर अपेक्षाकृत अधिक ज़ोर दिये जाने से उनके लेखन में बहिरंग विषय अल्पचर्चित रहे हैं। वस्तुतः भारतीय धर्म ग्रंथों के बहिरंग पक्ष की संवीक्षा तब शुरू हुई जब साम्राज्यवादी पश्चिमी अनुसंधित्सुओं ने दुर्भावना पूर्वक वेदादि शास्त्रों और भारतीय इतिहास परंपरा का अध्ययन शुरू किया तथा उनको मनगढ़ंत विकृत स्वरूप के साथ प्रस्तुत किया।

अपनी जाति को विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति और ईसाई धर्म परंपरा को सर्वश्रेष्ठ धर्म परंपरा मानते हुए अभिमान के साथ भारत में आ धमकने वाले पश्चिमी ईसाई आक्रांताओं को जब विराट वैविध्यपूर्ण सुदीर्घकालीन सुदृढ़ भारतीय वैदिकधर्म परंपरा का ज्ञान हुआ तो अपनी सर्वश्रेष्ठता का उनका भ्रम टूटकर चकनाचूर हो गया। परंतु उनके अदम्य अहंकार ने भारतीय धर्म परंपरा के प्रति उनके भीतर ईर्ष्या और द्वेष भावना को जन्म दिया। भारत के गवर्नर जनरल मार्क्विस लिखते हैं - ''हिन्दू लोग मुझे पशु तुल्य लगते हैं तिस पर उनकी बुद्धि कुत्ते से अधिक होगी, ऐसा नहीं लगता।''

" The Hindoo appears a being merely limited to mere animal funcations, and even in them indifferent.....with no higher intellect than a dog" (1810, governor-general Marquis of hastings.)

गोरे लोगों के दो लक्ष्य थे -

भारत को गुलाम बनाए रखकर हर तरह से इसका शोषण करते रहना और (2) वैदिक भारतीय जनता को ईसाई बनाना।

सुदीर्घकालीन गौरवशाली परंपरा की वाहक भारतीय जनता को केवल सत्ता के बल पर लंबे समय तक गुलाम बनाए रखना उनको कठिन लगा। दूसरी ओर, हजारों वर्ष प्राचीन वैदिक परंपरा के समक्ष उनकी ईसाई धर्म परंपरा दूध पीते बच्चे के समान थी। अतः भारतीय प्रजा को गुलाम बनाने से अधिक दुष्कर उन्हें ईसाई बनाना प्रतीत हुआ।

6. देखिये ऋग्वेद और विष्णुपुराण का अँग्रेजी अनुवाद करने वाले और संस्कृत अँग्रेजी शब्दकोश के रचयिता बंगाल एशियाटिक सोसायटी के सेक्रेटरी एच.एच. विल्सन (1786-1807) क्या कहते हैं - ''लोगों को गुरू और शास्त्रीय गंथों पर आश्रित रखने की प्रवृत्ति ब्राह्मण शिक्षा पद्धति की है.....इस स्थिति में इन लोगों को यह समझा पाना कठिन है कि वेद, मनुष्य

लिखित अत्यंत साधारण साहित्य है, पुराणों का लेखन आधुनिक काल का है और वह वाहियात है तथा उसी प्रकार तंत्र साहित्य में भी सम्माननीय कुछ नहीं है। इन लोगों को ये सभी बातें तब तक समझाना संभव नहीं है जब तक उनके अंदर शास्त्र श्रद्धा है।.....अत: सबसे जरूरी बात उनको यह दिखलाना है कि उनके सभी शास्त्र निरर्थक हैं''।

The whole tendency of brahminical education is to enforce dependence upon authority in the first instance upon the guru, the next upon the books.....it will be difficult to persuade him that the Vedas are human and very ordinary writings, that the puranas are modern and unauthentic, or even that the tantras are not entitled to respect. As long as he opposes authority to reason and stifies the working of conviction by the dicta of a reputed sage, little impression can be made upon his understanding. Certain it is,therefore,that he will have recourse to his authorities, and it is therefore important to show that his authorities are worthless."

ऐसी स्थिति में उपर्युक्त दोनों षडयंत्रों को सफल करने के लिए भारतीय जन-मानस में भारतीय धर्म परंपरा के प्रति हीन भावना पैदा करना तथा गोरी प्रजा और ईसाई परंपरा के प्रति आदर भाव पैदा करना उनको आवश्यक लगा। जोर-ज़बरदस्ती किए बिना किसी भी प्रजा को आत्मगौरव हीन बनाने के सबसे सरल उपाय हैं - 1. उस प्रजा की अपनी पहचान नष्ट कर देना, और 2. उनको अपनी मातृभाषा से अजान बना देना ताकि वे कभी पीछे मुडकर अपने उद्गम को सच्ची दृष्टि से न देख सकें।

मैक्समूलर लिखते हैं - ''मैं भारत में दस वर्ष तक बहुत शांति और एकांत में रहकर यहाँ की भाषा सीखना चाहता हूँ और यहाँ मित्र बनाकर यह देखना चाहता हूँ कि मैं अपने काम(भारतीय धर्म शास्त्रों और इतिहास को विकृत करना) को अंजाम दे सकता हूँ अथवा नहीं ताकि प्राचीन भारतीय धर्मव्यवस्था द्वारा फैलाये गए पाखंड को उखाड़ फेंका जा सके और सीधे-सरल ईसाई धर्म का भारत में प्रवेश का रास्ता खोला जा सके.....ईसाई धर्म

में लोगों को धर्मांतरित (धर्मभ्रष्ट) करने की दृष्टि से संत पॉल के समय के रोम और ग्रीस और भारत की तुलना करने पर भारत अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल स्थान है। मेरा यह प्रकाशन और वेदों का अनुवाद आज के बाद भारत और भारत के असंख्य निवासियों को उनका भविष्य बताएगा। ऋग्वेद उनके धर्म का मूल है। इस मूल में से गत तीन हज़ार वर्षों में जो उभर कर बाहर निकला है उसके मूलोच्छेदन का एक ही उपाय है कि उनको उनका उद्गम(अपने ढंग से) दिखा दिया जाये''।

"I would like to live for ten years quite quietly and learn the language, try to make friends, and then see if I was fit to take part in this work, by means of which the old mischief of indian priestcraft could be overthrown and the way opened for the entrance of simple christian teaching.....India is much riper for christianity then Rome or Greece were at the time of St. Paul.".....this edition of mine and the translation of the vedas, will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in that country. It (The Rigveda) is the root of their religion and to show them what the root is, I am sure, the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years" (Life and Letters if Maxmueller, 1902 pg. 328)"

केरल के कोचीन शहर से लिखे गए पत्र में फ्रांसिस ज़ेवियर बताते हैं ''लोगों को ईसाई धर्म की दीक्षा देने के बाद मैं उनको उनके उन स्थलों (मंदिरों)को नष्ट करने का आदेश देता हूँ जिनमे वे अपनी मूर्तियाँ रखते हैं। चूंकि अब वे ईसाई बन चुके हैं, इसलिए मै उनसे उनकी पूज्य मूर्तियों के छोटे-छोटे टुकड़े कराता हूँ। मूर्तिपूजकों के हाथों से उनकी पूज्य मूर्तियों को नष्ट कराने से मुझे जो आत्मसंतोष मिलता है उसका वर्णन करते हुए मैं थकता नहीं हूँ''।

When i have finished baptizing the people, i order them to destroy the huts in which they keep their idols, and I have them break the statues of their idols into tiny pieces, since they are now christians. I could never come to an end

describing to you the great consolation which fills my soul when I see idols being destroyed by the hands of those who had been idolators." (the letters and instructions of Francis Xaviers, 1993, pg. 117-118)

मैकाले कहता है ''आज जब हम अँग्रेजी भाषा पढ़ाने की दृष्टि से सत्ताधारी हैं तब इतना ही विचारणीय है कि क्या हम भारत के विद्यालयों में यह भाषा सिखाएँगे कि जिस भाषा में एक भी पुस्तक एक भी विषय पर ऐसी नहीं है जो अँग्रेजी पाठ्यपुस्तकों के समकक्ष हो.....मैं तत्काल अरबी और संस्कृत पुस्तकों का प्रकाशन बंद कर दूंगा, कलकत्ता के मदरसों और संस्कृत कॉलेजो को नेस्तनाबूद करा दूंगा। जिन्हें अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त होगी उनमे से एक भी हिन्दू अपने धर्म के साथ सच्चे अर्थ में जुडा हुआ नहीं रह पाएगा ।

"The question now before us is simply whether, when it is power to teach the (English) language, we shall teach language in which there are no books on any subject which deserve to be compared to our own..... I would at once stop the printing of Arabic and Sanscrit books, I would abolish the Madarssa and the Sanscrit college at Calcutta. "No Hindu who has received an English education ever remains sincerely attached to his religion." (Speech in the British Parliament. 1835, Lord Thomas Babbington Macaulay).

ईसाई प्रजा विश्व में अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया, रोम, ग्रीस इत्यादि और भारत के पूर्वी राज्यों, दक्षिण के केरल आदि जिस किसी भी स्थान पर गयी है वहाँ उन्होने इन्हीं युक्तियों को इस्तेमाल करते हुए उन प्रदेशों के धर्म,इतिहास,उनकी संस्कृति,भाषा,समाज व्यवस्था सभी को नेस्तनाबूद कर दिया है। 18-19 वीं सदी में अधिकांश पश्चिमी, विशेष रूप से ईसाई अनुसंधानकर्ताओं;विलियम जोंस, एच.एच.विल्सन, फ्रेडरिक मैक्समूलर, अल्बर्टवेबर. लारिन्सर, एडवर्ड वाशबर्न,हापकिंस, व्हिटलिंग, कूहन, मोनियर विलियम्स, रूडोल्फ हार्नली, रिचर्ड गार्बे, विंटेर्निट्ज, वेलिंगटन, मैकाले आदि ने अपने अधम इरादों को पूरा करने के लिए भारतीय धर्म और

परंपरा के आधार स्वरूप वेदादि शास्त्रों को दूषित करने और हीन साबित करने के लिए सर्वप्रथम अपना शिकार बनाया था। सत्ता तो उनके पास ही थी। इससे भी आगे जाकर अंग्रेज सत्ता के सहारे अपने लिखे हुए विकृत इतिहास और वैदिक ग्रंथों को भारतीय जनता को पढ़ाना चाहते थे।

अंग्रेज़ो ने भारतीय इतिहास, शास्त्र,जीवनप्रणाली-समाजव्यवस्था, तत्वचिंतन, भारतीय विद्या आदि का मैक्समूलर जैसे भाड़े के टट्टुओं और एच.एच.विल्सन जैसे कट्टर ईसाई मिशनरी मानसिकतावालों के साथ अध्ययन कराके *उनको दूषित विकृत कराके, उनका हीन चित्रण कराके तथा उनमे जो कुछ भी श्रेष्ठ है वह सब केवल विदेशी (पश्चिमी) प्रभाव के कारण ही है, ऐसी धारणा भारतीय जनमानस में ठूंसने का भंयकर षड्यंत्र रचने का प्रयत्न किया ताकि भारतीय सदा हीन भावना ग्रस्त रहें।

*"It seems to me that our missionaries are already sufficiently convinced of the necessity of studying these works, and of making themselves conversant with the false creeds they have to fight against. How could an army of invaders have any chance of success in an enemy's country without a knowledge of the position and strength of its fortresses, and without knowing how to turn the batteries they may capture against the for?" Monier Williams, "Religious Thought and Life in India" pg. 10

भारतभूमि को मातृभूमि मानने के कारण विदेशी ब्रिटिश लोगों के विरूद्ध आंदोलन चला रहे मूल भारतीयों को ही यदि किसी प्रकार विदेशी (आर्य)साबित कर दिया जाए तो उनके विरोध के पीछे कोई सैद्धांतिक आधार नहीं रह जाता और विदेशी होने के बावजूद यदि (तथाकथित)आर्य भारत में बस सकते हैं और राज कर सकते हैं तो ब्रिटिश लोग भारत पर राज करें उसमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है। यही विचार लेकर अंग्रेजों ने ऐसा बनावटी इतिहास लिखवाया कि(तथाकथित) आर्य, वेदों और यज्ञ परंपरा को लेकर उत्तर पश्चिम से भारत में आए और उत्तर भारत में नदियों के तट पर बस गए।

भारतीय प्रजा में परस्पर द्वेष भावना को जन्म देने के लिए उन्होंने ऐसा भी विकृत इतिहास लिखा कि(तथाकथित)आर्य प्रजा ने द्रविड़ लोगों को उत्तर भारत से दक्षिण की तरफ मार भगाया। यह जहर भारतीय जनमानस में उंडेलने के लिए अंग्रेजों ने मूलर और मैकाले की नीति का अनुसरण किया। दिसम्बर 1868में भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को भेजे गए पत्र में मैक्समूलर लिखते हैं; ''भारत को एक बार जीता जा चुका है परंतु अब भी भारत को एक बार और जीता जाना है। यह दूसरी विजय शिक्षण द्वारा की जानी अपेक्षित है.....भारत का प्राचीन धर्म मर चुका है। इस अवसर पर यदि ईसाई धर्म अपने पैर नहीं पसारेगा तो यह किसका दोष माना जाएगा?

"India has been conquered once, but India must be conquered again and that second conquest should be a conquest by educaton.....the ancient religion of india is doomed, and if Christianity does not step in, whose fault will it be?"

मैकाले ने कहा था कि जो लोग भारतीय परंपरागत पाठशालाओं में शिक्षण लेना छोड़कर एकबार अंग्रेजों द्वारा प्रारंभ किए गए(जो आज भी समग्र भारत मे सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं)स्कूल कॉलेज में अंग्रेजों के लिखे धर्म और इतिहास के पाठ सीख लेंगे वे ''रंग और रक्त से भले ही भारतीय होंगे परंतु रूचि, अभिप्राय,सिद्धांत और बुद्धि से अंग्रेज़ बन जाएँगे''।(Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinion, in morals and in intellect.)

एक पत्र में मैकाले अपने पिता को लिखते हैं - ''मैं मानता हूँ कि अंग्रेजी शिक्षण की अपनी योजना का यदि ठीक-ठीक अनुसरण होगा तो आज से तीस वर्ष बाद बंगाल के प्रतिष्ठित वर्ग में एक भी व्यक्ति देवमूर्ति की पूजा करने वाला नहीं बचेगा। यह इतना महती कार्य किसी भी प्रकार के धर्मांतरण के बिना, किसी भी प्रकार के धार्मिक प्रतिबंध लादे बिना केवल ज्ञान (!)से स्वाभाविक प्रक्रिया और रिफ्लेकशन से सफलतापूर्वक पूर्ण हो सकेगा। मुझे इस प्रोजेक्ट में हार्दिक आनंद का अनुभव हो रहा है।''

".....It is my belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolater among the respectable classes in Bengal thirty years hence. And this will be effected without any efforts to proselytize, without the smallest interference with religious liberty, by natural operation of knowledge and reflection. I heartly rejoice in the project." (In a letter to his father in 1836, macaulay)

मोनियर विलियम्स ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में भाषण देते हुये कहते हैं :''जिस समय ब्राह्मणत्व के प्रचंड शक्तिशाली दुर्ग को घेर कर, आन्तर्विग्रह करके अंततः क्रॉस के सैनिकों के तूफानी आक्रमण द्वारा उनको उड़ा दिया जाता है तो ईसाइयत की विजय निश्चित समझ लीजिये।

"When the walls of the mighty fortress of Brahmanism are encircled, undermined and finaly stromed by the solders of the cross, the victory of Christianity must be single and complete. "(Monier Williams, Adressed in Oxford University).

अंग्रेजों ने अपने विद्यालय-कॉलेज शुरू कर उनके माध्यम से विकृत पाठ्यपुस्तकों का अध्यापन शुरू कराया। सरकारी विद्यालय कॉलेज में पढ़ने वालों को सरकारी नौकरी का लालच दिया। शास्त्रों का अध्ययन कराने वाले परंपरागत विद्यालयों को बंद कराया। इसके द्वारा उन्होने भारतीय मानस में अपने ईसाई विचार घुसाकर भारतीयों को ही भारत का दुश्मन बना दिया। एच.एच.विल्सन कहते हैं:

10. ''अपने अल्प साधनों को देखते हुए हमारे लिए अनपढ़ (भारतीय) जनसमूह को शिक्षित करना असंभव लगता है। इस स्थिति में हमें भारतीयों के बीच एक ऐसा वर्ग पैदा करने के लिए यथासंभव श्रेष्ठ प्रयास करना चाहिए जो हमारे और हमारी गुलाम(भारतीय)प्रजा के बीच संवाद स्थापित करने का कार्य कर सके। और यह वर्ग ऐसा होना चाहिए कि जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हो पर रूचि, अभिप्राय, सिद्धान्त और बुद्धि से अंग्रेज़ हों। भारतीयों के इस वर्ग पर उनकी स्थानीय गँवार बोली को पश्चिमी सुसंस्कृत

परंपरा से प्राप्त वैज्ञानिक पारिभाषिक भाषा के माध्यम से उन्नत बनाने का काम छोड़ा जा सकता है।''

"It is impossible for us with our limited means, to attempt to educate the body of the people. We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern, a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect. To that class we may leave it to refine the vernacular dialects of the country, to enrich those dialects with terms of science borrowed from the Western nomenclature....."

परिणाम आज हमारे सामने प्रत्यक्ष है - अंग्रेजों द्वारा शुरू की गई शिक्षण परंपरा से पढ़ने वाला, चाहे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षित हो अथवा हिन्दी-गुजराती-मराठी- या फिर तमिल-कन्नड भाषा माध्यम से, भारतीय धर्म, नीति, परम्परा, भाषा, वेश आहार, के प्रति अंजाने में ही हीन भावना रखनेवाला और सभी विदेशी संदर्भों के प्रति अनुपम सम्मान और आकर्षण रखने वाला हो जाता है; यहाँ तक कि कुत्ता भी भारत के बजाए विदेशी ही पसंद आने लगता है।

भारत सरकार की कुबुद्धि की बलिहारी और भारतीय जनता का दुर्भाग्य यह है कि गुलामी से छूट जाने के बाद भी और पूरे विश्व द्वारा आर्यों के भारत आगमन की मान्यता को निराधार मानने के बावजूद भारतीय इतिहास के वे ही विकृत पाठ शालाओं में सरकार द्वारा पढ़वाए जा रहे है जो कुटिल अंग्रेजों ने हम भारतीयों को अपने जूतों के नीचे दबाए रखने और ईसाई बनाने के दुराशय के साथ लिखे थे।

अपने धर्म-परंपरा-संस्कृति के प्रति गौरव की भावना रखने वाले अन्य किसी भी देश में ऐसे लोगों को पूजना या उनके लिखे पाठों को देश के विद्यालयों में पढ़वाया जाना संभव नहीं होगा कि जिन विदेशियों ने उस देश की परम्परा, संस्कृति, धर्म और इतिहास को नेस्तनाबूद करना ही अपने जीवन का

लक्ष्य बना लिया हो किन्तु भारतीय जनमानस की बलिहारी है कि ''चूंकि अब वे ईसाई बन चुके हैं, अतः मैं उनसे उनकी पूज्य मूर्तियों के छोटे-छोटे टुकड़े कराता हूँ। मूर्ति पूजकों के हाथों उनकी पूज्य मूर्तियों का नाश होने से मुझे जो आत्मसंतोष मिलता है, मैं उसका वर्णन करते थकता नहीं हूँ।'' ऐसी शैतानी मानसिकता वाले शख्स भारत में न केवल संत की भांति पूजे जाते हैं बल्कि उनकी दुराशयता की पूर्ति के लिए भारत के कोन-कोने में उनके नाम के स्कूल-कॉलेज भी भारत सरकार की मंजूरी और सहायता से चलाये जाते हैं जिनमें हिन्दू लोग अपने बालकों को अतिउत्साह से पढ़ने भेजते हैं! धिक्कार है ऐसी आत्मगौरवहीनता को। गोरे लोगों ने भारतीय धर्म और इतिहास को विकृत किया। इसके पीछे उनमें अपनी जाति और परंपरा की सर्वश्रेष्ठता का घमंड और साम्राज्यवादी कूटनीति के अतिरिक्त उनकी बाइबल में वर्णित मिथकों में अंधी आस्था और वैचारिक/सैद्धान्तिक सीमाएं भी थीं। प्रसंगवश उनको जान लेना भी वांछित होगा:

क्राइस्ट द ओन्ली सेव्यर्: 1. ईसाई धर्म अपनाए बिना मानव पापमुक्त नहीं हो सकता। कोई चाहे जिस धर्म में चाहे जितनी प्रबल आस्था रखता हो पर यदि वह ईसाई धर्म में दीक्षित हुए बिना मृत्यु पाएगा तो निश्चित रूप से नर्क में ही जाएगा। गैरईसाई मानव जाति को तथाकथित रूप से नर्क में जाने से रोकने के लिए उनको साम-दाम-भेद अथवा दंड से भी ईसाई बनाना।

2. सृष्टि 6011 वर्ष पूर्व : बाइबल के मिथक के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति आज से 6011 वर्ष पूर्व अर्थात 24 अक्टूबर ई. पूर्व 4004प्रातः 9 बजे हुई थी और नूह(Noah) का जलप्लावन ईसा से 1500 वर्ष पूर्व हुआ था। अतः दुनिया का कोई भी इतिहास उससे प्राचीन हो ही नहीं सकता।

3. बाइब्लिकल मूलपुरूष : बाइबल के मिथक के अनुसार नूह के जलप्लावन के समय नौका पर सवार नूह के परिवार के अलावा पृथ्वी की समग्र मानव जाति नष्ट हो गई थी। अतः जलप्लावन के बाद नूह की नाव जहां टिकी वह वर्तमान टर्की में पड़नेवाले अरारट पर्वत के पास का इलाका था और

समग्र पृथ्वी पर मानव जाति का फैलाव नूह के परिवार के माध्यम से हुआ। अत: पृथ्वी के किसी भी प्रदेश में बसे लोगों का जिस-तिस प्रदेश को अपनी जन्मभूमि मान लेना भारी मूल है।

उपर्युक्त कूपमंडूक वैचारिक सीमाओं, सर्वश्रेष्ठता के अभिमान और साम्राज्यवादी षड्यंत्र के कारण गोरों ने भारतीय धर्मग्रंथों, इतिहास और पुरातत्वीय उपलब्धियों की गुणवत्ता के मूल्यांकन तथा कालनिर्धारण के लिए निम्नलिखित नीति तय की:

यथासंभव भारतीय ग्रंथों (मायथोलोजी) को कपोल-कल्पित वार्ताओं - मिथक के रूप में प्रचारित करना ताकि बाइबल और पश्चिमी परंपरा की श्रेष्ठता पर कोई आंच न आए।

जहां तक हो सके प्राचीन भारतीय साहित्य को ई.पू. 1500 से अधिक प्राचीन नहीं मानना ताकि बाइब्लिकल जलप्लावन का प्रसंग झूठा न ठहरे।

इतने पर भी यदि भारतीय ग्रंथों को प्राचीन मानना ही पड़े तो भारतीय साहित्य के जो अंश गंभीर तत्व दर्शन, उच्च नीति-अध्यात्म विचार और उत्तम कला आदि का निरूपण करनेवाले दिखाई दें उनको *पश्चिमी प्रभाव तले बाद में रचित और येन-केन उन ग्रंथों में बाद में जोड़े हुए साबित करना ताकि भारतीय श्रेष्ठ धर्म परंपराएँ पश्चिम की उपजीवी साबित हों।

*The pecuilar colouring of the Krishna sect, which pervades the whole book(Mahabharta), is noteworthy: Christian legendry matter and other western influences are unmistakably presnt. "(Weber)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत की गुलामी के समय से लेकर आज तक घमंडी पश्चिमी ईसाई अनुसंधानकर्ता भारत विरूद्ध षड्यंत्र के रूप में; वैसे ही 'गोरा वाक्यम् प्रमाणम्' मानने वाले गोरे लोगों की मानस संतान सदृश अनेक गुलाम भारतीय लेखक भी जाने-अंजाने उनके पदचिह्नों पर चलते हुए भारतीय धर्म और इतिहास को अभारतीय, हीन, अविश्वसनीय, असम्बद्ध और

विकृत रूप में चित्रित करने के दुष्प्रयास करते आए हैं। महाभारत और भगवद्गीता विषयक शास्त्रीजी के विधान भी पश्चिमी विचारधारा से एक कदम आगे जाकर पश्चिमी विचारकों का ही अनुसरण कर रहे हैं; यह हकीकत है। यथार्थ में तो इस प्रकार के विधानों को शास्त्रीजी को उद्धरण चिह्नों ("....") के बीच छापना चाहिए था। कारण कि महाभारतकार वेदव्यास द्वारा महाभारत में उपनिबद्ध भगवद्गीता के बारे में ऐसे प्रमाणरहित तुक्के छोड़ने का सर्वप्रथम श्रेय शास्त्रीजी को नहीं बल्कि एडवर्ड वाशबर्न होपकिंस (1857-1932) को जाता है। होपकिंस ने "द रिलिजन्स ऑफ इंडिया" के पृ 389 पर लिखा है- "अब जो कृष्ण-प्रधान रूप मिलता है, वह पूर्व में कोई पुरानी विष्णु-प्रधान कविता थी और उससे भी पहले वह एक नि:साम्प्रदायिक रचना थी, संभवत: कोई परवर्ती लिखित उपनिषद।" "आउटलाइन ऑफ द रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इंडिया" के परि. पृ. 95 पर संबन्धित लेखक फर्कहारे ने भी यही तुक्का छोड़ा है।

हकीकत तो यह है कि अपनी जाति को विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति मानने वाले गोरे लोगों के कलेजे पर भगवद्गीता की विश्वव्यापी लोकप्रियता देखकर साँप लोटते थे। भगवद्गीता यदि बाइबल की तुलना में अधिक प्राचीन प्रमाणित हो जाती तो गोरे लोगों को अपने कल्चर, जाति और धर्म का नाक कटता हुआ लगता था। भगवद्गीता को, अतएव, यथाभिलषित रूप से तोड़मरोड़ कर पश्चिमी विचारों से प्रभावित करना उनके लिए अनिवार्य था। इस कारण से भगवद्गीता के रचनाकाल को यथासंभव पीछे ईस्वी सन के नजदीक ले जाना जरूरी था।

भारतीय धर्मग्रंथों के विषय में तयशुदा पूर्वोक्त नीति का अनुसरण करके गोरे लोगों ने भगवद्गीता के रचयिता उसके रचना काल, महाभारत और गीता का संबंध, भगवद्गीता की श्लोक संख्या इत्यादि बहिरंग संदर्भों के बारे में अनेक अप्रामाणिक मत खड़े करके भारतीय जनमानस में उस संबंध में संशयों का बीजवपन किया जिसका शिकार शास्त्रीजी जैसे अनेक लोग बने।

आगे यह स्पष्ट किया जा रहा है कि पंडित श्री भगवतदत्त, श्री बालगंगाधर तिलक, प्रभृति अनेक इतिहासविदों ने गीता-महाभारत विषयक जिस निराधार और अभारतीय विचारधारा के शास्त्रीजी अनुयायी हैं, उसका सैंकड़ों पृष्ठों में, प्रबल प्रमाणों और युक्ति-प्रयुक्तियों के प्रहार से खंडन कर ही दिया है। यहाँ उन खंडनों का संकलन कर पाना संभव नहीं है, जिज्ञासुजन उक्त इतिहासविदों के ग्रंथों से अपनी जिज्ञासा शांत कर सकते हैं। तथापि, इस संबंध में परंपरागत शुद्ध भारतीय मत को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है:

1. महर्षि व्यास ही कृष्णार्जुन संवाद रूप गीता के संकलनकर्ता है। 2. पांडव-कौरव युद्ध की समाप्ति के बाद तुरंत उसका संकलन किया गया है। 3. भगवद्गीता जयभारत-महाभारत का ही भाग है। 4. जिस रूप में भगवद्गीता श्री शंकर आदि भारतीय आचार्यों को उपलब्ध हुई है वही उसका मूल स्वरूप है।

गीता श्रुति नहीं थी: ब्रह्मसूत्रकार गीता को ''स्मृतेश्च'' द्वारा स्मृति कोटि का शास्त्र मान रहे हैं। श्रुति-स्मृति में भेद की समझ ब्रह्मसूत्रकार से अधिक शास्त्रीजी को है- यह स्वीकार्य नहीं है। अत: शास्त्रीजी की यह प्रमाणविहीन मान्यता पूर्णरूपेण खोखली साबित हो जाती है कि गीता पूर्व में कोई उपनिषद=श्रुति थी।

''गीता'' महाभारत में बाद में जोड़ी हुई (प्रक्षिप्त) नहीं :

शास्त्री जी की, पश्चिमी ईसाई आक्रान्ताओं से उधार ली गई, दूसरी मान्यता कि भगवद् गीता को बादरायण व्यास ने महाभारत में समाविष्ट नहीं किया था, एकदम निराधार और कपोल - कल्पित है। भारतीय परंपरा में हजार से भी अधिक वर्षों पूर्व से निर्विवाद रूप से वेद विभाग, महाभारत और ब्रह्मसूत्र के रचयिता के रूप में बादरायण व्यास माने गए हैं जिन्होंने भगवद्गीता सहित महाभारत की रचना की है। भारतीय धर्म-परंपरा के संबंध में शास्त्री जी अथवा उनके ईसाई पश्चिमी गुरुओं की मान्यता की कीमत, महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य से लेकर गीता-ब्रह्मसूत्र के प्राचीनतम व्याख्याकार

श्री शंकराचार्य आदि भारतीय आचार्यों की मान्यता के सामने, फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं मानी जा सकती।

भारतीय आचार्यों को जितनी गीता उपलब्ध हुई वही उसका असली स्वरूप है :

वस्तुत: तो भारतीय शास्त्रों के कद की भोंडी कतर-ब्योंत करने का संप्रदाय चलाने का श्रेय आधुनिक समय में बंगाली बाबू श्री बंकिम चन्द्र के हिस्से में जाता है। शास्त्री जी तो इस क़तर-ब्योंत संप्रदाय के एक अनुयायी मात्र हैं।

भगवत चरित्र के निरूपण में आध्यात्मिक और आधिदैविक पक्षों को समझ और स्वीकार न सकने के कारण अपनी डांवाडोल होती अर्धश्रद्धा को जैसे तैसे टिकाए रखने के प्रयास स्वरूप श्री बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय ने कृष्णचरित्र के लेखन में 'अनैसर्गिकता', 'प्रक्षेप', और 'मिथ्यात्व' नाम की तीन कैंचियों से श्रीकृष्ण के भागवतोक्तचरित्र के कद की भोंडी कतर-ब्योंत कर डालने का शिग़ूफा सौ सवासौ वर्ष पहले प्रवाहित कर छोड़ा था। श्री पन्नालाल पटेल को छोड़कर श्री बंकिम चन्द्र के बाद कृष्णचरित्र के विषय में लिखने वाले गुजराती लेखकों के एक बडे भाग ने श्री बंकिमचन्द्र की ही कतर-ब्योंत के सहारे, तो किन्हीं ने थोड़े संशोधन-परिवर्धन के साथ कृष्ण चरित्र की क़तर-ब्योंत करने की परंपरा को स्वयं के लेखन से आगे बढ़ाया है, ऐसा दिखाई देता है। जिसको जितना भाग पसंद नहीं आया उसने उतना कतर दिया है, मनोभिलषित नहीं होने पर अपनी ओर से भी जोड़ दिया है। उदाहरणत:

श्री कनैया लाल मुंशी : गोवर्धनधर को गुफा की शरण लेते हुये बता दिया है और कुब्जा को माता बना दिया है।

श्री स्वामी सच्चिदानंद : सभी लीलाएँ रूपक-गप हैं, ऐसा कहकर गप में भी गप मारा है, कारागृह में से कृष्ण को पधारने जाने के लिए पहरेदारों

की जेब में से चाबी निकाल कर दरवाजे खोले ! हडप्पा मोहनजोदड़ो में से भी अब तक किसी को ताला चाबी नहीं मिले हैं !

श्री रघुवीर चौधरी; व्रज में श्रीकृष्ण की उम्र 11 से 16 वर्ष कर दी है।

श्री पांडुरंग आठवले ; स्वाध्यायपन्थ के संस्थापक श्री आठवले ने हरिवंश पुराण को पढ़े बना ही विधान कर दिया है कि ''हरिवंश में नन्द के घर वसुदेव द्वारा श्रीकृष्ण को पहुंचाने का उल्लेख नहीं है'' देखिये हरिवंश, पूना संस्करण, विष्णु पर्व 48/18; ''वसुदेवस्तु संगृह्य दारकं क्षिप्रमेव तु, यशोदाया गृहं भीतो विवेश सुतवत्सल:'' कृष्ण चरित्र की ही भांति भगवद गीता की भी कतर-ब्योंत करने के लिए डॉ.हम्बोल्ट, गारबे, रूडोल्फ और बेल्वेलकर, खेर इत्यादि पश्चिमी-पूर्वी लोगों ने अपने-अपने हाथ आजमाए थे। शास्त्री जी इन सब में अलग तरीके से आते हैं। कारण कि शास्त्री जी के पूर्ववर्तियों ने थोड़ा दया भाव रख कर गीता में कुछ तो मूल रहने दिया है। शास्त्री जी ने तो, परंतु गीता की हजामत एकदम मिलिटरी स्टाइल से कर डाली है- 700-600=100?

भगवदगीता की क़तर-ब्योंत करने के लिए शास्त्री जी द्वारा की गयी काट-छाँट और पसंद पर श्री बंकिम चन्द्र के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है; (1) चमत्कारमूलक (के.का.)=अनैसर्गिक(बंकि.) (2) पौराणिक कोटि(के.का.)=मिथ्या(बंकि.) (3) प्रक्षेप के.का. = प्रक्षेप बंकि

फिर भी शास्त्री जी की कैंची बंकिम जी की कैंची से अनेक गुणा अधिक धारदार है। उनकी यह विशेषता नोट करने योग्य कही जा सकती है।

भगवद गीता पर उपलब्ध संस्कृत व्याख्याओं में प्राचीनतम व्याख्या श्री शंकराचार्य और श्री भास्कराचार्य लिखित है। इन गीता विवेचकों सहित अन्य किसी भी संस्कृत व्याख्याकार ने गीता श्लोक संख्या के बारे में ऐसी कल्पना नहीं की। भारतीय धर्मशास्त्र और इतिहास के संबंध में षड्यंत्रकारी परधर्म-

असहिष्णु और साम्राज्यवादी ईसाई गोरों अथवा उनकी मानससन्तानों सहित भारतीयों के ज्ञान और उनकी तदविषयक बद्ध धारणाओं की प्रामाणिकता को भारतीय ऋषि मुनियों और प्राचीन संप्रदायाचार्यों से अधिक नहीं माना जा सकता।

और अर्जुन के विषाद को दूर करने के लिए कितनी समझ पर्याप्त थी, इसका निर्णय कोई सामान्य जन कैसे कर सकता है? और इस निर्णय की प्रामाणिकता कितनी? यदि तर्क से गीता के 700 में से 600 श्लोक निकाले जा सकते हैं तो उसी तर्क से गीता के 699 श्लोक क्यों नहीं निकाले जा सकते ! शस्त्र और शास्त्र में निपुण अर्जुन क्या इतना नासमझ था कि उसके विषाद को दूर करने के लिए 100-100 श्लोक कहने पड़े, ऐसा शास्त्री जी से क्यों नहीं पूछा जा सकता? यदि करना हो तो कर सकते है परंतु आधारभूत प्रश्न यह है कि उसका आधार क्या है और प्रमाण क्या हैं? बजाय इसके ''मुझे ऐसा लगता है - मुझे वैसा लगता है'' के आधार पर इतिहास का मूल्यांकन नहीं हो सकता। और जो मात्र इसी आधार पर इतिहास लिखा जा सकता हो तो मुझे तो लगता है कि ईसाईयों की बाइबल की रचना हमारे भागवतादि पंच लक्षण पुराणों के आधार पर ही की गयी है। नीचे दिये गए कोष्ठक में नमूने के तौर पर भागवत में वर्णित कृष्णचरित्र और बाइबल के न्यू टेस्टामेंट में वर्णित ईसा के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से तो ऐसा प्रतीत होता है। देखें :

बाइबल	भागवत
(1) जन्म की भविष्यवाणी	(1) श्रीकृष्ण के जन्म की आकाशवाणी
(2) दर्शन के लिए ज्ञानियों का आगमन	(2) श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए गर्ग का आगमन
(3) बाल ईशु की रक्षा के लिए मिश्र देश जाना	(3) श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए गोकुल जाना
(4) नवजात बालकों की हत्या करवाना	(4) नवजात बालकों की हत्या करवाना
(5) ओल्ड टेस्टामेंट के स्थान पर नए धर्म नियमों का उपदेश	(5) इंद्र पूजा के स्थान पर गोवर्धन पूजा का उपदेश

(6) तूफान को शांत करना	(6) तृणावर्त – दावाग्नि को शांत करना
(7) उपवास का प्रश्न	(7) नंदराय जी का उपवास और दंड
(8) ईशु के शिष्यों को मार्ग में भूख लगने पर देव को भोजन अर्पित करने संबंधी संवाद	(8) गोप बालकों को भूख लगने पर यज्ञार्थ तैयार की गई सामग्री उनको खिलाना
(9) कुबड़ी को सीधा करना	(9) कुब्जा को सीधा करना
(10) जंगल में 5000 लोगों को भोजन कराना	(10) दुर्वासा के शिष्यों को तृप्त करने का प्रसंग
(11) यरूशलम जाने का विचार	(11) मथुरा जाने का विचार
(12) रोमन सम्राट को कर देने का विरोध	(12) कंस को कर देने का विरोध
(13) ईशु की हत्या का षड़यंत्र	(13) कंस का षड़यंत्र
(14) स्त्री द्वारा ईशु को सुगंधित द्रव्य लगाया जाना	(14) कुब्जा द्वारा सुगंधित पदार्थों का अर्पण
(15) ईशु के शिष्य का विश्वासघात	(15) भक्त अक्रूर द्वारा प्रभु को मथुरा पधराने गोकुल जाना
(16) ईशु का क्रूसिफिकेशन	(16) श्रीकृष्ण की आसुरव्यामोह लीला
(17) शिष्यों को उपदेश	(17) उद्धव जी को उपदेश

वस्तुतः तो इतिहास ऐसा विषय है कि जिसमें निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किसी ने देखा नहीं है कि क्या हुआ था। प्रमाण, अत्यल्प उपलब्ध होते हैं। अंधेरे में तीर छोड़ने होते हैं। अतः इतिहास के अनुसंधान-लेखन में ''संभावनाएँ'' बहुत होती हैं। परंतु कठिनाई तब होती है जब कोई अनुसंधानकर्ता अपनी मान्यता को ''संभावना'' के रूप में प्रस्तुत न करके एक सिद्धान्त के रूप में सामने रखता है अथवा वैसा आभास कराता है। इसमें भी यदि अनुसंधानकर्ता ख्याति प्राप्त हो तो उसकी प्रस्तुति स्वतः ही व्यापक स्तर पर सिद्धांत का रूप धारण कर लेती है। यह स्थिति खतरनाक होती है।

श्री तिलक के शब्दों में इस प्रकरण का उपसंहार करते है ; ''संदेह की गति निरंकुश होती है।.....गीता, वर्तमान महाभारत का ही एक अंश है। जिन्होंने वर्तमान महाभारत की रचना की है उन्होंने ही वर्तमान गीता का भी वर्णन किया है.....कुछ लोग गीता को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का प्रयत्न करते

हैं। परंतु जो लोग बाह्य प्रमाणों को नहीं मानते वे अपने संशय रूपी पिशाच को अग्रगण्य मानते हैं। हमारे मत में, उनकी विचारपद्धति सर्वथा अशास्त्रीय अतएव अग्राह्य है। (गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृ. 524)

भगवद गीता का अर्थ करने की पद्धति : डॉ. विनोद चंद्र पुराणी श्री निर्भयानन्द सरस्वती के शिष्य होने के अलावा अनेक पुष्टिमार्गीय पुस्तकों के लेखक-संपादक श्री पुराणी द्वारा लिखित उक्त पुस्तक के कुछ अंश आलोच्य हैं।

श्री पुराणी के पुस्तक के उपोद्धात का सर्वप्रथम विधान ''अपने यहाँ भारत में कोई भी प्राचीन शास्त्रीय और महत्वपूर्ण ग्रंथ के अर्थकरण की पद्धति विकसित नहीं है (!!!).....यूरोप में.....उनके विद्वनों ने.....बाइबल के लिए.....अर्थकरण की पद्धति विकसित की है'' अत्यंत बचकाना और तुच्छ होने के साथ-साथ शास्त्र में आदर और निष्ठा रखने वाले समग्र आस्तिक भारतीय समाज का निष्ठुर मज़ाक उड़ाने वाला है। वेदों के शब्दार्थ-प्रयोग को समझाने वाले वेदांग ; शिक्षा-कल्प-व्याकरण-ज्योतिष-निरूक्त-छंद, कर्म-ब्रह्म मीमांसा सूत्र, अधिकरण विचार, उपक्रम-उपसंहार विचार, सूत्र-वृत्ति-भाष्य-भाष्यटीका-प्रटीका-वार्तिक, लक्षण विचार, पुराणार्थ विचार, अक्षर-पद-वाक्य-अध्याय-प्रकरण-स्कन्ध-शास्त्रार्थविचार, उत्सर्गापवाद-प्रतिप्रसव, शास्त्रविरोध साधन के लिए कल्पभेद अधिकारभेद कोटिभेद प्रमाणदौर्बल्य आदि; पुराणों में भाषाभेद, सात्विकादिगुणभेद, वैष्णवादि देवताभेद, पुराण महापुराण-उपपुराणादि भेद-इत्यादि अनेक पद्धतियां शास्त्र का अर्थ करने की भारत में हजारों वर्षों से सुप्रसिद्ध होने के बावजूद लेखक का उनको दृष्टिगत नहीं रखना आधुनिक सरकारी शिक्षण पद्धति की विफलता साबित करते हैं। सर्वाधिक आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि महानिंबध के अंतिम 5-7 पृष्ठों पर लेखक, गीता का अर्थ करने के लिए जो पद्धति सुझा रहे हैं, वह उस उल्लिखित परंपरागत भारतीय पद्धति से विशिष्ट अन्य कुछ भी नहीं है। इससे भी अधिक, गीता के अर्थ में प्रवर्तित कथित ''अंधाधुंध'' पद्धति के निराकरण के लिए जिन यूरोपीय विद्वानों की पद्धति का उल्लेख किया

है वह पूरे निबंध में खोजने पर भी नहीं मिलती है। दूसरा, लेखक ने गीता को कृष्णार्जुन संवाद के रूप में स्वीकार नहीं किया है। (देखिये पृ. 79)। दृष्टांत स्वरूप लेखक ने गीता का 16वाँ अध्याय बताया है।

परंतु भगवद्गीता की ब्रोडकास्टिंग करने वाले संजय के "संवादम् इमम् अश्रौषम्" संवादम् इमम् अद्भुतम् केशवार्जुनयो" वचन कुछ दूसरी ही कहानी कह रहे हैं! भगवद्गीता के इन वचनों के संबंध में लेखक का मौन भयंकर आश्चर्य पैदा करता है। सोलहवें अध्याय की संगति गुणत्रयविभागयोग से मिलती है। अर्जुन का प्रश्न "कैर्लिङ्गैः त्रीन् गुणान् एतान्..... त्रीन् गुणान् अतिवर्तते "अर्जुन के इस प्रश्न का समाधान मां च अव्यभिचारेण..... ब्रह्मभूयाय कल्पते, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" से करके प्रसंगोपात्त 'ब्रह्मणः प्रतिष्ठाहम्' का व्याख्यान पुरूषोत्तम योग स्वरूप से किया। उसके उपसंहार में "यो माम् एवं असंमूढो..... कृतकृत्यश्च भारत" कहकर उसका अधिकारी कौन, यह स्पष्ट करने के लिए सोलहवां अध्याय कहा है। इस प्रकार कृष्णार्जुन संवाद में सर्वसंगति ही है।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि समीक्षित उक्त लेखन में दूसरे भी अनेक अंश विवेचनीय हैं ही। विस्तार - भय से यहाँ उन सभी पर विचार करना संभव नहीं है। अतः यहाँ उदाहृत अंशों को छोड़कर शेष अंशों के बारे में प्रस्तुत भूमिका के लेखक की सम्मति होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार सभी जगह समझ लेना चाहिए।

3. **श्रीमद्भगवद्गीता पुष्टिदर्शन,** संकलन : गो. श्री द्वारकेश कुमार जी, वडोदरा।

इस पुस्तक में छपे हुए "अध्याय रहस्य" में श्री विनोबा भावे के गीता प्रवचनों के अंशों के थोड़े शब्दों-वाक्यों को मिलाकर उद्धृत करते हुए मूल श्लोकों के अनुवाद के रूप में गो.वा. श्री चिमन लाल हरिशंकर शास्त्री कृत गीतानुवाद के उद्धृतांश दिये गए हैं। श्री विनोबा भावे के गीता संबंधी विचार

वाल्लभमत में किस सीमा तक स्वीकार्य हो सकते हैं- यह अलग से विवेचन का विषय है। इतने पर भी, श्री विनोबा के प्रवचनों के उद्धृतांश देने से कितनी गंभीर क्षति दृष्टिगत होती है, यह वाल्लभमत के अलावा सर्वसामान्य भारतीय वैदिक धर्म पर भी कुठाराघात है। नमूने के तौर पर: पृष्ठ सं 140 : इंद्र-वृत्र युद्ध को रूपक मानने में आया है।

18. 141 : महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता के विषय में संदेह करने में आया है।

प्रशंसनीय तो, वस्तुतः, यही माना जा सकता है कि अस्वमार्गीय लेखकों के लेखन का समावेश स्वमार्गीय प्रकाशनों में किया ही नहीं जाना चाहिए। फिर भी यदि किसी अन्य लेखक को उद्धृत करना ही हो तो 1. पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों के प्रतिकूल अंशों को निकाल देना चाहिए, और 2 उन-उन स्थानों पर लेखक के नाम-प्रकाशन-पृष्ठ संख्या आदि का उल्लेख करना चाहिए ताकि अबुध पुष्टिमार्गीय पाठक अथवा अन्य लोग भी उस लेखन को वाल्लभमत का न मान बैठें।

यहाँ फिर भी, यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि आज जब अधिकांश वल्लभवंशज अपने निज गृह को हवेली=दुकान बनाकर उसमें निज सेव्यप्रभु को तथा स्वधर्मरूपा पवित्रतम भगवत्सेवा को पैसा कमाने का साधन अर्थात धंधा बनाकर बैठ गए हैं; और उनकी दुकानों=हवेलियों में ग्राहकों की संख्या न घटने देने के पाप पूर्ण हेतु से पुष्टिमार्गीय अनुयाइयों को स्वयं के घरों में प्रभु सेवापरायण होने का शुद्ध पुष्टिमार्गीय सदुपदेश देने के बजाय हवेली-मंदिरों में व्यापारिक हेतु से आयोजित होते दर्शन-मनोरथों में सम्मिलित होने (जेबें खाली करने!)में ही पुष्टिमार्गीय जीवन की सार्थकता बतलाने जैसे पापपूर्ण और "आप घर में केवल मिश्री धराएंगे तो भी चलेगा, श्री महाप्रभु जी आपके स्थान पर सारी सेवा कर लेंगे" जैसे पांखडपूर्ण उपदेश देते रहते हैं। ऐसे दुःसह्य समय में गो. श्री द्वारकेश जी का निम्नोक्त विधान सच्चे अर्थो में आशा की नई किरण बन रहा है:

''निजगृह में रहकर स्वयं सहित, स्वयं का सर्वस्व प्रभु के चरणों में समर्पित करना और सदैव हृदय में दास्य भाव स्थिर करके सर्वदा सेव्य श्रीहरि की सेवा करना.....(पृष्ठ संख्या 42)

यहाँ एक स्पष्टीकरण अपेक्षित है कि पुराने समय में श्रीवल्लभवंशज आचार्यों के निजी निवास स्थान अर्थात घरों को हवेली नाम से इसलिए संबोधित किया जाता था कि उनके निजी स्थान अन्य देवालय-मंदिर-मठ-आश्रम की भांति सार्वजनिक स्थानों में न गिने जाएँ। यह उचित भी था। कारण कि उस समय आचार्य स्वयं तथा उनके यहाँ आनेवाले लोग भी उसे एक निवास स्थान घर के रूप में ही जानते, मानते और बरतते थे। धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन आता गया। आज तो दोनों ही पक्षों की मान्यता और व्यवहार एकदम बदल गया है। आज हवेली का अर्थ आचार्य का निवास स्थान न होकर व्यापार का स्थल हो गया है। उदाहरण के लिए यदि कोई वंशज यह कहे कि ''मुझे इस गाँव में हवेली खोलनी है''। तो इसका सीधा अर्थ यह होता है कि ''मुझे इस गाँव में दुकान खोलनी है''। किसी आचार्यवंशज के दो पुत्र वयस्क हो जाएँ तो उनके पिता उनके लिए अलग हवेली खोने का विचार करने लगते हैं। एकदम वैसे ही जैसे कोई व्यापारी पिता अपने पुत्रों के जीवन निर्वाह के लिए उन्हें अलग धंधे में सेट करने का विचार करता है। यह हकीकत इतनी स्पष्ट नज़र आती है कि अल्प बुद्धि वाला व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि वर्तमान हवेली का तात्पर्य है- आचार्यवशंज का व्यापार स्थल। सुप्रीम कोर्ट और हाई कोर्ट ने भी हवेलियों की कार्यप्रणाली देखकर ऐसा ही सार निकाला है। इसीलिए भक्ति और धर्म के नाम पर जनता से भेट-सामग्री इकट्ठी करके उसके दम पर तागड़धिन्ना करने वाले लोगों पर लगाम कसने के लिए कोर्ट ने उनको सार्वजनिक ट्रस्ट घोषित करने का नियम भी बना लिया है। ''आगे-आगे देखिये होता है क्या!''की तर्ज़ पर आधुनिक शिष्यों के लिए'' हवेली'' का अर्थ धर्मोपदेश ग्रहण करने का पवित्र गुरू-स्थान न होकर बगीचे में तफरीह के लिए जाते, शरमाते और हाथगाड़ी पर भेलपुरी खाने में संकोच

करते घर परिवार में उपेक्षित पुराने बुड्ढे लोगों के लिए गपशप करके टाइम पास करने, दानपात्रों में भक्ति के नाम पर पैसा फेंककर तमाशा देखने और सस्ती प्रसिद्धि प्राप्त करने के हेतु से पुष्टिमार्ग में बैठ गए आसुरी लोगों के लिए अपने घर में श्री महाप्रभुजी के सिद्धांतानुसार सेवा-स्मरण करने से मुक्ति पाने और इस धर्म-भक्ति करने का मिथ्या संतोष करने और उसका ढोंग करने के स्थल तथा अंततः ठाकुर जी और उनकी सेवा के नाम पर चलने वाले पापपूर्ण धंधे मे ग्राहक के रूप में शामिल होने के स्थल मात्र रह गए हैं। बाकी ठाकुरजी और उनकी सेवा तो किसी भी प्रकार की योग्यता न रखने वाले सस्ते में प्राप्त कर्मचारियों के! (राम) भरोसे होती है। हवेली और दुकान की तुलना के लिए निम्नलिखित टेबल देखिये;

हवेली	दुकान
(1) गाँव में जगह जगह हवेलियाँ हैं	(1) जगह-जगह होटल खुल गए हैं।
(2) हवेली अच्छी तरह नहीं चलती।	(2) दुकान अच्छी तरह नहीं चलती।
(3) हवेली में सुविधाएँ उत्तम नहीं है।	(3) दुकान में सुविधाएँ उत्तम नहीं है।
(4) प्रसाद अच्छा नहीं मिलता।	(4) माल की क्वालिटी अच्छी नहीं है।
(5) पातल की न्योछावर ज्यादा है।	(5) थाली बहुत महंगी है।
(6) घर बैठे प्रसाद मिलता है।	(6) दुकान वाला डोर डिलिवरी करता है।
(7) समाधानी सेवकी के लिए खून पी जाता है	(7) वेटर टिप के बिना सरकता नहीं है।
(8) मनोरथी को दर्शन का समय फोन पर बताया जाता है	(8) बड़े ग्राहकों को स्पेशल सर्विस दी जाती है।
(9) दर्शन पर्याप्त समय तक कराये जाते हैं।	(9) दुकान देर तक खुली रहती है।
(10) दान पात्र स्थान-स्थान पर रखे हैं।	(10) बहुत से काउंटर खुले हुए हैं।
(11) अधिकारी अच्छा नहीं है।	(11) काउंटर पर अच्छा व्यक्ति नहीं है।
(12) ऐसे धर्म-धर्म करते हैं पर पैसे के सिवा दूसरी कोई बात नहीं।	(12) यह धंधे की बात हैं।
(13) पैसे देने पर भी धक्के-झापड़ खाने पड़ते हैं।	(13) रोब वाला धन्धा है।
(14) ट्रस्टी मुखिया जी महाराज बोलते हैं : भेंट सामग्री अच्छी आ जाती है	(14) बिक्री अच्छी होती है।

(15) अधिक मास है।	(15) सीजन चल रहा है।
(16) बड़ा उत्सव है।	(16) सेल चल रही है।
(17) लोगों को अच्छा लाभ मिलता है।	(17) ग्राहकी अच्छी है।
(18) फिक्स की भेट अच्छी जमा हो गई है।	(18) पूंजी अच्छी इकट्ठी हो गई है।
(19) बड़े मनोरथी आए हैं।	(19) बड़ा ग्राहक हैं।
(20) कोई आकर्षण रखा जाए तो लोग आएंगे।	(20) कोई स्कीम निकाली जाए तो ग्राहक आएंगे
(21) जन्माष्टमी के बाद पलने के मनोथ्र कराने पर न्यौछावर आधी।	(21) ऑफ सीजन डिस्काउंट।
(22) पासवाली हवेली में बड़ा मनोरथ था इसलिए अपने यहाँ भेट कम जमा हुई।	(22) पास की दुकान वाला नए आइटम ले आया इसलिए ग्राहकी उधर चली गई।
(23) महंगाई बढ़ने से प्रसाद की न्यौछावर बढ़ानी पड़ेगी।	(23) भाव बढ़ाने पड़ेंगे।
(24) भाव बढ़ाने पर लोग चिल्लाते हैं। इसलिए लड्डुओं की साइज छोटी करनी पड़ेगी।	(24) भाव बढ़ाने पर लोग चिल्लाते हैं इसलिए पैकिंग बड़ी और माल कम करना पड़ेगा।

बार-बार यही कहने का मन करता है कि विशुद्ध पुष्टिमार्ग का विलोपन करने वाली ऐसी परिस्थितियों में गो. द्वारकेश जी का विधान यथार्थ में आशा की नई किरण के समान है : निज गृह में रहकर स्वयं सहित सर्वस्व का प्रभु के चरणों में समर्पण करना और सदैव हृदय में दास भाव स्थिर रखकर सर्वदा सेव्य श्रीहरि की सेवा करना.....(पृ. 42)

प्रस्तुत ग्रंथ के विषय में :

21. प्रस्तुत ग्रंथ में मुख्य रूप से निम्नवत संकलन प्रकाशित किया जा रहा है :

1. **गीता के मूल श्लोक**
2. **सान्वय शब्दार्थ:** गो.वा. श्री मूलशंकर मोतीराम शास्त्री कृत
3. **नाम-आख्यान-निपात का व्याकरणशास्त्रीय परिचय :** यथोक्त
4. **श्लोकार्थ :** गो.वा. श्री नानुलाल गांधी कृत
5. **विवेचन :** यथोक्त

यहाँ यह स्मरणीय है कि श्री मूलशंकर शास्त्री कृत सान्वय-शब्दार्थ का प्रकाशन खास तौर पर उसके साथ शास्त्री जी से प्राप्त व्याकरणशास्त्रीय परिचय को ध्यान में रखते हुए किया गया है। इसमें कहीं असावधानीवश रह गई अशुद्धि-अपूर्णता का संशोधन-पूर्ति व्याकरणाचार्य गो.चि.श्री पंकज कुमार जी (गोकुल-मांडवी) ने सहर्ष किया है।

अन्वय और शब्दार्थ श्री मूल शंकर शास्त्री कृत और श्लोकार्थ विवेचन श्री नानुलाल गांधी कृत होने से दोनों के बीच सर्वत्र एकवाक्यता देखने में न आए, यह संभव ही है अत: ग्रंथ का गहन अध्ययन करने वाले जिज्ञासु वाचकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए की दोनों स्वतंत्र कृतियां हैं। विशेष जिज्ञासु सांप्रदायिक संस्कृत टीकाएँ देखें।

श्री मूलशंकर शास्त्री जी ने सम्पूर्ण गीता पर स्वतंत्र विवेचन किया है। उनमें से कुछ उपयोगी अंशों को इस ग्रंथ में कहीं-कहीं ''विशेष'' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित किया गया है।

आवृत्तियाँ;

पहली आवृत्ति, प्रकाशक; श्री लल्लुभाई देसाई
दूसरी आवृत्ति, प्रकाशक; शुद्धादैत संग्रह- ईसवी 1959
तीसरी आवृत्ति, प्रकाशक; श्री भगवद्गीता प्रकाशन समिति
चौथी आवृत्ति, प्रकाशक; श्री जयदेवप्रभु चेरीटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद 2001
पाँचवीं आवृत्ति, प्रकाशक; श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी (कच्छ)

अंत में, पूर्व सभी प्रकाशकों का हृदय से आभार मानते हुए आशा करते हैं कि जिज्ञासुजन भगवद्गीता के इस संस्करण से अवश्य लाभान्वित होंगे।

श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा
शरद गोस्वामी

प्रस्तुत ग्रन्थ के विवेचक

श्री नानुलाल नारायणदास गांधी

जन्म : 1881 **गोलोकवास : 1975**

उपोद्घात

महाभारत के ''भीष्म पर्व'' नामक छठे पर्व के 25 से 42 अध्यायों तक 18 अध्यायों में भगवद्गीता है। भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध के आरंभ में अर्जुन को युद्ध करने में उत्पन्न हुई अरूचि और वैराग्य दूर करने के लिए और उसे युद्ध करने की प्रेरणा देने के लिए जो उपदेश दिया, उसका भगवद्गीता में समावेश है। यह उपदेश भगवान ने उसे युद्ध के पहले दिन युद्ध का आरंभ करते समय दिया। संजय उस समय युद्ध भूमि पर ही था। युद्ध के दसवें दिन जब भीष्म विजित हुए तो संजय ने हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र को यह समाचार दिया, तब धृतराष्ट्र ने उसे युद्ध का वृत्तान्त पूछा और उसने आरंभ से कहना शुरू किया। उसमें भगवान द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश भी बताया गया।

जिसमें भगवद्गीता का समावेश है उस महाभारत, वेदांतसूत्र और श्रीमद्भावत के संकलनकर्ता व्यासजी हैं। वेद रूप वृक्ष को शाखाओं में विभाजित कर वेद के चार विभाग करने वाले (श्री भागवत 1/3/21) और श्री भागवत के अलावा दूसरे सत्रह पुराणों के रचयिता भी व्यास जी हैं। सकल लोक के, बाहर के और भीतर के दुखों को दूर करने के लिए भगवान क्रियाशक्ति और ज्ञान शक्ति वाले अवतार धारण करते हैं। क्रिया शक्ति वाले अवतारों से बाहर के दुख दूर करते हैं और ज्ञानशक्ति वाले अवतारों से भीतर के दुख दूर करते हैं। व्यासजी भगवान के ज्ञानवतार हैं (तत्त्वदीप 3/1/56 प्रकाश के साथ)। वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और श्रीभागवत (इन)शास्त्रों में वेद का विभाग करने वाले और शेष तीनों के रचनाकार भी व्यास जी हैं।

भगवद्गीता का शास्त्रों में अनुपम स्थान है। ''यस्य निःश्वसितं वेदाः'' के अनुसार वेद भगवान के निःश्वास रूप हैं जबकि भगवद्गीता तो भगवान के वचनामृत हैं। निःश्वास की तुलना में वचनों से विषय अधिक उत्तम और भली प्रकार से समझ में आता है और ज्ञान भी उत्तम प्रकार से, सुगमता से प्राप्त होता

है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। अत: वेद की तुलना में भगवद्गीता का माहात्म्य ईषत् मात्र न्यून नहीं अपितु अधिक है।

भगवद्गीता तो स्मृति कही जाती है जबकि वेद भगवान के नि:श्वास रूप हैं, तो फिर भगवान के वचन, जो नि:श्वास से उत्तम माने गए हैं, उनकी गणना स्मृति के रूप में कैसे की जा सकती है ?'' इसका समाधान ब्रह्मसूत्र 1/2/6 पर अणुभाष्य में श्रीमद्वल्लभाचार्य ने किया है। यहाँ आचार्य श्री कहते हैं-

''मैं तो उस उपनिषद में बताए गए पुरूष से संबंधित प्रश्न करता हूँ।'' उस श्रुति के अनुसार ब्रह्म का ज्ञान मात्र उपनिषद से ही होता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता। अर्जुन शिष्य के रूप में भगवान की शरण में आया (भ.गी. 2/27) पर वह शुद्ध पुष्टि भक्त नहीं था। कारण कि भगवान के वचन में उसे संदेह रहित विश्वास नहीं था (भ.गी. 4/4)। अत: मात्र रथ में बैठने वाले (रथी) के रूप में जिसको रखा जाना था, उस (रथीपन के अभिमानी) को और वैसे (युद्ध की दृष्टि से उपयोगी बुद्धि के भ्रम को उत्पन्न करनेवाले) काल तथा देश में उपनिषद का बोध करना उचित न होने से नि:श्वास रूप वेदों को उत्पन्न करनेवाले उस गुरू रूप का स्मरण करके, वैसे (वेद के) अर्थ का भी स्मरण करके भगवान पुरूषोत्तम ने स्मृति रूप वचन कहे। अत: ब्रह्म के संबंध में निर्णय करते समय भी (भगवद्गीता के) वाक्यों का उदाहरण देकर सूत्रकार विचार करते हैं। इसके अलावा अर्जुन (स्मृति द्वारा ब्रह्म विद्या का उपदेश जिसे किया जा सके, उस) को अधिकार के अनुसार ब्रह्म विद्या का उपदेश किया। भगवान ने अति कृपालु होने से ''सब से छुपाने योग्य'' आदि (भ.गी. 18/64 से 66) वचनों से अंत में उसको भक्ति और शरण मार्ग का भी उपदेश किया। अत: इससे पहले जो उपदेश देकर निर्णय दिखलाया, वह (इस भक्ति और शरण मार्ग का) अंग रूप है, ऐसा निश्चय होता है। कारण कि ''आपके वचनानुसार आचरण करूंगा (भ.गी. 18-73)।'' अर्जुन के इस उत्तर से उसे वैसा ही ज्ञान हुआ है - यह निर्णय होता है।

अत: भगवान के नि:श्वास रूप वेद के अर्थ का भी गीता में समावेश हुआ है, ऐसा निश्चय होता है।

किसी समय उत्कल देश में वहाँ के राजा की सभा में मायावादियों और ब्रह्मवादियों के बीच वाद हुआ। सात दिन तक वाद चलते रहने के बाद राजा ने सत्य का ज्ञान कराने के लिए भगवान जगन्नाथ से प्रार्थना की, तब जगन्नाथ जी ने रात्रि के समय नीचे का श्लोक लिखकर बताया -

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्, एकोदेवो देवकीपुत्र एव ।
मंत्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकम् तस्य देवस्य सेवा ।।

अत: भगवान देवकी पुत्र श्रीकृष्ण ने जिसका गान किया हुआ है वह भगवद्गीता (श्रीकृष्ण के वचन) सर्वोपरि शास्त्र है। और वेदों के अर्थ का निर्णय भी भगवद्गीता में अंतर्भूत भगवान श्रीकृष्ण के वचनों के अनुसार ही करना चाहिए। इसलिए वेद में जहां संदेह रहता हो वहाँ उस संदेह का निवारण भगवद्गीता से होता है। (तत्वदीप 1/8)

भगवद्गीता का विषय भी तत्वविद्या से भरपूर है। कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों मार्गों का इसमें भली भांति उत्तम प्रकार से निरूपण कर, भगवान की निष्काम भक्ति करने का बोध किया गया है। अब हम यह देखेंगे कि इन तीनों मार्गों के संबंध में भगवद्गीता क्या बोध कराती है।

कर्म मार्ग :

प्राणी मात्र की इंद्रियाँ अत्यधिक चंचल होने से कर्म किए बिना किसी से एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता। प्रकृति के गुणों के परवश होकर प्राणी मात्र कर्म किया ही करता है (अध्याय 3/5) तब भी कर्म का फल भोगना ही पड़ता है, इस भय से कई दंभी पुरूष कर्मेन्द्रियों का संयम कर मन से इंद्रियों के विषयों का स्मरण किया करते हैं। यह कर्म करने से भी अधिक अनिष्ट है (अध्याय 3/6)

कई ऐसा मानते हैं कि अज्ञानी ही कर्म करते हैं। ज्ञानी कर्म नहीं करते। ज्ञानियों को अपने लिए कर्म करने की आवश्यकता नहीं, परंतु लोकसंग्रह के लिए - सामान्य पुरूष उनको कर्म करते देख कर स्वयं भी कर्म करें इसलिए - उनको भी कर्म करना चाहिए । भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं भी लोकसंग्रह के लिए कर्म किए। ज्ञानियों और अज्ञानियों के कर्म करने में यही भेद है कि ज्ञानी कर्म में आसक्ति रखे बिना लोकसंग्रह के लिए कर्म करते हैं, जबकि अज्ञानी कर्म में आसक्त होकर कर्म करते हैं (अध्याय 3/10 से 25)

अब यह विचार करते हैं कि कर्म किस प्रकार करें। फल की आशा रख कर अमुक फल प्राप्त करने के लिए कर्म करने से बंधन होता है। वेद में अलग-अलग कर्मों के अलग-अलग फल कहे गए हैं। ये फल प्राप्त करने की इच्छा से जो जन्म और कर्म रूप फल देने वाली अमुक क्रियाएँ करते हैं, वे प्रकृति के गुणों में बंधे रहते हैं और समाधि में अर्थात भगवान का चिंतन करने में उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। (अध्याय 2/42 से 46), अत: कर्म करते उसके फल की कामना न रखना, इतना ही नहीं बल्कि फल की कामना का त्याग ही करना होता है। अमुक पदार्थ की कामना करने से पदार्थ में राग उत्पन्न होता है और वह पदार्थ मिलने के लिए स्वयं की पाप करने की इच्छा न होने पर भी काम से बलपूर्वक प्रेरित होकर पुरूष पाप कर बैठता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है। जैसे गर्भ झिल्ली से लिपटा हुआ रहता है वैसे ही काम से जगत घिरा हुआ रहता है। वह ज्ञानियों के ज्ञान को भी ढँक देता है। काम इंद्रियों, मन और बुद्धि में रहता हुआ जीव में मोह उत्पन्न करता है। इंद्रियाँ, मन, बुद्धि और काम क्रमश: उत्तरोत्तर बलवान हैं। काम को जीतना बहुत कठिन है कारण कि काम बुद्धि से भी बलवान है परंतु जैसा ऊपर बताया गया है कि वह, मनुष्य की इच्छा के विरूद्ध उससे पाप करवाता है अत: आत्मा से मन को स्थिर कर काम के ऊपर विजय पाना चाहिए अर्थात सभी कामनाओं - कर्म के फल की कामनाओं - का त्याग करना चाहिए। (अध्याय 3/36 से 43)

इसलिए जो भी कर्म करना हो वह उस कर्म के फल और उसे प्राप्त करने की इच्छा के बिना ही करना चाहिए, कर्म के फल और उसके संबंध को

छोड़कर अर्थात कर्म में आसक्ति रखे बिना ही कर्म करने से कर्म-बंधन नहीं व्यापता और पाप नहीं लगता (अध्याय 4/19 से 21)। कर्म के फल का त्याग कर योग के अनुसार कर्म करने से मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु कर्म में आसक्ति रखकर कर्म करने से बंधन प्राप्त होता है (अध्याय 5/12)

जिनको कर्म के फल की इच्छा नहीं है और जिन्होंने कर्म के फल तथा फल प्राप्त करने की इच्छा का त्याग कर दिया है, उनको अपना कर्म सफल हुआ या निष्फल, कार्य पूर्ण हुआ या नहीं हुआ, इसकी कोई चिंता नहीं रहती। इसलिए कार्य सिद्ध हो या न हो, दोनों ही स्थितियों में वे सम रहते हैं। यह समत्व ही योग है। कर्म के फल की अपेक्षा बिना, कार्य की सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्म करना बुद्धि योग है। इस बुद्धि योग वाले पुरूषों को अपने सुकृत अथवा दुष्कृत का फल नहीं भोगना पड़ता। ऐसे बुद्धिमान पुरूष कर्म के फल का त्याग कर जन्म मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं और अनामय पद अथवा अक्षरब्रह्म को प्राप्त करते हैं अध्याय(2/48 से 51)। भगवदिच्छा से जो कुछ मिले उसमें संतोष प्राप्त कर, सुख-दुख के द्वंद्व से परे रहकर, कार्य सिद्धि अथवा असिद्धि में समान रहने वाले पुरूष को कर्म करते रहने पर भी कर्म का बंधन नहीं व्यापता (अध्याय 4/22)।

इसके अतिरिक्त, कर्म करने में इंद्रियों को वश में रखना चाहिए और कर्म में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। मन से इंद्रियों को वश में रखकर आसक्ति बिना किया हुआ कर्म ही उत्तम है। (अ. 3/7)। वास्तव में तो प्रकृति के गुण ही कर्म करते हैं। कर्म में आसक्त होकर "मैं कर्म करता हूँ" ऐसा अहंकार रखने वाला मूढ़ है। गुण और कर्म के विभागों को जानने वाला तो यही मानता है कि प्रकृति के गुण ही कर्म करते हैं और इसलिए कर्म में आसक्त नहीं होता। प्रकृति के गुणों से मूढ़ हुआ मंदमति वाला (मनुष्य)ही कर्म में आसक्त होता है(अ. 3/27-29)। इंद्रियों की अपने प्रिय पदार्थों पर प्रीति और अप्रिय पदार्थों से द्वेष होता है। इस राग - द्वेष के वशीभूत होकर कर्म नहीं करने चाहिए।(अ. 3/34)। इस राग द्वेष से काम उत्पन्न होता है और काम सिद्ध न होने पर क्रोध

आता है और वह ऊपर बताए अनुसार मनुष्य की इच्छा के विरूद्ध उससे पाप कराता है। अत: इंद्रियों को वश में रखकर उनका प्रिय और अप्रिय पदार्थों पर राग तथा द्वेष न रहने देकर कर्म में आसक्ति नहीं होनी देनी चाहिए ।

''स्वर्ग की कामना वाले ज्योतिष्टोम यज्ञ करना '' इत्यादि काम्य कर्मों को न करना 'संन्यास' और कर्म मात्र के फल का त्याग करके सभी कर्म करना त्याग कहा जाता है। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म पावन करने वाले हैं। उनका त्याग न करके उनमें आसक्ति रखे बिना अर्थात ''मैं इस कर्म का कर्ता हूँ'' ऐसा अभिमान रखे बिना उनके फल का त्याग करके वे कर्म करने - ऐसा कहा है। (अ. 18/2-7)

और, कोई भी कर्म भगवदर्थ ही करना। भगवदर्थ किए गए कर्म से कभी बंधन नहीं होता। भगवदर्थ न किये गए कर्म से बंधन होता है(अ. 3/9)। यज्ञ भगवान का स्वरूप है। कर्म करने से यज्ञ होता है, यज्ञ से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्राणियों का निर्वाह होता है। प्राणी यज्ञ करके देवों को समृद्ध करते हैं और देव प्राणियों को समृद्ध करते हैं, कारण कि यज्ञ से वृद्धि पाये हुए देव प्राणियों को उनके इच्छित भोग प्राप्त कराते हैं। यज्ञ के अवशिष्ट का भोग करने से सभी पापों से मुक्ति मिलती है(अ. 3/10-14)। सभी कर्म भगवान को समर्पण कर, फल की इच्छा बिना, ''मैं कर्ता हूँ'' ऐसा अभिमान अथवा ममता रखे बिना कर्म करना(अ. 3/30)। पुत्र आदि में आसक्ति रखे बिना, फल का त्याग कर, ज्ञान से चित्त को स्थिर रख कर भगवदर्थ कर्म करने से कर्म का लय होता है अर्थात ऐसे कर्म बंधन नहीं करते (अ. 4/30, 5/10)।

ज्ञान मार्ग :

कर्म का आरंभ न करने से अथवा कर्म का त्याग करने मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं होती(अ. 3/4) परंतु जो आत्मा में ही तृप्त रहता हो, आत्मा में ही रमण करता हो और अपने में ही संतुष्ट रहता हो, वैसे मनुष्य को कोई कर्म करना शेष नहीं

रह जाता। कारण कि कर्म करने से उसे कोई लाभ नहीं होता और कर्म न करने से उसको कोई हानि नहीं होती(अ. 3/17- 18)। फिर भी, अज्ञानियों में बुद्धि भेद होता है अर्थात वे उपदेश ग्रहण नहीं कर सकते, वैसा ज्ञानी को नहीं करना चाहिए। अत: अज्ञानी जैसे कर्म में आसक्ति रखकर कर्म किया करते हैं वैसे ज्ञानी भी लोकसंग्रह के लिए, अर्थात अज्ञानी उनका आचरण देख कर्म करने से रूके नहीं, कर्म करे परंतु उसमें आसक्ति रखे बिना कर्म करना चाहिए(अ. 3/25-26)। कर्म की समाप्ति ज्ञान में ही होती है(अ. 4/33)। ज्ञान की प्राप्ति तत्वदर्शी ज्ञानियों को प्रणाम करने से , प्रश्न करने से और उनकी सेवा करने से होती है(अ. 4/34)।

कर्म का पर्यवसान ज्ञान में होने से वास्तव में योग और सांख्य एक ही है। मूर्ख ही योग और सांख्य को अलग-अलग कहते हैं। पंडित तो इन दोनों को एक ही मानते हैं। कारण कि सांख्य (ज्ञान)से जो स्थान प्राप्त होता है वही योग (कर्म) से भी प्राप्त होता है(अ. 5/5-6)। संकल्प का त्याग किए बिना कोई योगी नहीं हो सकता।अत: जिसे संन्यास कहा जाता है वह योग ही है(अ. 6/2)।

जिसने ज्ञान से अपने अज्ञान का नाश कर दिया है, उसका आत्मज्ञान सूर्य की तरह परब्रह्म को प्रकाशित करता है। वह परब्रह्म में ही बुद्धि, चित्त और निष्ठा रख कर उसके परायण जैसा रहता है, उसके पाप ज्ञान से धुल जाते हैं और उसे मोक्ष प्राप्त होता है। पंडितजन-विद्या और विनय वाला ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल सभी को समान जानते हैं। जिनका ऐसा समत्व युक्त मन रहता है वे इस लोक में ही प्रवाह मार्ग अथवा जन्म मरण को जीत लेते हैं, कारण कि ब्रह्म दोष रहित और सम है तथा वे समानता में अर्थात ब्रह्म में रहते हैं। ऐसी स्थिर बुद्धि वाले मोहरहित ब्रह्मविद् पुरूष को कोई प्रिय या अप्रिय पदार्थ प्राप्त होने से हर्ष अथवा शोक नहीं होता। कारण कि उसके लिए सभी समान होकर प्रिय या अप्रिय नहीं होते(अध्याय 5/16 से 20)। जो जन परब्रह्म श्री कृष्ण को सर्व यज्ञ तथा तप का भोक्ता, सर्व लोक का महेश्वर और प्राणी मात्र का प्रिय जानते हैं वे शांति प्राप्त करते हैं(अध्याय 5/29)।

अध्याय 13 से 14 में सामान्य प्रकार से ज्ञान का बोध कराया है। 13 वें अध्याय में क्षेत्र(अध्याय 1/5-6)क्षेत्रज्ञ(श्लोक 1-2)ज्ञान और अज्ञान(श्लोक 7-11)ज्ञेय (श्लोक 12-17) प्रकृति और पुरूष(श्लोक 19-21)अंतर्यामी (श्लोक 22)संबंधी सामान्य बोध के बाद स्थावर - जंगम पदार्थ मात्र की उत्पत्ति प्रकृति और पुरूष के संयोग से होना बताया गया है। आत्मा संबंधी बोध भी सतही तौर पर किया गया है(श्लोक 31-32)। अध्याय 14 में भगवान से पदार्थ मात्र की उत्पत्ति कैसे होती है(श्लोक 3-4)यह बताकर प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणत्रय बंधन कराने वाले हैं और उनमें से प्रत्येक गुण कैसा है, यह बताया है(श्लोक 5 से 18)और गुणातीत के लक्षण कहे गए हैं (श्लोक 22 से 26)।

जीवात्मा का स्वरूप दूसरे अध्याय में दर्शाया गया है। आत्मा नित्य है। उसकी मृत्यु नहीं होती बल्कि वह एक देह में से निकलकर दूसरी देह प्राप्त करता है(श्लोक 13) और स्वयं अविनाशी ही है(श्लोक 17)। वह न तो किसी से मारा जाता है न किसी को मारता है (श्लोक 19), न जन्म लेता है न मरता है। मात्र शरीर की ही मृत्यु होती है। आत्मा तो नित्य, शाश्वत पुरातन है (श्लोक 20)जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र छोड़कर नये धारण करता है, वैसे आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करती है (श्लोक 22)। उसे न शस्त्र छेदता है न अग्नि जलाती है, न जल भिगोता है और न वायु सुखाती है(श्लोक 23)। उसका परिमाण अणु जितना है परंतु उसका चैतन्य गुण संपूर्ण देह में प्रसरणशील रहता है (श्लोक 24)। वह नित्य होने से शोक करना उचित नहीं (श्लोक 11)।

भगवान जगत के निमित्त और उपादान कारण हैं। वे अपनी अपरा और परा नामक दो प्रकार की प्रकृति से जगत की रचना करते हैं। पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार ऐसी आठ प्रकार की अपरा प्रकृति जीवरूप है। इन दो प्रकार की प्रकृति में से ही सर्व भूतों की उत्पत्ति होती है। इसीलिए भगवान संपूर्ण जगत के कारण हैं तथा संपूर्ण जगत का लय भी भगवान में ही होता है।

भगवान से पर कोई है ही नही। धागे में पिरोये हुये मनकों की भांति संपूर्ण जगत भगवान में समाया हुआ है (अध्याय 7-4-7)। भगवान पदार्थ मात्र में उसके सार रूप से रहते हैं परंतु भगवान की माया के तीन गुणों से मोहित जगत इन गुणों से पर अव्यय भगवान को नहीं जानता(अध्याय 7/8-14)।

लोक में क्षर और अक्षर - ऐसे दो पुरूष हैं। ब्रह्मा से तृण पर्यंत जो जीव कहे जाते हैं वे ''क्षर'' हैं और कूटस्थ भगवद्धाम के रूप में प्रसिद्ध सच्चिदानंद पुरूष ''अक्षर'' हैं। इससे पृथक उत्तम पुरूष 'परमात्मा' है। वह क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम होने के कारण लोक और वेद में 'पुरूषोत्तम' रूप से प्रसिद्ध है। जो पुरूषोत्तम को जानता है वह सब को जानने वाला है और उसका भजन करता है। यह गुह्यतम शास्त्र है और इसका ज्ञाता बुद्धिमान कृतकृत्य होता है(अध्याय 15/16-20)।

भक्तिमार्ग :

इन तीनों मार्गों में भक्ति मार्ग मुख्य है। भक्ति मार्ग में प्रभु की प्राप्ति सुगमता से, कष्ट बिना होती है। भगवान संपूर्ण जगत के उत्पत्ति स्थान हैं और भगवान में से ही सब की प्रवृत्ति होती है - ऐसा जानकर ज्ञानीजन प्रेम-प्लुत होकर भगवान की भक्ति करते हैं । उनका चित्त और प्राण सदैव भगवान में ही रहता है। वे परस्पर भगवान की कथा करते हैं और भगवान संबंधी प्रबोधन करते हैं तथा सदा उसी से प्रसन्न रहते हैं एवं उसी में आनंद प्राप्त करते हैं। तदनुसार सदा भगवान में मन रखकर जो प्रेम से उनका भजन करते हैं उनको भगवान ऐसी बुद्धि प्रदान करते हैं कि उससे उनको भगवान की प्राप्ति होती है। उन पर कृपा करने के लिए भगवान उनके अन्तःकरण में रहकर ज्ञानरूप दीपक से उनके अज्ञान रूप अंधकार का नाश करते हैं (अध्याय 10/8-11)।

यह संपूर्ण जगत सत्व, रज और तम इन तीन गुण वाले भावों से मोह प्राप्त है अतः भगवान इन गुणों से अतीत है, ऐसा वह नहीं जानते। उनको ऐसा ज्ञान न होने का कारण भगवान की दैवी माया है। इस माया से तरना बहुत

कठिन है। जो भगवान के ही शरण हैं, वे ही इस माया से तर सकते है तथा उन्हीं को ऐसा ज्ञान होता है। दुष्ट कर्म करने वाले अधम मूढ़ लोगों का ज्ञान माया हर लेती है और उनमें आसुर भाव होता है।

चार प्रकार के सत्कर्म करने वाले पुरूष भगवान को भजते हैं। 1. दुखी, 2. ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक 3. धन की प्राप्ति की इच्छा वाले और 4. ज्ञानयुक्त। इन चारों में से सदा भगवान के साथ संबद्ध रहने वाले और अनन्य भक्ति करने वाले ज्ञानी भक्त उत्तम हैं; कारण कि उनको भगवान अतिप्रिय है और भगवान को वे अतिप्रिय हैं (अध्याय 7/13-17)।

भक्ति का लक्षण वेद में कहा गया है; "भक्तिर् अस्य भजनम् तद् इहामुत्र च फलभोगनैराश्येन अमुष्मिन् मनः कल्पनम्" - भक्ति भगवान का भजन। इस लोक और परलोक के फल को भोगने की इच्छा का सर्वथा त्याग कर भगवान में मन को दृढ़ करना ही भजन है"।

भगवद्गीता में भी इसी प्रकार भक्ति करने का उपदेश है इसलिए ही जहां कर्म करने का उपदेश है वहाँ उसे फल की इच्छा बिना करने के लिए कहा गया है। कर्म में आसक्ति का निषेध है। कर्म, आसक्ति के बिना करना है, कारण कि आसक्ति बिना अर्थात भगवदर्थ अथवा कामना रहित कर्म करने से ही परम पद की प्राप्ति होती है(अ.3/19)।

कर्म मे आसक्ति न रखते हुए भगवान को समर्पित करके जो कर्म करते हैं, उनको जल से अस्पृष्ट कमलपत्र की भांति कर्म के पाप का स्पर्श नहीं होता(अध्याय 5/10)। योगी जन भी अन्तःकरण को शांत रख, भयरहित होकर ब्रह्मचर्य व्रत के आरचण से मन को वश में रख कर भगवान में चित्त लगाकर भगवत्परायण होकर रहें (अध्याय 6/14)। इसके अनुसार कर्म करते और योग का भी आचरण करते हुए भगवान में चित्त रखने का यहाँ उपदेश दिया गया है।

ज्ञानीजन को भी भगवान में चित्त रख भगवत्परायण रहना चाहिए। वे भी भगवान में बुद्धि और अन्तः करण रख कर उनमें ही श्रद्धा रख उनके परायण रहें तो उनके सभी पाप ज्ञान से धुल जाते हैं तथा उनको अपुनरावृत्ति अर्थात मुक्ति प्राप्त होती है(अध्याय 5/17)। तीन गुणों युक्त पदार्थों से मोह को प्राप्त सम्पूर्ण जगत नहीं जानता कि भगवान इन तीन गुणों से पर और विकार रहित हैं। यह अज्ञान भगवान की गुणमयी दैवी माया के कारण होता है और इस माया से पार पाना कठिन है अर्थात वह अज्ञान दूर करना कठिन है। जो भगवान की ही शरण आते हैं वे ही इस माया से तरते हैं और ऐसा ज्ञान प्राप्त करते हैं अतः ज्ञान प्राप्ति हेतु भी भगवान की शरण जाना और भगवान में चित्त रखना आवश्यक है(अध्याय 7/13-14)पुरूषोत्तम का जिनको ज्ञान है, वे उसे सर्वभाव से भजते हैं। भगवान क्षर पदार्थों से अतीत है, इसीलिए अक्षर ब्रह्म से भी उत्तम है। अतः लोक तथा वेद में वे पुरूषोत्तम के रूप में प्रसिद्ध हैं। जो मूढ़ न रहकर पुरूषोत्तम को इस प्रकार से जानते हैं वे सर्वज्ञ पुरूष सर्व भाव से भगवान को भजते हैं (अध्याय 15/18-19)अतः ज्ञानी जन भी सर्वभाव से भगवान की भक्ति करते हैं।

भक्ति तो पर पुरूष पुरूषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण की ही करनी चाहिए। जब ब्रह्मा का दिन होता है तब सभी व्यक्ति अव्यक्त अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और जब ब्रह्मा की रात्रि होती है तब उन सब का अव्यक्त अक्षर ब्रह्म में, लय हुआ करता है। इसके अनुसार जब ब्रह्मा का दिन और रात्रि होते हैं तब सबकी अक्षर ब्रह्म से उत्पत्ति और लय हुआ करता है। इन व्यक्तियों(क्षर पदार्थ) से पृथक अक्षर पदार्थ हैं। वह अव्यक्त और सनातन है। उसका कभी भी लय नहीं होता। उसे अक्षर कहा जाता है और वह क्षर पदार्थों से उत्तम है। वह भगवान का धाम है तथा उसे प्राप्त करने के बाद किसी को भी वापस इस लोक में नहीं आना पड़ता। भगवान इस अक्षर से भी अतीत हैं तथा अनन्य भक्ति से ही उनकी प्राप्ति होती है(अध्याय 8/18-22)।

इस 22वें श्लोक में ''पुरूषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्तवनन्या'' - ऐसा कहा गया है, इसका अर्थ कई लोग ऐसा करते हैं कि मुझसे अर्थात श्रीकृष्ण से भी पर(उत्तम)दूसरा पुरूष है और वे स्वयं जिनका भजन करते हैं वह यह पर पुरूष है। यह अर्थ ठीक नहीं है और अज्ञानियों ने गलत समझ से ही इसे उत्पन्न कर लिया है, कारण कि यहाँ क्षर और अक्षर से उत्तम पुरूष होना कहा गया है। ''मुझसे'' शब्द श्लोक में नहीं है अतः श्रीकृष्ण से उत्तम दूसरा पुरूष होना नहीं कहा गया है। साथ ही अध्याय 15/16-18 में स्पष्ट कहा है कि लोक में क्षर और अक्षर दो पुरूष हैं। प्राणी मात्र क्षर पुरूष है और कूटस्थ अक्षर पुरूष है। इन दोनों से अलग उत्तम पुरूष 'परमात्मा' है जो अव्यय ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश कर उनको धारण किए रखता है - मैं (श्रीकृष्ण) क्षर से पर हूँ और अक्षर से उत्तम हूँ अतः लोक तथा वेद में पुरूषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूँ। अतः अध्याय 8/22 में जो भी क्षर और अक्षर से उत्तम पुरूष कहे गए हैं वे भगवान श्रीकृष्ण ही हैं अन्य कोई नहीं। भगवान श्रीकृष्ण से 'पर' (अतीत) दूसरा अथवा अन्य कोई है ही नहीं। अध्याय 7/7 में भी भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि मुझसे अतीत अन्य कुछ भी नहीं है। इससे श्रीकृष्ण से अतीत दूसरा कोई होने के बारे में अध्याय 8/22 में नहीं कहा गया तथा ऐसा अर्थ पूर्णतः मिथ्या और हास्यास्पद है।

10 वें अध्याय में भगवान अर्जुन को अपनी विभूतियों के बारे में बताते हैं। वहाँ अंत में भगवान कहते है कि जो-जो विभूतियुक्त, सौंदर्य-सम्पन्न अथवा तेजस्वी पदार्थ हैं उन सब की उत्पत्ति मेरे तेज के अंश से हुई है - ऐसा समझ। मैंने अपने एक अंश से इस सम्पूर्ण विश्व को धारण कर रखा है (श्लोक 41-42)। अतः भगवान श्रीकृष्ण ही 'परपुरूष' हैं। श्री भागवत में भी प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में अलग - अलग अंशावतार-कलावतार इत्यादि का निरूपण कर श्लोक 28 में स्पष्ट कहा है कि ''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'' अतः श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरूषोत्तम भगवान हैं और उनकी ही भक्ति करनी चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य देवों को जो श्रद्धा से भजते हैं वे भी वस्तुतः भगवान श्रीकृष्ण का ही पूजन करते हैं (कारण कि सबमें श्रीकृष्ण अंतर्विष्ट हैं), परंतु उनके द्वारा किया जाने वाला वह भजन विधिपूर्वक भजन न होने से (अध्याय 9/23)अलग अलग देवों की पूजा करने वाले उन-उन देवों को प्राप्त होते हैं। पितृ पूजन करने वाला पितृ गण को प्राप्त होता है, भूत पूजन करने वाला भूतों को प्राप्त होता है जबकि भगवान श्रीकृष्ण को भजने वाला भगवान श्रीकृष्ण को प्राप्त होता है (अध्याय 9/25)। ब्रह्मा के लोक से प्रांरभ कर नीचे के सभी लोक पुनः पुनः संसार में गिराते हैं परंतु जिसे भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है उसका पुनर्जन्म नहीं होता (अध्याय 9/16)। इसके अतिरिक्त, कोई चाहे जितना दुराचारी हो परंतु अनन्यतापूर्वक भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति करता हो तो उसे उत्तम पुरूष ही मानना चाहिए, कारण कि उसका निर्णय (श्रीकृष्ण की भक्ति करना) उत्तम है और इसलिए वह अल्पसमय में ही धर्मात्मा होकर सदैव के लिए शांति प्राप्त करता है। भगवान श्रीकृष्ण के भक्त का कभी भी नाश नहीं होता (अध्याय 9/30-31)। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण की भक्ति भी अनन्यता से ही करनी चाहिए। जो पुरूष अनन्यता से भगवान श्रीकृष्ण का चिंतन और भजन करते हैं उनके योग और क्षेम का वहन भगवान स्वयं करते हैं (अध्याय 9/22)। जो सर्व (लौकिक तथा वैदिक) कर्म भगवान को अर्पण कर, उनके परायण रहकर, अनन्यता से उनका ध्यान करते हुये भजन करता है, भगवान जन्म मरण युक्त संसार सागर से तुरंत उसका उद्धार करते हैं (अध्याय 12/6-7)। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप के दर्शन कराए। ऐसे स्वरूप के दर्शन करने के लिए देव भी सदा आकांक्षा रखते हैं। वेद-तप-दान-यज्ञ आदि साधनों से भगवान के ऐसे स्वरूप के दर्शन नहीं हो सकते परंतु भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति से ही उनके ऐसे स्वरूप का ज्ञान, दर्शन आदि हो सकते हैं (अध्याय 11/53-54)। आगे जाकर भगवद्गीता के अंत में भगवान अर्जुन को सबसे गुह्यतम

उत्तम उपदेश करते हैं, कारण कि वह भगवान को अत्यंत प्रिय था। वहाँ भगवान उपदेश करते हैं कि मुझ में मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर, मुझे नमस्कार कर। तू मुझे प्रिय होने से मैं सत्य कहता हूँ कि ऐसा करने से तू मूझे ही प्राप्त होगा। आगे और भी उपदेश करते हैं कि सभी धर्मों को त्याग कर तू मुझ एक की ही शरण में आ (अध्याय 18/64-66)। यहाँ भगवान की ही भक्ति करने और एकमात्र उनका ही आश्रय करने का उपदेश स्पष्ट ही है। सम्पूर्ण भगवद्गीता का तात्पर्य और सबसे गुह्यतम उत्तम उपदेश यही है।

यहाँ सभी धर्मों का त्याग कर मात्र श्रीकृष्ण की ही भक्ति और आश्रय करने का उपदेश है। ऐसा ही उपदेश श्रीमद्भागवत में भी है। व्यास जी ने महाभारत की रचना की। उसको पढ़ने तथा उससे ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार शूद्रों को भी रहे इसलिए उसका इतिहासवाचक 'भारत' नाम रखा परंतु उसमें वेद का संपूर्ण अर्थ प्रतिपादित किया।(1/4/29)

इतने पर भी उनको संतोष नहीं हुआ और उस अंसतोष के कारण पर विचार करते हैं। इतने में वहाँ नारद जी आए और उन्होने व्यास जी को उसका कारण बताते हुए स्पष्ट कहा है कि ज्ञान अथवा कर्म कुछ भी भगवान की भक्ति के बिना शोभित नहीं होता। यह (1/5/12) और (1/5/17 तथा 18 में) निर्णय बतलाया। इस श्लोक की टीका में सुबोधिनी में श्रीमदाचार्यचरण स्पष्ट कहते हैं कि भगवान की कथा का श्रवण धर्माचरण करने वालों को ही करना चाहिए लेकिन धर्म का त्याग करके करना चाहिए। विशेष विवेचन के लिए इस श्लोक पर सुबोधिनी जी की टीका पढ़कर देखें। परिणाम यही मिलता है कि धर्म (कर्म) का त्याग करके भगवान श्रीकृष्ण की अनन्यतापूर्वक भक्ति करनी चाहिए।

निवेदक
नानूलाल गांधी

सर्वाधिक गुह्यतम मेरे परम वचन पुनः सुन। तू मुझे अत्यंत प्रिय होने से तेरा हित कहता हूँ।

मुझमें मन रखने वाला हो, मेरा भक्त हो, मुझे नमस्कार कर। तू मुझको प्रिय है। अतः तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मुझे ही पाएगा।

सब धर्मों का परित्याग कर मुझ एक की ही शरण में आ। मैं तेरा सब पापों से मोक्ष करूंगा। शोक मत कर।

गीता का यह उपदेश तप नहीं करने वाले, भक्तिरहित, श्रवण की इच्छा न रखने वाले तथा मुझसे असूया रखने वाले को मत कहना।

जो यह परम गुह्य(ज्ञान) मेरे भक्तों को कहेगा वह मुझमें पराभक्ति प्राप्त कर निस्संदेह मुझे ही प्राप्त करेगा।

भूतल पर मनुष्यों में कोई भी मेरा विशेष प्रिय करने वाला नहीं, और उनमें से कोई भी मुझे विशेष प्रिय रहने वाला नहीं।

जो हमारे इस धर्म-विषयक संवाद का अध्ययन करेगा उसने मुझे ज्ञान यज्ञ से पूजा है, ऐसी मेरी मति है।

श्रद्धावान तथा असूयारहित जो नर इस सवांद का मात्र श्रवण करेगा वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म वालों के शुभ लोक को प्राप्त करेगा।

भगवद्गीता अनुक्रमाणिका

गीतातात्पर्यम् – श्री विट्ठलनाथ प्रभुचरण विरचित	XLVii - LV
अध्याय 1 – अर्जुन विषाद योग	1-47
अध्याय 2 – सांख्य योग	49-132
अध्याय 3 – कर्म योग	133-181
अध्याय 4 – ज्ञान–कर्म संन्यास योग	183-235
अध्याय 5 – कर्म – संन्यास योग	237-266
अध्याय 6 – आत्मसंयम योग	267-313
अध्याय 7 – ज्ञान – विज्ञान योग	315-349
अध्याय 8 – अक्षरब्रह्म योग	351-381
अध्याय 9 – राजविद्या राजगुह्य योग	383-424
अध्याय 10 – विभूति योग	425-466
अध्याय 11 – विश्वरूप दर्शन योग	467-525
अध्याय 12 – भक्ति योग	527-549
अध्याय 13 – क्षेत्र – क्षेत्रज्ञ विभाग योग	551-588
अध्याय 14 – गुणत्रय विभाग योग	589-615
अध्याय 15 – पुरूषोत्तम योग	617-646
अध्याय 16 – दैवासुर संपद् विभाग योग	647-677
अध्याय 17 – श्रद्धात्रय विभाग योग	679-704
अध्याय 18 – मोक्ष संन्यास योग	705-785

श्री विट्ठलेश्वर प्रभु चरण प्रणीत गीता तात्पर्यम् –

अनुवादक : वसंतराम हरि कृष्ण शास्त्री, सं. 1999 ई. 1932

मंगलाचरण :

पितृचरण श्री वल्लभाधीश्वर के चरण कमलों में मैं प्रणाम करता हूँ। कमल में एक प्रकार का मादक मकरंद रस होता है और वह भ्रमर को आत्म–विस्मृत कर देता है, वैसे ही यहाँ भी कृपारूप मकरंद रस है। इस कृपा–रस से परिपूर्ण चरणकमल हैं। और आप श्री के कुल को श्री गोकुलेश– श्रीकृष्ण ने स्वरूपबल से अपना लिया है। श्री गोकुलवासियों ने क्या साधन किए थे ? इसके बावजूद समग्र श्रीमद् गोकुल को जिन्होनें अंगीकार किया, उन श्री गोकुलपति ने श्रीवल्लभकुल को भी प्रमेय बल से अंगीकार किया है।

विचार प्रारंभ :

मैं भी इस अंगीकार किए गए कुल में ही हूँ। अत: विचार करता हूँ कि श्रीकृष्ण के मुख – कमल से स्रवित हुए गीता रूप अमृतसागर के आविर्भाव का कारण क्या है ? यह विचार मैं अपने स्वयं के बुद्धि बल से नहीं बल्कि प्रभु के अनुग्रह से कर रहा हूँ।

कमल से जैसे मकरंद रस स्रवित होता है वैसे प्रभु के मुखारविंद से इस गीता रूप महान सुधासागर के प्रकट होने के रहस्य का विचार भी आपश्री के कृपा बल से ही करना है। यहाँ गूढ़ रहस्य रूप एक बात यह है कि श्री वल्लभाधीश्वर भगवन्मुखारविन्द में विराजते अग्नि स्वरूप हैं। अत: जैसे अग्नि में से जल की उत्पत्ति होने का वर्णन श्रुति करती है वैसे यहाँ भी मुखकमल से सुधासमुद्र का प्राकट्य हुआ, ऐसा रहस्य वर्णित है।

शंका : गीताजी में तो साक्षात श्रीहरि स्वयं कुंती पुत्र अर्जुन को इस तत्व का उपदेश देते हैं। कुंतीजी ठहरीं भक्त और अर्जुन उनका पुत्र है, अत: भक्त के संबंध का विचार कर अर्जुन को यह गूढ़ रहस्य गीताजी में प्रभु कहते हैं। इसमें प्रारंभ में ही गीताजी में अभक्त धृतराष्ट्र के वचन कैसे हैं? भगवान भक्त को

उपदेश करें उसमें प्रारंभ में ही असुर भाव वाले अंध धृतराष्ट्र के वचन हों और उसी के वचनों से यह पवित्र गीता ग्रंथ शुरू हो तो यह अत्यंत अयोग्य और अनुचित माना जाएगा। ग्रंथारम्भ में तो सुंदर मंगलाचरण होता है। धृतराष्ट्र जैसे असुर अंध के नाम से ऐसा ग्रंथ शुरू नहीं हो सकता। शुरूआत में ही "धृतराष्ट्र उवाच" ऐसा क्यों? उसमें भी शुरूआत में ही महादुष्ट अधम पापी दुर्योधन की कथा लिखी है। आरंभ की अयोग्यता का यह भी एक दूसरा लक्षण है। तीसरा, शुरू में ही अर्जुन के विषाद का वर्णन है। यह भी अतिअयोग्य है, कारण कि गीता जैसे ब्रह्मविद्या शास्त्र के अधिकारी के लिए ऐसा शोक और खेद आवश्यक नहीं। अर्जुन का यह प्रारंभिक विषाद भक्तिरूप भी नहीं है। यहाँ कोई यह स्पष्टीकरण दे कि अर्जुन को जब खेद हुआ तब प्रभु ने गीताजी का उपदेश किया। तो अब गीताजी का उपदेश करने में कारण रूप से प्रारंभ में उपदेश पात्र अर्जुन के विषाद का वर्णन हुआ है तो उस में अयुक्तिसंगत क्या किया? इस स्पष्टीकरण से कोई भी संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि इस विषाद से ही तो चित्त में विक्षेप-घबराहट होती है। जब चित्त ही स्थिर न हो तो शांति कहाँ से मिले? शांति आदि गुण न हो तो ब्रह्म विद्या का अधिकार भी कैसे माना जाये? ऐसी अस्थिर मनोदशा, खेद, पाप का भय आदि से उत्पन्न क्षुब्धता जहां विद्यमान हो वहाँ शम-दमादि गुण सम्पत्ति की संभावना कैसे मानी जाये? और इन सद्गुणों के अभाव में प्रभु ब्रह्म विद्या का उपदेश कैसे करें ? अतः हमें तो ऐसा लगता है कि अधिकार न होने के कारण गीताजी में ब्रह्म विद्या का उपदेश ही नहीं है बल्कि उसमें लौकिक कथा का वर्णन है। यही स्वीकार करना बेहतर रहेगा। कारण कि श्रोता का जितना और जैसा अधिकार; तदनुसार ही उतना और वैसा उपदेश होगा।

विशेष संदेह :

अर्जुन को गीतारूपी ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया गया है और अर्जुन पर उसका प्रभाव पड़ा हो तो क्या इससे बने जैसा विचार कर लेना। ब्रह्म विद्या के श्रवण से अर्जुन को विशुद्ध वैराग्य उत्पन्न हो; और परिणामतः अर्जुन राज्यादि सर्वस्व

का त्याग कर दे - ब्रह्म विद्या के उपदेश का तो ऐसा परिणाम मानना उचित है परंतु यहाँ तो कुछ और ही सिद्ध हो रहा है। गीताजी के उपदेश के बाद अर्जुन ने गुरूजन, पूज्य पुरूषों आदि की हत्या की है, राज्य का भोग किया है। ब्रह्म विद्या के उपदेश के बाद द्रोण- गुरू आदि की हत्या और राज्यभोग कदापि नहीं हो सकता। इससे समझा जा सकता है कि गीताजी में ब्रह्म विद्या का उपदेश नहीं है। उपर्युक्तानुसार प्रारंभ और अंत की कथा से ब्रह्म विद्या के उपदेश की गीताजी में विद्यमानता संगत प्रतीत नहीं होती। इतना ही नहीं, ऐसा मान लेना प्रसंग की क्रमिकता से भी जैसे विरूद्ध ही प्रतीत होता है। इन कारणों से ऐसा विदित होता है कि अर्जुन मूलतः ब्रह्म विद्या का अधिकारी ही नहीं है। और इसीलिए प्रभु को भी उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए। तदुपरांत अनधिकारी अर्जुन को प्रभु लौकिक बातों का उपदेश करें - ऐसा तो प्रभु से कदापि संभव नहीं और प्रभु के उपदेश का परिणाम गुरू हत्या और राज्य भोग भी नहीं हो सकता । उपर्युक्त के अनुसार तो विचार करने वाले की बुद्धि उभय पक्ष से संकट मे पड़ गई। इसीलिए तो खेद होता है।

समाधान :

ऊपर हुई शंकाओं के समाधान स्वरूप भगवत् कृपा के बल से गीता का तात्पर्य मैं कहता हूँ। यहाँ हमें भक्तिमार्ग की दृष्टि से देखना है। भक्तिमार्ग की रीति अनोखी है, अलौकिक और लोकातीत है। लोक की दृष्टि जिस रहस्य के मर्म को विवृत न कर सके ऐसी दिव्य रीति भक्तिमार्ग की है। इसीलिए गीताजी जैसे भक्तिमार्ग के थाती रूप ग्रंथ में प्रारंभ में धृतराष्ट्र आ जाये तो किसी प्रकार के क्षोभ की आवश्यकता नहीं है। महाभारत के कथानायक अर्जुन का अंगीकार भी लोकातीत - अलौकिक भक्तिमार्ग में हुआ है। पृथा, कुंतीजी स्वयं भक्त होने से उनके संबंध से उनके सभी पुत्रों को प्रभु ने अपने तरीके से अपनाकर उनका अंगीकार भक्तिमार्ग में किया है। इसीलिए श्रीमद्भागवत के अध्याय 3/1/12 में विदुरजी कहते हैं - "पृथा - कुंती के सभी पुत्रों को भगवान मुकुन्द ने अंगीकार किया है"। उन्होंने कोई भी साधन नहीं किया, सहायता के

लिए उन्होंने प्रार्थना भी की अथवा नहीं, इसकी भी प्रभु को दरकार नहीं। मात्र कुंती जी के संबंध को ध्यान में रखा। विदुरजी के वाक्य से भी यह समझा जा सकता है कि पांडवों का अंगीकार भक्तिमार्ग में हुआ है। और इस अंगीकरण के फलस्वरूप लौकिक व्यवहार उनमें नही रहेगा। वरना क्षत्रिय युद्ध में सहोदर भाई भी सहोदर भाई की हत्या करने में सोच-विचार नहीं करता। वैसे, लौकिक व्यवहार के अनुसार शत्रुओं को मारकर भक्त पांडव यदि राज्य भोगें तो उस राज्य से भगवान का संबंध ही न रहे तथा उस स्थिति में पांडवों का भगवदीयत्व भी नहीं ही जाना जा सकता। पर यहाँ तो अर्जुन अपनी इच्छा से ही स्वजन-गुरूजन की हत्या से प्रारंभ में ही पीछे हट जाता है अर्थात अर्जुन को लौकिक रीति-भाँति तो स्वीकार ही नहीं है। यदि अर्जुन लौकिक क्षत्रिय होता तो सभी को मारकर राज्य भोगने के लिए लालायित रहता, किसी प्रकार का सोच विचार नहीं करता। कारण कि, क्षत्रिय का धर्म है कि युद्ध में सहोदर भाई भी सामने आ जाए तो उससे युद्ध करने में नहीं झिझके। फिर शूरवीर पुरूष में युद्ध के मैदान में युद्ध छिड़ जाने पर वीर रस उत्पन्न हो जाता है क्योंकि क्षत्रियों का स्वभाव और वह वातावरण वैसा ही होता है। ऐसे समय में वैराग्य कहाँ टिक सकता है? परंतु ऐसे विकट अवसर पर क्षत्रिय अर्जुन में वैराग्य उत्पन्न हुआ उसका कारण भगवदीयत्व है। अर्जुन को भक्तिमार्ग में अंगीकार कर प्रभु ने उसमें भक्यात्मकता का बीज - वपन कर दिया है। अत: उसे क्रूर क्षत्रिय स्वभाव पर विजय हो गयी है और भक्तत्व के प्रताप से रणांगण में भी उसे वैराग्य हो गया है! यह अर्जुन के भगवदीय होने का साक्षात प्रमाण है।

गहन विश्लेषण की दृष्टि से देखें, तो लौकिक क्षत्रियों की भाँति सगे-संबंधियों के वध के उपरान्त प्राप्त हुये राज्य से प्रभु का संबंध ही न रहे तथा उसके अभाव में राज्य एक भगवदीय से भोगा ही न जाए। इसी कारण से अर्जुन पहले तो गुरू हत्या आदि से पीछे हट गया! जब भगवान की आज्ञा उनके सहांर की हुई और पृथ्वी पर से असुरों का भार उतारने का स्पष्ट आदेश

हुआ तो अर्जुन ने दास की भांति अपने स्वामी के आदेश का पालन किया। फलस्वरूप प्राप्त हुए राज्य से भगवान का संबंध भी स्थापित हो गया। इसके बाद उस राज्य का उपभोग भगवदीय के लिए दोष रूप नहीं हो सकता । क्योंकि यह सब करने के लिए भगवान की आज्ञा प्राप्त है।

कौरवों में आसुर भाव :

दूसरी ओर कौरवों को देखें, तो उनमें असुर भाव है। वे क्षत्रिय हैं, पांडवों के भाई हैं, सबका योग-क्षेम, लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा एक जैसी है। जिस कार्य से पांडव जीवन-निर्वाह करते हैं उसी कार्य से कौरव भी करते हैं। उसके बावजूद कौरवों में वैराग्य अंश-मात्र भी उत्पन्न नहीं हुआ। कारण कि वे असुर हैं ; भक्त नहीं। वैराग्य तो भक्त को होता है। योग-क्षेम एक-सा होने से असुर स्वभाव दैवी नहीं बन जाता। इसी आधार पर योग-क्षेम एक-सा होने से भक्त का स्वभाव आसुरी नहीं हो जाता। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए गीताजी के आरम्भ में ही धृतराष्ट्र और उसके पुत्र कौरवों की कथा कही है। ऐसा कहकर इन दुष्ट असुरों का उत्साह सूचित कर दिया गया है। प्रारम्भ में ही चित्रित कर दिया है कि लौकिक क्षत्रियों का सांसारिक उत्साह कैसा होता है। तदनंतर भक्त अर्जुन की कथा कही। असुर के विपरीत एक भक्त के हृदय में ऐसा प्रसंग आने पर कैसे भावों का उद्भव होता है, यह विचार भी तुरंत ही स्पष्ट कर दिया है।

भगवदीय का धर्म :

भक्त जब भगवदीय-भगवान का हो जाता है तो उसकी बुद्धि भगवत्कार्य में प्रवृत्त होती है। भगवदीय की मति भगवान के कार्यों में अनुस्यूत रहे-यही उचित है। यदि वैसा न हो तो वह सुमति नहीं कहा जा सकता बल्कि कुमति या कुबुद्धि ही कहा जाएगा। भगवान की आज्ञानुसार कार्य करने वाली बुद्धि सद्बुद्धि और अन्य कुबुद्धि। भक्तिमार्ग की यह स्वतंत्र व्यवस्था है। ऐसा न मानने से नीचे बताया हुआ विरोध पैदा होगा।

कुमति अर्थात क्या?

धर्मशास्त्र आदि में गुरुजन, पूज्य पुरुष आदि का वध निंदनीय बताया है। उसका निषेध किया है। अत: तदनुसार ऐसे वध से दूर रहने की मति उत्पन्न हो तो उसे ''सुमति'' कहा जाता है। इसलिए शुरू में अर्जुन यदि स्वजन वध से पलायन करता है तो उसकी यह बुद्धि सुबुद्धि मानी जाएगी क्योंकि वह धर्मशास्त्रानुसार आचरण कर रहा है। परंतु भीष्म पितामह ने भगवान की स्तुति में अर्जुन की इस सुमति का ''कुमति'' के रूप में वर्णन किया है। वे कहते हैं कि ''दूर खड़ी-सेना को सामने देख'' - मुझे दोष लगेगा- वाली बुद्धि से स्वजनों के वध से मुँह मोड़ने वाले अर्जुन की 'कुमति' को प्रभु ने आत्मविद्या से स्पष्टत: हर लिया है।

इन वचनों से स्पष्ट हो जाएगा कि जहां लोक-वेद स्तंभित हो जाते हैं वहाँ से भक्तिमार्ग की मर्यादा शुरू होती है। अलौकिक और अवैदिक का अर्थ यह नहीं है कि वह लोक और वेद से विरूद्ध हो पर जो लोक और वेद से अगम्य हो, जो लोक और वेद से पर हो वह लोकवेदातीत है। धर्मशास्त्र में जो सद्बुद्धि से अभिहित है उसकी भक्तिमार्ग में भक्त कुबुद्धि के रूप में पहचान करा देता है। भक्ति मार्ग में मात्र भगवदाज्ञा का विचार किया जाता है। धर्म-शास्त्र का विचार नहीं किया जाता। अत: भगवदाज्ञा का अनुसरण करते चलना ही भक्तिमार्गीय परम धर्म है। इसी कारण लोक और वेद की दृष्टि से भक्तिमार्ग का विचार नहीं किया जा सकता। इसी कारण से गीताजी रूप ब्रह्म विद्या के उपदेशोपरांत अर्जुन की प्रवृत्ति तत्काल असुरजनों के वध की ओर हो गई। कारण कि भगवदिच्छा तथा प्रेरणा असुरों को मारने के लिए थी इसलिए आरम्भ में ही की गई शंका कि ''ब्रह्मविद्या के उपदेश के पश्चात तो अर्जुन को सर्व राज्यादि का त्याग अपेक्षित था न कि गुरु आदि का वध।''- दूर हो जाती है। इसका मूल कारण यह है कि शुद्धाद्वैत ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त करने के पश्चात ही अर्जुन ने भगवान की आज्ञा का पालन किया और यही मुख्य धर्म है तथा सच्चे अर्थों में सर्वत्याग भी।

सर्वत्याग अर्थात् क्या?

सर्व अर्थात सब का त्याग। इस त्याग में लोक और वेद भी आ जाते हैं। जब तक लोक-वेद का बंधन रहता है तब तक सर्वत्याग नहीं माना जा सकता। इसकी प्राप्ति बिना लोक-वेद के त्याग की बात तो व्यर्थ डींग मारना मात्र है। उच्च दशा प्राप्त होने पर लोक और वेद का त्याग कर केवल प्रभु का ग्रहण ही सच्चा सर्वत्याग है। यह सर्वत्याग अर्जुन ने किया - यह गीताजी के वाक्यों से प्रमाणित होता है।

भगवान ने जब अर्जुन से पूछा कि - ''हे पृथा पुत्र ! एकाग्रतापूर्वक सुना क्या?'' तब अर्जुन ने ''मेरा मोह नष्ट हुआ। अब मैं आपकी आज्ञा का अनुसरण करूंगा।'' अंत में यह जवाब दिया। यह वचन ऊपर के कथन से भी फलीभूत है कि अर्जुन केवल भगवदीय है और उसने सर्व त्याग - लोक वेद त्याग पूर्वक मात्र प्रभु के शरणपन्न हो अतंत: उनकी आज्ञा का पालन किया है।

अब राज्यादि का त्याग अर्जुन ने क्यों नहीं किया? यदि यह शंका शेष रह जाती है तो उसका निराकरण इस प्रकार कर लिया जाना चाहिए। राज्यादि का त्याग ज्ञानी जन किसलिए करते हैं? इसका विचार करने पर स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि राज्यादि मोक्ष प्राप्ति में विघ्न रूप हैं। मोक्ष में प्रतिबंध लाने वाले होने से ज्ञानी लोग उनका त्याग करते हैं। पर यहाँ तो भक्तिमार्ग है। भगवान की आज्ञा हुई कि ''असुरों का वध कर पृथ्वी का भार उतार''। अर्जुन ने भगवदाज्ञा शिरोधार्य कर असुरों के हनन को भगवान का कार्य समझ कर ऐसा किया। अंतत: राज्य मिला तो भी अर्जुन ने उसे भगवान को ही अर्पित किया। तदुपरान्त भगवदाज्ञा होने पर वह राज्य प्रभु का ही मान कर उसका भोग किया। भगवान की आज्ञा और भगवद् संबंध के पश्चात राज्य भोग संगत फल में कोई प्रतिबंध नहीं ला सकता। इसलिए राज्यादि का त्याग न करके अर्जुन ने कुछ भी अनुचित नहीं किया।

एक नई शंका :

अर्जुन भक्त था। उसमें भगवान की इच्छा के विरूद्ध(युद्ध न करना आदि)कुबुद्धि उत्पन्न हुई कैसे? भक्त में भगवान की इच्छा का अनुसरण करने की ही बुद्धि अपेक्षित है। ऐसी विरूद्ध मति का कारण ?

समाधान :

अर्जुन सच्चे अर्थ में भक्त था फिर भी उसके मन में ऐसी भावना नहीं थी कि मैं भगवान के अधीन होकर युद्ध करूँगा और भगवान ने अपनी इच्छा पहले से उसे बताई नहीं थी। अत: वह बेचारा क्या करे? इसलिए वह अपने वर्णाश्रम धर्म से प्रेरित होकर युद्ध के मैदान में आया। अर्जुन स्वयं क्षत्रिय होने से उसे अपना क्षात्र-धर्म स्फुरित हुआ जिससे वह उसे लेकर ही समरांगण में लड़ने आया। उसे यह भान था कि मैं एक क्षत्रिय की भाँति रण में जुझूंगा। पर यह भावन एक भक्त को शोभा नहीं देती। और अर्जुन मात्र एक भक्त से अधिक एक अंगीकार किया हुआ भगवदीय है। उसमें देह धर्म रूप वर्णाश्रम धर्म, क्षात्र धर्म की ठसक उचित नहीं है। भक्तिमार्ग की यह रीति नहीं हैं। क्योंकि यह भगवदीयों की कृति के विरूद्ध है। इसी वजह से अर्जुन के अन्त:करण में विराजमान प्रभु के प्रभाव से उसकी ऐसी बुद्धि हुई है। इसीलिए पहले उसे वर्णाश्रम धर्म के अनुसार युद्ध करने की बुद्धि आई थी। यह मति भी भगवदिच्छा से आई। उसकी ऐसी मति को देखकर भगवान ने अपनी इच्छा क्या है उसे प्रकट कर अर्जुन की कुबुद्धि दूर कर दी। अन्न खिलाने से पहले जैसे कुशल वैद्य मनुष्य की भूख उत्पन्न करता है वैसे ही भगवान की इच्छा से ही अर्जुन की वैसी मति हुई। कुमति भी भगवान ने ही उत्पन्न की और निज इच्छा बताकर आखिर उसका नाश भी प्रभु ने स्वयं किया। इससे यह संकेतित होता है कि भगवान जब कृपा कर बोध कराते हैं तब भक्त को भी प्रभुतत्त्व समझ में आता है। अपने चाहने से कभी समझ नहीं आता। भक्त की जब यह स्थिति है तो अन्य किसी की क्या मजाल?

उपसंहार :

अब अंत में श्री गुसाई जी तत्वरूप सार प्रकट करते हैं। जब जीव का पुष्टिमार्ग में अंगीकार हो जाता है तो उसे प्रभुतत्त्व की स्फूर्ति स्वत: ही हो जाती है। भगवान को उसे जताने का श्रम नहीं करना पड़ता। पुष्टिभक्त तो तुरंत समझ जाता है। इन कुंती पुत्रों का अंगीकार मर्यादा मार्ग में हुआ है। इसलिए पहले अर्जुन में भगवदिच्छा से जो बुद्धि उत्पन्न हुई वह ठीक थी पर बाद में भगवान के उपदेश से उसकी कुमति निवृत्त हो गई। श्री गोपीजन तो शुद्ध पुष्टिभक्त हैं अत: उनमें ऐसी बुद्धि आ ही नहीं सकती और उसे दूर करने हेतु भगवान को इतनी माथा-पच्ची नहीं करनी पड़ती। पर ये पृथा पुत्र तो मर्यादा मिश्र पुष्टि भक्त थे। कुंती जी के संबंध से प्रभु ने उन पर अनुग्रह किया। इसी स्तर तक उनका पुष्टिसंबंध था। इसलिए अर्जुन में कुमति का वास हुआ और आखिरकार भगवान ने कृपा कर उसकी कुमति को दूर किया। संक्षेप में गीताजी का यही रहस्य है।

इस प्रकार श्रीमद वल्लभाधीश्वर के चरण कमल के दास श्री विट्ठलेश्वर ने अपने हृदय में बिराज रहे भक्तिमार्ग की मर्यादा स्पष्ट की।

श्रीमद् भगवद्गीता

।। अध्याय 1 ।।

अर्जुन विषाद योग

महाभारत के छठे भीष्मपर्व में युद्ध के दसवें दिन भीष्म के युद्ध में पराजित होने के बाद संजय धृतराष्ट्र के पास आता है और सेनापति भीष्म की पराजय का समाचार देता है। तब धृतराष्ट्र भीष्म के पतन का शोक करने के अनंतर, शोक दूर होने के बाद संजय को सारी कथा विस्तार से सुनाने के लिए कहते हैं। वहाँ से गीता का आरंभ होता है। इस पहले अध्याय में अर्जुन के विषाद का वर्णन है।

कथा की संगति का ज्ञान हो इस हेतु से प्रारम्भ में वैशम्पायन (महाभारत के वक्ता) जनमेजय (महाभारत के श्रोता) को धृतराष्ट्र का निम्नांकित श्लोक कह कर गीता का प्रारम्भ करते हैं :

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जयः!।। 1।।

अन्वय :

संजय! - हे संजय; सम्बोधन

धर्मक्षेत्रे - धर्मक्षेत्र में, नाम, सप्तमी विभक्ति का एक वचन (स.ए.व.), पुल्लिङ्ग (पुं.) नाम का मूल रूप 'धर्मक्षेत्र'

कुरूक्षेत्रे - कुरूक्षेत्र में, कर्मक्षेत्र में, नाम, सं.ए.व.पुं., कुरूक्षेत्र

समवेताः - एकत्रित; सम्+अव+ई (जाना) 2 गण, भूतकृंदत (भू.कृ.), विशेषण, ''पाण्डवाः समवेताः'' का विशेष्य है

युयुत्सवः - मेरे ; 'मम' का तद्धित

च एव - और, अतिरिक्त; अव्यय

पाण्डवाः - पाण्डवों, नाम, प्रथमा विभक्ति का बहुवचन (प्र.ब.व.), पु., पाण्डव.

किम् – क्या, क्रियाविशेषण, (क्रि.वि.) अव्यय

अकुर्वत – किया, क्रियापद (क्रि./क्रि.प.) तृतीय पुरुष बहुवचन, (तृ.पु.ब.व.) (धातु का मूल रूप) ''कृ'' 8 गण, अनद्यतन भूतकाल (अन.भू.)

श्लोकार्थ : हे संजय! धर्म के स्थान कुरूक्षेत्र में, युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुये मेरे पुत्रों और पाण्डवों ने क्या किया?

विवेचन : धृतराष्ट्र यह जानता था कि, पाण्डव प्राय: धर्म के अनुसार आचरण करने वाले थे, इसके बावजूद उन्होंने अपने बान्धवरूप भीष्म को मारने रूप अधार्मिक कर्म कैसे किया? इसी अभिप्राय से यह प्रश्न किया गया है। धर्म की उत्पत्ति के स्थान कुरूक्षेत्र में, ऐसा अधर्म सम्भव कैसे हुआ? ऐसा इस प्रश्न का अभिप्राय है।

पाण्डवों का सैन्यबल तो अल्प था और दुर्योधन का अधिक। इसके अतिरिक्त, दुर्योधन की सेना में शूरवीर भी अधिक थे। इस सबको देखते हुए, उनके द्वारा (दुर्योधन की सेना के द्वारा) भीष्म की रक्षा न कर पाने के कारण रण में भीष्म का पतन हुआ, अथवा पाण्डवों ने बल से उन्हें मारकर ऐसा अधर्म किया? यह जानने के लिये धृतराष्ट्र पूछता है कि हे संजय! धर्म की उत्पत्ति के स्थान कुरूक्षेत्र में, मेरे पुत्रों ने और पाण्डवों ने युद्ध की इच्छा से एकत्रित होकर क्या किया? मेरे पुत्र अधर्म परायण होने से, उन्होंने वहां भी अधर्म किया अथवा धर्म; और पाण्डव धर्म परायण होने से उन्होंने गुरु को मारने रूप अधर्म कैसे किया? किसी एक के मरण के पश्चात ही दूसरे को राज्य की प्राप्ति हो सकती है, धर्म के अनुसारआचरण करने वाले होने से, ऐसा निश्चय उन्होंने किया था, तब फिर, उन्होंने ये क्या किया? संजय, व्यासजी प्रदत्त वरदान से सर्वज्ञ होने से, ''हे संजय!'' ऐसा सम्बोधन कर उससे प्रश्न किया गया है।

बलदेवजी की तीर्थ यात्रा के प्रसंग में, श्रीभागवत् के श्लोक *10/7/13* के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक पर अनुसंधान किया गया है।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।।
आचार्यम् उपसंगम्य राजावचनम् अब्रवीत ।।2।।

अन्वय :

तदा – तब, अव्यय

राजा – राजा, नाम, प्र.ए.व., पु. राजन्

दुर्योधन: – दुर्योधन; नाम प्र.ए.व.पु. दुर्योधन

व्यूढम् – व्यवस्थित., वि + वह् का भू.कृ.

पाण्डवानीकम् – पाण्डवों का लश्कर, षष्ठी, तत्पुरुष समास; ''पाण्डवानाम् अनीकम्'', द्वितीया विभक्ति एकवचन (द्वि.ए.व.), पु.

दृष्ट्वा – देखकर; ''दृश्'' का विधेय कृदन्त, 1 गण

तु – अव्यय

आचार्यम् – आचार्य को; नाम, द्वि.ए.व.पु., आचार्य

उपसंगम्य – पास जाकर, उप+सम्+गम् का विधेय कृदन्त

वचनम् – वचन, नाम, द्वि.ए.व.नपु.

अब्रवीत – बोला, क्रि.तृ.पु.ए.व., ''ब्रू'' 2 गण, अनद्यतन भूतकाल

श्लोकार्थ : उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह में व्यवस्थित देख, राजा दुर्योधन ने आचार्य के पास पहुँचकर निम्न वचन बोले।

विवेचन : युद्ध कर्त्तव्य है, ऐसा बोध भगवान द्वारा कराया गया होने से पाण्डवों ने युद्ध किया अत: भगवद् आज्ञा के अनुसार आचरण करने से, पाण्डवों ने अधर्म नहीं किया, इस प्रकार का उत्तर देने की इच्छा संजय की होने से, 18 (2–19) श्लोक से संगति कहते हैं। धृतराष्ट्र का प्रश्न सुन, प्रथम उसने अपने पुत्रों की बात पूछी होने से, प्रथम उसके पुत्र की ही बात कही (संजय द्वारा)

गई है। उस समय, अर्थात युद्ध प्रारम्भ के समय, राजा दुर्योधन व्यूह में व्यवस्थित पाण्डव सैन्य को देख, द्रोणाचार्य के समीप जाकर निम्नवत (श्लोक 3-11) बोला। दस श्लोक से (2 से 11) प्रथम दुर्योधन की कथा कही गई है, अतः अपराधी होने के बावजूद, युद्ध में प्रथम प्रवृत्ति उसी की हुई है, ऐसा भान होता है।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम् आचार्य! महतीं चमूम्।।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।। 3।।

अन्वय :

आचार्य - हे आचार्य! सम्बोधन

तव - तुम्हारे; सर्वनाम, ष.ए.व., युष्मद्

शिष्येण - शिष्य से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'शिष्य'

धीमता - बुद्धिशाली द्वारा; विशेषण, 'शिष्येण' विशेष्य

द्रुपदपुत्रेण - द्रुपदपुत्र द्वारा, नाम, तृ.ए.व.पुं.

व्यूढाम् - व्यूहरचना से युक्त; विशेषण, वि+वह् का भू.कृ., ''चमूम्'' विशेष्य

एताम् - इन्हें, सर्वनाम; 'एतद्', द्वि.ए.व.

पाण्डुपुत्राणाम् - पाण्डु के पुत्रों की, पाण्डोः पुत्राः तत्पुरुष, षष्ठी विभक्ति बहुवचन (ष.ब.व.), पु.

महतीम् - बड़ी; विशेषण, 'चमूम्' विशेष्य

चमूम् - सेना; नाम, द्वि.ए.व., स्त्री.

पश्य - देखो; क्रिया, आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व., दृश् 1गण

श्लोकार्थ : हे आचार्य! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र द्वारा व्यूहरचनायुक्त, पाण्डवों की भारी सेना को देखिये।

विवेचन : इस श्लोक से प्रारम्भ कर नौ श्लोकों में दुर्योधन द्वारा द्रोणाचार्य को कहे गए वचन हैं। भीष्म का सेनापति पद पर अभिषेक होने के कारण उनमें उत्साह होना स्वाभाविक है, परन्तु द्रोण को उत्साह नहीं होने के कारण, उनकी

उदासीनता देख, उनमें उत्साह उत्पन्न करने के लिये, दुर्योधन प्रतिद्वंद्वी की सेना का उत्कर्ष वर्णन करता है।

हे आचार्य! आपके लिए उभयपक्ष समान हैं, फिर भी पाण्डवों की सेना बहुत बलवती है। अतः आप हमारे लिये भलीभांति युद्ध करें, यह सूचित करने के लिये 'आचार्य' सम्बोधन किया है। अपनी सेना में भय उत्पन्न हो-ऐसी पाण्डु पुत्रों की विशाल सेना को आपके बुद्धिशाली अर्थात व्यूह-रचना में कुशल शिष्य धृष्टद्युम्न ने व्यूह में व्यवस्थित किया है - उसे देखिए। युधिष्ठिर के पास इस समय राज्य न होने से उसकी विजय कठिन है, यह जताने के लिये युधिष्ठिर की सेना नहीं कह कर, सम्पूर्ण पाण्डवों की सेना कही है। ''यह'' अर्थात समीपस्थ। ''आपके शिष्य द्रुपदपुत्र द्वारा सुसज्जित'' - इन शब्दों से सेना का बहुत बलवान होना बताया गया है। अतः यह आप द्वारा ही जीती जा सकने योग्य और इनको भय उत्पन्न करने वाली है- ऐसा सूचित करते हैं।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।4।।

अन्वय :

अत्र - यहां; अव्यय

युधि - युद्ध में, नाम; स.ए.व., स्त्री, 'युध्'

भीमार्जुनसमा - भीम और अर्जुन के समान; श्रीमश्च अर्जुनश्च इति भीमार्जुनौ, ताभ्यां समा. ''इति'', तत्पु., नाम, प्र.ब.व.पु.

महेष्वासाः - बड़े धनुष चलाने वाले; महान्तः इषवः अस्यन्ते इति येः 'बहुव्रीहि समास, विशेषण, 'शूराः' विशेष्य

शूराः - शूर; नाम, प्र.ब.पु., 'शूर'

युयुधानः - युयुधान; (सात्यकि) नाम, प्र.ए.व.पु.

विराटः - विराट; नाम, प्र.ए.व., पु., 'विराट'

च - और; अव्यय

द्रुपदः - द्रुपद; नाम, प्र. ए.व.पु., 'द्रुपद'

महारथः – महारथी, ''महान च असौ रथः यस्य इति'' ब्रहुबीहि समास, विशेषण, वि., ''द्रुपदः''
च – और; अव्यय

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरूजित्-कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।। 5।।

अन्वय :
धृष्टकेतुः – धृष्टकेतु; नाम, प्र, ए.व., पु., 'धृष्टकेतु'
चेकितान : – चेकितान; नाम, प्र.ए.व.,पु., 'चेकितान'
च – और; अव्यय.
वीर्यवान् – शूरवीर; विशेषण, प्र.ए.व.पु. 'वीर्यवत्'
काशिराजः – काशीराज; नाम, प्र.ए.व.पु., 'काशिराज'
पुरूजित – पुर को जीतने वाला; विशेषण, प्र.ए.व.
कुन्तिभोजः – कुन्तिभोज; नाम, प्र.ए.व.
च – और; अव्यय
शैब्यः – शैब्य; नाम, प्र.ए.व.
नरपुंगवः – नरश्रेष्ठ, विशेषण; प्र.ए.व.वि., ''शैब्य''
च – और; अव्यय

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रौ द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।। 6।।

अन्वय :
विक्रान्तः – पराक्रमी, कृदन्त, विशेषण, वि+कम् १/४ गण, वि. ''युधामन्यु''
युधामन्युः – युधामन्यु; नाम, प्र.ए.व.पु.
च – और; अव्यय
वीर्यवान् – शूरवीर; विशेषण, 'वीर्यवत्'
उत्तमौजाः – उत्तमौजा; नाम, प्र.ए.व., पु., 'उत्तम औजस्'
च – और; अव्यय

सौभद्रः – सुभद्रा का पुत्र; नाम, प्र.ए.व.पु. 'सौभद्र'
द्रौपदेयाः – द्रौपदी के पुत्र; नाम, प्र.ब.व.पु. 'द्रौपदेय'
च – और; अव्यय
सर्वे – सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
एव – तथा; अव्यय
महारथाः – महारथी, विशेषण; ''महान्तः रथा येषां इति'' बहुब्रीहि समास, प्र.ब.व.पु.
सन्ति – हैं, क्रि. वर्त.का., तृ.पु.ब.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : इस युद्ध में भीम और अर्जुन के समान धनुर्धर शूरवीर, युयुधान, (सात्यकि) विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान, काशिराज, पुरूजित, कुन्तिभोज, मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान उत्तमौजा, सौभद्र और द्रोपदी के पुत्र सभी महारथी हैं।

विवेचन : इस सेना में अर्थात पाण्डुपुत्रों की सेना में, भीम और अर्जुन जैसे अतिबलवान बड़े धनुषवाले शूरवीर राजा और योद्धा हैं। भीम और अर्जुन अतिबलवान होने से, उनके समान ही दूसरों को बतलाया है, यह सब ऊपरी तौर पर सामान्य दिखाई देने पर भी, भीम और अर्जुन के समान ही हैं, यह कहने का अर्थ है।

बड़े धनुर्धर और शूर इन दो विशेषणों द्वारा उनका सामर्थ्य अभ्यास से प्राप्त एवं स्वाभाविक भी है, ऐसा भावार्थ है।

इस प्रकार पाण्डवों की सेना दर्शा कर, यह प्रबल है, यह बताने के लिये पाण्डवों की सेना के शूरवीरों का वर्णन कर नाम से उल्लेख किया है। युयुधान अर्थात सत्यकि, विराट और द्रुपद राजा हैं। विराट महारथी हैं। धृष्टकेतु आदि राजा, पाण्डवों के सम्बन्धी हैं और अपने शत्रु हैं। सौभद्र अर्थात अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य आदि युधिष्ठिर आदि से उत्पन्न द्रौपदी के पांच पुत्र हैं। ये सब

महारथी हैं। शस्त्र-शास्त्र में प्रवीण एक ही मनुष्य दस हजार योद्धाओं से युद्ध करे वह ''महारथी'' कहा जाता है।

इस प्रकार पाण्डव सेना के योद्धाओं को गिनाकर, उत्साह उत्पन्न करने के लिये, स्वयं के सैनिकों की बात कहता है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम!।।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते।। 7।।

अन्वय :

द्विजोत्तम - ब्राह्मणों में उत्तम, संबोधन, नाम
अस्माकं - हमारे; सर्वनाम, ष.ब.व. 'अस्मद्'
तु - भी; अव्यय
ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'यद्' का पु.
विशिष्टः - मुख्य; वि+शिष्. का भू.कृ. 'विशेषण'
तान् - उन; सर्वनाम, द्वि.ब.व., 'तद्'
निबोध - ज्ञान; नि+बुध् १ गण, आज्ञार्थ द्वि.प.ए.व.
ते - आपको; सर्वनाम; च.ए.व., युष्मत्
संज्ञार्थम् - ज्ञानार्थ; 'संज्ञायै इति संज्ञार्थ क्रिया विशेषण'
ये - जो, सर्वनाम; प्र.ब.व. 'यद्' का पु.
मम - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व., 'अस्मद्'
सैन्यस्य - सेना के; नाम, ष.ए.व., नपु. 'सैन्य'
नायकाः - नायक; नाम, प्र.ब.व.पु.
सन्ति - हैं; क्रि. वर्त.का., तृ.पु.ब.व., 'अस्'
तान् - उन्हें; सर्वनाम; द्वि.ब.व., पु. 'तत्'
ब्रवीमि - कहता हूँ; क्रि.वर्त.का.प्र.पु.ए.व., 'ब्रू' २ गण

श्लोकार्थ : हे द्विजोत्तम! हमारे पक्ष के मेरी सेना के जो प्रसिद्ध नायक हैं, उन्हें समझिये, आपकी जानकारी के लिये मैं उनके नाम कहता हूँ।

विवेचन :- आप स्मरण करने में सक्षम हैं, यह जताने के लिये द्विजोत्तम! ऐसा संबोधन किया है। जानकारी कराने के लिये अथवा ज्ञान कराने के लिये, मेरी सेना के प्रसिद्ध नायकों के नाम कहता हूँ, ताकि उनके साथ रहकर युद्ध किया जा सके।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिस्तथैव च।। 8।।

अन्वय :

भवान् - आप., नाम, व.कृदन्त ''भू.'' का ''भवत्'' प्र.ए.व.पु.
भीष्मः - भीष्म, नाम, प्र.ए.व.पु.
च- और; अव्यय
कर्णः - कर्ण, नाम, प्र.ए.व.पु.
च - और, अव्यय
कृपः - कृपाचार्य; नाम, प्र.ए.व.पु.
च - और; अव्यय
समितिंजयः - सेना को जीतने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.
अश्वत्थामा - अश्वत्थामा; नाम,प्र.ए.व.पु.
च - और; अव्यय
विकर्णः - विकर्ण; नाम, प्र.ए.व.पु.
सौमदत्ति - सोमदत्त का पुत्र; नाम, प्र.ए.व.पु.

श्लोकार्थ - संग्राम को जीतने वाले आप, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य, वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्ति।

विवेचन - अब स्वयं की सेना के नायकों के नाम कहता है. आप द्रोणाचार्य, हम सबके आचार्य होने के नाते मुख्य हैं, अतः आप अन्य सबको युद्ध के लिये प्रेरित करें, यह आशय है. युद्ध करना और दूसरों को युद्ध के लिये प्रेरित करना यह दोनों शक्तियां आप में हैं, भीष्म भी ऐसे ही मुखिया हैं. क्षत्रिय हैं, कर्ण और कृपाचार्य भी मुख्य हैं, कर्ण को पहले अर्ध रथियों में गिना है, अतः उसे दुखः

न हो इसलिए यहां मुख्य नायक कहा है, ''संग्रामविजयी'' यह विशेषण तो कमोबेश सभी पर लागू होता हैं. जिस प्रकार दोनों पक्ष समान होने पर भी आप हमारी ओर से युद्ध कर रहे हैं,उसी प्रकार सोमदत्ति यानि कि सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा भी दोनों के लिये समान होते हुये भी, हमारी ओर से युद्ध कर रहा है.

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः!।।9।।

अन्वय :

अन्ये - दूसरे; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'अन्यद्' पु.

बहवः - बहुत; विशेषण, 'शूरा' '', विशेष्य

शूराः - शूरवीर; नाम, प्र.ब.व.पु.

नानाशस्त्रप्रहरणाः - भिन्न भिन्न प्रकार के मारक शस्त्रधारी; विशेषण, प्र.ब.व.पु.

मदर्थे - मेरे लिये; स.ए.व. ''अहम् एव अर्थः इति मदर्थः तस्मिन् मदर्थे'', कर्मधारयसमास

त्यक्तजीविताः - मरने को तत्पर; ''जीवितं त्यक्तं यैः इति'', विशेषण, बहुव्रीहि समास.

सर्वे - सब; प्र.ब.व.पु. ''सर्व''

युद्धविशारदाः - युद्ध में कुशल; विशेषण, प्र.ब.व.पु. ''युद्धविशारद''

च -और; अव्यय

सन्ति - हैं; क्रि.वर्त.काल. तृ.पु.ब.व.''अस्''

श्लोकार्थ - मेरे लिये प्राणों का उत्सर्ग करने वाले, अन्य बहुत से शूरवीर, भिन्न भिन्न शस्त्रों से प्रहार करने वाले हैं, वे सब युद्ध में कुशल हैं।

विवेचन - मेरे लिये प्राणों का त्याग करने वाले, अर्थात जीने की इच्छा छोड़कर, मेरे कार्य को सफल करने में तत्पर, ऐसे अन्य भी, प्राण न्योछावर करने वाले हैं,और ये सब युद्ध में अत्यंत निपुण है. आप सब जीवन का त्याग

कर, मेरे कार्य की सफलता के लिये उद्यम करते हैं, अतः मेरी विजय निश्चित है। यह पिछले दो श्लोकों का तात्पर्य है।

अपर्याप्तम् तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।। 10।।

अन्वय :

भीष्माभिरक्षितम् - भीष्म द्वारा पूर्णरूपेण रक्षित;''भीष्मेण अभिरक्षितं'', तत्पुरूष, उपपद समास, विशेषण, वि. 'बल'

तद् - वह; सर्वनाम, विशेषण के भाव से.

अस्माकं - हमारा; सर्वनाम, 'अस्मद्' ष.ब.व.

बलम् - सेना; नाम,प्र.ए.व.नपु.'बल'

अपर्याप्तम् - अपर्याप्त; कृदंत, विशेषण, अ+परि+आप् 5 गण, प्र.ए.व.नपु.

अस्ति - है; क्रि.वर्त.काल, तृ.ए.ब.पु. 'अस्'

भीमाभिरक्षितम् - भीम से रक्षित; ''भीमेन अभिरक्षितम्'' उपपद, समास, विशेषण, वि. 'बलम्'

एतेषाम् - इनका; सर्वनाम, ष.ब.व. 'एतद्'

इदम् - यह; सर्वनम, प्र.ए.व.नपु. 'इदम्' का

बलम् - लश्कर; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'बल'

तु - फिर., अव्यय

पर्याप्तं - पर्याप्त.; कृदतं, विशेषण, परि+आप्

अस्ति - है; क्रि.वर्त.काल., तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : भीष्म द्वारा अभिरक्षित अपना सैन्यबल, इन्हें जीतने में सक्षम नहीं है, किन्तु भीम से रक्षित, उनका यह सैन्य बल शक्तिशाली है.

विवेचन : इस प्रकार स्वयं के सेनानायकों को गिनाकर, भीष्म द्वारा रक्षित यह सेना, पाण्डवों की सेना को जीतने अथवा उनके साथ युद्ध करने में असमर्थ है, जबकि पांडवों का भीम से रक्षित सैन्यबल हमारे सैनिकों से युद्ध करने में

सक्षम हैं, कहने का आशय यह है। यहाँ ''पर्याप्त'' शब्द का अर्थ शक्तिमान अथवा समर्थ लिया गया है। स्वयं का सैन्यबल भीष्म से रक्षित होकर युद्ध करने में असमर्थ है, यह द्रोण क्रोधित न हों इस हेतु से कहा है। ''अपर्याप्त'' का दूसरा अर्थ यह है कि सैन्य गिनती में आवे उतना अर्थात थोड़ा हैं। कौरव सैन्य अपर्याप्त अर्थात अगणित बहुत बड़ा है और पांडवों का गणनीय अर्थात थोड़ा है, क्योंकि वह मात्र 7 अक्षौहिणी ही है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागम् अवस्थिताः
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।। 11।।

अन्वय :

अयनेषु- स्थान पर, मार्ग में, नाम, स.ब.व. ''अयन'' नपु.
च- और; अव्यय
सर्वेषु- सर्व में; स.ब.व.
यथाभागम् - निश्चित भाग; 'भागम् अनतिक्रम्य इति' अव्ययीभाव समास
अवस्थिताः - सुव्यवस्थित; कृदन्त, विशेषण, अव+स्था 1 गण
भवन्तः - आप.; व. कृदन्त, नाम, प्र.ब.व.पु. 'भवत्'
सर्वे- सब,सर्वनाम, प्र,ब,व,पु,
एव- मात्र; अव्यय
हि- निश्चय; अव्यय
भीष्मम् - भीष्म को; नाम, द्वि, ए, व, पु, 'भीष्म'
एव - मात्र; अव्यय,
अभिरक्षन्तु - सब ओर से रक्षण करें; अभि+रक्ष, त्री, पु,ब,व, आज्ञार्थ, 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अतः आप सभी मोर्चों पर, सभी ओर से डटकर भीष्म की ही रक्षा करें।

विवेचन : पाण्डवों का सैन्य बल समर्थ हैं, अपना असमर्थ है। अतः आप सब 'अयन' अर्थात व्यूह में प्रवेश करने के मार्ग पर, अपने अपने मोर्चे के अनुसार

डट कर भीष्म का ही रक्षण करें। मूल में 'अयनेषु के बाद 'च' शब्द है, उसका, अयन से अन्य स्थलों में भी खड़े रहकर रक्षण करें, ऐसा अर्थ है। युद्धरत भीष्म, सेना की रक्षा करते हुए, स्वयं की रक्षा करने में उदासीन रहें, ऐसा संभव है, और शत्रु कमजोरी ढूंढने वाले होने से, आप सब भीष्म का ही रक्षण करें।

संजय उवाच

तस्य संजनयन् हर्षम् कुरूवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखम् दध्मौ प्रतापवान् ।। 12।।

अन्वय :

तस्य - उनका; सर्वनाम, ष, ए, व, पु, 'तद'
हर्षम् - हर्षित; नाम, द्वि, ए,व,पु. 'हर्ष'
संजनयन् - उत्पन्नकर्ता; कर्ता, व, कृदन्त, नाम, प्र, ए, व, पु,
प्रतापवान् - प्रतापी; व. कृदन्त, नाम, प्र, ए, व, पु,
कुरूवृद्ध - कुरूओं में वृद्ध; नाम, प्र, ए, व, पु,
पितामहः - दादा; नाम, प्र, ए, व, पु,
सिंहनादम् - सिंह समान गर्जना; नाम, द्वि, ए,व,पु,ष, तत्पुरूष, 'सिंहस्य नादम्'
विनद्य - गर्जना करके; विध्यर्थ कृदन्त
उच्चैः - उच्च स्वर से; जोर से,, अव्यय,
शंखम् - शंख को; नाम, द्वि, ए, व, पु,
दध्मौ - बजाया; पूर्ण भूतकाल, तृ, पु, ए,व, ध्मा-धमति

श्लोकार्थ : उसे (दुर्योधन को) हर्षित करने के लिये कुरूवृद्ध, प्रतापी, पितामह ने जोर से सिंहनाद करके शंखध्वनि की।

विवेचन : 'सेनापति भीष्म की ही सब रक्षा करें' इस प्रकार स्वयं को सम्मान देने वाले दुर्योधन के वचन सुनकर, उसे हर्षित करने के लिए भीष्म ने शंख बजाया। भक्त होने के कारण भीष्म जानते थे कि अपनी पराजय निश्चित है,

अतः शंख आनंदातिरके से नहीं बजाया, किन्तु दुर्योधन के वचन सुनकर, उसे हर्षित करना प्रभू की इच्छा जानकर, उसे हर्षित करने के लिए शंख बजाया। कौरवों में वृद्ध होने के कारण, देश काल के अनुरूप क्या करना उचित है, वे जानते थे। पितामह होना ही हर्ष उत्पन्न करने का कारण था। सिंहनाद से ही विजय होगी, यह जताने के लिए, स्वयं के शौर्य प्रदर्शन हेतु, सिंहनाद किया।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक-गोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दः तुमलोऽभवत्।।13।।

अन्वय :

ततः - बाद में; अव्यय

शंखाः - शंख; नाम, प्र, ब, व, पु,

भेर्यः - भेरी; नाम, प्र, ब, व, भेर/भेरि/भेरी

पणवानक-गोमुखाः - ढोल; भेरी, नरसिंहा, नाम, द्वंद, समास, ''पणवः च आनकः च गोमुखः च'' प्र, ब, व,

च - और; अव्य

सहसा - एकाएक; एक साथ, अप्व्य

एव - मात्र; केवल, अव्यय

अभ्यहन्यन्त-बजाये; कर्मणि, तृ.पु.ब.व. अनद्यतन 2गण, 'अभि+हन्'

सः - वह; सर्वनाम, प्र, ए, व, 'तद्'

तुमुलः-भयंकर; विशेषण

शब्दः - शब्द; नाम, प्र, ए, व,

अभवत् - हुआ; अनद्यतन, तृ, पु, ए, व, धातु, 'भू' 1 गण परस्मै

श्लोकार्थ : फिर शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख एकदम से बजे। उनका तेज स्वर हुआ।

विवेचन :- युद्धोत्सव में प्रवृत्ति कराने वाले सेनापति का शंखनाद सुनकर, समग्र सेना को सावधान करने के लिए, भेरी आदि वाद्य बजाये गये। मूल में

'एव' शब्द है, अतः शंखनाद सुनते ही वाद्य बजाये गये। किन्तु युद्ध के प्रारंभ में स्वयं में शौर्य जागृत करने के लिये वाद्य बजाये जाने चाहिये, इस प्रकार बजाये हुये नहीं है। इनके बजने से पाण्डवों की सेना को भी युद्ध आरम्भ की सूचना मिली। इस प्रकार युद्धोत्सव वर्धक शंख ध्वनि सुनकर पाण्डवों की सेना में भी युद्धोत्सव हुआ, ये पांच श्लोक से (14 से 18) कहा गया है।

ततः श्वैतैर् हयैर् युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।14।।

अन्वय :

ततः - पश्चात; अवरूय

श्वैतैः - श्वेत; विशेषण

हयैः - अश्वों द्वारा; नाम, तृ, ब, पु,

युक्ते - जुड़े हुओं में; विशेषण, कृदन्त, स, ए, नपु, 'युनिर्'

महति - बड़े- उत्तम; व. कृदन्त, विशेषण, धातु 'महत्' पु,

स्यन्दने - रथमें; नाम स, ए, व, नपु, 'स्यन्दन'

स्थितौ - बैठे हुए; विशेषण, कृदन्त, प्र, द्वि.व., 'स्था'

माधवः - माधव; नाम, प्र, ए, व, पु,

च - और; अव्यय,

पाण्डवः - पाण्डव; नाम, प्र, ए, व, पु

एव - भी; अव्यय

दिव्यौ - अलौकिक; विशेषण, द्विती, द्विव पु

शंखौ - शंख (दो); नाम, द्विती, द्विव, पु

प्रदध्मतुः - बजाये; क्रियापद, पूर्ण भूतकाल, तृ, पु, द्वि, 'ध्मा' 1 गण, पर स्मैपद 'धमति'

श्लोकार्थ : तब श्वेत अश्वों से सुसज्जित रथ में बैठे हुए माधव और पाण्डवों ने दिव्य शंख बजाए।

विवेचन : कौरव सेना के शंख आदि की ध्वनि के पश्चात, शुभ सूचक श्वेत अश्वों से सज्जित, त्रैलोक्य को विजय करने में साधनभूत, अग्नि प्रदत्त, भगवान के बिराजने योग्य, बड़े नन्दीघोष नामक रथ में बिराजे हुए, भूमि के भार हरण में प्रवृत्त, नारायण और नर, अर्थात् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये। यह रथ भगवान का नहीं है, पर भगवान सारथी हैं, यह बताने के लिए 'श्वेत' विशेषण प्रयोग किया है। भगवान के रथ के अश्व चित्र रंग के हैं, श्वेत नहीं, पर इस रथ के अश्व श्वेत हैं। श्रीकृष्ण के लिये यहाँ 'माधव' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'मा' अर्थात लक्ष्मी और 'धव' अर्थात पति। इस प्रकार 'माधव' शब्द सूचित करता है कि, उन्हें लक्ष्मी (विजयलक्ष्मी) की प्राप्ति शीघ्र ही होगी। पाण्डव शब्द यह सूचित करता है कि यह लोग न्याय पर हैं। 'और' शब्द से यह साबित होता है कि भगवान के शंख की आवाज के साथ अर्जुन के शंख की ध्वनि भी सब के गर्व का हरण करने वाली है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।।15।।

अन्वय :

हृषीकेशः - कृष्ण, इन्द्रियों ने अधिपति; नाम, प्र, ए, व, पु, 'हृषीकाणं ईशः' ष. तत्पु.

पाञ्चजन्यं - पञ्चजन्य को; शंख का नाम द्वि, ए, व, पु,

धनञ्जयः - अर्जुन; नाम, प्र, ए, व, 'धनम् जयति इति धनञ्जय', उपपद समास

देवदत्तं - शंख का नाम; द्वि, ए, व, ''देवेन दत्तम् इति'' तृ, तत्पु, नपु,

च - और; अव्यय

भीमकर्मा - भयंकर कर्म करने वाला; विशेषण, ''भीमं कर्म यस्य सः'' बहुव्रीहि

वृकोदरः - भीम; नाम, प्र.ए.व.पु, 'वृकः उदरे यस्य सः' ''

महाशंखं - बड़े शंख को; विशेषण, द्वि, ए, व, न,पु, ''महान् च असौ शंखं च'' कर्मधारय

पौण्ड्रम - पौण्ड्र को; शंख का नाम, नाम, द्वि, ए, व, नपु,

दध्मौ - बजाया; क्रिया पद, पूर्ण भूतकाल तृ, पु, ए, व, ''ध्मा'' परस्मै, 1 गण

श्लोकार्थ : हृषीकेश भगवान ने ''पाञ्चजन्य'' नामक, धनञ्जय अर्जुन ने ''देवदत्त'' नामक और भयंकर कर्म वाले वृकोदर भीम ने, ''पौण्ड्रक'' नाम का बड़ा शंख बजाया।

विवेचन : श्री कृष्ण आदि के शंख प्रसिद्ध और माहात्म्य वाले थे, यह बताने के लिए, उनके नाम दो श्लोकों (15-16) से कहे हैं। ''हृषीकेश'' यानि इन्द्रियों के ईश। इन्द्रियों के ईश श्रीकृष्ण युद्ध में प्रवृत्त हुए, अतः सब इन्द्रियां युद्ध में प्रवृत्त होंगी यह बताने के लिए ''हृषीकेश'' शब्द योजित किया है। श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया। पञ्चजन दैत्य में से बना हुआ शंख वह पाञ्चजन्य। ''धनञ्जय'' अर्थात अर्जुन ने ''देवदत्त'' नामक शंख, जो अग्नि द्वारा प्रदत्त है, बजाया और भयानक कर्म करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक शंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।16।।

अन्वय :

कुन्तीपुत्रः - कुन्ती का पुत्र; नाम, प्र, ए,व, पु,

राजा - राजा; नाम, प्र, ए, व, 'राजन्'

युधिष्ठिरः - युधिष्ठिर; नाम, प्र, ए, व, पु, 'युधि, स्थिरः इति,' अलुक् समास

अनन्तविजयम् - 'अनन्तविजय' नाम के शंख को, नाम, प्र, ए, व, पु, ''अनन्त विजयः यस्य बहुव्रीहि

नाम शंखं दध्मौ - नाम के शंख को बजाया

नकुलः - नकुल; नाम, प्र, ए, व, पु,

सहदेव : - सहदेव; प्र, ए, व, पु,

च - और; अव्यय

सुघोष-मणिपुष्पकौ - सुघोष और मणिपुष्पक नाम के दो शंखों को; नाम, द्वितीया द्वि, व. ''सुघोषश्च मणिपुष्पकश्च'' द्वन्द्व समास
नामानि शंखो दध्मतुः - नामक शंखों को बजाया।

श्लोकार्थ : कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्तविजय', नकुल सहदेव ने ''सुघोष'' व ''मणिपुष्पक'' नामक शंख को बजाया।

विवेचन : अनन्त अथवा अनगिनत पर जिससे विजय पायी जा सके, ऐसा ''अनन्तविजय'' शंख राजा युधिष्ठिर ने बजाया। ''कुन्ती पुत्र'' से यह बताया है कि कुन्ती ने ही युधिष्ठिर को युद्ध के लिये प्रेरित किया है। वह भगवान की कृपा का अधिकारी है। युधिष्ठिर की युद्ध में प्रवृत्ति आवश्यक है, यह राजा शब्द से सूचित करने में आया है। युद्ध में जो स्थिर वह ''युधिष्ठिर''। यह नाम सार्थक है, इसलिए उसका सामर्थ्य सूचित किया है। नकुल ने ''सुघोष'' और सहदेव ने ''मणिपुष्पक'' नामक शंख बजाया।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।17।।

अन्वय :
परमेष्वासः - उत्तम धनुष को धारण करने वाले; नाम, प्र, ए, व, पु, विशेषण ''परमाः इषवः अस्यन्ते'' उपपद
काश्यः - काशीराज; नाम, प्र, ए, व,पु,
च - और; अव्यय
महारथः - बड़े रथवाला; विशेषण, नाम, प्र, ए, व, पू,
शिखण्डी - शिखण्डी; नाम, प्र, ए, व, शिखण्डीन्
च - और; अव्यय
विराटः - विराट; विराट देश का; विशेषण, नाम, प्र, ए, व, पु,
धृष्टद्युम्नः - धृष्टद्युम्न; नाम, प्र, ए, व, पु, धृष्टद्युम्न्न
च - और; अव्यय
अपराजितः - अजेय; विशेषण, प्र, ए, व, पु, ''न पराजितः'' नत्र् तत्पुरुष

सात्यकिः - सात्यकि; नाम, प्र, ए, व, पु,
च - और; अव्यय

द्रुपदो दौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते!।।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक पृथक ।। 18।।

अन्वय :
पृथिवीपते - पृथ्वी का पति; राजा,सम्बोधन, ए,व
द्रुपदः - द्रुपद; नाम, प्र.ए.व.पु.
द्रौपदेयाः - द्रोपदी के पुत्र; नाम, प्र, ब,व,पु, ''द्रोपद्याः पुत्राः''
च - और, अव्यय
महाबाहुः - बलवान, विशेषण, प्र.ए.व.पु. ''महान् बाहुः सः'' बहुव्रीहि
सौभद्रः - सुभद्रा का पुत्र; प्र, ए, व,पु, ''सुभद्रायाः पुत्रःसौभद्रः''
च सर्वशः - पृथक्-पृथक्; और सब तरह से जुदा, जुदा, अव्यय
शंखान् - शंखो को; नाम, द्विती, ब, व,पु, 'शंख'
दध्मुः - बजाये; क्रियापद, पूर्णभूतकाल, तृ,पु,ब,व, ध्मा-धमति 1गण

श्लोकार्थ : हे पृथ्वीपति! श्रेष्ठ धनुषवाले काश्य, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजित, सात्यिक, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रों और सुभद्रा के महाबाहु पुत्र ने सब तरफ से अलग- अलग शंख बजाए।

विवेचन : मुख्य-मुख्य योद्धाओं और उनके शंखों का नाम लेकर, अन्य मुख्य सैनिकों के नाम कहते हैं। 'काश्य' अर्थात् काशीराज, शिखण्डी महारथी है, अर्थात शस्त्र शास्त्र में प्रवीण और 'च' शब्द होने से श्रेष्ठ धनुर्धर भी था। सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु महाबली है, अर्थात युद्ध करने में समर्थ है।

'हे पृथ्वीपति' सम्बोधन धृतराष्ट्र को इसलिए है कि यह सब अनर्थ आपका किया हुआ है। 'जुदा जुदा' अर्थात् प्रत्येक की अलग-अलग पहचान हो इस प्रकार बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।19।।

अन्वय :

सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तद्'
तुमुलः – भयंकर; विशेषण, पु.
घोषः – नाद; नाम, प्र.ए.व.पु.
नभः – आकाश; नाम, द्वि.ए.व., पु.
च – और; अव्यय
पृथिवीम् – पृथ्वी को; नाम, द्वि.ए.ए.व.स्त्री.
एव – भी; अव्यय
व्यनुनादयन् – गर्जना करते; विशेषण, कृदन्त, वि+अनु+नद्
धार्तराष्ट्राणां – कौरवों के; नाम, ष.ब.व.पु.
हृदयानि – हृदयों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.
व्यदारयत् – चीर दिये; वि+द+1गण, अनघतन भु.तृ.ब.व.

श्लोकार्थ : आकश और पृथ्वी में, प्रतिध्वनि करती हुयी उन तुमुल आवाजों से धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गये।

विवेचन : आकाश और पृथ्वी पर भारी प्रतिध्वनि उत्पन्न करते पाण्डव सेना के सैनिकों के पाञ्चजन्यादि शंखों की प्रचण्ड आवाजों ने धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये। इन ध्वनियों से उनके हृदय का उत्साह भंग हो गया और उनमें भय उत्पन्न हो गया। इससे यह सूचित होता है कि सब तरफ प्रतिध्वनि होने से पलायन करने में भी भय है।

इस प्रकार अठारह (2–19) श्लोकों द्वारा पाण्डव धर्मिष्ठ और भगवद्भक्त हैं यह बताने हेतु संगति कही गयी है।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुर् उद्यम्य पाण्डवः।।20।।
हृषीकेशं तदा वाक्यम् इदम् आह महीपते!!

अन्वय :

अथ – बाद में; अव्यय
महीपते! – हे राजन्! सम्बोधन
धार्तराष्ट्रान् – कौरवों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.
व्यवस्थितान् – व्यवस्थित; विशेषण, नाम, दिती.ब.व.पु.
दृष्ट्वा – देखकर; कृदन्त, विधेय
शस्त्रसम्पाते – शस्त्र चलाना आरंभ करते समय; नाम, स.ए.व. ''शस्त्राणां सम्पातः'' षष्ठी तत्पुरुष
प्रवृत्ते – आरम्भ हो चुके; भू. कृदन्त, विशेषण, स.ए.व.
कपिध्वजः – कपिध्वज; नाम, प्र.ए.व. ''कपिः ध्वजे यस्य'' बहुव्रीहि
पाण्डवः – अर्जुन; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पाण्डोः अयम् इति पाण्डवः'
धनुः – धनुष; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'धनुष्'
उद्यम्य – उठाकर; विधेय कृदन्त, उत्+यम्
हृषीकेशम् – कृष्ण को; द्वि.ए.व. ''हृषीकाणाम्, ईशः अयम्'', तत्पुरुष
इदम् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
आह – कहा; क्रि. पद, वर्त.का. 'ब्रू' का त्री.ए.पु.ए.

श्लोकार्थ : हे महीपति! इसके अनन्तर, ठीक शस्त्रसंपात की तैयारी के समय युद्ध के लिये सुसज्जित धृतराष्ट्र पक्षीय योद्धाओं को देखकर, वानर की ध्वजा वाले, अर्जुन ने धनुष उठाकर हृषीकेश को निम्नलिखित वचन कहे।

विवेचन : इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन के समागम की बात कहने के लिए, दोनों ओर की सेना के युद्धोत्सव का वृत्तांत कहा। अब युद्ध में प्रवृत्त अर्जुनको बन्धुनाश के विचार से वैराग्य उत्पन्न हुआ, यह कहने के लिये, भिन्न प्रकरण प्रारंभ करते हैं। अर्जुन को वैराग्य होने का कारण चार (*20–23*) श्लोकों से कहते हैं। 'कपिध्वजः' शब्द से अर्जुन शस्त्र प्रयोग में चतुर है यह जताया है। हे महीपति! यह सम्बोधन राजाओं का धर्म इसी प्रकार का है, यह बताने के लिए किया गया है।

अर्जुन उवाच

सेनयोर् उभयोर् मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत!।।21।।
यावद् एतान् निरीक्ष्येऽहं योद्धुकामान् अवस्थितान्।।

अन्वय :

अच्युत! – कृष्ण; नाम, सम्बोधन
उभयोः – दोनों का; सर्वनाम, विशेषण
सेनयोः – दोनों सेनाओं का; नाम, ष.द्वि.व.स्त्री.
मध्ये – बीच में; अव्यय
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मद्' का
रथम् –रथ को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
स्थापय – स्थित करो; क्रियापद, द्वि.पु.ए.व. 1 गण, आज्ञार्थ
यावत् – जिससे; अव्यय
अहम् – मै; सर्वनाम, प्रे.ए.व. 'अस्मद्'
योद्धुकामान् – लड़ने के इच्छुक; नाम, द्वि.ए.व. उपपद
अवस्थितान् – खड़े हुओं को; भू. कृदन्त, द्वि.ब.व. विशेषण
एतान् – उन्हें; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'एतद्' पु.
निरीक्ष्ये – अच्छी तरह देखूं; क्रि.ए.का.प्र.पु.ए.व. 'निर्+ईक्ष्, 1 गण'

कैर् मया सह योद्धव्यम् अस्मिन् रणसमुद्यमे।।22।।
योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर् युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।23।।

अन्वय :

अस्मिन् – इसमें; सर्वनाम, स.ए.व. 'इदम्' का
रणसमुद्यमे – रणसंग्राम में; नाम, स.ए.व.
मया – मेरे; मेरे द्वारा, सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मद्'
कैः – किस के द्वारा; सर्वनाम, तृ.ब.व. 'किम्', पु.
सह –साथ; अव्यय

योद्धव्यम् – लड़ना चाहिए; कर्मणि, कृदन्त
दुर्बुद्धेः – दुर्बुद्धि वाले के, विशेषण, ष.ए.व.पु.
धार्तराष्ट्रस्य – दुर्योधन के; नाम, ष.ए.व.पु.
युद्धे – युद्ध में; नाम, ष.ए.व.
प्रियचिकीर्षवः – कल्याण चाहने वाले; विशेषण, विशेष्य, 'ये'
ये – जो; सर्वनाम प्र.ब.व.पु. 'यद्'
एते – वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'एतद्'
अत्र – यहाँ; अव्यय
समागताः – आये हुए; भू. कृदन्त, विशेषण, सम्+आ+गम्
तान् – उनको; द्वि.ब.व. 'तद्' सर्वनाम
योत्स्यमानान् – लड़ने के लिये उतावलों को; द्वि.ब.व. भविष्य कृदन्त
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
अवेक्षे – देखूं क्रि; प.व.का.प्र.पु.ए.व. अव+ईक्ष् 1 गण

श्लोकार्थ : हे अच्युत! इस रणसंग्राम में मुझे किनके साथ युद्ध करना है उनको, और दुष्टबुद्धि कौरवों का प्रिय करने की इच्छा से युद्ध करने को तैयार खड़े सैनिकों को मैं जहाँ से अच्छी तरह से देख सकूँ, उस तरीके से आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करें।

विवेचन : अर्जुन ने श्रीकृष्ण को जो कुछ कहा वही यहाँ कहा गया है। इस रणसंग्राम में युद्ध प्रारम्भ से पूर्व हुए शंखनाद से जिनके हृदय विदीर्ण हो चुके हैं वदन सूख चुके हैं तथा भगवान के प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण, अपनी पराजय का अनुसंधान जिनको नहीं है, ऐसे अन्ध धृतराष्ट्र के पुत्रों का प्रिय करने की इच्छा वाले, अर्थात् स्वयं अन्ध बने हुए, कौन से नायकों के साथ मुझे युद्ध करना है, वह मैं देख सकूं, इस प्रकार दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कीजिए। आप अच्युत हैं अतः दोनों सेनाओं के मध्य मेरा रथ रहे तो मुझे कोई भय नहीं है। इस प्रकार चार (*20–23*) श्लोकों से युद्ध करने का उद्यम प्रकट किया।

श्री भागवत् 1-9-44 भीष्म की स्तुति नामक श्लोक में, इस पर विस्तार से अनुसंधान किया गया है।

सञ्जय उवाच

एवम् उक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत!
सेनयोर् उभयोर् मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्!!।।24।।

अन्वय :

भारत! - धृतराष्ट्र; सम्बोधन,
गुडाकेशेन - अर्जुन द्वारा; नाम, तृ.ए.व. ''गुडाकाया: ईश:'', तत्पुरुष
एवम् - इस प्रकार; अव्यय
उक्त : - कथित; भू.कृदन्त, विशेषण
हृषीकेश: - कृष्ण; नाम, प्र.ए.व.पु.
उभयो: - दोनों की; विशेषण
सेनयो: - दोनों सेनाओं की; नाम, ष.द्वि.व.स्त्री. 'सेना'
मध्ये - बीच में; अव्यय
रथोत्तमम् - उत्तम रथ को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
स्थापयित्वा - सज्जित करके; विधेय, कृदन्त है।

भीष्म-द्रोण-प्रमुखत: सर्वेषां च महीक्षिताम्!
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून् इति!!।।25।।

अन्वय :

भीष्म - द्रोण-प्रमुखत: - भीष्म द्रोण के आगे; 'भीष्मश्च द्रोणश्च यस्य प्रमुखेवर्तते तत्र' अव्ययी भाव समास
च - और; अव्यय
सर्वेषाम् - सभी का; सर्वनाम, ष.ब.व.पु.
महीक्षिताम् - 1 पृथ्वी को देखने वाले भद्र (राजाओं) का; नाम, ष.ब.व.कृ. दन्त, ''महीम् ईक्षित् महीक्षित्, तेषाम् महीक्षिताम्''''महीक्षित्'

इति - यह
उवाच - कहा; पूर्णभूतकाल, तृ.पु.ए.व.वच्. 2 गण
एतान् - उनको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'
समवेतान् - एकत्रित हुए; सम्+अव+इ, कृदन्त, विशेषण
कुरून् - कौरवों को; नाम, द्वि.ब.व.
पश्य - देख; आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : हे भारत! अर्जुन ने श्रीकृष्ण को इस प्रकार कहा, तब, श्रीकृष्ण ने उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में भीष्म, द्रोण तथा सब राजाओं के समक्ष खड़ा करके यों कहा- ''हे पार्थ्! इन एकत्रित कौरवों को देख।''

विवेचन : ''गुडाका'' अर्थात् निद्रा का ईश अथवा निद्रा को जीतने वाले अर्जुन ने 'हृषीकेश' अर्थात् इन्द्रियों के ईश अथवा इन्द्रियों के प्रेरक श्रीकृष्ण को इस प्रकार कहा, तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच युद्ध में परम कुशल भीष्म, द्रोण आदि राजाओं के समक्ष खड़ा किया, और एकत्रित कौरवों को देखने के लिए कहा।

विशेष : 'गुडाकेश' अर्थात् जिसने, तामस-निद्रा को वश में कर लिया है। निद्रा के सामान्यत: तीन प्रकार हैं - तामस निद्रा मिथ्या मोह को बढ़ाने वाली है और आसुरावेशायिनी है। 'राजस' निद्रा शरीर, मन आदि को सुरक्षित रखके श्रम का निवारण करती है। 'सात्विक' निद्रा को बहुत जगह 'योग' निद्रा कहने में आया है। इस प्रकार की निद्रा में शरीर मन आदि निश्चेष्ट दिखायी देते हैं किन्तु आन्तरिक जागृति रहती है और ये जागृति भ्रमविषयक शत्रुओं के साथ विलास में उपयोगी है।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थ: पितृन् अथवा पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।।26।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोर् उभयोरपि।

अन्वय :

अथ – बाद में; अव्यय

पार्थः – अर्जुन ने; नाम, प्र.ए.व.

तत्र – वहाँ; अव्यय

उभयोः – दोनों की; विशेषण

अपि – भी

सेनयोः – सेनाओं के बीच में; नाम, ष.द्वि.व.स्त्री. 'सेना'

स्थितान् – खड़े हुए; भूत कृदन्त, विशेषण, द्वि.ब.व.

पितृन – पिता; पिता के वंशजादि, नाम, द्वि.ब.व. 'पितृ'

पितामहान् – दादाओं को; नाम, द्वि.ब.व.पु.

आचार्यान् – गुरुओं को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'आचार्य'

मातुलान् – माताओं को; नाम, द्वि.ब.व.

भ्रातृन – भाइयों को नाम; द्वि.ब.व.

पुत्रान् – पुत्रों को; नाम, द्वि.ब.व.

पौत्रान् – पौत्रों को; नाम, द्वि.ब.व.

तथा – तथा; अव्यय

सखीन् – मित्रों को; नाम, द्वि.ब.व.

श्वसुरान् – श्वसुरों को; नाम, द्वि.ब.व.

च – और; अव्यय

सुहृदः – मित्रों को; स्नेहीजन को, (सुहृत्–सुहृद्), नाम, द्वि.ब.व.

एव – ही; अव्यय

अपश्यत् – उसने देखा; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. अनद्यतन, भूतकाल, परस्मै, दृश् (पश्य) 1 गण

श्लोकार्थ : वहाँ दोनों ओर की सेना में, पार्थ ने अपने पितृ तुल्य वंशजों, पितामह, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, सखाओं, श्वसुरों और मित्रों को खड़े हुए देखा।

विवेचन – भगवान ने अर्जुन को कौरवों को देखने के लिए कहा, तब अर्जुन ने उन्हें देखा, यों इस डेढ़ श्लोक में कहा गया है। 'वहां' अर्थात रणसंग्राम में उभय सैन्य में खड़े हुए, पिता समान बांधवों आदि को अर्जुन ने देखा।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् ।।27।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन् इदम् अब्रवीत्।

अन्वय :

तान् – उनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु. 'तद्'

अवस्थितान् – खड़े हुओं को; भू.कृदन्त,विशेषण, विशेष्य, 'अव+स्था ' द्वि.ब.व.पु.

सर्वान् – सबको; सर्वनाम, द्वि.ब.पु. 'सर्व'

बन्धून् – भाइयों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'बन्धु'

समीक्ष्य – देखकर; विधेय कृदन्त

सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.

परया – पूर्ण रूपेण; विशेषण, तृ.ए.व. 'परा' स्त्रीलिंग

कृपया – कृपा से, दया से; नाम, तृ.ए.व. 'परा' स्त्रीलिंग

आविष्टः – आवेश पाकर; भू.कृ. विशेषण, प्र.ए.व. 'वि+सद्' (सीद्) 1गण

कौन्तेयः – अर्जुन; नाम, प्र.ए.व.पु.

विषीदन् – शोक करते हुए; व.कृ. विशेषण, प्र.ए.व. वि+सद् (सीद्) 1 गण

इदम् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु. 'इदम्'

अब्रवीत – बोला; क्रि.प.तृ.पु.ए.व. ब्रू. 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ – उन सब बान्धवों को खड़े हुए देखकर, खेद करता हुआ, परम कृपावश अर्जुन इस प्रकार (निम्नांकित वचन) बोला।

विवेचन – अर्जुन क्षत्रिय है। युद्धोत्सव देखकर क्षत्रिय को उत्साह ही उत्पन्न होना चाहिए। फिर भी अर्जुन को उत्साह न होकर खेद कैसे उत्पन्न हुआ, वही समझाने के लिए 'कृपया परयाविष्टः' अर्थात 'परम कृपावश' यह विशेषण दिया है। परम कृपा अर्थात भक्तिरूप कृपा।

कृपावश होकर अर्जुन युद्ध न करे तो, उसे राज्य की प्राप्ति हो नहीं सकती। राज्य की प्राप्ति न हो तो वह लोक रक्षा कर नहीं सकता। अतः कृपावश होने से लोक रक्षा नहीं हो सके तो, लोक रक्षा न होने से, अर्जुन कृपावश कैसे हुआ, यह शंका उपस्थित होती है। इसी के निवारणार्थ 'बन्धून' अर्थात 'बन्धुओं को' यह शब्द योजित किया है। जिनके पास राज्य है वे भी 'बन्धु' हैं, अतः वे भी लोक रक्षा करने में समर्थ हैं। अतः अर्जुन कृपावश होने से लोकरक्षा में अवरोध नहीं है।

अर्जुन उवाच

दृष्टवेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सं समुपस्थितम् ।। 28।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।29।।

अन्वयः

कृष्ण – हे कृष्ण; सम्बोधन
इमम् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'इदम्' पु.
युयुत्सुम् – युद्ध की इच्छा रखने वालों को; द्वि.ए.व. विशेषण, युध् 4गण
समुपस्थितम् – खड़े हुओं को; भू. कृदन्त, वि.सम्+उप+स्था, द्वि.ए.व.पु.
स्वजनम् – संबंधियों को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'स्वजन'
दृष्टवा – देखकर; विधेय कृदन्त
मम – मेरे; ष.ए.व. सर्वनाम, 'अस्मद्'
गात्राणि – शरीर के अवयव; प्र.ब.व. नपु.
सीदन्ति – शिथिल हो रहे हैं; क्रि.प.व.का.यृ.पु.व. 'सद्(सीद्)' परस्मै 1गण
च– और; अव्यय
मुखम् – मुंह; प्र.ए.व. नपु. 'मुख'
परिशुष्यति –सूख रहा है; क्रि.वर्त.का. तृ.पु.ए.व.
च – और; अव्यय

मे – मेरे; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मद्'
शरीरे – शरीर में; नाम, स.ए.व.नपु. 'शरीर'
वेपुथः – कम्प; नाम, प्र.ए.व.पु.
च – और; अव्यय
रोमहर्षः – रोमाञ्च; नाम, प्र.ए.व.पु.
जायते – होता है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 4 गण, आत्मने पद

श्लोकार्थ – हे कृष्ण ! इन स्वजनों को युद्ध के लिए खडे देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, मेरे शरीर में कम्प हो रहा है और रोंगटे खड़े हो रहे हैं।

विशेष – अर्जुन स्वयं के साथ भिन्न भिन्न संबंधियों को 'स्वजन' शब्द से मिथ्या मोह धारण कर कल्पना करता है। यह उसका शुद्ध और वास्तविक भाव नहीं है, अतः उसके कल्पित मोह का नाश करने के लिये भगवान् ''ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापम् अवाप्स्यसि'' अब तू युद्ध में शामिल हो जा, तुझे पाप नहीं लगेगा – ऐसा उपदेश देते हैं। कारण कि कल्पित भाव का नाश हुए बिना शुद्ध भाव आ नहीं सकता। जीव का स्वजन अन्तर्यामी ही हो सकता है। कारण जीव अंश है, अन्तर्यामी अंशी हैं। अर्थात जीव के स्वभावधर्म से ही अंशी के साथ इसका नित्य संबंध है। काल्पनिक संबंध के बजाय नित्य संबंध का निर्वाह आवश्यक है। इसी कारण लोकव्यवहार में प्रचलित शास्त्रों को मोह शास्त्र कहा गया है।

गाण्डीव स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदाह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।। 30।।

अन्वयः

हस्तात् – हाथ में से; नाम, प.ए.व.पु. 'हस्त'
गाण्डीवम् – गाण्डीव; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'गाण्डीव'
स्रंसते – छूटता है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. आत्मने, 'स्रंस' 1गण

च – और; अव्यय
त्वक् – त्वचा; नाम, प्र.ए.व. 'त्वच्' स्त्री.
एव – ही; अव्यय
परिदह्यते – जल रही है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 'परि+दह्' 1गण
च– और; अव्यय
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.
मनः – मन; नाम, प्र.ए.व. 'मनस्' नपु.
भ्रमति इव – मानो घूम रहा हो; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 'भ्रम' 1गण
अवस्थातुम् – खडे रहने को; हेत्वर्थ कृदन्त
च न – और, नही; अव्यय।
शक्नोमि – शक्तिमान हूँ; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 'शक्' 5गण, परस्मै।

श्लोक – गाण्डीव हाथ में से फिसला जा रहा है, त्वचा जल रही है। मैं खडा रहने में असमर्थ हूँ, मेरा मन चक्कर सा खा रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव!।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।31।।

अन्वय :
केशव ! – कृष्ण; सम्बोधन
निमित्तानि – चिह्नों को; नाम, द्वि.ब.व. 'नपु.'
च – और; अव्यय
विपरीतानि – खराब को, विरूद्ध को; विशेषण,वि+परि+इ, भू.कृदन्त,विशेषण, द्वि.ब.व.नपु.
पश्यामि – देखता हूँ; क्रियापद, व.का.प्र.पु.ए.व. ''दृश्'' 6गण
आहवे – युद्ध में; नाम, स.ए.व.पु.
स्वजनम् – स्वयं के कुटुम्बियों को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
हत्वा – मार कर; विधेय कृदन्त
श्रेयः – कल्याण को; नाम, द्वि.ए.व.पु.

च – और; अव्यय
न – नही; अव्यय
अनुपश्यामि – देखता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. परस्मै, 'अनु+दृश्', 1 गण

श्लोकार्थ – हे केशव ! मैं सारे लक्षण विपरीत ही देखता हूँ स्वजनों का युद्ध में संहार करके कुछ भी श्रेय मुझे दिखाई नहीं देता।

विवेचन – दुर्गुणों से भरे पापी जीवों को भी, मोक्ष प्रदाता हे केशव, मैं विपरीत लक्षण देखता हूँ। स्वजनों को युद्ध में मारकर, राज्य प्राप्त कर राज्य करना आदि सब विपरीत परिणाम हैं। क्योंकि भगवदीय को यों करना उचित नहीं । स्वजनों का युद्ध में सहांर करने से मुझे कोई श्रेय दिखाई देता नहीं। आपकी कृपारूप भक्ति उससे प्राप्त होने वाली नहीं है। भगवत कृपारूप भक्ति ही तो श्रेय है और उसकी प्राप्ति स्वजनों को युद्ध में मारने से होने वाली नहीं है।

न कांक्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविंद ! किं भोगैर् जीवितेन वा ।।32।।

अन्वय :
कृष्ण ! – कृष्ण; सम्बोधन
विजयम् – विजय को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'विजय'
न – नहीं; अव्यय
कांक्षे – चाहता हूँ; क्रियापद, व.का.प्र.ए.व. आत्मने, 1गण
च – और; अव्यय
राज्यम् – राज्य को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'राज्य'
च – और; अव्यय
सुखानि – सुखों को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'सुख'
न – नहीं; अव्यय
कांक्षे – इच्छा करता हूँ; क्रियापद
गोविन्द ! – कृष्ण; नाम, सम्बोधन ।

नः – हमें; सर्वनाम, ष.ब.व. 'अस्मद्' द्वितीया के अर्थ में
राज्येन – राज्य से; नाम, तृ.ए.व.नपु.
किम् – क्या; अव्यय
वा – अथवा; अव्यय
भोगैः – भोगों से; नाम, तृ.ब.व.पु.
जीवितेन – जीवन से; नाम, तृ.ए.व.नपु.
किम् – क्या; अव्यय

श्लोकार्थ – हे कृष्ण ! मैं विजय की, राज्य की और सुख की इच्छा नहीं रखता। हे गोविंद ! हमें राज्य से, भोगों से तथा जीवन से क्या प्रयोजन है?

विवेचन – हे कृष्ण! मुझे आप की कृपा रूपि भक्ति की ही आवश्यकता है, वही श्रेय है। उसके बिना विजय, राज्य और सुख मुझे इच्छित नहीं है। गोविंद! हमें राज्य से, भोगों से अथवा जीवन से क्या प्रयोजन है ? हमें आपके बिना, इन सब से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। 'हे गोविंद' इस संबोधन से यह भाव दर्शाया गया है कि जैसे ब्रजवासियों के इन्द्र बनकर आपने उन्हें सुखभोग (आनंद) कराया, उसी प्रकार भक्तों को (हमें) कराना योग्य है।

येषाम् अर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणान् त्यक्त्वा धनानि च ।। 33 ।।

अन्वय :
नः – हमारे, हमें; ष.ब.व. 'अस्मद्' का सर्वनाम
येषाम् – जिनके; ष.ब.व. 'यद्'
अर्थे – के लिए; अव्यय
राज्यम् – राज्य; नाम, प्र.ब.व.पु.
भोगाः – भोगों; नाम, प्र.ब.व.प.
च – और; अव्यय
सुखानिः – सुखों; नाम, प्र.ब.व. नपु.

कांक्षितम् – इच्छित; भू.कृ.विशेषण
ते – वे; सर्वनाम,प्र.ब.व.पु.
इमे – ये सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'इदम्'
अवस्थिताः – खडे हुए; भू.कृदन्त, विशेषण
युद्धे – युद्ध में; नाम, प्र.ब.व.पु. नपु.
प्राणान् – प्राणों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'प्राण'
धनानि – धनको; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'धन'
त्यक्त्वा – छोड़कर; भू. कृ.
च – और; अव्यय

आचार्याः पितरः पुत्रास् तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस् तथा ।।34।।

आचार्याः – गुरूजन; नाम, प्र.ब.पु.
पितरः – काका आदि; नाम, प्र.ब.व.पु. 'पितृ'
पुत्राः – पुत्रों; नाम, प्र.ब.व.पु.
च तथैव – और इनके अतिरिक्त; अव्यय
पितामहाः – दादाओं; नाम, प्र.ब.व.पु.
मातुलाः – मामाओं; नाम, प्र.ब.व.पु.
श्वशुराः – श्वशुर आदि; नाम, प्र.ब.व.पु.
पौत्राः – पुत्रों के पुत्र; नाम,प्र.ब.व.पु.
श्यालाः – साले; नाम, प्र.ब.व.पु.
तथा – उसी तरह; अव्यय
सम्बन्धिनः – सम्बन्धियों; नाम, प्र.ब.व.पु.
अवस्थिताः सन्ति – खडे हैं; विशेषण, क्रि.वर्त.का.तृ.पु.ब.व. 'अ'

श्लोकार्थ – जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख की इच्छा थी वे आचार्य, पितृजन, पुत्र तथा दादा, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और संबंधी, प्राण और धन का त्याग कर युद्ध के लिये खड़े हैं। !!33-34!!

विवेचन – तुझे स्वयं राज्य की, भोग की तथा सुख की इच्छा न भी हो परन्तु तेरे सगे-संबंधियों आदि को, वैसी इच्छा होने से तुझे उनके लिये युद्ध करके, राज्यादि प्राप्त करने चाहिए, ऐसी शंका हो तो, उसे दूर करने के लिए ये श्लोक योजित किए गए हैं। आचार्य, पितादि, जिन लोगों के लिए राज्य की इच्छा थी, वे तो प्राण और धन का त्याग कर, युद्ध में मरने के लिए तैयार खड़े हैं। उन्हें मारने से राज्यादि प्राप्त होगा और फिर हम जीवित रहने पर राज्य भोग सकेंगे परन्तु हमें वह नहीं चाहिए। अतः राज्य, भोग और सुख का कोई प्रयोजन ही नहीं ।

एतान् न हन्तुम् इच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन !।
अपि त्रैलोक्यराज्ययस्य हेतोः किन्नु महीकृते ।। 35।।

अन्वय :

मधुसूदन ! – कृष्ण; सम्बोधन
घ्नतः – मृत; भू. कृदन्त, विशेषण
अपि – भी; अव्यय
त्रैलोक्य – राज्ययस्य- तीनों लोकों के राज्य को; 'त्रिलोक्याः इदम् त्रैलोक्यम्', नाम, ष.ए.व.नपु.
हेतोः – के लिए; नाम, ष.ब.व.पु.
अपि – भी; अव्यय
अहम् –मैं; सर्वनाम,प्र.पु.ए.व. 'अस्मद्'
एतान् – इनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'एतद्' का.पु.
हन्तुम् – मारने को; हेत्वर्थ कृदन्त
न – नहीं; अव्यय
महीकृते – पृथ्वी के लिए; नाम, 'पृथ्वी अर्थम्' अथवा 'पृथ्वीकृते', च.ए.व.
इच्छामि – चाहता हूँ; क्रियापद, व.का.प्र.पु.ए.व. पर 6 गण,'इष्' (इच्छ्)
किन्नु – अथवा, क्या, अत्यधिक, अत्यल्प; (कहना ही क्या) अव्यय

श्लोकार्थ : हे मधुसूदन ! इनके द्वारा मारे जाने पर भी, मैं त्रिलोक के राज्य के लिए भी इन्हें मारना नहीं चाहता, तो पृथ्वी के लिए तो क्या चाहूँगा?

विवेचन : तू यदि इन्हें नहीं मारेगा तो भी ये तुझे अवश्य ही मारेंगे, अतः इन्हें मारना ही योग्य है, ऐसी शंका हो तो उसे दूर करने के लिए यह श्लोक योजित किया है। इनके द्वारा मारा जाऊं, अथवा इन्हें मारकर त्रिलोकी का राज्य भोगूं, इन दोनों में से मुझे चुनना हो तो भी मैं इनके द्वारा मारा जाना ही पंसद करूंगा, किन्तु इन्हें मारकर तो त्रैलोक्य का राज्य भी नहीं चाहता हूं। यहां इन्हें मारकर मात्र पृथ्वी के कुछ एक भाग का राज्य मिलना है। उसके लिए मैं इनको क्यों मारूं ? हे मधुसूदन ! इस सम्बोधन से यह बताया गया है कि आपकी सहायता प्राप्त मुझको, ये मारने में समर्थ नहीं है। (मधु नामक दैत्य, ब्रह्माजी से वेद छीन कर ले गया था, भगवान ने मत्स्य का रूप धारण कर उसे मारा, और वेदों का उद्धार किया।)

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याद् जनार्दन ! ।
पापमेवाश्रयेद् अस्मान् हत्वैतान् आततायिनः ।। 36।।

अन्वय :

जनार्दन – कृष्ण; सम्बोधन
धार्तराष्ट्रान् – कौरवों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.
निहत्य – मारकर; विधेय कृदन्त
अपि – भी; अव्यय
नः – हमें; सर्वनाम, ष.ब.व. 'अस्मद्'
का – क्या; विशेषण, वि. 'प्रीतिः'
प्रीतिः – भाव, प्रसन्नता; नाम, प्र.ए.व. 'स्त्री'
स्यात् – होगा; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. विध्यर्थ, 'अस्' 2गण, परस्मै
एतान् – उनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'एतद्'
आततायिनः – पीड़ा देने वाले; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'आततायिन्'
हत्वा – मारकर; विधेय कृदन्त

अस्मान् – **हमें;** सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'अस्मत्'
पापम् – **पाप;** प्र.ए.व.नपु. 'पाप'
एव – **ही;** अव्यय
आश्रयेत् – **आश्रय लेगा;** क्रियापद, तृ.पु.ए.व. विध्यर्थ, पर, 1गण, 'आ+श्रि'

श्लोकार्थ – हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या आनन्द मिलना है, इन आततायियों को मार कर तो हमें पाप ही होगा।

विवेचन – सब अविद्याओं के हरण कर्ता हे जनार्दन ! अन्ध धृतराष्ट्र के पुत्र अज्ञानवश आचार्य, गुरू आदि के विनाश वाले युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं, पर हम आपके सेवक होने से ज्ञान रहित नहीं हैं। हम आपके भक्त हैं अत: युद्ध हमारे लिए उचित नहीं है, 'हे जनार्दन' सम्बोधन से यही बताया गया है। अन्ध धृतराष्ट्र के ज्ञान विहीन पुत्रों को मारने से हमें क्या आनन्द मिलना है? ऐसा करने से हमें कुछ भी आनन्द मिलने वाला नहीं है। 'धृतराष्ट्र के पुत्र' कह कर यह इंगित किया गया है कि, वे आपको जानते नहीं हैं इसलिए वे ऐसा करते हैं, यह उचित ही है। वे आततायी हैं। क्योंकि अग्नि से जलाने वाले, विष देने वाले, शस्त्र हाथ में लेकर मारने के लिए आने वाले, धन छीनने वाले, क्षेत्र अथवा भूमि हड़पने वाले, स्त्री को हरने वाले, ये छ: प्रकार के आततायी कहे जाते हैं। धार्तराष्ट्र दुर्योधन ने ये सब कृत्य किये हैं। ''आततायी को आता देख बिना विचारे उसका वध करना चाहिए। आततायी का वध करने वाले को कोई दोष लगता नहीं है'' – यह धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र का नियम है। अत: धार्तराष्ट्र (दुर्योधन आदि पुत्रों) का वध करना चाहिए, यों कहते हो तो भी उचित नहीं है, कारण कि हमें भक्ति अभीष्ट है। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र, भक्ति मार्ग से दुर्बल हैं। अत: आततायियों का भी वध करने से हमें पाप ही लगेगा। पाप, भगवद् सम्बन्ध में विघ्नकारक है।

तस्मान् नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ! ।। 37।।

अन्वय :
माधव ! – **कृष्ण;** सम्बोधन
तस्मात् – **अत:;** अव्यय
स्वबान्धवान् – **स्वयं के कुटुम्बियों को;** नाम, द्वि.ब.व.पु.
धार्तराष्ट्रान् – **कौरवों को;** नाम, द्वि.ब.व.पु.
हन्तुम् – **मारने के लिए;** हेत्वर्थ कृदन्त
वयम् – **हमें;** सर्वनाम, प्र.ब.व. 'अस्मत्'
न – **नहीं;** अव्यय
अर्हा: – **निश्चय ही;** अव्यय
हि – **निश्चय ही;** अव्यय
स्वजनम् – **अपने कुटुंबियों को;** नाम, द्वि.ए.व.नपु.
हत्वा – **मारकर;** विधेय कृदन्त
कथम् – **किस प्रकार;** अव्यय
सुखिन: – **सुखी;** विशेषण, प्र.ब.व.पु. 'सुखिन्'
स्याम – **होऊंगा;** क्रियापद, व.का.प्र.पु.ब.व. 'अस्' का परस्मै पद, 2गण

श्लोकार्थ – अत: हमें अपने कुटुम्बियों, कौरवों को, मारना उचित नहीं है। हे माधव ! स्वजनों का वध करके हम कैसे सुखी होंगे ?

विवेचन – ''हमें कौरवों को मारना योग्य नहीं है'' इस वाक्य में ''हमें'' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिये हमारे लिए तो आपकी संगत ही सुख रूप है। आप ही हमारे स्वजन है – यों सूचित किया है। 'हे माधव' सम्बोधन से यह बताया है कि हमको लक्ष्मी आदि की आवश्यकता नहीं है।

(मा=लक्ष्मी, धव = पति)

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।। 38।।

कथं न ज्ञेयम् अस्माभिः पापाद् अस्मान् निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर् जनार्दन!।। 39।।

अन्वय :

यदि – यदि; अव्यय

अपि – भी; अव्यय

लोभोपहतचेतसः – लोभ के कारण जिनका विवेक नष्ट हो गया है वे; नाम, प्र.ब.व. 'लोभेन अपहतानि चित्तानि येषाम्' बहुव्रीहि

एते – ये; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'एतद्' न.पु.

कुलक्षयकृतम् – कुल का क्षय करने को; विशेषण

दोषम् – दोषको; नाम, द्वि.ए.व.पु.

मित्रदोहे – मित्र के द्रोह में; नाम,स.ए.व.पु.

पातकम् – पाप को; नाम, द्वि.ए.व. नपु.

च – ओर; अव्यय

न – नहीं; अव्यय

पश्यन्ति –देखता हूँ; व.का.तृ.पु.ब.व. 'दृश्' का परस्मै, 6गण

जनार्दन ! – हे कृष्ण!; सम्बोधन, 'जनाम् अर्दयति इति' अविद्या के नाशक

कुलक्षयकृतम्– कुल का क्षय होने से (होने वाले); विशेषण, समास उपपद 'कुलस्य क्षयम् यः करोति तद्'

दोषम् – दोष; नाम, द्वि.ए.व.पु.

प्रपश्यद्भिः – भली भाँति समझने वाले, जानने वालों द्वारा; व.कृ.विशेषण

अस्माभिः – हमसे; सर्वनाम, तृ.ब.व. 'अस्मत्'

अस्मात् – इससे; विशेषण, पं.ए.व. 'इदम्'

पापत् –पाप से; नाम, पं.ए.व.नपु.

निवर्तितुम् – दूर करने के लिए; हेत्वर्थ।

कथम् न – किसी प्रकार नहीं; अव्यय

क्षेयम् – विचार करना चाहिए; भविष्य कृदन्त

श्लोकार्थ – हे जनार्दन ! लोभ से नष्ट चित्त वाले, इन कौरवों को कुल क्षय से होने वाले दोष तथा मित्र द्रोह के पाप का हालांकि भान नहीं है, फिर भी कुल क्षय के दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से दूर रहने के बारे में क्यों नहीं समझना चाहिए ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवत्युत ।। 40।।

अन्वय :

कुलक्षये – कुल नाश होने से; नाम, स.ए.व.पु.

सनातनाः – सदा से चलते आए; नाम, प्र.ब.व.पु. विशेषण, वि. 'धर्माः'

कुलधर्माः – कुल के धर्म; नाम, प्र.ब.व.पु.

प्रणश्यन्ति – नाश को प्राप्त होते हैं; क्रि.प.व.का.तृ.पु.ब.व.'प+नश्' 4गण, परस्मै.

धर्मे – धर्म में; नाम, स.ए.व.पु.

नष्टे – नष्ट हुए; विशेषण

कृत्स्नम् – सभी को; विशेषण, नाम, द्वि.ए.व.नपु. विशेष्य,'कुल'

कुलम् – कुल को; नाम, द्वि.ए.व. नपु.

अधर्मः – अधर्म; नाम, प्र.ए.व.पु.

पण – भी; अव्यय

अभिभवति – व्याप जाता है, धावा करता है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 'अभि+भू' 1गण

श्लोकार्थ – कुल का क्षय होने पर सदा से चलते आ रहे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म का नाश हो जाने पर, अधर्म समस्त कुल को दबा लेता है।

विवेचन – कुल क्षय से होने वाले पाप से नहीं, परन्तु लौकिक भय से ही, यह युद्ध करना नहीं चाहता, इस शंका के निवारणार्थ, कुल क्षय से होने वाले दोषों का यहां से पांच (40–44) श्लोकों से वर्णन करते हैं। कुल का क्षय होने पर,

सनातन, अर्थात प्राचीन परंपरागत कुलधर्मों का प्रणाश हो जाता है, प्रणाश अर्थात् पूर्ण नाश, सम्पूर्ण नाश । कुलधर्मों का सम्पूर्ण नाश होने का तात्पर्य है कि पुनः कुलधर्मों का उदय होना भी असंभव होता है। हम पार्थ अर्थात् पृथा के पुत्र हैं। पृथा के संबंध से ही हम आपके अंगीकृत होने से, हमारा कुलधर्म आपकी भक्ति ही है। उसे नष्ट करने वाले पाप से हमें दूर रहना चाहिए।

अभी कुलधर्म का नाश होता है तो भी, भविष्य में प्रह्लाद जैसा भक्त कुल में अवतीर्ण होगा तो, कुल का उद्धार करेगा, अतः शौर्य रूपी क्षत्रिय धर्म को जागृत कर युद्ध करना ही उचित है, ऐसी शंका हो तो, उसे दूर करने के लिए कहते हैं, कि धर्म का नाश होने पर अधर्म समस्त कुल में व्याप्त हो जाता है।

अधर्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ।।41।।

अन्वय :

कृष्ण – कृष्ण; नाम, सम्बोधन

अधर्माभिभवात् –अधर्म द्वारा नाश होने से, अधर्म के अधिक बढ़ने से; नाम, पं.ए.व. 'अधर्मेन अभिभवः' तत्पुरूष

कुलस्त्रियः – कुल की स्त्रियां; नाम, प्र.ब.व. स्त्री.

प्रदुष्यन्ति – दूषित होती हैं; क्रियापद, वर्तमान काल, तृ.पु.ब.व. 'प्र+दुष्' 4गण परस्मै।

वार्ष्णेय – कृष्ण; वृष्णिवंशोत्पन्न, तद्धित

स्त्रीषु – स्त्रियों में; नाम, स.ब.व.स्त्री.

दुष्टासु – दूषित होने से; भू.कृदन्त विशेषण, विशेष्य, 'स्त्री' का

वर्णसंकरः – वर्णसंकर; नाम, प्र.ए.व.पु.

जायते – होती है; क्रि.पद, वर्तमान काल, तृ.पु.ए.व. 'जन्' 4गण

श्लोकार्थ – हे कृष्ण ! अधर्म के व्याप्त होने पर कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित होने से प्रजा वर्णसंकर उत्पन्न होती है।

विवेचन – कुल में अधर्म व्याप्त होने से, कुल की स्त्रियां व्यभिचारिणी तथा दोष वाली होने से वर्ण संकर प्रजा उत्पन्न होती है। उसमें प्रह्लाद जैसा पुत्र उत्पन्न होकर कुल का उद्धार करेगा, ऐसी आशा कैसे रखनी ?''हे वार्ष्णेय !'' सम्बोधन से यह व्यक्त किया गया है कि श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होने वालों के कुल में वर्ण संकर प्रजा उत्पन्न हो, यह उचित नहीं है।

संकरौ नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।42।।

अन्वय :

संकरः – वर्णसंकर; नाम, प्र.ए.व.

कुलघ्नानाम् – कुल घातियों को; नाम, ष.ब.व. 'कुलम् हन्ति इति' उपपद पु.

च – और; अव्यय

कुलस्य – कुल को; नाम, ष.ए.व.नपु. 'कुल'

नरकाय – नरक के लिए; नाम,च.ए.व.नपु. 'नरक'

एव – ही; अव्यय

भवति – होता है; क्रि. वर्तमान काल, तृ.पु.ए.व. 'भू.'

लुप्तपिण्डोदकक्रियाः – जिनके लिए पिण्ड और उदक् क्रिया लुप्त हो गई है; ''लुप्ताः पिण्डः उदकम् तयो क्रिया एषाम्'' बहुव्रीहि

एषाम् – इनका; सर्वनाम, ष.ब.व. 'इदम् नरजाति'

पितरः – पितृगण; नाम,प्र.ब.व.पु. पितृ

हि – निश्चय; अव्यय

पतन्ति – गिरते हैं; क्रि.पद,तृ.पु.ब.व. 'पत्' 1 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ – संकर (प्रजा) कुल का नाश करने वालों को और कुल को नरक में ही भेजती है। उनके पूर्वजों की पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जाने से उनका पतन हो जाता है।

विवेचन – 'पिण्डोदक क्रिया' अर्थात श्राद्ध, तर्पणादि बंद हो जाते हैं, कारण कि वर्ण संकर प्रजा से श्राद्ध आदि नहीं होते। श्राद्ध आदि न होने से पूर्वजों ने धर्म आदि का आचरण कर जो स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति की है वहां से उनका पतन हो जाता है। एव= ही,शब्द से यह बताया गया है कि नरक में गिर कर पाप भोगने के पश्चात भी उनका उद्धार नहीं होता।

दोषैरेतैः कुलघ्नानाम् वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।। 43।।

अन्वय :

एतै – ये; सर्वनाम, तृ.ब.व. 'एतद्' नरजाति
वर्णसंकरकारकैः – वर्णसंकर कराने वाले; नाम, तृ.ब.व. 'नरजाति'
दोषैः – दोषों से; नाम, तृ.ब.व. 'नारजाति'
कुलघ्नानाम् – कुलघातियों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'कुलघ्न'
शाश्वताः – सदा के लिए, सनातना; विशेषण, विशेष्य 'जातिधर्माः'
कुलधर्माः – कुल के धर्म; नाम, प्र.ब.व.पु.
जातिधर्माः – जाति के धर्म; नाम, प्र.ब.व.पु.
च – और; अव्यय
उत्साद्यन्ते – नष्ट होते हैं; क्रि.व.काल, तृ.पु.ब.व. 'उत्+सद्' आत्मने 1गण, प्रेरक कर्मणि

श्लोकार्थ – कुल का नाश करने वालों के वर्णसंकर (प्रजा) उत्पन्न करने वाले इन दोषों से, सनातन कुलधर्मों और जातिधर्मों का नाश हो जाता है।

विवेचन – मूल में ''च=और शब्द है। उसका तात्पर्य यह है कि कुलधर्म और जातिधर्म के साथ आश्रमधर्म का भी नाश हो जाता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन!।।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।44।।

अन्वय :

जनार्दन – कृष्ण; सम्बोधन, 'यः जनाम् अर्दयति इति जनार्दनः'
उत्सन्नकुलधर्माणाम् – जिनके कुल धर्म नष्ट हो चुके हैं; नाम, ष.ब.व. 'उत्सन्नाः कुलधर्माः येषाम्' बहु.
मनुष्याणाम् – मनुष्यों को; नाम, ष.ब.व.पु.
अनियतम् – अनन्त काल तक; अव्यय
नरके – नरक में; नाम, प्र.ए.व.पु.
वासः – निवास; नाम, प्र.ए.व.पु.
भवति – होता है; क्रियापद, व. काल , तृ.पु.ए.व. 'भू' 1गण, परस्मै
इति – ऐसा; अव्यय
वयम् – हमने;
अनुशुश्रुम – सुना है; क्रियापद, पूर्णभूतकाल, प्र.पु.ब.व. परस्मै 'अनु+श्रु' 5गण

श्लोकार्थ : हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे मनुष्य सदा नरक में वास करते हैं, ऐसा हमने सुना है। हे जनार्दन ! सम्बोधन से यह बताया गया है कि आप से दूर रहने वालों का अविद्या से संबंध हो जाने से उनकी ऐसी दशा होती है। इस प्रकार का ज्ञान था तो युद्ध की तैयारी ही किसलिए की– ऐसा प्रश्न उपस्थित हो तो कहते हैं :–

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्यसुख-लोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।45।।

अन्वय :

अहो – अहो; अव्यय
बत – वास्तविक; अव्यय
वयम् – हम; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'अस्मद्' का
महत् – महान; विशेषण, विशेष्य 'पापम्'
पापम् – पाप; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

कर्तुम् – करने को; हेत्वर्थ कृदन्त
व्यवसिताः – निश्चय किया है; विशेष्य 'वयम्'
यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
राज्यसुख-लोभेन – राज्य सुख के लोभ से; नाम, तृतीया, ए.व. ''राज्यस्य सुखम् तस्य लोभः'' तत्पुरूष
स्वजनम् – स्वजन को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
हन्तुम् – मारने के लिए; हेत्वर्थ कृदन्त
उद्यताः – उद्यत हुए; भू, कृदन्त, विशेषण, विशेष्य वयम्

श्लोकार्थ : अहो! बड़े शोक की बात है कि हम लोगों ने बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर लिया है, जो राज्य सुख के लिए अपने ही कुटुम्बियों का वध करने के लिए उद्यत हो गए हैं।

विवेचन : राज्य के लिए ऐसा पाप करना पड़ेगा यह पहले भान नहीं था। बहुत खेद की बात है कि अज्ञानवश हम ऐसा पाप करने के लिए तैयार हो गए हैं। खेद के साथ आश्चर्य है कि हमने ऐसी तैयारी की क्योंकि जिनके लिए राज्य प्राप्त करना चाहते थे, उन्हीं को राज्य प्राप्त करने के लिये मारने को तैयार खड़े हैं।

''तू इन्हें नहीं मारेगा तो ये तुझे मारेंगे'' यदि यों कहा जाए तो नीचे का श्लोक कहते हैं :

यदि माम् अप्रतीकारम् अशस्त्रं शस्त्रपाणयः।।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः तन् में क्षेमतरं भवेत्।।46।।

अन्वय :
यदि – यदि; अव्यय
माम् – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मद्'
अशस्त्रं – शस्त्रविहीन; नाम, द्वि.ए.व. विशेषण

अप्रतीकारम् – उपायरहित; विशेषण, विशेष्य ''माम् न प्रतीकार यस्य विद्यते इति'' बहुब्रीहि
शस्त्रपाणयः – वे जिनके हाथ में शस्त्र हैं; विशेषण, विशेष्य, ''धार्तराष्ट्राः'' शस्त्रं पाणौ यस्य इति ''बहुब्रीहि''
धार्तराष्ट्राः – कौरव; नाम, प्र.ब.व.पु.
रणे – युद्ध में; स.ए.व. नाम, पु.
हन्युः – मार दें; क्रियापद, विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व. 'हन्' 2 गण आत्मने
तत् – वह; नपु, द्वि.ए. इकारान्त, मरणमपि = मरण भी
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मद' का
क्षेमतरम् – विशेष कल्याण; विशेषण, विशेष्य 'तद्'
भवेत् – होगा; क्रियापद, विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'भू', 1 गण

श्लोकार्थ : यदि हाथ में शस्त्र धारण किए ये धृतराष्ट्र पुत्र, मुझ प्रतिकार रहित और शस्त्र रहित को रण में मार डालें तो भी मेरे लिए अधिक कल्याणकरक होगा।

विवेचन : प्रतिकार अर्थात् प्रतिशोध। प्रतिशोध नहीं लेने वाले, अथवा वापस प्रहार नहीं करने वाले मुझ शस्त्र रहित को, ये धृतराष्ट्र पुत्र मार डालें तो मेरा अधिक कल्याण हो, कारण कि पहले बान्धवों को मारने का जो प्रयास मैंने किया उसका प्रायश्चित हो। इसके अतिरिक्त, आपकी सन्निधि में मेरा मरण हो यही मेरा अधिक कल्याण होगा।

संजय उवाच

एवम् उक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोक-संविग्न-मानसः।। 47।।

अन्वय :
संख्ये – मैं रण भूमि में; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संख्य'
शोकसंविग्नमानसः – शोक संतप्त है मन जिसका; विशेषण, विशेष्य, ''अर्जुनः शोकेन संविग्नं मनः यस्य इति'' बहुब्रीहि,

अर्जुन : – **अर्जुन;** नाम, प्र.ए.व.पु.
एवम् – **इस प्रकार;** अव्यय
उक्त्वा – **कहकर;** विधेय कृदन्त
सशरम् – **तीर सहित;** विशेषण
चापम् – **बाण;** नाम, द्वि.ए.व.पु. 'चाप'
विसृज्य – छोड़ कर; विधेय, कृदन्त।
रथोपस्थ – **रथ पर बैठा हुआ;** विशेषण, विशेष्य, अर्जुन, ''रथे उपतिष्ठति इति'' उपपद समास
उपाविशत् – बैठा हुआ; क्रि, पद, भूतकाल, तृ.प.ए.व. 'उप+आ+विश्' पर स्मै, 6 गण

श्लोकार्थ – यह कहकर शोक से खिन्न मन वाला अर्जुन धनुष और बाण का त्याग कर रथ में बैठ गया।

विवेचन – युद्ध और युद्ध से प्राप्त राज्य, ये दोनों भक्ति में अन्तरायरूप होने से अर्जुन को इनमें से किसी की भी इच्छा नहीं थी, इसीलिए उसने इस प्रकार युद्ध नहीं करने के लिए कहा। तथापि भगवान ने कोई उत्तर नहीं दिया, अतः भक्ति ज्ञान प्राप्त करने के लिये शोक से खिन्न हो गया और वह धनुष बाण त्याग कर रथ में बैठ गया।

यह प्रथम अध्याय उपोद्घातरूप है। इस अध्याय में अर्जुन के विषाद का वर्णन है। अर्जुन के विषाद का कारण कृपा है। लोक और शास्त्र के नियमों का अतिक्रमण कर वह कृपापरवश होकर युद्ध करने का इच्छुक नहीं है। यह अर्जुन के आर्तपन अथवा आर्ति को दर्शाता है। दूसरे अध्याय के आरम्भिक श्लोक में भी अर्जुन आर्त है, ऐसा लगता है। अतः यह प्रथम अध्याय प्रयोजन रहित है, इस शंका को अवकाश नहीं है, कारण कि इस प्रथम अध्याय में अर्जुन में कृपा का आवेश किस प्रकार हुआ उसका भी वर्णन है। अतः यह

अध्याय उपोद्घातरूप है, प्रयोजन रहित नहीं। एतदर्थ ही पद्म पुराण में गीता माहात्म्य में ''अतः जो प्रथम अध्याय का पाठ करता है और इसका स्मरण करता है उसके लिए भवसागर पार करना कठिन नहीं रहता।'' इस प्रकार इस अध्याय के पाठादि के फल का निरूपण किया हुआ है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णअर्जुनसंवादे ''अर्जुनविषादयोगो'' नाम प्रथमः अध्यायः ।।1।।

।। अध्याय 2 ।।

सांख्य - योग

पहले अध्याय में अर्जुन को हुए वैराग्य और दु:ख का वर्णन किया गया। इस दु:ख और वैराग्य के कारण ही वह सांख्य और योग शास्त्र को जानने का अधिकारी है, ये सिद्ध होता है। वैराग्य, सांख्य, योग, तप और केशव की भक्ति - ये पांच विद्या के पर्व (विभाग) हैं (तत्वदीप 1/45), और यथासमय भगवद्सायुज्य कराने वाले हैं, और आत्मा के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान में, बुद्धि को स्थिर रखने वाले हैं। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान दृढ़ होने पर हम भगवद् अंश हैं, ये भान होता है और उससे भगवद् आश्रय में आदर होता है। जिसे भगवद् आश्रय प्राप्त हो जाता है उसका कार्य भगवद् आज्ञा का पालन करना होता है, क्योंकि भगवद् आज्ञानुसार व्यवहार करना ही उसका धर्म होता है। इसीलिए अर्जुन ने सांख्य और योग के उपदेश के पश्चात् भगवान का आश्रय प्राप्त करके उनकी आज्ञा के अनुसार युद्ध किया है।

अर्जुन पुष्टि मिश्र मर्यादा भक्त है। ऐसे भक्त की मात्र सांख्य में ही रुचि नहीं होती, अत: सांख्य और योग के उपदेश के मध्य भगवान उसे उसके धर्म का बोध कराते हैं। अर्जुन को पुष्टिमार्ग का ज्ञान हो, इसीलिये भगवान ने उसे, उसके धर्म का बोध कराया है।

इस दूसरे अध्याय में अर्जुन का शोक प्रथम वर्णित है (श्लोक *.1/9*)।

फिर भगवान द्वारा प्रदत्त सांख्योपदेश वर्णित है (श्लोक. *10/30*) उसके पश्चात् भगवान अर्जुन को उसके धर्म का उपदेश करते हैं। (श्लोक. 31/38)। तत्पश्चात् योग का उपदेश करते हैं (श्लोक. 39/72)। इस प्रकार शोक रूप समुद्र में निमग्न अर्जुन को अपना जानकर, दयालु श्रीकृष्ण ने उसे सांख्य एवम् योग का उपदेश देकर उसका उद्धार किया।

गताध्याय के अंत में कहा गया है कि शोक से खिन्न मन अर्जुन, धनुष बाण का त्याग कर रथ में बैठ गया। उसके पश्चात् जो हुआ वह संजय धृतराष्ट्र को कहता है।

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।।
विषीदन्तम् इदं वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ।।1 ।।

अन्वय :

तथा – इस प्रकार; अव्यय

कृपया – कृपा से, नाम, तृ. ए, व, स्त्री. 'कृपा'

आविष्टम् – आवेशित; विशेषण विशेष्य, 'तम्'

अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् – अश्रु से पूर्ण और आकुल नेत्र हैं जिसके; विशेषण, विशेष्य, 'तम', समास, अश्रुभिः पूर्णे आकुले च ईक्षणे यस्य 'तम्'

विषीदन्तम् – खेद है जिसे; वर्तमान कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'तम'

तम् – उसे; सर्वनाम, द्वि, ए, व, 'तत्' पु,

अर्जुनम् – अर्जुन को;

मधुसूदनः – कृष्ण; नाम, प्र, ए, व, ''मधोः सूदनः इति''

इदम् – यह; सर्वनाम, द्वि, ए, व, 'इदम्', विशेषण, विशेष्य, 'वाक्यम्'

वाक्यम् – वाक्य; नाम, द्वि, ए, व, नपु,

उवाच – बोला; पूर्ण भूतकाल, तृ, पु, ए, व, 'वच्', 2 गण, परस्मै,

श्लोकार्थ – इस प्रकार कृपावश हुए, आंसू भरे, व्याकुल नेत्रोंवाले तथा शोकातुर अर्जुन को, मधुसुदन ने यह वाक्य कहा।

विवेचन – अश्रुपूर्ण एवं आकुल नेत्रों वाले, प्रथमाध्याय में वर्णित प्रकार से कृपावश होकर शोक करते अर्जुन को मोह रूपी मधु दत्य के वधकर्ता, श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा।

विशेष – व्यापक – सब स्थान पर विद्यमान एवं व्याप्त – घिरा हुआ। अमुक स्थान पर प्रचुर धुआँ हो तो वह स्थान धुआँ से घिरा हुआ है, अतः वह स्थान व्याप्त है और धुआँ व्यापक कहा जाएगा।

सांख्य – त्याग। सांख्य शास्त्र द्वारा कपिलदेवजी त्याग का उपदेश करते हैं। जब तक जीव अपनी मोह दशा का त्याग नहीं करता, तब तक उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान मिलना सम्भव नहीं है। यहाँ 'मधुसूदन' शब्द द्वारा मोह का त्याग कराके श्रीकृष्ण स्वयं प्रथम सांख्य का उपदेश कर ज्ञान की कुछ सीढ़ियाँ चढ़ाते हैं। सांख्यशास्त्र, प्रकृति–पुरुष और अन्य 24 तत्वों को स्वीकार करता है। उसमें पुरुष को निष्क्रिय और अलिप्त माना गया है। सब कुछ प्रकृति एवं 24 तत्वों द्वारा ही होता है पर वहाँ पुरुष का प्रकृति के साथ संबंध तो रहता ही है। यह संबंध पूर्ण ज्ञान होने पर छूटता है और तब पुरुष का मोक्ष होता है। तात्पर्य यह है कि सांख्यशास्त्रानुसार एकत्व नहीं अपितु अनेकत्व ही आता है। अर्थात् यह सांख्यशास्त्र अभेद दर्शन नहीं करा सकता।

श्रीभगवान् उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरमर्जुन!।।2 ।।

अन्वयः

अर्जुन – हे अर्जुन; सम्बोधन

त्वा – तुझे; सर्वनाम, द्वि, ए, व, 'युष्मद्'

अस्मिन् – यह; स, ए, व, 'अस्'

विषमे – अयोग्य समय पर; नाम, स, ए, व,

स्थले – जगह पर; स, ए, व,

इदम् – यह ; सर्वनाम, प्र, ए, व नपु,

कश्मलम् – कालिख, कलंक; नाम, प्र, ए, व, नपु,

कुतः – कहां से; अव्यय,

समुपस्थितम् – उत्पन्न हुआ; भू. कृदन्त, विशेषण, विशेष्य 'कश्मल'

यतः इदं – क्योंकि यह

अनार्यजुष्टम् –अनार्योंद्वारा सेवित; भू. कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'कश्मल'

अस्वर्ग्यम् – स्वर्ग के अयोग्य; विशेषण, विशेष्य, 'कश्मल'

अकीर्तिकरम् - कीर्ति को प्राप्त नहीं कराने वाला; विशेषण, विशेष्य, 'कश्मल'

अस्ति -है; क्रि, वर्त, का, तृ, ए, व, 'अस्'

श्लोकार्थ - हे अर्जुन ! अनार्यों द्वारा सेवित, स्वर्ग से वंचित करने वाला, अकीर्ति उत्पन्न करने वाला, यह मोह असमय में तुझे कहाँ से हुआ ?

विवेचन - हे अर्जुन ! यह युद्ध के लिये उत्साहित होने का समय है, दया करने का समय नहीं है। ऐसे समय में तुझे मोह कहां से उत्पन्न हुआ ? यह मोह अनार्यों द्वारा सेवित है, स्वर्ग से दूर करने वाला होने से धर्म विरोधी है और क्षात्रधर्म का विनाशक होने से कुलधर्म का भी विरोधी है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्र हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप! ।।3 ।।

अन्वय :

पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन

क्लैब्यम् - कायरता; नाम, द्वि, ए, व, नपु,

मा - नहीं; अव्यय

स्म - प्रसिद्ध

(अ) गमः - नहीं होता; भूतकाल, द्वि, पु, ए, व, 'गम्'

एतत् - यह ;सर्वनाम, प्र, ए, व,

त्वयि - तुझ में; सर्वनाम, स, ए, व, 'युष्मत्' सर्वनाम

न - नहीं; अव्यय

उपपद्यते - उचित होना चाहिए; कि, पद, वर्त.काल, सह्यभेद, तृ, पु, ए, व, 'उप+पद् 1 गण', अतः=इससे

परन्तप - अर्जुन; सम्बोधन, 'परान् तापयति, इति' उपपद

क्षुद्रम - क्षुद्र; विशेषण, विशेष्य, 'हृदयदौर्बल्यम्'

हृदयदौर्बल्यम् - हृदय की दुर्बलता; नाम, द्वि, ए, व,त्यक्तवा - छोड़ कर, विधेयार्थ कृदन्त

उत्तिष्ठ - खड़ा हो; क्रियापद, आज्ञार्थ, द्वि, पु, ए, व, 'उत्+स्था' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ - हे पार्थ ! नपुंसकत्व ग्रहण करना, तुम्हारे लिए उचित नहीं है। हे परन्तप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता का त्याग कर (युद्ध के लिये) खड़ा हो।

विवेचन - तुम्हारे लिए ऐसा करना उचित नहीं है, यों कहते हैं। हे पार्थ! क्षत्रिय कुलोत्पन्न अर्जुन! नपुंसकत्व प्राप्त न कर। तू क्षत्रिय होने से तुझे यह उचित नहीं है। हृदय की दुर्बलता क्षुद्र है। शत्रुओं को तापकारक, तुझ जैसों के लिए यह क्षुद्र दुर्बलता उचित नहीं है। अतः उठ, युद्ध के लिये सावधान हो।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्मम् अहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन!
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन! ।।4 ।।

अन्वयः

मधुसूदन - कृष्ण, मधु नामक दैत्य के वध कर्ता; सम्बोधन, ''मधु सूदति इति'' उपपद

अहम् - मैं ; सर्वनाम , प्र, ए, व, 'अस्मद्' का

संख्ये - रणभूमि में ; नाम, स, ए, व,

भीष्मम् - भीष्म को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'भीष्म'

च - और ; अव्यय

द्रोणम् - द्रोण ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'द्रोण'

कथम् - किस प्रकार ; अव्यय

इषुभिः - बाणों से ; नाम, तृ.ब.व.

प्रतियोत्स्यामि - सामने युद्ध करूंगा ; क्रियापद, भविष्यकाल, प्र.पु.ए.व. 'प्रति+युध्' 4 गण, परस्मै

यतः - क्योंकि

अरिसूदन - शत्रुहन्ता-कृष्ण ; सम्बोधन
एतौ - ये दोनों
पूजा-अर्हो - पूजा के लायक ; विशेषण, विशेष्य, 'भीष्म + द्रोण'
स्मः - हैं

श्लोकार्थ - हे मधुसूदन! युद्ध में भीष्म और द्रोण के समक्ष मैं बाणों से कैसे लड़ूंगा? हे शत्रुहन्ता! ये तो पूज्य हैं।

विवेचन - भगवान के ये वचन सुनकर, ''मैं भयवश युद्ध नहीं करता हूँ, ऐसा नहीं है, परन्तु धर्म बुद्धि से युद्ध नहीं कर रहा हूँ'' इस प्रकार स्नेह और दया से व्याकुल अर्जुन भगवान के वचनों को न समझ कर, यहाँ से छह श्लोक तक भगवान से विनती करता है। हे मधुसूदन! मधु दैत्य को मारकर, मथुरा की स्थापना करके, भक्तों का पालन करने वाले भगवान! भीष्म आपके भक्त हैं, अतः उन्हें मारना उचित नहीं है। द्रोण मेरे गुरु हैं अतः उन्हें भी मारना उचित नहीं है। हे शत्रुहन्ता भगवान! भीष्म भक्त और द्रोण गुरु हैं, ये मेरे पूज्य हैं, शत्रु नहीं, अतः आप विचार कीजिए कि उनके सामने मैं बाणों से कैसे लड़ूंगा।

गुरुन् अहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुन् इहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।। 5।।

अन्वयः
अतः एतान् - अतः इन
महानुभावान् - महान पराक्रमी ; विशेषण, विशेष्य, 'गुरुन्'
गुरुन् - गुरुजन को ; नाम, द्वि.ब.व.पु.
अहत्वा - नहीं मारकर ; विध्यर्थ कृदन्त
इह - इस ; अव्यय।
लोके - लोक में ; नाम, स.ए.व.पु.
भैक्ष्यम् - भिक्षावृत्ति ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'भैक्ष्य्'

हि-निश्चय से ; अव्यय
गुरुन् - गुरुओं को ; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'गुरु'
हत्वा - मारकर ; विधेय, कृदन्त।
अपि - भी ; अव्यय
रुधिरप्रदिग्धान् - रक्त से सने ; भूतकृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'भोगान्' 'प्र + दिह्' 4 गण
अर्थकामान् - अर्थकामी ; विशेषण, विशेष्य, 'गुरुन्'
भोगान् - भोगों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'भोग'
एव - निश्चय ; अव्यय।
तु - तो ; अव्यय
इह - इस लोक में, अव्यय
भुञ्जीय - मैं भोगूं, क्रियापद, विध्यर्थ, प्र.पु.ए.व. 'भुज्' 7 गण, आत्मने

श्लोकार्थ - महानुभावी गुरुजनों को न मारकर (मारने की अपेक्षा) इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना अच्छा है। क्योंकि अर्थ के इच्छुक गुरुजनों को मारकर तो इस लोक में ही उनके रूधिर से सने हुए भोगों को मुझे भोगना है।

विवेचन - गुरु आदि को मारना, इस लोक और वेद से विरूद्ध है। भीष्म आदि गुरुओं को मारे बिना राज्य न मिले तो भीख मांग कर खाना पड़ेगा, पर उन्हें मारकर राज्य प्राप्त करने पर तो उनके रक्त से सने भोग भोगने को मिलेंगे। ऐसे भोगों को भोगने के बजाय, गुरुओं को न मार कर भीख मांगकर खाना कहीं ज्यादा अच्छा है, क्योंकि गुरुजन महानुभाव हैं। महान अर्थात बड़े, जो भगवान हैं उनका अनुभव कराने वाले गुरु, महानुभावी हैं। उन्हें नहीं मारने से इस लोक में भीख मांग कर खाना पड़े, परन्तु परलोक में अवश्य सुख मिलेगा, यह आशय 'लोके' पद के प्रयोग का है। अगर महानुभाव गुरुओं को मारेंगे तो परलोक में अवश्य दुःख ही मिलना है। इतना ही नहीं, किन्तु इस लोक में भी, उनके रक्त से सने भोग ही भोगने को मिलेंगे। अतः इनके सामने युद्ध करना उचित नहीं।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा
जयेम यदि वा नो जयेयुः।।
यानेव हत्वा न जिजीविषामः
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।। 6।।

अन्वय :

एतद् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
न च – और, नही; अव्यय
विद्मः – हम जानते हैं; क्रि.पद, वर्त.का.प्र.पु.ब.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै
यत् – कि; अव्यय
नः – हमारा; सर्वनाम, ष.ब.व.
कतरत् – कौन; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
गरीयः – महान्; विशेषण, विशेष्य, 'कतरत्'
यद्वा – अथवा तो; अव्यय
न अयमपि न जानीमः यत् वयं = यह भी नहीं जानते कि हम
जयेम – जीतेंगे; क्रियापद, प्र.पु.ब.व. विध्यर्थ, 1गण, परस्मै
वा – अथवा, क्रि; अव्यय
नः – हमें; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'अस्मद्'
ते – वे लोग
जयेयुः – जीतेंगे; क्रि.प.विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व.जि(जय्) 1गण, परस्मै
यान् – जिनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु.
हत्वा – मार कर; वर्तमान, कृदन्त।
वयं = हम
न – नहीं; अव्यय
जिजीविषामः – हम जीवित रहने की इच्छा करें; क्रि.प. इच्छादर्शक काल, प्र.पु.ब.व. 'जीव्' परस्मै, 1 गण
ते – वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

एव – ही
धार्तराष्ट्रा – धृतराष्ट्र के पुत्र, अ.अ.पु.प्र.व.
अस्माकं = हमारा
प्रमुखे – आगे, समक्ष; नाम, स.ए.व.नपु. 'प्रमुख'
अवस्थिताः – खड़े हुए; भू. कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'ते'
सन्ति – हैं; क्रि.पद, वर्त. काल, तृ.ब.व. 'अस्'

श्लोकार्थः – भले हम जीतें अथवा वे हमें जीतें, इन दोनों में हमारे लिए श्रेष्ठ क्या है, हमें नहीं मालूम। जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

विवेचन – यदि हमको यह पता हो कि हमारी जीत निश्चित है, तो अधर्म को स्वीकार करके भी युद्ध करें। हमारे लिये, हमारी विजय श्रेष्ठ है या उन (लोगों) की, यह तक हमें पता नहीं है। हमारे विचार से तो हमारे बजाय उनका जीतना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि सामने खड़े धृतराष्ट्र पुत्रों को मारे बिना तो हम जीतेंगे नहीं, और यदि उन्हें मारते हैं तो फिर जीने की आशा रहेगी नहीं। अतः उन्हें मारकर, हम जीतें तो वह जीतना किस काम का ?

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।।
यत् श्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तन् मे शिष्यस्
तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 7।।

अन्वयः

कार्पण्य-दोषोपहत-स्वभावः – कायरता रूपी दोष से जिसका स्वभाव मर गया हैं; ''कार्पण्यएव दोषः तेन उपहतः स्वभावः यस्य'', विशेषण (अहम् बहुव्रीहि)
च – और; अव्यय
धर्मसम्मूढचेताः – जिसका चित्त धर्ममुग्ध है; विशेषण, विशेष्य, ''अहम् धर्मेण सम्मूढं चेतः यस्य इति'' बहुव्रीहि

अहं – मैं; प्र.ए.व.सर्वनाम, 'अस्मद्'
त्वाम् – तुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
पृच्छामि – पूछता हूँ; क्रियापद, व. काल, प्र.पु.ए.व. पृच्छ्, 6 गण ,परस्मै
यत् – जो; सर्वनाम,विशेषण, विशेष्य, 'श्रेयः'
निश्चितम् – निश्चित; विशेषण, विशेष्य, 'श्रेयः'
श्रेयः – कल्याण; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'श्रेयस्'
स्यात् – हो; क्रियापद, विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2गण
तत् – वह; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'तद्' पु.
मे – मुझे; सर्वनाम, चतुर्थी, ए.व.
ब्रूहि – कहो (कहिए) क्रियापद ; आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. आत्मने, 2गण, 'ब्रू'
अहम् – मैं; प्र.ए.व. सर्वनाम, 'अस्मद्'
ते – तुम्हारा; सर्वनाम, षष्ठी ए.व. 'युष्मत्'
शिष्यः – शिष्य; नाम, प्र.ए.व.पु. 'शिष्य', अस्मि = हूँ, अतः = इसीलिये
त्वाम् – तुझे, आपको, तुम्हारे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'
प्रपन्नम् – शरणागत ; विशेष्ण, विशेष्य, 'माम्'
माम् – मुझे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मद्'
शाधि – समझाओ (समझाइए) ; क्रियापद, आज्ञार्थ, द्वि.पु. 'शास्' 2 गण.

श्लोकार्थ – कार्पण्य दोष से बिगड़े स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहित चित्तवाला, मैं, आपसे पूछता हूँ कि कल्याण का जो निश्चित साधन हो वह मुझसे कहिए। मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागत को उपदेश कीजिए।

विवेचन – कुटुम्बियों को मारना अनुचित है, ऐसा मेरा मानना है, इसलिए मैं कृपण हुआ हूं, मेरा यही ज्ञान मेरा कार्पण्य दोष है। इसी दोष से मेरा क्षात्र स्वभाव विकृत हो गया है, कारण कि, मुझमें युद्ध करने का उत्साह नहीं है। विकृत स्वभाव के कारण विकल होने पर भी, धर्म के संबंध में मोहित चित्तवाला मैं, अपने कल्याण के लिए आपसे पूछता हूँ। युद्ध करके उन्हें मारूं या युद्ध नहीं करूं और उन्हें नहीं मारूं, इन दोनों में मेरे लिए, जो आपकी

प्रसन्नतारूप श्रेय हो, वह (मुझे) कहिए। मैं आपका मित्र नहीं पर शिष्य हूँ, धर्म का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आपके शरणागत हूँ, अतः मुझे उपदेश कीजिए।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यत् शोकमूच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि आधिपत्यम्।। 8।।

अन्वय :
हि – कारण कि ; अव्यय
भूमौ – भूमि के ऊपर ; नाम, स.ए.व.स्त्री. 'भूमि'
असपत्नम् – प्रतिद्वंद्वी के बिना ; विशेषण, विशेष्य, 'राज्यम्'
ऋद्धम् – समृद्धिवान् ; विशेषण, विशेष्य, 'राज्यम्'
राज्यम् – राज्य को ; नाम, अ.अ.पु.द्वि.ए.व.
च – और ; अव्यय
सुराणाम् – देवलोक का ; षष्ठी, ब.पु. 'सुर'
आधिपत्यम् – आधिपत्य ; नाम, द्वि.ए.व.
अवाप्य – प्राप्त करके ; विधेय, कृदन्त
अपि – भी ; अव्यय
अहं तत् उपायं – मैं उस उपाय को ;
न – नहीं ; अव्यय
प्रपश्यामि – देखता हूँ ; क्रि.प.व.का. प्र.पु.ए.व. 'प्र+दृश्' 1 गण, परस्मै
यत् – जिससे, जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
मम – मेरे ; सर्वनाम, ष.ए.व.
इन्द्रियाणाम् – इन्द्रियों का ; नाम, षष्ठी, ब.व.
उत्शोषणम् – सुखा देने वाले ; विशेषण, विशेष्य, 'शोकम्'
शोकम् – शोक को ; नाम, द्वि.ए.व.
अपनुद्द्यात – दूर करे, दूर हो ; क्रियापद, विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. अप + नुद्, परस्मै, 10 गण

श्लोकार्थ – क्योंकि पृथ्वी पर अद्वितीय समृद्धिवान राज्य और देवताओं का आधिपत्य मिलने पर भी, मैं उस उपाय को नहीं देख रहा हूँ, जो इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक को दूर कर सके।

विवेचन – 'तू मेरा मित्र है, और (मेरे) शरणागत है, अतः तेरी इच्छानुसार ही मैं करूंगा' आप इस प्रकार कहते हैं, फिर भी गुरुजनों को मारकर, मुझे इन्द्रियों का शोषण करने वाला ऐसा शोक होगा कि, पृथ्वी का अद्वितीय, सर्वसमृद्धशाली राज्य और देवों का आधिपत्य भी मुझे मिले, तो भी, इस शोक को दूर करने वाला कुछ प्राप्त न होगा। 'हि=कारण कि' शब्द से यह बताया है कि इन्द्रियों को तृप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

सञ्जय उवाच

एवं उक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप!।
न योत्स्य इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।9।।

अन्वय

परन्तप – धृतराष्ट्र ; सम्बोधन
गुडाकेशः – अर्जुन ; नाम, प्र.ए.व.
हृषीकेशम् – हृषीकेश को ; नाम, द्वि.ए.व. 'हृषीकाणम् ईशः', तत्पुरुष
एवम् – इस प्रकार ; अव्यय
उक्त्वा – कहकर ; विधेय कृदन्त
गोविन्दम् – कृष्ण को ; नाम, द्वि.ए.व. 'गवाम् इन्द्रः इति' तत्पुरुष
न – नहीं ; अव्यय
योत्स्ये – लड़ूंगा ; क्रियापद, भविष्यकाल, प्र.पु.ए.व. 'युध्' 4 गण आत्मने,
इति ह – इस प्रकार स्पष्ट ; अव्यय
उक्त्वा – कहकर ; विधेय कृदन्त
तूष्णीम् – शान्त ; अव्यय
बभूव – हुआ ; क्रि.पूर्णभूतकाल, तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ – हे परन्तप! निद्राविजयी अर्जुन ने हृषीकेश को इस प्रकार कहा – गोविन्द मैं युद्ध नहीं करूंगा 'यों कहकर वह चुप हो गया'।

विवेचन – 'गुडाका' अर्थात निद्रा के ईश अथवा आलस्य रहित अर्जुन ने इन्द्रियों के ईश, अर्थात् इन्द्रियों के प्रेरक भगवान को इस प्रकार कहकर, भक्त प्रतिपालक गोविंद को 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' यों कहा और चुप हो गया।

मूल में 'ह' शब्द है जो आश्चर्य कारक है। भगवान ने अर्जुन को युद्ध करके राज्य प्राप्त करने के लिये कहा तो भी उसे राज्य की स्पृहा नहीं हुई, यह आश्चर्य की बात है। यहाँ सञ्जय धृतराष्ट्र को 'परन्तप' कहता है। परं अर्थात् महान्; महान तप है जिसका वह परन्तप। आपका तप बड़ा है, (आप) भाग्यशाली हो कि आपके पुत्र, श्रीकृष्ण की सन्निधि में जीवन त्याग कर कृतार्थ होंगे इस भाव से धृतराष्ट्र को 'परन्तप' सम्बोधन दिया है। इसीलिए ही ''अर्जुन के अस्त्रों से जो पवित्र हुये उनको भगवत् चरणों की प्राप्ति हुई'', ऐसा निदर्शक वाक्य है।

तम् उवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारतः!।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये विषीदन्तम् इदं वचः।।10।।

अन्वयः

भारत – धृतराष्ट्र ; सम्बोधन
हृषीकेशः – कृष्ण ; नाम, प्र.ए.व.
उभयोः – दोनों ; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'सेनयोः'
सेनयोः – दोनों सेनाओं की ; नाम, षष्ठी, द्वि. व. स्त्री. 'सेना'
मध्ये – मध्य में ; नाम, स.ए.व.
तम् – तुझे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.
विषीदन्तम् – शोकवाले को ; विशेषण, विशेष्य, 'तम्'
प्रहसन् – हँसते हुए ; विशेषण, विशेष्य, 'हृषीकेश' व.कृ.
इव – जैसा, तरह ; अव्यय
इदम् – यह ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.

वचः - वचन ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
उवाच - कहा ; क्रि. पु.भू.तृ.पु.ए.व. 'वच्'

श्लोकार्थ - हे भारत, दोनों सेनाओं के मध्य, विषाद करते हुए (अर्जुन) को हृषीकेश ने परिहास करते हुए ये (निम्न) वचन कहे।

विवेचन - अर्जुन को आत्म तत्त्व का ज्ञान न होने से यह विकल हो गया है, इस विचार से, भगवान परिहासपूर्वक, शोकातुर अर्जुन को, उसके धर्मिष्ठ होने से, इसको यह उचित ही है, यह विचार कर, निम्न वचन कहते हैं -

श्रीभगवान् उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। 11।।

अन्वयः

त्वम् - तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
अशोच्यान् - जो शोक करने लायक नहीं हैं उनका ; विशेषण विशेष्य, 'जनान्'
अन्वशोचः - शोक किया ; क्रि, अनद्यतन भूतकाल, द्वि.पु.ए.व. 'अनु+शोच्' 1 गण
च - और ; अव्यय
प्रज्ञावादान् - पाण्डित्य पूर्ण शब्द ; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'प्रज्ञावाद'
भाषसे - बोलता है ; क्रि.व.काल, द्वि.पु.ए.व. 'भाष्' 1 गण, आत्मने।
पण्डिताः - पण्डितजन ; नाम, प्र.ब.व.पु.
गतासून् - चले गये हैं प्राण जिनके ; द्वि.ब.व. 'गताः असवः येषाम् तान्' बहुव्रीहि।
च - और ; अव्यय
अगतासून - गये नहीं हैं प्राण जिनके प्राणयुक्त ; द्वि.ब.व. विशेषण,
न - नहीं ; अव्यय

अनुशोचन्ति - पीछे शोक करता है ; क्रि.व.तृ.पु.ब.व. अनु + शुच्, 1 गण

श्लोकार्थ - जिनका शोक नहीं करना चाहिए, उनका तुमने शोक किया है, और पण्डितों के (से) वचन बोल रहे हो। पण्डित लोग मृत अथवा जीवितों के लिए शोक नहीं करते।

विवेचन - इस श्लोक से प्रारंभ कर, नर (अर्जुन) के मोह और शोक को दूर करने के लिये भगवान् उसे सांख्य का ज्ञान देते हैं। ''सांख्य के बहुत प्रकार हैं, उनमें से एक उत्तम प्रमाण रूप है (वह यहाँ से भगवान अर्जुन को कहते हैं)। इस सांख्य के प्रमाणानुसार तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस है, और इन सबका स्वरूप भगवान ही है। सत्पुरुषों द्वारा समादृत और मान्य योग भी एक है। इस योग में भगवान का ध्यान किया जाता है। वैराग्य, ज्ञान, योग, प्रेम और तप - विद्या के इन पाँच साधनों में से एक साधन को भी दृढ़ कर जो भगवान को भजता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिए अर्जुन की कुबुद्धि का नाश करने को भगवान उसे त्याग और अत्याग के भेद से सांख्य और योग का उपदेश करते हैं। ''सांख्य में त्याग का उपदेश है। अहंता और ममता के नाश होने पर, जब जीव सर्वथा अहंकार रहित हो स्वयं के स्वरूप में स्थित होता है तब भगवदाश्रय से कृतार्थ होता है। त्याग न करना हो, उसे योग का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। इस मार्ग में भी मन से तो त्याग करना ही पड़ता है, और यम नियमादि (श्रीभागवत के तृतीय स्कंध के अट्ठाईसवें अध्याय में वर्णित) योग के साधन करने होते हैं। इन साधनों द्वारा योग की सिद्धि होने पर कृतार्थता होती है। योग में ईश्वर का आधार रखने से, तत्-तत् फलोपरान्त, जन्मान्तरों तक, योग साधना करते करते यह निश्चित भक्ति को उत्पन्न करता है। सांख्य में भी, यदि चित्त भगवद परायण रखने में आवे तो यह फल प्राप्त होता ही है, पर यदि चित्त भगवान में न हो तो भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। कर्म भी यदि भगवान को अपर्ण करने में आवे, तो उनसे भी भक्ति प्राप्त होती है। इसीलिए भगवान अर्जुन को स्वयं के भक्ति मार्ग में स्वीकार न करके, ''इसे आत्म तत्व का

वास्तविक ज्ञान नहीं होने से ही इस प्रकार शोक करता है'' - यह विचार कर, उस शोक को दूर करने के लिए सांख्य का ज्ञान कराते हैं।

शास्त्रार्थ के ज्ञान से प्रथम अर्जुन की बुद्धि स्थिर कर, पश्चात भगवान उसे भक्ति का उपदेश देना चाहते हैं। अतः प्रथम शास्त्रार्थ ज्ञान अथवा आत्मा और जड़ के ज्ञान का उपदेश करते हैं। अशोच्य अथवा जिनका शोक करना योग्य नहीं, उनका उसने शोक किया। ये सब अशोच्य हैं, शोक करने लायक नहीं हैं, कारण कि वे मेरे भक्त नहीं हैं, किन्तु आसुरावेशी हैं। भूमि भार हरण हेतु मुझे इन्हें मारना ही है। ऐसे, जो शोक करने लायक नहीं है, उनका तूने शोक किया। और तू पण्डितों जैसे वचन बोलता है, पर पण्डित है नहीं, क्योंकि पण्डितों को तो 'सर्व मेरी इच्छानुसार ही होता है' ऐसा ज्ञान होता है। इसी ज्ञान के कारण पण्डित लोग, मृत अथवा जीवितों का शोक करते नहीं है। मृत्युपरांत इनका परलोक में क्या होगा, इस प्रकार मरे हुओं का शोक पण्डित लोग नहीं करते हैं। उसी प्रकार जो जीवित हैं, उनका भरण पोषण, तथा रक्षण कैसे होगा, ऐसे जीवितों का भी शोक नहीं करते। श्रुति भी कहती है - ''जिसके उद्धार की इच्छा होती है, उससे भगवान ही,उत्तम कर्म कराते हैं, जिसके अधःपात की इच्छा होती है, उससे भगवान ही अधम कर्म करवाते हैं।'' यह सब मेरी इच्छानुसार ही होता है। मैं जो करता हूं उसमें शोक करने का कारण ही कहां है?

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। 12 ।।

अन्वयः

न तु - नहीं तो; अव्यय
अहं - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
जातु न - निश्चय नहीं; अव्यय
आसम् - था; क्रि.प.भूतकाल, प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण

त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्
न - नही; अव्यय
आसीः - था
इमे - ये; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'इदम्'
जनाधिपाः - राजा लोग; नाम, प्र.ब.व. ''जनानाम् अधिपाः'', तत्पुरूष
न - नही; अव्यय
आसम् - था
च न - और नही; अव्यय
एवमेव - इसी प्रकार;
अतः परम् - इसके पश्चात; अव्यय
वयम् - हम; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'अस्मद्'
सर्वे - सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.
न -नहीं; अव्यय
भविष्यामः - हम होंगे; क्रि.भविष्यकाल, प्र.पु.ब.व.भू. 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ - पहले कभी, मैं, तू या ये राजा लोग नहीं थे, ऐसा नहीं है। और हम सब पीछे (भविष्य) नहीं होंगे ऐसा भी नहीं है।

विवेचन - जो उत्पन्न होकर मरता है, वही शोक करने योग्य है, लेकिन यह आत्मा होने से, इसकी उत्पत्ति ही संभव नहीं है। इस प्रकार आत्मवाद से उत्पत्ति का खंडन करके अशोच को दर्शाते हैं। मुझे तू जैसा देखता है, वैसा मैं पहले नहीं था, ऐसा नहीं है, अर्थात् मैं सर्वदा ही था। उसी प्रकार तू और ये राजा लोग भी सदा थे। भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे ऐसा भी नहीं है, अर्थात हम सब रहेंगे। आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार विनाश भी नहीं है। आत्मा नित्य, शुद्ध और चेतन है। इसलिए सब नित्य होने से किसी का शोक करना उचित नहीं है ''नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन'' आदि श्रुति प्रमाण से आत्मा उत्पन्न नहीं होती। (उसी प्रकार नाश रूप विकार भी नहीं होता है) यह कहा गया है।

देहिनोऽस्मिन यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति ।। 13।।

अन्वयः

यथा – जैसे; अव्यय

देहिनः – देहधारी को; नाम, ष.ए.व.पु.

अस्मिन् – इस; सर्वनाम, स.ए.व. 'इदम्'

देहे – देह में; नाम, स.ए.व. 'देह' पु.

कौमारम् – कौमारावस्था; नाम, प्र.ए.व.नपु.

च = और

यौवनम् – युवा; नाम, प्र.ए.व.नपु.

जरा– वृद्धावस्था; नाम, प्र.ए.व.स्त्रीलिंग

अवस्था भवन्ति – अवस्थायें होती हैं;

तथा – तैसे; अव्यय

देहान्तरप्राप्तिः – देसरे देह की प्राप्ति; नाम, प्र.ए.व.

भवति – होती है;

तत्र – वहाँ; अव्यय

धीरः – धीर; विशेषण, विशेष्य, 'पुरूषः'

न – नही; अव्यय

मुह्यति – मोह को प्राप्त होते हैं; क्रि.प. वर्तमान काल, तृ.पु.ए.व. 'मुह्' 4गण

श्लोकार्थ – देहधारी को जैसे इस देह में, कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है वैसे ही (देहान्तर) अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। उसमें धैर्यवान पुरूष मोह को प्राप्त नहीं होता (शोक नहीं करता) ।

विवेचन – हम सब भविष्य में भी निश्चय ही होंगे किन्तु इस देह का क्या होगा अथवा ऐसा अलौकिक देह प्राप्त होगा कि नहीं? ऐसी शंका के लिए यह श्लोक योजित किया है। जैसे समयानुसार जीव को इस देह में बाल्य, यौवन तथा वृद्धावस्था, ऐसी तीन अवस्थायें प्राप्त होती हैं वैसे ही समय व्यतीत होने पर

अन्य देह की प्राप्ति भी निश्चित है। अतः धीर पुरूष इन विषयों में मोहित नहीं होता। सभी को अन्य देह की प्राप्ति होनी ही है। भगवान की इच्छा से भगवदीय को दूसरी भी, अलौकिक देह ही मिलनी है। अतः धैर्यवान अथवा भक्त को, 'कैसा शरीर मिलेगा'? इस प्रकार का मोह नहीं होता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण-सुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्याः तान् तितिक्षस्व भारत ! ।। 14।।

अन्वयः

कौन्तेय – अर्जुन; सम्बोधन

शीतोष्णसुखदुः-खदाः – शीत, उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले; नाम, प्र.ब.व. 'शीतं, उष्णं सुखं दुःखं ददाति ते' उपपद समास

मात्रास्पर्शाः – इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग, मात्रा के स्पर्श, पञ्च महाभूतों का मूल स्वरूप; नाम, प्र.ब.व.

तु – तो; अव्यय

आगमापायिनः – आने के साथ ही दुखः देनेवाले; नाम, प्र.ब.व. 'आगमे एव अपायिनः' कर्मधारय,

च= और

अनित्याः – अशाश्वत; विशेषण, विशेष्य, 'मात्रास्पर्शाः'

सन्ति – हैं; क्रि.वर्त.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'

भारत – हे अर्जुन; सम्बोधन

तान् –उन्हें; सर्वनाम, द्वि.ब.व.

तितिक्षस्व – सहन कर; क्रियापद, आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'त्यज्' इच्छादर्शक

श्लोकार्थ – हे कौन्तेय ! मात्रा के स्पर्श तो सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख देने वाले, आने जाने वाले के समान अनित्य हैं। (अतः) हे भारत! इन्हें सहन कर।

विवेचन – धैर्यशील को मोह नहीं होता किन्तु मुझ में धैर्य न होने के कारण मुझे शोक होता है उसका उपाय क्या? ऐसी शंका हो तो उसके लिए धैर्य प्राप्त

करने का उपाय इस श्लोक में कहते हैं। 'मात्रा' अर्थात् इन्द्रियों की वृत्तियाँ। इनका पदार्थों के साथ संयोग ही सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख का प्रदान करने वाला है। जैसे त्वचा के साथ जल के संयोग से ही सर्द अथवा शीत लगता है, धूप अथवा अग्नि के साथ संयोग होने से ताप लगता है, मित्र मिलन से सुख और वियोग से दुःख होता है। मित्र के दर्शन से सुख और शत्रु के दर्शन से उद्वेग प्राप्त होता है, आदि। अथवा 'मात्रा' अर्थात् रूप आदि गुणवाले पदार्थ। इनका इन्द्रियों की वृत्ति के साथ स्पर्श सुख दुःख प्रदाता है। मात्राओं का यह स्पर्श स्थिर नहीं है परन्तु परिवर्तनशील की तरह अस्थिर है, अनित्य है। अतः इन्हें सहन कर। भरतकुल में उत्पन्न होने के कारण तुझे इन्हें सहन करना ही उचित है। इस प्रकार सहन करने की सांख्य एवं योग दोनों में आवश्यकता है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरूषं पुरूषर्षभ ! ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। 15।।

अन्वयः

हि – निश्चय; अव्यय
पुरूषर्षभ – हे अर्जुन; सम्बोधन, 'पुरूषेषु ऋषभः' तत्पुरूष
समदुःखसुखम् – जिनको दुःख और सुख समान हैं; विशेषण,विशेष्य, 'समं सुखं दुःखं च यस्य इति'
यम् – जिसे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'यत्' का पु.
धीरम् –धीर; विशेषण, विशेष्य, 'पुरूषम्'
पुरूषम् – पुरूष को; नाम, द्वि.ए.व.
एते – ये; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'एतद्' (इन्द्रिय विषयाः = इन्द्रियों के विषय)
न – नहीं; अव्यय
व्यथयन्ति – दुःख देते हैं; क्रि.व.काल, तृ.पु.ब.व. 'व्यथ्' 10 गण
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तद्'
अमृतत्वाय – अमृतत्व के लिए; नाम, चतुर्थी, ए.व.
कल्पते – योग्य है; क्रियापद, व.काल, तृ.पु.ए.व. 'क्लृप्' धातु 1 गण

श्लोकार्थ – हे पुरूषरत्न ! दुख और सुख को समान समझने वाले जो धीर पुरूष हैं, उन्हें मात्राओं के स्पर्श (विषय और इन्द्रियों के संयोग) व्यथित नहीं कर सकते। वे अमृतत्व प्राप्त करने योग्य हैं।

विवेचन – इस प्रकार सहन करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती हैं, यों कहते हैं। हे पुरूषों में श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख और दुःख जिसे समान लगते हैं, ऐसे धीर अर्थात् मात्रा स्पर्शों को सहन करने में समर्थ जिस मनुष्य को ये स्पर्श व्यथित नहीं करते वह मनुष्य अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने योग्य है, अथवा मोक्ष प्रदाता भक्ति प्राप्त करने योग्य है। सुखदुःख को समान समझने वाले को भगवद् इच्छा से सब आनन्द रूप ही लगते हैं, यों सूचित करते हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तः त्वनयोः तत्वदर्शिभिः ।। 16।।

अन्वयः

असतः – जो नहीं है उसका; नाम, षष्ठी, ए.व.
भाव – अस्तित्व, होना; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भाव'
न – नही; अव्यय
विद्यते – बताते हैं; क्रि. कर्मणि, व.काल, तृ.पु.ए.व. विद् 2गण
तु – और; अव्यय
सतः – जो है उसका; नाम, षष्ठी, ए.व.
न – नहीं; अव्यय
विद्यते – बताते हैं; क्रि.व.काल, कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण
तु – और; अव्यय
सतः – जो है उसका;
अभावः – नहीं होने का भाव; नाम, प्र.ए.व.
न – नहीं; अव्यय
विद्यते – बताते हैं; क्रि.व. काल, कर्मणि, तृ.पु. ए.व. विद्

इत्थं – इस प्रकार से;
अनयोः – दोनों का; सर्वनाम, षष्ठी, द्वि.वचन, 'इदम्'
उभयोः – दोनों का; सर्वनाम, ष.द्वि.व.
अपि – भी; अव्यय
अन्तः – तत्व; नाम,प्र.ए.व.
तत्वदर्शिभिः – तत्ववेत्ताओं द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु. 'तत्वदर्शिन्'
दृष्टः – देखा हुआ; भू. कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'अन्तः'

श्लोकार्थ – असत् का भाव एवं सत् का अभाव नहीं होता, यह निर्णय तत्वदर्शियों द्वारा किया गया है।

विवेचन – इस श्लोक द्वारा बताने में आया है कि आत्मा में अस्तित्वरूप (होने का भाव) विकार नहीं है और इसीलिए इसके प्रति शोक करना योग्य नहीं है। अस्तित्व रूप विकार तो पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात उसमें होते हैं, किन्तु आत्मा की तो उत्पत्ति ही नहीं होने से, उसमें ऐसा विकार नहीं है। ''यह पहले असत था, उसमें से सचमुच में सत प्रकट हुआ'', इस श्रुति से असद्वाद (जगत को असद् मानने का सिद्धांत) का निरास किया गया है। इस प्रकार इस श्लोक में भगवान असद्वाद का असत्य होना समझाते हैं।

'असद्' अर्थात जो तीनों काल में विद्यमान न हो ऐसा पदार्थ, जैसे कि आकाश में उगा हुआ फूल आदि, ऐसे पदार्थों का भाव अर्थात सत्ता नहीं होती है। उसी तरह 'सत्' वह पदार्थ है, जो त्रिकाल में विद्यमान रहता है, किसी काल में न हो ऐसा असंभव है। आत्मा सत् है। वह किसी समय में न हो ऐसा हो ही नहीं सकता, क्योंकि, ''आत्मा अमुक समय में नही था'', ''आत्मा नहीं है'' अथवा ''आत्मा अमुक समय में नहीं हो सकता'' ऐसा दिखता तो नहीं है। परन्तु देह आदि पदार्थ, ''अमुक समय पश्चात भी रहेंगे'' ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि, ऐसे पदार्थ तो नाशशील हैं। इसीलिए वे ''सत्'' नहीं कहे जाते। जबकि वे ''असत् हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि उनकी

उत्पत्ति है, और ''असत्'' पदार्थो का भाव (यानि उत्पत्ति) नहीं होती। अतः यह देहादि जगत् 'सदसत्' है। इसीलिए ये पदार्थ अनित्य हैं, कारण कि उत्पत्ति पूर्व वे होते नहीं है, और नाश होने के पश्चात भी रहते नहीं हैं। प्रकृति में से इनकी उत्पत्ति है और प्रकृति सच्चिदानन्द ब्रह्म से प्रकट होती है, अतः ये पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। इसी दृष्टिकोण से विष्णुपराण में '' हे उत्तम मुनि! इसीलिए यह जगत क्षय न होने जैसा नित्य है'' ! ऐसा कहा गया है। वेदस्तुति (*10.84.36*) में इस जगत को असत् ही नहीं कहा है परन्तु यह सत् नहीं यह भी कहा हुआ है। इसके सत्य होने की कल्पना, व्यवहार के लिए, अंध परंपरानुसार की हुई है, यह उसी जगह स्पष्ट कर दिया है।

अथवा सत् दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। आत्मा में रहा हुआ सत्व शुद्ध है, जड़ पदार्थों में रहा सत्व अशुद्ध है। असद् अर्थात्, आत्मा समान शुद्ध सत्व जिनमें न हो वैसे देहादि पदार्थ। ऐसे पदार्थों का भाव नहीं होता है, इसलिए ऐसे पदार्थों में शुद्ध सत्व नहीं होता है, किन्तु विकृति योग्य अस्थिर सत्व होता है।

(जिनमें अशुद्ध सत्व होता है, उन पदार्थों में विकार होता है। शुद्ध सत्व वाले आत्मा में विकार नहीं होता। अशुद्ध सत्व वाले पदार्थों में विकार होता है इसीलिए उनकी आकृति आदि में परिवर्तन होता है। शुद्ध सत्व वाले आत्मा में इस प्रकार का कोई भी विकार नहीं होता।) उसी प्रकार, सत् अर्थात् शुद्ध सत्व वाले आत्मा का अभाव नहीं होता इसीलिए उनमें विकृत होने योग्य कोई अस्थिर सत्व नहीं होता। ऐसे सत्-असत् दोनों पदार्थों का निर्णय तत्वदर्शियों ने किया है। इसीलिए कहा गया है कि आत्मा को वृद्धि तथा विपरिणाम (परिवर्तन) नामक विकार भी नहीं होते हैं।

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वम् इदं ततम् ।
विनाशम् अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुम् अर्हति ।। 17।।

अन्वयः
अविनाशि – शाश्वत; विशेषण,विशेष्य, 'तत्'

तु – तो; अव्यय
तद् – वह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
विद्धि – जान/समझ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 2 गण 'विद्' आत्मने
येन – जिससे; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'यत्' पु.
इदं – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
सर्वम् – सर्व, सब; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
ततम् – विस्तृत ; भू. कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'सर्वम्'
अस्ति – है; क्रियापद, वर्त. काल, तृ.ए.व. 'अस्'
अस्य – इसका; सर्वनाम,ष.ए.व. 'इदम्'
अव्ययस्य –अव्यय का; नाम, ष.ए.व.पु. 'अव्यय'
विनाशम् – विनाश; नाम, द्वि.ए.व.
कर्तुम – करने को; हेत्वर्थ कृदन्त
कश्चित् – कोई भी; सर्वनाम, प्र.ए.व.
न – नहीं; अव्यय
अर्हति – लायक है; क्रि.व.काल. तृ.पु.ए.व. 1 गण, 'अर्ह' परस्मै.

श्लोकार्थ – जिससे यह सर्व व्याप्त है, उसको अविनाशी जान। इस अव्यय का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

विवेचन – इस श्लोक द्वार कहते हैं कि आत्मा में क्षय और विनाश नामक विकार नहीं होते हैं।

यह सर्व देहादि जिससे व्याप्त हैं जो इन देहादि सर्व में व्याप्त है, असत् और नाशवान होने पर भी, जिसके कारण सर्व सत् तरीके व्यवहृत होता है, वह आत्मा अविनाशी है, ऐसा जान। यह अव्यय अथवा क्षय रहित है, ऐसे आत्मा को शस्त्र, अग्नि आदि कोई भी उपाय नष्ट करने में समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ! ।।18।।

अन्वयः
अनाशिनः – शाश्वत का; विशेषण, विशेष्य, 'अप्रमेयस्य'
अप्रमेयस्य – जो प्रमाण से अज्ञेय है; नाम, षष्ठी, ए.व.
नित्यस्य – नित्य का; विशेषण, विशेष्य, 'शरीरिणः'
शरीरिणः – आत्मा का; नाम, ष.ए.'शरीरिन्'
इमे – यह; सर्वनाम, प्र.ब.व.
देहाः – देह; नाम, प्र.ब.व.पु.
अन्तवन्तः – नाशवान्; विशेषण, विशेष्य, 'देहाः'
उक्ताः – कथित है; भूत कृदन्त, प्र.ब.व.पु.
तस्मात् – इस कारण से; सर्वनाम, पं.ए.व. 'तत्'
भारत – अर्जुन; सम्बोधन
युध्यस्व – युद्ध कर; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'युध्' 4गण, आत्मने

श्लोकार्थ – हे भारत! नित्य, नाश रहित, अप्रमेय आत्मा के ये देहादि विनाशशील कहे गये हैं, अतः युद्ध कर।

विवेचन – हे भारत ! आत्मा नित्य है, इसका नाश नहीं होता है। आत्मा अप्रमेय अथवा अज्ञेय है। इसके ये देहादि, अन्तवाले हैं, अतः अस्थिर कहे गये हैं। अतः शोक को छोड़कर, युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।19।।

अन्वयः
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.
एनम् – उसे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्' का. पु.
हन्तारम् – मारने वाले को; नाम, द्वि.ए.व. 'हन्तु' पु.
वेत्ति – जानता है; क्रि.व. काल., तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2गण
च – और; अव्यय

यः – **जो**; सर्वनाम, प्र.ए.व., 'यत्' पु.
एनम् – **उसे**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्' पु.
हतम् – **मृत**; विशेषण, विशेष्य, 'एनम्'
मन्यते – **मानता है**; क्रि.प., वर्त.काल. आत्मने, तृ.पु.ए.व., 'मन्' 4गण
तौ – **वे**; सर्वनाम, प्र.द्वि.व.
उभौ – **दोनों**; सर्वनाम, प्र.द्वि.व.
एव – **ही**;
न – **नहीं**;
विजानीतः – **जानते**; क्रि.प.व. काल, तृ.पु.द्वि.व. 'वि+ज्ञा' परस्मै, 9गण।
यद् – **कि**
अयम् – **यह**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्' पु.
न – **नहीं**; अव्यय
हन्ति – **मारता है**; क्रि.प.तृ.पु.ए.व.'हन्' 2गण परस्मै।
च – **और**; अव्यय
न – **नहीं**; अव्यय
हन्यते – **मारा जाता है**; क्रि.प.व.का., कर्मणि तृ.पु.ए.व.,'हन्' 2गण

श्लोकार्थ – जो इसे मारने वाला जानता है और जो इसे मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते कि यह न तो मारता है और न मारा जाता है।

विवेचन – आत्मा मारने वाला अथवा मारे जाने वाला है, इस मान्यता का यहां खंडन किया है। आत्मा का अवयवी शरीर से वियोग ही होता है, अतः वह न तो मारता है न मारा जाता है। ''प्राणी मात्र की हिंसा नहीं करना'' आदि वचन भी शरीर को दृष्टिगत रखकर ही कहे गये हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हनयते हनयमाने शरीरे ।।20।।

अन्वयः
अयम् – **यह**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्' पु.

कदाचित् – **किसी भी समय**; अव्यय
न – **नहीं**; अव्यय
जायते – **पैदा होता है**; क्रि.प. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'जन्' 4गण, व.काल
न वा – **न तो**; अव्यय
म्रियते – **मरता**; क्रि.प. सह्वाभेद, तृ.पु.ए.व. 'मृ' 6गण व. काल
न – **नहीं**; अव्यय
अयं – **यह**
भूत्वा – **होकर, बनकर**; सम्बन्धक भूतकृदन्त
भूयः – **फिर से**; अव्यय
भविता – **होने वाला**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भवितृ'
अयम् – **यह**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्' का पु.
अजः – **अजन्मा**; नाम, प्र.ए.व. 'न जायते इति अजः' नञ् तत्पुरूष
नित्यः – **नित्य**; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
शाश्वतः – **नित्य**; विशेषण, विशेष्य 'अयम्'
पुराणः – **प्राचीन**; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
शरीरे – **शरीर में**; नाम, स.ए.व.नपु. 'शरीर'
हन्मयमाने – **मृत होने पर भी**; भू. कृदंत, विशेषण, वि. 'शरीरे'
अपि अयं – **तो यह।**
न – **नहीं**; अव्यय
हन्यते – **मरता है**; क्रि.प., व.काल, कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'हन्' 2गण ।

श्लोकार्थ – यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न ही कभी मरता है, होकर पुनः होने वाला नहीं है। अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन यह आत्मा मरणशील शरीर में मरता नहीं है।

विवेचन – जिसका जन्म अथवा उत्पत्ति होती है, उसी की मृत्यु संभव है, किन्तु आत्मा की जब उत्पत्ति ही नहीं तो मृत्यु किस प्रकार संभव है, यह बताने के लिए ही उत्पत्ति का निषेध किया गया है। आत्मा न तो किसी काल में

जन्मता है और न ही किसी काल में मरता है। ''भूत्वा भूयो न भविता'' होकर पुनः होने वाला नहीं है। इसका अर्थ है कि, भगवान ने अपनी क्रीड़ा के लिए सृष्टि की रचना की है। उसमें एक बार जिस भाव से अमुक आत्मा योजित हुआ है, उसी भाव से भविष्य में पुनः वा आत्मा होने वाला नहीं है। इसीलिए जिस आत्मा को जिस समय भगवान ने जिस कार्य हेतु योजित किया है, उस समय वही कार्य उसे करना होता है। इस प्रकार करने से ही भगवद् प्रीति प्राप्त होती है। यदि ऐसा ना हो तो उसकी योजना व्यर्थ हो जाती है। यहां ''भूत्वा = होकर'' शब्द योजित है, अतः आत्मा की उत्पत्ति होती है, इस शंका के निवारणार्थ, आत्मा को पुनः 'अज' कहा गया है। 'अज' वह, जो जन्मता नहीं है। आत्मा भगवद् अंश होने से अजन्मा है, अतः वह 'अज' है। जबकि आत्मा नित्य है, शाश्वत अर्थात् सदा एकभाव वाला है, आत्मा पुराण अथवा पुरातन है, सदा मेरी सेवा में रत, मेरा दास है। जिस शरीर में वास करता है, उस शरीर के मरने पर भी आत्मा मरता नहीं है। इस श्लोक में 'कठोपनिषद्' आदि श्रुतियों का अर्थ कहा गया है, और आत्मा में उत्पत्ति आदि विकार नहीं होते, यह बतलाया गया है।

ब्रह्मसूत्र 2/3/17 के अणुभाष्य में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनम् अजमव्ययम् ।
कथं स पुरूषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। 21 ।।

अन्वयः

पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.
एनम् - इसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्' का
अजम् - अजन्म; विशेषण, विशेष्य, 'एनम्'
अविनाशिनः - शाश्वत; विशेषण, विशेष्य, 'एनम्'
नित्यम् - नित्य; विशेषण, विशेष्य, 'एनम्'
अव्ययम् - जिसमें परिवर्तन नहीं होता; विशेषण, विशेष्य, 'एनम्'

वेद - जानता है; क्रि.प., व. काल, तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2गण
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. पु.'तद्'
पुरूषः - पुरूष; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पुरूष'
कथम् - किस प्रकार; अव्यय
कम् - किसे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.किम् पु.
घातयति - मरवाता है; क्रि.प., प्रेरकभेद, व.काल, तृ.पु.ए.व. परस्मै 'हन्' 2गण
च - और; अव्यय
कम् - किसे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
हन्ति - मारता है; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. 'हन' व. काल. परस्मै

श्लोकार्थ - हे पार्थ ! जो इसे अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय समझता है वह पुरुष किस प्रकार किसी को मरवाता है और किस प्रकार किसी को मारता है?

विवेचन - आत्मा मारता है अथवा मरता है, ऐसी बुद्धि अज्ञान जनित है, यह दिखाने के लिए, जिसको आत्मा का ज्ञान होता है उसकी बुद्धि ऐसी नहीं होती है, यह कह रहे हैं। जो आत्मा को 'अविनाशी' अर्थात् विकार रहित, 'नित्य' अर्थात् सदा एकरूप, 'अज' अर्थात् जन्मादि रहित और 'अव्यय' अर्थात् नाश रहित जानता है वह पुरुष किस साधन से स्वयं किसी को मारे? अर्थात् किसी भी साधन से किसी को मरवा नहीं सकता और न किसी भी साधन से किसी को मार सकता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही।। 22 ।।

अन्वयः

यथा - जिस प्रकार ; अव्यय
नर : - मनुष्य ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'नर'

जीर्णानि – पुराना ; विशेषण, विशेष्य, 'वासांसि'
वासांसि – वस्त्र ; नाम, द्वि.ब. 'वासस' नपु.
विहाय – छोड़कर ; सम्बन्धक भूतकृदन्त
अपराणि – दूसरा ; विशेषण, विशेष्य, 'वासांसि'
नवानि – नवीन; विशेषण, विशेष्य, 'वासांसि'
गृह्णाति – ग्रहण करता है; क्रि.प., तृ.पु.ए.व., 'गृह्' 9गण, परस्मै
तथा – उसी प्रकार; अव्यय
देही – देहधारी (जीव); नाम, प्र.ए.व.पु. 'देहिन्'
जीर्णानि – पुराना; विशेषण, विशेष्य, 'शरीराणि'
अन्यानि – दूसरा; विशेषण, विशेष्य, 'शरीराणि'
शरीराणि – शरीर; नाम, द्वि.ब.व., नपु.
विहाय – छोड़कर; सम्बन्धक भूतकृदन्त
नवानि – नवीन; विशेषण, विशेष्य, 'शरीराणि'
संयाति – प्रवेश करता है; क्रि.प.तृ.पु.ए.व. परस्मै, 'सम्+या' 2गण

श्लोकार्थ – जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग कर, दूसरे नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार पुराने शरीर को त्याग कर देही(जीवात्मा) नये शरीरों में प्रवेश करता है।

विवेचन – आत्मा अविनाशी है यह मान भी लिया जाए तो भी उसके भोग के साधनभूत देह का तो विनाश होगा ही यह जान कर मैं शोक करता हूं। ''भगवद् क्रीडार्थ रचित देह को मारने से भी दोष ही लगता होने से शोक करना ही योग्य है।'' ऐसी शंका हो तो उसे दूर करने के लिए कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने अनुपयोगी वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नवीन वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी मेरी क्रीड़ा में अनुपयोगी शरीर का त्याग कर मेरी क्रीड़ा में उपयोगी, दूसरे नवीन देह में मेरी इच्छानुसार ही प्रवेश करता है। अत: कर्म बन्धन से अन्य नवीन शरीर अवश्य ही प्राप्त होते होने से पुराने शरीरों के नाश के संबंध में शोक करना अनुचित है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः ।।23।।

अन्वयः
एनम् – इसे, इसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'
शस्त्राणि – शस्त्र; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'शस्त्र'
न – नहीं; अव्यय
छिन्दन्ति – काटते हैं; क्रि.व.काल, तृ.पु.ब.व. 'छिद्' परस्मै 7गण
एनम् – उसको; सर्वनाम, द्वि. ए.व. 'एतद्' पु.
पावकः – अग्नि ; नाम, प्र.ए.व. पु. 'पावक'
न – नहीं ; अव्यय
दहति – जलाता है ; क्रि. व. काल, तृ.पु.ए.व. परस्मै, 'दह्' 1 गण
एनम् – उसे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
आपः – जल ; नाम, प्र.ब.व. स्त्री.
न – नहीं ; अव्यय
क्लेदयन्ति – गलाता है ; क्रि.प.व.का. तृ.पु.ब.व. 'क्लिद्' 4 गण, प्रेरक भेद।

श्लोकार्थ – शस्त्र इसे काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसको भिगो (गला) नहीं सकता और पवन सुखा नहीं सकता।

विवेचन – अच्छी तरह से समझाने के लिए, आत्मा अविनाशी है यह पुनः बोध कराते हैं। शस्त्र आत्मा को छेदते नहीं, अग्नि जलाता नहीं, जल गलाता नहीं और पवन सुखाता नहीं। अतः युद्ध में तू शस्त्रादि का प्रयोग करेगा तो भी कुछ होने वाला नहीं है। शस्त्रादि भी जहां मेरी इच्छा हो, वहीं अपना प्रभाव दिखा सकते हैं। इनकी स्वयं के धर्मानुसार कार्य करने की शक्ति भी, मेरी इच्छाधीन है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में ''मेरे भय से यह वायु चलता है'' वगैरह कहा हुआ है। अतः शस्त्रादि आत्मा का कुछ नहीं कर सकते हैं और मेरी इच्छा से ही त्याज्य देहों में उनका प्रभाव चलता है, यह समझ कर युद्ध करने को तत्पर हो।

अच्छेद्योऽयम् अदाह्योऽयम् अक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतस्थाणुः अचलोऽयं सनातनः।।24।।

अन्वयः

अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम'
अच्छेद्यः – जिसे काटा न जा सके ; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्'
अदाह्यः – जो जल नहीं सकता ; विशेषण, विशेष्य, 'इदम्'
अक्लेद्यः – जो गल नहीं सकता ; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
एव च – और, इसके अतिरिक्त ; अव्यय
अशोष्यः– जो सूखता नहीं ; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
अस्ति – है ; क्रि. वर्त. काल, तृ.पु.ए.व. 'अस्'
अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्' पु.
नित्यः – सदा (निरन्तर) ; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
सर्वगतः – सर्वव्यापक, अपरिछिन्न ; विशेषण, विशेष्य 'अयम्'
अचलः स्थाणुः – अचल, स्थिर ; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
च – और ; अव्यय
सनातनः – सनातन ; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्ति – है ; क्रि. व. काल. तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : यह (आत्मा) अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा नित्य, व्यापक, स्थिर, अचल और सनातन है।

विवेचन – यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। नित्य है, अतः इसकी उत्पत्ति नहीं होती। व्यापक है। जीव स्वरूप से तो व्यापक नहींहै, किन्तु ब्रह्म का अंश होने से, ब्रह्म भाव के अभिप्राय से यहां व्यापक कहा गया है। चैतन्य जीव का गुण होने के कारण, जीव को व्यापक कहा गया है। मूल शब्द है 'सर्वगतः' जिसका अर्थ व्यापक है। जीव का चैतन्य गुण पूरे शरीर में

व्याप्त होने के कारण, जीव को सर्वगत अथवा व्यापक कहा गया है। लेकिन वह स्थिर है, अचल एवं क्रिया रहित है। सनातन अथवा नित्य है। आकाश भी नित्य नहीं है, कारण कि ''अतः इसमें से वास्तव में आकाश उत्पन्न हुआ'' इस प्रकार आकाश की उत्पत्ति बतलायी गई है।

श्री भागवत 2/7/49 की सुबोधिनी में इस श्लोक की व्याख्या है।

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् अविकार्योऽयम् उच्यते।
तस्माद् एवं विदित्वैनं नानुशोचितुम् अर्हसि।। 25।।

अन्वयः

अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्' पु.
अव्यक्तः – जो व्यक्त न हो ; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
अयम् – यह ; सर्वनाम, पु.ए.व. 'इदम्'
अविकार्यः – विकार रहित ; विशेषण, विशेष्य 'अयम्'
च – और ; अव्यय
अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्'
अचिंत्यः – जिसका चिन्तन किया न जा सके ; विशेषण, विशेष्य, 'अयम्'
उच्यते – कहलाता है ; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. 'वच्' का, 2 गण
तस्मात् – अतः ; सर्वनाम, प्र.ए.व. अव्यय
एनम् – इसे उसे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'
एवम् – ही ; अव्यय,
विदित्वा – जान कर ; विधेय कृदन्त
अनुशोचितुम् – शोक करने को ; हेत्वर्थ कृदन्त
न – नहीं ; अव्यय
अर्हसि – तू योग्य है ; क्रियापद. व काल, द्वि.पु.ए.व., अर्ह् 1 गण परस्मै

श्लोकार्थ – यह अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार कहलाता है, अतः इसे ऐसा जानकर तुझे (इसके लिए) शोक नहीं करना चाहिए।

विवेचन – यह 'अव्यक्त' अर्थात लौकिक इन्द्रियों से अग्राह्य है, 'अचिन्त्य' अर्थात मन से न विचारा जा सके ऐसा और अविकार्य अर्थात् जिसमें विकार सम्भव न हो, ऐसा कहलाता है। जो प्रकृति से पर हो उसका मन से भी विचार नहीं किया जा सकता है। प्रकृति में विकार होते हैं पर आत्मा विकार रहित होता है। आत्मा को ऐसा जानकर उसके लिए शोक का त्याग कर।

यहां तक विद्वानों द्वारा निर्णीत सिद्धांतानुसार आत्मा का स्वरूप बतलाया। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का बोध होने पर युद्ध करने में शोक करने जैसा कुछ भी नहीं है। यह उपदेश देकर विद्वानों का सिद्धान्त अरूचिकर हो तो अज्ञानियों के मतानुसार भी युद्ध करने में शोक करना अनुचित है, यह कहते हैं।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुम् अर्हसि ।। 26।।

अन्वयः

अथ, च – और , जो; अव्यय
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
एनम् – इसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'
नित्यजातम् – हमेशा उत्पन्न हुआ; विशेषण, विशेष्य, 'एनम्'
वा – अथवा; अव्यय
नित्यम् – नित्य, सदा; विशेषण, विशेष्य, 'एनम्'
मृतम् – मृत; विशेषण, विशेष्य 'एनम्'
मन्यसे – तू मानता है; क्रि.प.व.काल, द्वि.पु.ए.व. 'मन्' 4 गण आत्मने
तथापि – तो भी; अव्यय
महाबाहो – अर्जुन; सम्बोधन; ''महान् बाहुः यस्य इति'' बहुब्रीहि
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
एवम् – इस प्रकार; अव्यय
शोचितुम – शोक करने के लिए; हेत्वर्थ कृदन्त।

न – नहीं; अव्यय
अर्हसि – तू योग्य है; क्रियापद, व.का.द्वि.पु.ए.व. अर्ह् 1 गण

श्लोकार्थ – हे महाबाहो! यदि तू इनका नित्य जन्म और नित्य मृत्यु मानता हो तो भी मृत्यु होती है, यों मानता हो अर्थात् देह को ही आत्मा समझता हो तो भी इनका शोक करना उचित नहीं।

विवेचन – देह के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति होती है और देह के साथ ही आत्मा की भी मृत्यु होती है, यों मानता हो अर्थात् देह को ही आत्मा समझता हो तो भी इनका शोक करना उचित नहीं ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्माद् अपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुम् अर्हसि ।। 27।।

अन्वयः

जातस्य – जन्मने वाले की; विशेषण, विशेष्य 'पदार्थ'
हि – निश्चय; अव्यय
ध्रुवः – निश्चित; विशेषण, विशेष्य, 'मृत्यु'
मृत्युः – मृत्यु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मृत्यु'
च – और; अव्यय
मृतस्य – मरे हुए का; विशेषण, विशेष्य, 'पदार्थस्य', भू.कृ.
ध्रुवम् – निश्चित; विशेषण, विशेष्य, 'जन्मन्'
जन्म – जन्म; नाम, प्र.ए.व. 'जन्मन्' नपु.
अस्ति – है; क्रि.वर्त.काल, तृ.पु.ए.व. 'अस्'
तस्मात् – अतः; अव्यय
अपरिहार्य – जिसका निवारण नहीं हो सकता ; विध्यर्थ कृदन्त
अर्थे – प्रयोजन में, के लिए ; नाम, स.ए.व.पु. 'अर्थ'
त्वम् – तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
शोचितुम् – शोक करने को ; हेत्वर्थ कृदन्त

न – नहीं ; अव्यय
अर्हसि – तू योग्य है ; क्रि.प.द्वि.पु.ए.व. 'अर्ह्' परस्मै 1 गण

श्लोकार्थ – क्योंकि, जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है। अत: अवश्यंभावी परिणाम के लिए तुझे शोक करना उचित नहीं है।

विवेचन – क्योंकि इस सिद्धान्तानुसार जिसने जन्म लिया है उसे मरना ही है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म भी होना ही है। जन्म और मृत्यु टाले नहीं जा सकते तो फिर उनके विषय में शोक किसलिए करना?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना।। 28।।

अन्वय :
भारत – भारत ; नाम, प्र.ब.व. नपु.
अव्यक्तादीनि- अव्यक्त से उत्पन्न होने वाले ; विशेषण, विशेष्य, 'भूत', 'अव्यक्त आदौ यस्य इति' बहुव्रीहि
व्यक्तमध्यानि – मध्य में खुला है ; विशेषण, विशेष्य ''भूतव्यक्तम् मध्यम् यस्य इति'' बहुव्रीहि
च – और ; अव्यय
अव्यक्तनिधनानि – जिसका अन्त अस्पष्ट हो ; भू. कृ. विशेषण, ''अव्यक्तं निधनं यस्य'' बहुव्रीहि
एव –ही ; अव्यय
तत्र – तहां ; अव्यय
का – क्या ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'किम्' स्त्री 'परिदेवना'
परिदेवना – शोक (चिन्ता) ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री 'परिदेवना'

श्लोकार्थ: – हे भारत! (सभी) भूत अव्यक्त में से उत्पन्न होते हैं, मध्य में व्यक्त होते हैं और अव्यक्त में ही लीन होते हैं। उसमें चिन्ता क्या?

विवेचन – पुन: सांख्य रीति से उपदेश करते हैं। हे भारत! सभी भूत अव्यक्त में से उत्पन्न होते हैं। मध्य में व्यक्त होते हैं और पुन: अव्यक्त में ही इनका लय होता है। इसमें किस बात की चिन्ता? अत: तू शत्रुओं को मारेगा तो भी तेरा भी, उत्पत्ति स्थान में ही लय होगा, अत: शोक करने का तो कोई कारण ही नहीं है। इस श्लोक में 'भूत' शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं – 1. भूत=शरीर। शरीर 'अव्यक्त' अर्थात प्रकृति में से उत्पन्न होते हैं, मध्य में जगत में व्यक्त होते हैं, अत: दृष्ट होते हैं, पुन: ये अव्यक्त में प्रकृति में लीन होते हैं। 2. भूत = जीव। 'अव्यक्त अर्थात् अक्षर। अक्षरब्रह्म में से ही जीवों का व्युच्चरण होता है। जैसे अग्नि में स्फुलिंग निकलते हैं वैसे ही अक्षर में से जीवों का व्युच्चरण होता है, मध्य में ये (जीव) देह धारण करते हैं अर्थात् व्यक्त होते हैं और पुन: अक्षर में ही इनका समावेश होता है।

श्रीभागवत् के श्लोक 10/13/17 पर सुबोधिनी में इस पर विस्तृत व्याख्या है।।28।।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्,
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्य:।
आश्चर्यवद् चैनम् अन्य: शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।29।।

कश्चित् – कोई ; सर्वनाम, प्र.ए.व. किम् + चित्, पु.
एनम् – इसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'
आश्चर्यवत् – आश्चर्य से ; अव्यय
पश्यति – वह देखता है ; क्रि.प. तृ.पु.ए.व. 'दृश्' 1 गण परस्मै
तथा एव च – वैसे ही
अन्य: – दूसरा ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अन्यत्' का
आश्चर्यवत् – आश्चर्यवत् ; अव्यय
वदति – कहता है ; क्रि.प.व.काल, तृ.पु.ए.व. 'वद्' 1 गण
च – और ; अव्यय

अन्यः - दूसरा ; सर्वनाम, प्र.ए.व.
एनम् - इसको ; क्रि. ए.व. 'एतत्'
आश्चर्यवत् - आश्चर्यवत् ; अव्यय
शृणोति - वह सुनता है ; क्रि.प.व.का.तृ.पु.ए.व. 'परस्मै'' श्रु' 5 गण
च - और ; अव्यय
कश्चित् - कोई ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'किञ्चित् का पु.'
श्रुत्वा - सुनकर ; विधेय कृदन्त
अपि - भी ; अव्यय
एनम् - इसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'
न एव - सर्वथा नहीं ; अव्यय
वेद - जानता है ; क्रि.पद. तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ - कोई इसे (आत्मा को) आश्चर्य की भांति देखता है, उसी तरह कोई इसे आश्चर्यवत् कहता है। कोई दूसरा इसे आश्चर्य की भांति सुनता है और सुनकर भी कोई इसे जानता नहीं।

विवेचन - इस प्रकार यदि शोक करना योग्य न हो तो विद्वान लोग पाप करने से नरक की प्राप्ति होती है, इस तरह का शोक किस लिए करते हैं? इस प्रकार की शंका के निवारणार्थ, यह श्लोक योजित किया है। कोई इसे आश्चर्य की भांति देखता है। आत्मा नित्य है, अव्यक्त है, आदि ज्ञान, शास्त्र से ही प्राप्त होता है, तथापि जन्मादि का अनुभव (तो) होता है। अतः इन्द्रजाल सदृश, यह सब माया निर्मित हो ऐसे देखता है। इसी प्रकार माया से मोहित हो, दूसरे इसे आश्चर्यवत् कहते हैं, अर्थात आत्मा आश्चर्यवत् है, ऐसा ज्ञान लोगों को कराते हैं और ज्ञान रहित श्रोता आश्चर्यवत् सुनते हैं। इस प्रकार सुनने के पश्चात् भी इन तीनों में से कोई (भी) ''आत्मा ऐसा है'' इस प्रकार निश्चय से नहीं जानता, अतः अज्ञान के वशीभूत ही शोक करते हैं, ऐसा जान।

देही नित्यम् अवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत!।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।30।।

अन्वय :
भारत - अर्जुन; सम्बोधन
अयम् - यह; सर्वनाम प्र.ए.व. 'इदम्'
देही - शरीरधारी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'देहिन्'
सर्वस्य - सभी का; सर्वनाम, ष.ए.व.
देहे - शरीर में; नाम, स.ए.व.पु. 'देह'
नित्यम् - सदैव; अव्यय
अवध्यः - अवध्य; विशेषण, विशेष्य, 'देही'
अस्ति - है; कि.व. काल, तृ.पु.ए.वु. 'अस्'
तस्मात् - इसलिये; अव्यय
सर्वाणि - सभी; सर्वनाम, द्वि.ब.व.
भूतानि - भूत; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'भूत'
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
शोचितुम - शोक करने को; हेत्वर्थ कृदन्त
न - नहीं; अव्यय
अर्हसि - योग्य है ; क्रि. प.व.काल ; द्वि.पु.ए.व. 'अर्ह्' परस्मै. 1 गण

श्लोकार्थ - हे भारत! सभी के देह में रहने वाला देही (आत्मा) सदा ही अवध्य है। अतः सर्वभूतों का तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

विवेचन - पीछे के सभी उपदेशों का उपसंहार करते हैं। सबके अनेक प्रकार के देहों में रहने वाला देही जीव सदा अवध्य है। उसका वध नहीं हो सकता, अतः किसी भी प्राणी का शोक करना योग्य नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुम् अर्हसि।।
धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।। 31।।

अन्वयः
च - और ; अव्यय

स्वधर्मम् – **स्वयं के धर्म को** ; नाम, द्वि.ए.व.
अवेक्ष्य – **देखकर** ; विधेय कृदन्त
अपि – **और** ; अव्यय
त्वम् – **तू** ; सर्वनाम, प्र.पु.ए.व. 'युष्मत्'
विकम्पितुम् – **कांपने को, धूजने को** ; हेत्वर्थ कृदन्त
न – **नहीं** ; अव्यय
अर्हसि – **तू योग्य है** ; क्रि. व.का. द्वि.पु.ए.व. 'अर्ह' 1 गण
हि – **निश्चय** ; अव्यय
धर्म्यात् – **धर्म जिसमें स्थित है** ; विशेषण, विशेष्य, 'युद्धात्'
युद्धात् – **युद्ध से** ; नाम, पं.ए.व.
अन्यत् – **दूसरा** ; विशेषण, विशेष्य, 'श्रेयः' सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
श्रेयः – **कल्याण** ; नाम, प्र.ए.व.
क्षत्रियस्य – **क्षत्रिय का** ; नाम, षष्ठी ए.व.पु. 'क्षत्रिय'
न – **नहीं** ; अव्यय
विद्यते – **बताते** ; क्रि. पद, तृ.पु.ए. 'विद्' 4 गण कर्तरि

श्लोकार्थ – स्वधर्म को दृष्टिगत रखते हुए भी तुझे कांपना योग्य नहीं है क्योंकि क्षत्रिय के धर्ममय युद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर कुछ भी नहीं है।

विवेचन – तेरे क्षत्रिय धर्म को देखते हुए भी तुझे कांपना उचित नहीं है क्योंकि क्षत्रिय का उत्तम धर्म तो धर्मयुद्ध ही है। ऐसे धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए और कुछ श्रेष्ठ है ही नहीं। कारण कि क्षत्रियों को परलोक आदि की प्राप्ति भी ऐसे युद्धों से ही होती है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारम् अपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धम् ईदृशम्।। 32।।

पार्थ – **अर्जुन** ; सम्बोधन
यदृच्छया – **स्वयं के प्रति**; नाम, तृ.ए.व.

उपपन्नम् – **मिला हुआ**; प्राप्त, विशेषण, विशेष्य 'स्वर्गद्वारम्'
च – **और**; अव्यय
अपावृतम् – **खुला हुआ**; भू. कृ. विशेषण, विशेष्य 'स्वर्गद्वारम्'
स्वर्गद्वारम् – **स्वर्ग का द्वार रूप**; अ.अ.न. द्वि. ए.
ईदृशम् – **ऐसा** ; विशेषण, विशेष्य 'युद्धम्'
युद्धम् – **युद्ध को** ; नाम, द्वि.ए.व.
सुखिनः – **सुखी** ; विशेषण, विशेष्य, 'क्षत्रियाः'
क्षत्रियाः – **क्षत्रिया** ; नाम, प्र.ब.व.
लभन्ते – **प्राप्त करते हैं** ; क्रि. पद. व. काल, तृ.पु.ब.व. 'लभ्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ – हे पार्थ! स्वतः खुले हुए स्वर्गद्वाररूप, अकस्मात प्राप्त ऐसा युद्ध भागयशाली क्षत्रियों को मिलता है।

विवेचन – पार्थ! अकस्मात भगवद् इच्छा से प्राप्त होता यह युद्ध खुले स्वर्गद्वार के समान है। ऐसा युद्ध सुखी अथवा भाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है। ऐसा युद्ध जिसको प्राप्त होता है वह निश्चय ही भाग्यशाली है, क्योंकि भगवद् इच्छानुसार होते इस युद्ध में भगवान की सन्निधि भी है।

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि।। 33।।

अन्वयः
अथ चेत् – **और यदि** ; अव्यय
त्वम् – **तू** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ; 'युष्मत्' का
इमम् – **यह** ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'इदम्' का
धर्म्यम् – **धार्मिक** ; विशेषण, विशेष्य, 'सङ्ग्रामम्'
सङ्ग्रामम् – **युद्ध** ; नाम, द्वि.ए.व.
न–**नहीं** ; अव्यय
करिष्यसि – **तू करेगा** ; क्रियापद, भविष्यकाल, द्वि.पु.ए.व. कृ 8 गण

ततः – **(इससे) तो** ; अव्यय
स्वधर्मम् – **अपने धर्म को** ; नाम द्वि.ए.व.
कीर्तिम् – **कीर्ति को** ; नाम, द्वि.ए.व.
च – **और** ; अव्यय
हित्वा – **छोड़कर** ; विधेय कृदन्त
पापम् – **पापको** ; नाम, द्वि.ए.व.
अवाप्स्यसि – **तू प्राप्त करेगा** ; क्रि.पद, भविष्यकाल, 2 पु. ए.व ; अव + आप्, 5 गण

श्लोकार्थ – जो तू यह धार्मिक युद्ध नहीं करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति को खो कर पाप का भागी बनेगा।

विवेचन – स्वयं के क्षत्रिय धर्म को दृष्टिगत रखते हुए मेरे समीप होते मेरी आज्ञारूप इस युद्ध को नहीं करेगा तो तू अपना लौकिक और वैदिक खोकर, क्षत्रिय धर्म से भ्रष्ट हो जाएगा, तेरी कीर्ति नष्ट हो जाएगी और तुझे पाप प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते।। 34।।

अन्वयः
च – **और** ; अव्यय
भूतानि – **लोक (भूत)** ; नाम, प्र.ब.व.
ते – **तुम्हारी**; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
सम्भावितस्य – **कीर्तिवान की, सम्मनित की** ; विशेषण, विशेष्य, 'जनस्य'
अकीर्तिम् – **निन्दा** ; नाम, द्वि.ए.व.
अपि – **इसके अतिरिक्त** ; अव्यय
कथयिष्यन्ति – **कहेंगे, निन्दा करेंगे** ; **क्रि.पद** ; भविष्यकाल, तृ.पु.ब.व ; 'कथ्' 10 गण, परस्मै

च – **और** ; अव्यय
सा – **वह** ; सर्वनाम,
अकीर्ति : – **निन्दा** ; नाम, प्र.ए.व.
मरणात् – **मरण से** ; नाम, पं.ए.व.
अतिरिच्यते – **अधिक गिरती है** ; क्रि.पद ; व.का. तृ.पु. ए.व. 'रिच्' 4 गण

श्लोकार्थ – इसके अतिरिक्त, सब लोग तेरी अव्यय (स्थायी रहने वाली) अपकीर्ति का गान करेंगे। प्रतिष्ठित को अकीर्ति मरण से भी अधिक दुःखद है।

विवेचन – पाप से परलोक बिगड़ेगा, इतना ही नहीं , किन्तु इस लोक में भी तेरी अपकीर्ति होगी, यह इस श्लोक से कहते हैं। लोग तेरी अव्यय अर्थात् सदा रहने वाली अपकीर्ति का गान करेंगे। यहां 'भूतानि = प्राणी' नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग किया गया है, अतः नपुंसक, जो दूसरे की भीरूता की चर्चा के अयोग्य हैं, वो भी तेरी अपकीर्ति गायेंगे, ऐसा अर्थ है। तू युद्ध में शूरवीर के रूप में ख्यात होकर सम्मान प्राप्त है, ऐसी ख्याति वाले को, अपकीर्ति मरण से भी ज्यादा दुःखदायी होती है।

श्रीभागवत् 10/44/62 में इस श्लोक की विस्तृत विवेचना है।

भयाद् रणाद् उपरतं मन्स्यन्ते त्वां महारथाः।।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।35।।

अन्वयः
च – **और** ; अव्यय
येषाम् – **जिनको** ; सर्वनाम, ष.ब.व. 'यत्' पु.
त्वम् – **तू** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
बहुमतः – **अधिक सम्मान प्राप्तः** विशेषण, विशेष्य, 'त्वम्'
भूत्वा – **होकर** ; विधेय कृदन्त
अपि इदानीं – किन्तु इस समय
लाघवम् – **लघुता, हीनता** ; नाम, द्वि.ए.

यास्यसि – पायेगा, होगा, जाएगा ; क्रि.पद ; भविष्यकाल, द्वि. पु.ए.व. 'या' 2 गण परस्मै
च ते – और वे
महारथा : – बड़े शूरवीर ; नाम, प्र.ब.व. पु.
त्वाम् – तुझे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मद्' का
भयात् रणात् – रण में भय से ; नाम, पं.ए.व.
उपरतम् – शांत हुआ ; विशेषण, विशेष्य 'त्वाम्' भू. कृ. 'उप + रम्'
मन्स्यन्ते – मानेंगे ; क्रि. पद ; भविष्यकाल, तृ.पु.ब.व. 'मन्' 4 गण. आत्मने

श्लोकार्थ – सब महारथी तुझे भय के कारण युद्ध से विरत हुआ मानेंगे। जिनमें तेरे प्रति बहुत मान है उन्हीं के मध्य तू अपमान को प्राप्त करेगा।

विवेचन – ''बन्धुओं की हिंसा होगी'' इस भय के कारण तू युद्ध करना नहीं चाहता तो भी ये सब महारथी ''अर्जुन को युद्ध का भय लगने से, वह युद्ध से पीछे हट गया,'' ऐसा मानेंगे। उन सबमें आज तक तू सम्माननीय होने के उपरांत भी अपमानित होगा।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस् तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।। 36।।

अन्वयः
च – और ; अव्यय
तव – तेरे, तेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
अहिताः – शत्रु ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'अहित'
तव – तेरे ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
सामर्थ्यम् – सामर्थ्य को ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. 'सामर्थ्य'
निन्दन्तः – निन्दा करने वाले ; वर्त. कृ.प्र.ब.व. पु. 'निन्दत्'
बहून् – बहुत ; विशेषण, द्वि.ब.व. विशेष्य 'अवाच्यवादान्'
अवाच्यवादान् – न कहने योग्य शब्द अथवा वचन, नाम, द्वि.ब.व.
वदिष्यन्ति – कहेंगे, बोलेंगे ; क्रि.पद ; 2 भविष्यकाल तृ.पु. ब.व. 'परस्मै'

वद् 1 गण
नु – तर्क के अर्थ में है ; अव्यय
ततः – अतः तब ; अव्यय
दुःखतरम् – दुःखदायी ; नाम, प्र.ए.व. नपु. दुःखतर
किम् – क्या, क्यों ; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'दुःखतरम्'
भविष्यति – होगा ; भ.का.प्र.पु.ए.व. 'भव'

श्लोकार्थ – तेरे शत्रु तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुझे न कहने योग्य वचन बोलेंगे ही ! अतः इससे अधिक दुःखद क्या होगा?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतिनिश्चयः।। 37।।

अन्वयः
वा – अथवा ; अव्यय
हतः – मारा गया ; भू.कृ.विशेषण, विशेष्य (त्वं) हन् 2 गण
स्वर्गम् – स्वर्ग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'स्वर्ग'
प्राप्स्यसि – प्राप्त करेगा ; क्रि.प. 2 भविष्यकाल द्वि.पु.ए.व. प्र. + आप् 5 गण, परस्मै
वा – अथवा ; अव्यय
जित्वा – जीतकर ; विधेय कृदन्त (जी) 'जय्' 1 गण परस्मै
महीम् – पृथ्वी को ; नाम, द्वि.ए.व. ; स्त्री. 'मही'
भोक्ष्यसे – भोगेगा ; क्रि.पद ; भविष्यकाल द्वि.पु.ए.व. 'भुज्' आत्मने 9 गण
तस्मात् – इसलिये ; अव्यय
कौन्तेय – अर्जुन ; सम्बोधन, ''कुन्त्याः इति'' तद्धित
युद्धाय – युद्ध के लिये ; नाम, च.ए.व. पु. 'युद्ध'
कृतनिश्चयः – निश्चयवान ; विशेषण, विशेष्य, ''त्वम् – कृतः निश्चयः येन'' बहुव्रीहि

भूत्वा – होकर ; विधेय कृदन्त
उत्तिष्ठ – उठ ; क्रि. पद ; आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. उत् + स्था परस्मै. 1 गण

श्लोकार्थ – हे कौन्तेय ! तू मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा और विजयी हुआ तो पृथ्वी का भोग करेगा। अत: युद्ध का निश्चय करके खड़ा हो।

विवेचन – युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा। युद्ध में जो भी परिणाम आयेगा वह लाभकारी है। अत: युद्ध का निश्चय कर।

सुख - दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि।। 38।।

अन्वय:
सुख दुःखे – सुख दुःख ; नाम, द्वि.व.नपु. 'सुखं दुखं च' द्वन्द्व
लाभालाभौ – लाभ – अलाभ ; नाम, द्वि.व.पु. 'लाभालाभ' द्वन्द्व
जयाजयौ – जयपराजय ; नाम, द्वि.द्वि. व पु. 'जयाजय' द्वन्द्व
समे – समान ; विशेषण, विशेष्य 'सुख दुःख'
कृत्वा – करके , समझकर ; विधेय कृदन्त
ततः – पश्चात ; अव्यय
युद्धाय – युद्ध के लिये ; नाम, च.ए.व. पु. 'युद्ध'
युज्यस्व – योग ; क्रि.पद ; आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'युज्' 7 गण, कर्मणि
एवम् – इस प्रकार ; अव्यय
त्वं – तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ; 'युष्मद्'
पापम् – पाप ; नाम, द्वि.ए.व ; नपु. 'पापम्'
न – नहीं ; अव्यय
अवाप्स्यसि – प्राप्त करेगा ; क्रि. पद; भविष्यकाल द्वि.पु.ए.व. 'अव +आप्' 5 गण

श्लोकार्थ : सुख और दुःख, लाभ – हानि तथा जय–पराजय को समान जानकर युद्ध कर। ऐसा करने से पाप नहीं लगेगा।

विवेचन : आततायियों को मारने से पाप लगेगा, ऐसा जो तू सोचता है, उसके संबंध में पाप न लगे वह उपाय कहता हूँ। देह का दुःख सुख, राज्य का लाभ अथवा हानि, और यश के लिये जय और पराजय इनको समान समझ कर, मेरी आज्ञा से युद्ध कर रहा है, ऐसा सोचकर युद्ध करने में प्रवृत हो। इस श्लोक में योग का स्मरण कर सांख्य और योग का एकार्थ किया गया है। सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय, आदि फल की अपेक्षा रखे बिना, जो फल प्राप्त होना है वह, समान ही है, यह सोचकर युद्ध कर। इस तरह युद्ध करने में फलाकांक्षा न होने से पाप नहीं लगेगा।

अर्जुन का शोक दूर कर उसकी युद्ध में प्रवृत्ति कराने के लिए सांख्य की रीति से ज्ञान का उपदेश यहां तक किया। अब योग अथवा कर्म योग का उपदेश प्रारम्भ करते हैं।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।39।।

अन्वय :
पार्थ – अर्जुन ; सम्बोधन, पृथाया: भव: तद्धित
एषा – इस ; सर्वनाम, प्र.ए.व. स्त्री, 'तद्' स्त्री.
बुद्धि – बुद्धि ; नाम प्र.ए.व. स्त्री.
ते – तेरे लिए ; सर्वनाम, च.ए.व.पु. 'युष्मत्'
सांख्ये – सांख्यशास्त्र में ; नाम, स.ए.व.पु. 'सांख्य'
अभिहिता – कही गई ; कृ. विशेषण, 'अभि+धा' 3 गण
तु – और, तो ; अव्यय
इमाम् – यह ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'इदम्' इदानीम् = अब
योगे – योग में ; भक्तियोग की प्रथम कक्षा में अर्थात् ज्ञान और भक्ति के वहन में ; नाम, स.ए.व.
शृणु – सुन ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'श्रु' 5 गण

यया – जिससे; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'यत्' स्त्री.
बुद्ध्या – बुद्धि द्वारा; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'बुद्धि'
युक्तः – जुड़ा हुआ; भू. कृ. विशेषण, विशेष्य 'त्वम्'
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.पु.ए.व. 'युष्मद्'
कर्मबन्धम् – कर्म के बंधन; नाम, द्वि.ए.व. 'कर्मणः बन्धः तम्' तत्पुरुष
प्रहास्यसि – भली-भांति नाश करेगा; क्रि. भविष्य. द्वि.पु.ए.व. 'प्र+हा' 2 गण

श्लोकार्थ – सांख्य के अनुसार यह बुद्धि तुझे कही। अब योग के अनुसार इस बुद्धि के संबंध में सुन। हे पार्थ! उस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्म बन्धन का त्याग कर सकेगा।

विवेचन : 'सांख्य' अर्थात् आत्मा और अनात्मा का ज्ञान। इस अध्याय के 12वें श्लोक से सांख्यज्ञान का उपदेश दिया गया है। श्लोक *30* तक सांख्य का उपदेश है, फिर क्षत्रिय धर्मानुसार क्या करना चाहिए, वह 31 से 37 श्लोक तक बताया गया है। 38 वें श्लोक में पुनः सांख्य और योग का एकार्थ करके उपदेश दिया गया है। अब यहां से योग का उपदेश प्रारम्भ करते हैं।

नेहाभिक्रम-नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।40।।

अन्वय :
इह – इस विषय में; अव्यय
अभिक्रम – प्रारम्भ में; नाम, प्र.ए.व.
नाशः – नाश; नाम, प्र.ए.व.पु. 'नाश'
न – नहीं; अव्यय
अस्ति – है; क्रि.व.का.ल.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
प्रत्यवायः – अड़चन; नाम, प्र.ए.व.

अपि – भी; अव्यय
न – नहीं; अव्यय
विद्यते – बताया है; तृ.प.ए.वु. 'विद्' 2 गण, कर्मणि
अस्य – इसका; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'धर्मस्य इदम्' पु.
धर्मस्य – धर्म के; नाम, ष.ए.व.पु. 'धर्म'
स्वल्पम् – थोड़ा; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'स्वल्पम्'
अपि – भी; अव्यय
महतः – महान; विशेषण, विशेष्य 'भयात्'
भयात् – भय से; अ.अ.पु.पं.ए. विशेषण
त्रायते – बचाता है; क्रि.व.काल, त्री.पु.ए.व. 'त्रा' 2 गण

श्लोकार्थ : यहाँ आरम्भ हुए (धर्म) का नाश नहीं है और इसमें विघ्न भी नहीं है। थोड़ा सा भी यह धर्म (इस धर्म का थोड़ा सा भी अंश), बड़े भारी भय से रक्षा करता है।

विवेचन : ''कर्म बहुत हैं और बहुत समय पश्चात सिद्ध होते होने से अपूर्ण ही रह जाते हैं, अथवा विघ्न आ जाने से फल प्राप्त नहीं होता, अपितु उल्टा बंध प्राप्त होता है।'' ऐसी शंका का निराकरण इस श्लोक से करते हैं। इस भगवन्मार्ग में जो कर्म करने योग्य हैं, वे भगवान के लिए एवं भगवान की आज्ञा से करने हैं, फल प्राप्त करने के लिए नहीं करने हैं। भगवदर्थ भगवान की आज्ञा से जो कर्म किये जाते हैं उनमें इस प्रकार के किसी दोष की सम्भावना नहीं है। मेरी आज्ञा से इस मार्ग में जो कर्म किये जाते हैं उनके आरम्भ का नाश नहीं होता। प्रारम्भ किया गया कर्म यदि अपूर्ण रहता है तो भी अपूर्ण रहा हुआ कर्म भी निष्फल नहीं होता। कर्म में विघ्न भी नहीं आते, क्योंकि ऐसा स्वल्प किया हुआ कर्म भी बड़े भारी भय से रक्षा करता है। अन्यत्र भी जो कोई कर्म किये जाते हैं उनकी सम्पूर्णता और सफलता के लिए भगवान का ही स्मरण मंगलाचरण आदि के रूप में किया जाता है तो फिर जो कर्म साक्षात भगवान के लिए ही करने में आते हैं उनमें विघ्न का अथवा विफलता का भय कैसे सम्भव है?

व्यवसायात्मिका बुद्धिः एकेह कुरूनन्दन!।।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।41।।

अन्वय :

कुरूनन्दनन - अर्जुन; सम्बोधन
हि इह - निश्चय यहाँ; अव्यय
व्यवसायात्मिका - निश्चयात्मक; विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धि'
बुद्धिः - बुद्धि; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'बुद्धि'
एका - एक ही प्रकार की; विशेषण, विशेष्य 'बुद्धि'
च - और; अव्यय
अव्यवसायिनाम् - अव्यवसायिकों की बुद्धि; नाम ष.ब.व.
बुद्धयः - बुद्धियां; नाम, प्र.ब.व.स्त्री. 'बुद्धि'
अनन्ताः - अनन्त; विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धयः'
च - और; अव्यय
बहुशाखाः - बहुत भेदवाली; विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धयः'
भवति - होता है; क्रि.व.काल, प्र.पु.ए.व. 'भव'

श्लोकार्थ : हे कुरूनन्दन! यहाँ निश्चयात्मक रूप एक बुद्धि है। निश्चयविहीनों की बुद्धियां अनन्त एवं अनेक शाखाओं वाली होती है।

विवेचन : यहाँ अथवा इस मार्ग में निश्चय रूप एक ही बुद्धि है। मेरी आज्ञा से कर्मरत होने से उनकी बुद्धि मुझ में ही होती है । भगवद् आज्ञानुसार कर्म करना ही उनका निश्चय रहता है। उन्हें फल की आशा अथवा अभिलाषा नहीं होती। मात्र मैं ही उनकी बुद्धि का विषय होने से, उनकी एक ही बुद्धि होती है। निश्चयरहित फलाकांक्षा वाले बहिर्मुखों की अनन्त बुद्धियां होती हैं और उन बुद्धियों की शाखाएं भी बहुत होती हैं, कारण कि वे फलकांक्षी होने से भिन्न-भिन्न फलों की उनको लालसा रहती है।

याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यद् अस्तीति वादिनः।।42।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।43।।

भोगैश्वर्य-प्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।44।।

अन्वय :

पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन
कातात्मानः - इच्छा रखने वाले; विशेषण, विशेष्य ''वादिनः, कामः आत्मा यस्मिन्'' बहुव्रीहि
वेदवादरताः - फलश्रुति में बुद्धि रखने वाले सकाम उपासक; विशेषण, विशेष्य 'वादिनः वेदवारताः स. तत्पुरुष.
स्वर्गपराः - स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले; विशेषण, विशेष्य, 'वादिनः, स्वर्गः परं यस्मिन् इति' बहुव्रीहि
अन्यत् - दूसरा; सर्वनाम, प्र.ए.व.
न - नहीं; अव्यय
अस्ति - है; क्रि.व.काल. तृ.पु.ए.व. 'अस्'
इति - इस प्रकार; अव्यय
वादिनः - कहने वाले; नाम, प्र.ब.व. वादिन् पु.
सन्ति च ते - हैं और वे; क्रि. पद; तृ.ब.व. 'अस्', अव्यय
अविपश्चितः - अविवेकी मनुष्य; नाम, प्र.ब.व.पु. 'अविपश्चित्'
जन्मकर्मफलप्रदाम् - जन्म कर्मफल प्रदाता; विशेषण, विशेष्य ''वाचम्, जन्म कर्म च'' फलं प्रदाति इति उपपद
च - और; अव्यय
भोगैश्वर्यगतिम् - भोग और ऐवर्श्य की प्राप्ति वाले; विशेषण, विशेष्य वाचम्, भोगैश्च ऐश्वर्यम् च गतिः यस्मिन् इति (ब.व.) ''भोगैश्वर्यं एव गतिः भोगैश्वर्य गतिं''
प्रति - तरफ; अव्यय

क्रियाविशेष बहुलाम् - बहुत विचारणीय क्रिया जिसमें समाहित है; विशेषण, विशेष्य, 'वाचम्' ''क्रिया विशेषाः बहुलाः यस्मिन् इति'' बहुव्रीहि
इमाम् - ये; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'इदम्' स्त्री.
याम् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'यत्' स्त्री
पुष्पिताम् - मधुर; विशेषण, विशेष्य 'वाचम्'
वाचम् - वाणी; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री 'वाच्'
प्रवदन्ति - बोलते हैं; क्रि.त्री.पु.ब.व. वर्त.काल, प्र+वद् 1 गण
तया - उसके द्वारा, उस वेद वाणी द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'तद्'
अपहृतचेतसाम् - जिनके हृदय विदीर्ण हो; विशेषण, विशेष्य ''पुरूषाणाम्, अपहृतं चेतः येषाम्'' ब.व.
तथा - तथा
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां - भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले पुरुषों के; ''भोगश्च ऐश्वर्यम् च भोगैश्वर्यं, तस्मिन् प्रसक्तानाम्'' ष.ब.व. ना, पु.
समाधौ - समाधियुक्त अन्तःकरण में; नाम, स.ए.व.
व्यवसायात्मिका - निश्चयात्मक बुद्धि; विशेषण विशेष्य ''बुद्धि, व्यवसायः आत्मा यस्याम्'' ब.व.
बुद्धिः - बुद्धि; नाम, प्र.ए. 'स्त्रीलिंग'
न - नहीं; अव्यय
विधीयते - होता है; क्रि.त्री.पु.ए. सहयभेद वि+धा 3 गण

श्लोकार्थ : हे पार्थ! वेदवाद में रति वाले, ''अन्य कुछ भी नहीं है'' यों कहने वाले, कामनावाले, स्वर्ग को ही परमफल जानने वाले अविद्वान, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये अमुक क्रियाओं से भरपूर, जन्म और कर्म फल देने वाली ये जो पुष्पित वाणी बोलते हैं, उससे भ्रमित चित्तवाले, भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहने वाले की समाधि में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है।

विवेचन : जो इस प्रकार व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्तम हो तो सभी ऐसी बुद्धि क्यों नहीं रखते? ऐसी शंका के निवारणार्थ, व्यवसायात्मक बुद्धि क्यों नहीं

होती, यह बताते हैं। जिनकी वेदवाद में रति है, वेद में कहे अनुसार कर्म, उसमें वर्णित फल प्राप्त करने के लिये, अवश्य ही करने चाहिए, परन्तु फलाभिलाषा बिना करना योग्य नहीं है, ऐसी मति वाले हैं, इसीलिए ''वैदिक कर्म के फलातिरिक्त और कोई फल है ही नहीं'' ऐसा जो कहते रहते हैं, वे सकाम हैं, अतः जिन्हें निरन्तर कर्म फल प्राप्त करने की इच्छा होती है, वे स्वर्ग को ही श्रेष्ठ फल समझते हैं, ऐसे अविद्वान, वेद के तात्पर्य से अनभिज्ञ हैं, मूर्ख अज्ञानी ''वैदिक फल बिना अन्य कुछ भी नहीं'' ऐसी पुष्पित भाषा बोलते हैं। यह वाणी मात्र पुष्पित है, लेकिन यह फल विहीन है। पुष्पवाली लता की तरह देखने में रम्य लगती है, पर फलहीन है। केवल गन्ध के लोभ से उनके चित्त इस वाणी से भ्रमित हैं, यह आशय है। यह वाणी जन्म और कर्मरूप फल देने वाली है, अर्थात इस वाणी का फल उत्तम योनि में जन्म और उत्तम कर्म ही है। ऐसे भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये, इस वाणी में कई क्रियायें करनी पड़ती है। यह वाणी भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की क्रियाओं से युक्त है।

अथवा 'भोगैश्वर्यगतिं प्रति' 'क्रियाविशेषबहुलां' के साथ न लेकर 'कामात्मानाः' के साथ में लेना। अर्थात भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना वाले अविद्वान ऐसी पुष्पित वाणी बोलते हैं। इसके अतिरिक्त, 'जन्मकर्मफलप्रदाम्' को वाणी का विशेषण न लेकर 'भोगैश्वर्यगतिं' का विशेषण भी ले सकते हैं। इसलिए जन्म और कर्म के फल प्रदाता भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना वाले अविद्वान लोग ऐसी पुष्पित भाषा बोलते हैं, यह अर्थ है।

ऐसी पुष्पित वाणी से ऐसे अज्ञानियों के चित्त भ्रमित हैं और वे भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले होते हैं। अतः उनके चित्त व्यग्र रहने से, समाधि अथवा भगवान का चिन्तन करने में ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि उनकी नहीं होती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।45।।

अन्वय :

अर्जुन - हे अर्जुन!; सम्बोधन

वेदाः - वेद; नाम, प्र.ब.व.पु. 'वेद'

त्रैगुण्यविषयाः - तीन गुणों के विषय जिनमें हैं, ऐसा; विशेषण, विशेष्य, ''वेदा त्रिषु गुणेषु भवाः विषयाः इति'' ब.व. सन्ति, अतः त्वम् - हैं, अतः तू

निस्त्रैगुण्यः - तीनों गुणों से रहित, निष्काम; विशेषण विशेष्य ''त्वम् त्रैगुण्यम् यस्मिन् न वर्तते इति'' उपपद

निर्द्वन्द्वो - द्वन्द्व रहित, द्वैत रहित; विशेषण, विशेष्य ''त्वम् द्वन्द्व यस्मिन् न वर्तते'' उपपद

नित्यसत्त्वस्थः - नित्य में स्थित रहने वाला; विशेषण, विशेष्य 'त्वम्' ''नित्य सत्त्वे तिष्ठति इति'' उपपद

निर्योगक्षेमः - योग क्षेम रहित; विशेषण, विशेष्य ''त्वम्, योगः क्षेमः च न वर्तते इति'' उपपद.

च - और

आत्मवान् - आत्मावाला; विशेषण, विशेष्य 'त्वम्'

श्लोकार्थ : वेद त्रैगुण्यविषयक हैं। हे अर्जुन! तू निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, सत्व में स्थित, योग-क्षेमरहित और आत्मवान् हो (बन)।

विवेचन : सत्व, रज और तम ये तीनों ही प्रकृति के गुण हैं। इन तीन गुणों की अथवा त्रिगुण सृष्टि में जिन जीवों का सृजन हुआ है वे त्रैगुण्य हैं। वेद ऐसे त्रिगुणात्मक जीवों के विषय वाले हैं अर्थात ऐसे त्रिगुणात्मक जीवों को स्वर्गादि इच्छित फल देने वाले कर्मों का प्रतिपादन करने वाले हैं परन्तु गुणातीत, साक्षात् भगवान की क्रीड़ा में उपयोगी भगवदीय सृष्टि में स्थित भगवद् भक्तों के लिए नहीं हैं। भगवान की लीला सृष्टि त्रिगुणात्मक नहीं बल्कि निर्गुण है। इसीलिए श्री वराह भी ''यह अन्य ही कोई सृष्टि है जो ब्रह्मा

की सृष्टि से भिन्न है। - कहते हैं। श्री पुरुषोत्तम गुणातीत हैं। गुणातीत पुरुषोत्तम का स्वरूप वेद का विषय नहीं है। श्रुति तक ''नेति नेति'' और ''वाणी भी मन के साथ जहाँ पहुँचे बिना लौट आती है'' यों कहती है। अतः वेद मात्र त्रिगुणात्मक सृष्टि में रहने वाले त्रैगुण्य जीवों के करने योग्य कर्मों का प्रतिपादन करते हैं। हे अर्जुन! तू निस्त्रैगुण्य हो अथवा तीनों गुणों से पर, निस्त्रिगुण भगवान का आश्रय करके रहने वालों की भांति निस्त्रैगुण्य हो।

त्रिगुणों का आश्रय कर रहे हुए त्रैगुण्य जीवों से जो भिन्न है वह निस्त्रैगुण्य अर्थात् भगवद्भक्त है। हे अर्जुन! तू मेरा भक्त हो। भक्त होने के लिए क्या साधन करने, वह कहते हैं। तू निर्द्वन्द्व हो। सुख-दुःख, अहन्ता-ममता आदि द्वन्द्वों से रहित हो। नित्य सत्व में स्थित रहने वाला हो। नित्य सत्व जिसमें से निसृत होता है वह नित्य सत्त्व भगवान। नित्य सत्त्व में रहने वाला अथवा भगवन्निष्ठ हो। जो वस्तु अप्राप्त हो उसे अपने बल से प्राप्त करना योग है। प्राप्त वस्तु का परिपालन करना क्षेम है। (तू) योग क्षेम से रहित हो। आत्मवान हो। 'आत्मा' अर्थात् मन जिसके वश में है, वह आत्मवान, मन को वश में रखने वाला।

इस श्लोक का विवेचन श्रीभागवत् 11/4/22 की सुबोधिनी में किया हुआ है।

यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्पलुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।46।।

अन्वय :

सर्वतः सम्प्लुतोदके - हर तरह से पूर्ण जलाशय में; नाम, ए.ए.व.

उदपाने - पानी पीने में; (जलाश्य में) नाम, स.ए.व. नपु.

यावान् - जितना; विशेषण, विशेष्य 'अर्थ'

अर्थ : - अर्थ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अर्थ'

भवति - होता है; क्रि.व.काल. प्र.पु.ए.व. 'भव'

विजानतः - भली भाँति समझने वाले; विशेषण, विशेष्य 'ब्रह्मणस्य'

ब्राह्मणस्य – ब्रह्म को जानने वाले; नाम, ष.ए.व.पु. 'ब्राह्मण'
सर्वेषु वेदेषु – सभी वेदों में; नाम, स.ब.व.पु.
तावान् – उतना; विशेषण, विशेष्य 'अर्थ'
अर्थः भवति – प्रयोजन होता है

श्लोकार्थ : सर्वतः परिपूर्ण जल वाले जलाशय में जितना अर्थ होता है उतना ही विद्वान ब्राह्मणों को सब वेदों में होता है।

विवेचन : वेदों में कथित सम्पूर्ण सगुण और गुणातीत सभी के ग्रहण करने योग्य नहीं है, परन्तु जितना जिसके लिए उपयोगी है, उतना ही उसको ग्रहण करना योग्य है, यह बात दृष्टांत से समझाते हैं। सर्व अर्थ (प्रयोजन को) परिपूर्ण करने में समर्थ अर्थात सर्वतः जल से परिपूर्ण, अगाध सरोवर में से जलपान करने का इच्छुक, जितना अर्थ अथवा प्रयोजन होता है, उतना ही (जल) ग्रहण करता है, उसी प्रकार सर्व वेदों में से, वेदाधिकारी, वेद को विवेक से जानने वाला, विद्वान ब्राह्मण आत्मा की संसिद्धि के लिए जितने साधनों की आवश्यकता होती है उतना ही ग्रहण करता है; वेदोक्त सभी साधनों को ग्रहण नहीं करता।

इस श्लोक का श्री भागवत् के 11/4/22 सुबोधिनी में भी अनुसंधान है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर् भूर् मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।47।।

अन्वय :
ते – तेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'युष्मद्'
कर्मणि – कर्म में; नाम, ए.ए.व. 'कर्म'
एव – ही; मात्र, अव्यय
अधिकारः – अधिकार; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अधिकार'
अस्ति – है; कि.व.काल. तृ.पु.ए.व. 'अस्'

फलेषु – फल में; नाम, स.ब.व. नपु. 'फल'
कदाचन – किसी भी समय; अव्य
मा – नहीं; अव्यय
च त्वम् – और तू; अव्यय, सर्वनाम, प्र.पु.ए.व. 'युष्मद्'
कर्मफलहेतुः – कर्म फल के हेतु रूप वासना वाला; विशेषण, विशेष्य 'त्वम्'
अपि – भी; अव्यय
मा – नहीं; अव्यय
भूः – हो; क्रि.पद. द्वि.पु.ए.व.
ते – तेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.
सङ्गः – संग, प्रीति; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संग'
अकर्मणि – अकर्म में, कर्म नहीं करने में; नाम, स.ए.व. नपु. 'अकर्मन्'
मा – नहीं; अव्यय
अस्तु – होओ, हो; क्रिया, आज्ञार्थ, तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण

श्लोकार्थ : तेरा कर्म में ही अधिकार है, फल में कदापि नहीं। अतः तू कर्म फल का हेतु मत हो तथा अकर्म में भी आसक्त मत हो।

विवेचन : वेद रूपी समुद्र में से, मुझे क्या ग्रहण करना, ऐसी आकांक्षा हो तो उसके लिए यह श्लोक योजित किया गया है। तेरा कर्म में ही अधिकार है अतः तुझे कर्म ही करना है परन्तु तेरा कर्म फल में कतई अधिकार नहीं। इसीलिए कर्म फल जिसका हेतु अथवा प्रयोजन है, ऐसा तू मत हो, अतः कर्म में फलाकांक्षा रखे ही मत। 'अकर्म' अर्थात निषिद्ध कर्म में, अथवा परधर्म में तेरा संग न हो।

योगस्थः कुरू कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं 'योग' उच्यते।।48।।

अन्वय :

धनञ्जय – अर्जुन; सम्बोधन 'धनम् जयति' उपपद, धन = गोधनवृत्तिसमूह: चित्त वृत्तियाँ – गोधन

संगम् – संगको, आसक्तिको, प्रीतिको; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'संग'

त्यक्त्वा – छोड़ कर; विधेय कृदन्त

सिद्ध्यसिद्ध्योः – सिद्धि और असिद्धि में; नाम, स.द्वि.व. 'सिद्धि असिद्धि च' द्वन्द्व

समः – समान, समबुद्धियुक्त; विशेषण, विशेष्य 'त्वम्'

भूत्वा – होकर; विधेय कृदन्त

योगस्थः – योग में स्थित; विशेषण, विशेष्य 'त्वम्'

कर्माणि – कर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'कर्मन्'

कुरु – कर; क्रि.पद; आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण

समत्वम् – समानता, समानभाव; नाम, प्र.ए.व. नपु.

योगः – योग; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योग'

उच्यते – कहा जाता है; कर्मणि, क्रि.प.तृ.पु.ए.व. वर्त. 'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : धनञ्जय ! योग में रहकर, संग त्याग कर, सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्म कर। यह समभाव ही योग है।

विवेचन : कर्म किस प्रकार करना यह यहाँ वर्णित है। योग में रहकर अथवा भगवान में चित्त स्थित कर, निःसंग रहकर कर्म करने। "सिद्धि" अर्थात् कर्म फल की प्राप्ति, "असिद्धि" अर्थात् विपरीत फल की प्राप्ति। सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर, अर्थात् उभय में समभाव रखकर, पहले मैंने कहे वे, मेरी आज्ञा रूप कर्म कर। सिद्धि और असिद्धि में सम रहकर कर्म करना ही 'योग' है। भगवान की आज्ञा समझ कर ही जो कर्म करता है, उसे कर्म फल की प्राप्ति में सम भाव ही होता है, यह सम भाव ही यह संकेतित करता है कि कर्म कर्ता, भगवत्परायण है अतः योग रूप है।

दूरेणं ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय!।
बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।49।।

अन्वय :

धनञ्जय – हे अर्जुन!; सम्बोधन

बुद्धियोगात् – बुद्धियोग से; नाम, पं.ए.व.

कर्म – काम; नाम, ए.व.नपु.

हि – निश्चय; अव्यय

दूरेणं – बहुत; अव्यय

अवरम् – हलका; विशेषण, विशेष्य 'कर्म'

अस्ति – है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व. 'अस्'

अतः – इसलिये

बुद्धौ – बुद्धि में; नाम, एस.ए.व. स्त्री 'बुद्धि'

शरणम् – शरण; नाम, द्वि.ए.व. नपु. 'शरण'

अन्विच्छ – ग्रहण कर, प्राप्त कर; कि. आज्ञार्थ, द्वि.प.ए.व. 'अनु+इष्' (इच्छ) 6 गण

हि – क्योंकि; अव्यय

फलहेतवः – फलाकांक्षा वाले जीव; नाम, प्र.ब.व.पु.

कृपणाः – हलका; विशेषण, विशेष्य 'फलहेतवः'

भवन्ति – होता है; कि.व.काल. प्र.पु.ब.व. 'भव'

श्लोकार्थ : हे धनञ्जय बुद्धि योग से कर्म बहुत हलका है। बुद्धि का आश्रय कर। फल की कामना वाले कृपण हैं।

विवेचन : बिना फल की अपेक्षा, सिद्धि और असिद्धि में समान रहते हुए कर्म करना ही बुद्धियोग है। इस बुद्धियोग से कर्म बहुत तुच्छ है। बुद्धियोग से फलाकांक्षा रख कर किया जाता कर्म बहुत हलका है। ऐसा हलका, फलाकांक्षा से किया गया कर्म, प्राकृत

लोग ही करते हैं। तुझ जैसे के लिए यह करने योग्य नहीं, यह जताने के लिए 'धनञ्जय' पद योजित किया है। अतः तू बुद्धि में, अर्थात बुद्धियोग के निमित्त, ईश्वर में शरण कर, अर्थात् ईश्वर के शरण रह। फल की कामना वाले, अर्थात् फल की कामना से कर्म करने वाले, कृपण अर्थात् लोभी हैं। फल प्राप्ति के उपरान्त भी उन्हें फल की तृष्णा रहती है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।50।।

अन्वय :

बुद्धियुक्तः - समानभाव की बुद्धि वाला; विशेषण, विशेष्य, पुरुषः

सुकृत-दुष्कृते - अच्छा - बुरा कार्य, पाप-पुण्य; नाम, द्वि. द्वि वचन 'सुकृत-दुष्कृतम्' च द्वन्द्व

उभे -दोनो; विशेषण, विशेष्य 'सुकृतदुष्कृते'

इह - इस लोक में; अव्यय

एव - ही;

जहाति - त्याग देता है; क्रि. वर्तमान. तृ.पु.ए.व. 'हा' 3 गण

तस्मात् - अतः; अव्यय

योगाय - योग के लिए, समत्व हेतु; नाम, च.ए.व.पु. 'योग'

युज्यस्व - युक्त हो 'लग जा'; क्रि. आज्ञार्थद्व द्वि.पु. 'युज्' 7 गण आत्मने

योगः - योग; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योग'

कर्मसु - कर्मों में; नाम, स.ब.व.नपु. 'कर्मन्'

कौशलम् - कौशल, कुशलता, बन्धन से छूटने की कुशलता; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'कौशल'

अस्ति - है; कि.व. काल, तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : बुद्धिमान इस लोक में, सुकृत तथा दुष्कृत दोनों का त्याग करता है। अतः तू योग के लिए तत्पर हो। योग कर्मों का कौशल है।

विवेचन : बुद्धिमान अथवा भगवत् आज्ञा होने से ही कर्म करने चाहिये, यह सोचकर फलाकांक्षा बिना कर्म करने वाला बुद्धियोग युक्त; सुकृत और दुष्कृत तथा उनके फल स्वर्ग और नर्क आदि का इस लोक में ही त्याग कर देता है। मैं यह सुकृत अथवा दुष्कृत करता हूँ, जिसका मुझे यह पाप अथवा पुण्य मिलेगा वह ऐसा विचार नहीं करता है परन्तु मैं प्रत्येक कार्य ईश्वर की प्रेरणा से ही करता हूँ, यह सोच कर कर्म करता है। अतः वह पाप-पुण्य को त्याग देता है और बुद्धि योग से किया गया कार्य भक्ति का साधन बनता है। अतः तू भी योग अर्थात् बुद्धियोग के लिए तैयार हो। योग कर्म का कौशल अथवा चातुर्य है। कारण कि बुद्धियोग युक्त (मनुष्य) भगवन्निष्ठ है और योग भगवत् दर्शनार्थ मन को स्थिर करने का मुख्य साधन है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।51।।

अन्वय :

हि - निश्चय ही;

बुद्धियुक्ताः - बुद्धियोग वाले; विशेषण, विशेष्य, 'मनीषिणः'

मनीषिणः - समझदार व्यक्ति; विशेषण, विशेष्य, ''पुरुषाः मनीषा यस्मिन् विद्यते ते'' बहुव्रीहि.

कर्मजम् - कर्म से उत्पन्न; विशेषण, विशेष्य 'फलम्'

फलम् - फल को; नाम, द्वि.ए.व. 'फल' नपु.

त्यक्त्वा - छोड़ कर; विधेय कृदन्त

जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः - जन्मादि बन्धनों से मुक्त; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषाः'

भूत्वा - होकर

अनामयम् - दुःख रहित, निर्दोष; विशेषण, विशेष्य, 'पदम्'

पदम् - पद को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

गच्छन्ति - पाते हैं, जाते हैं; क्रि.व. काल, तृ.पु.ब.व. 'गम्' (गच्छ) 1गण

श्लोकार्थ : बुद्धियोग वाले ज्ञानी, कर्म से प्राप्त होने वाले फल का त्याग कर, जन्मबन्धन से मुक्त हो, अनामय पद को प्राप्त करते हैं।

विवेचन : कर्म स्वतन्त्र रूप से अपना फल देते हैं, वह भक्ति का साधन कैसे हो सकते हैं? इस शंका की निवृत्ति के लिये यह श्लोक योजित किया है। शास्त्र के अर्थ को जानने वाले पुरुष, ऊपर वर्णित, बुद्धियोग से सम्पन्न हो, जन्म बन्धन से मुक्त होकर, आनन्दमय पद अर्थात् भगवद् धाम को प्राप्त करते हैं।

'अनामय' अर्थात रोग रहित। अनामय अथवा रोग रहित पद मात्र भगवान का धाम ही है। अन्यत्र सभी स्थानों पर रोग का भय रहता है परन्तु अक्षरब्रह्म में भय नहीं होता।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर् व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।52।।

यदा – जब; अव्यय
ते – **तेरी;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
बुद्धिः – **बुद्धि;** नाम, प्र.ए.व. 'स्त्री'
मोहकलिलं– **मोहरूप कीचड़;** नाम, द्वि.ए.व. नपु.
व्यतितरिष्यति – **पार हो जायेगा, वास्तविक रूप से तर जायेगा;** क्रि. भविष्य काल, तृ.पु.ए.व. वि+अति+तृ (तर्) 1 गण
तदा – **तब;** अव्यय
त्वम् – **तू;** सर्वनाम, प्र.पु.ए.व. 'युष्मत्'
श्रोतव्यस्य – **श्रवण योग्य;** विशेषण, विशेष्य, 'विषयः'
च – **और;** अव्यय
श्रुतस्य – **सुना हुआ;** विशेषण, विशेष्य, 'विषयः'
निर्वेदम् – **वैराग्य;** नाम, द्वि.ए.व.पु. 'निर्वेद'
गन्तासि – **जायेंगे;** क्रि. 1 भविष्यकाल, द्वि.पु.ए.व गम का 1 गण

श्लेकार्थ : जब तेरी बुद्धि मोहकलित को तर जायेगी तब श्रवण किए हुए और भविष्य में श्रवणीय सब से तू विरक्त हो जायेगा।

विवेचन : इस प्रकार का बुद्धियोग कब प्राप्त होगा? ऐसी जिज्ञासा हो तो उसके लिए यहां से दो श्लोक (52-53) योजित किये गये हैं। जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ को तर जायेगी, जब लौकिक देहादि पदार्थों में तुझे मोह नहीं रहेगा तब श्रवण किये जाने वाले और श्रवण किये हुए त्रैगुण्यधर्मों में तुझे वैराग्य उत्पन्न हो जायेगा। जब लौकिक देहादि पदार्थों में से तेरा मोह दूर होगा तब ऐसे पदार्थों को प्राप्त करने की कामना भी नहीं रहेगी। फलकी कामना नहीं रहने से अमुक फल प्राप्त करने के लिये अमुक कर्म करना चाहिये, ऐसा जो भी सुना हुआ है अथवा भविष्य में सुनेगा उससे विरक्त हो जायेगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिः तथा योगम् अवाप्स्यसि।।53।।

अन्वय :
यदा – **जब;** अव्यय
ते – **तेरी;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
बुद्धिः – **बुद्धि;** नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
श्रुतिविप्रतिपन्ना – **श्रवण करने से स्थिर हुई;** विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धिः' स्त्री. 'श्रुत्वाविप्रतिपन्ना' तृ. तत्पु.
समाधौ – **समाधियुक्त, परमात्मा में;** नाम, स.ए.व. 'समाधि' पु.
अचला – **अचल;** विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धिः'
च – **और;** अव्यय
निश्चलाः – **स्थिर;** विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धिः'
स्थास्यति – **रहेगी, रहेगा;** क्रि. भविष्यकाल, तृ.पु.ए.व. 'स्था.' 1 गण
तदा – **तब;** अव्यय
योगम् – **योगको, समभाव को;** नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योग'

अवाप्स्यसि – प्राप्त करेगा; क्रि. भविष्यकाल, द्वि.पु.ए.व. 'अव+आप्' 5 गण

श्लोकार्थ : श्रुति से विक्षिप्त तेरी बुद्धि जब निश्चल और समाधि में अचल रहेगी तब तू योग को प्राप्त करेगा।

विवेचन : श्रुति से अर्थात् त्रैगुण्य फल प्राप्ति हेतु कौन से कर्म करने चाहिये आदि जो सुना हुआ है, उससे विक्षिप्त तेरी बुद्धि जब निश्चल अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के धर्म श्रवण करने की इच्छा से रहित होगी और समाधि में अर्थात् मेरा चिन्तन करते समय अचल अर्थात् भिन्न-भिन्न धर्मों के श्रवणोपरान्त भी चलित न होकर स्वत: दृढ़ होगी तब तुझे बुद्धि योग की प्राप्ति होगी।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव!।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।54।।

अन्वय :

केशव – कृष्ण; सम्बोधन

समाधिस्थस्य – समाधि में स्थित की; विशेषण, विशेष्य, "पुरूषस्थ्य समाधौ स्थित:"

स्थितप्रज्ञस्य – स्थिर बुद्धिवाले की; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषस्य'

का – कैसी, किस प्रकार की; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'किम्' स्त्री.

भाषा – भाषा; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'भाषा'

स्थितधीः – स्थिर बुद्धिवाला; नाम, प्र.ए.व. 'स्थिता धी:यस्य' बहुव्रीहि

किम् – कैसे, क्या; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.

प्रभाषेत – बोलता है; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'प्र+भाष्' 1 गण

किम् – कैसे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'किम्' नपु.

आसीत – बैठता है; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'आस्' 1 गण

व्रजेत – चलता है, जाता है; क्रि.वि.तृ.पु.ए.व. 'व्रज्' 1 गण

श्लोकार्थ : हे केशव! समाधिस्थ, स्थितप्रज्ञ के लक्षण क्या हैं? स्थितिधी कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? कैसे चलता है?

विवेचन : समाधि में रहने वाला 'स्थितप्रज्ञ' अर्थात् निश्चयात्मक बुद्धि वाला। उसकी भाषा अर्थात परिभाषा क्या? कौनसी परिभाषा से अथवा किन लक्षणों से उसकी पहचान होती है? वह कैसे बोलता है? कैसे बैठता है, कैसे चलता है, इस प्रकार स्थितप्रज्ञ का स्वरूप जानने के लिए अर्जुन प्रश्न करता है।

यहाँ से इस अध्याय की समाप्ति तक भगवान, अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर देते हैं। यहां से दो श्लोकों 55-56 में स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहे गये हैं।

श्रीभगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थान् मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदोच्यते।।55।।

अन्वय :

पार्थ -हे अर्जुन; सम्बोधन

यदा – जब; अव्यय

अयं पुरुषः – यह पुरुष

मनोगतान् – मन में रही हुई; विशेषण, विशेष्य 'कामान्'

सर्वान् – सभी; विशेषण, विशेष्य, 'कामान्'

कामान् – इच्छाओं को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'काम'

प्रजहाति – छोड़ देता है; क्रि.व.काल, तृ.प.ए.व.प्र+हा 3 गण

तदा – तब; अव्यय

आत्मना – आत्मा द्वारा; नाम, तृ.ए.व.पु. 'आत्मन्'

एव – ही; अव्यय

आत्मनि – आत्मा में; नाम, स.ए.व. 'आत्मन्'

तुष्टः – संतुष्ट; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुष'

स्थितप्रज्ञः – स्थिर बुद्धियुक्त; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुष:'

उच्यते – कहा जाता है; क्रि.तृ.पु.ए.व. वर्त. काल, कर्मणि, 'वच्' 2 गण

श्लोकार्थ : हे पार्थ! जब (साधक) मन में उठती सर्व कामनाओं का त्याग कर देता है और आत्मा में ही आत्मा से संतुष्ट रहता है तब 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है।

विवेचन : जब मन में उठती सर्व कामनाओं का, भली प्रकार त्याग किया जाता है कि पुनः ऐसी कामनाओं का स्मरण तक न हो, इस प्रकार जब कामनाओं का त्याग किया जाता हैऔर स्वयं के आत्मा के स्वरूप भूत आत्मा में स्वयं के जीवात्मा स्वरूप से ही संतुष्ट रहता है अर्थात स्वयं के स्वरूपभूत आत्मा का ऐक्य स्फुरित होने से अपने आप में संतुष्ट रहता है तब स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते।।56।।

अन्वय :

दुःखेषु – दुःख में; नाम, स.ब.व.नपु. 'दुःख'
अनुद्विग्नमनाः – उद्वेग रहित मन का जिसका; विशेषण, विशेष्य, ''पुरुषः न उद्विग्नं – अनुद्विग्नं;** अनुद्विग्नम् मनः यस्य इति ''बहुव्रीहि
सुखेषु – सुख में; नाम, स.ब.व.नपु. 'सुख'
विगतस्पृहः – स्पृहा से विरत; विशेषण, विशेष्य, पुरुषः, विगता स्पृहा यस्य, बहुव्रीहि
वीतरागभयक्रोधः – राग, भय और क्रोध से जो रहित हो गया है; विशेषण, विशेष्य, ''पुरुषः वीताः राग भयक्रोधाः यस्य इति''
स्थितधीः – स्थिर बुद्धिवाला; विशेषण, विशेष्य, 'मुनिः'
मुनिः – मुनि; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मुनि'
उच्यते – कहा जाता है; क्रि.तृ.पु.ए.व; कर्मणि प्रयोग 'वच्' 2 गण

श्लोकार्थ : जिसका मन दुःख में उद्विग्न नहीं होता, सुख के लिए जिसमें स्पृहा नहीं है, जो राग, भय और क्रोध से रहित हो गया है, ऐसा मुनि 'स्थितधी' कहलाता है।

विवेचन : इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ की पहचान के चिह्न कहे गये हैं।

यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्-तत् प्राप्य शुभशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।57।।

अन्वय :

यः – जो; सर्वनाम, प्र. ए.व. पु. 'यत्'
सर्वत्र – सब जगह; अव्यय
अनभिस्नेहः – स्नेह रहित हुआ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'स्नेह'
तत्-तत् – उस-उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
शुभाशुभम् – शुभ और अशुभ; नाम, द्वि. ए.व. 'शुभं अशुभञ्च' द्वन्द्व
प्राप्य – प्राप्त करके; विधेय कृदन्त
न – नहीं; अव्यय
अभिनन्दति – प्रसन्न होता है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व. 'अभि+नन्द्'
न – नहीं; अव्यय
द्वेष्टि – द्वेष करता है; व.का.तृ.पु.ए.व. 'द्विष्' 2 गण
तस्य – उसका; सर्वनाम, ष.ए.व. 'तद्'
प्रज्ञा – बुद्धि; नाम प्र.ए.व. स्त्री. 'प्रज्ञा'
प्रतिष्ठिता – स्थिरता को प्राप्त; 'कृ' विशेषण, विशेष्य प्रज्ञा' कथ्यते= कहलाता है।

श्लोकार्थ : जो सर्वत्र स्नेह रहित है, भिन्न-भिन्न शुभ अथवा अशुभ को प्राप्त करके न आनन्दित होता है न द्वेष करता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित (स्थिर) है।

विवेचन : स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है? इस प्रश्ना का उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। वह संसार में सर्वत्र स्नेह रहित होता है, अतः भिन्न-भिन्न 'शुभ' अर्थात् लौकिक के अनुकूल अथवा 'अशुभ' अर्थात् लौकिक के प्रतिकूल प्राप्त कर आनन्दित नहीं होता अथवा द्वेष नहीं करता। लौकिक में कहीं भी स्नेह नहीं होने से शुभ प्राप्त कर उसे आनन्द नहीं होता उसी प्रकार अशुभ प्राप्त होने पर भी उसे द्वेष नहीं होता। शुभ प्राप्त होने पर वह आनन्द की भाषा नहीं बोलता

है, अशुभ प्राप्त होने पर द्वेष की भाषा भी नहीं बोलता है। ऐसे पुरुष की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता।।58।।

अन्वय :

च – और; अव्यय

कूर्मः – कच्छप; नाम, प्र.ए.व.

अंगानि – अंगों को; नाम, द्वि.ब.व. नपु. 'अंग'

इव – जैसे, इस प्रकार; अव्यय

अयम् – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्' पु.

यदा – जब; अव्यय

सर्वशः – हर ओर से; अव्यय

इन्द्रियाणि – इन्द्रियों को; नाम, द्वि.ब.व. नपु. 'इन्द्रिय'

इन्द्रियार्थेभ्यः – इन्द्रियों के विषयों में से; नाम, पं.ब.व.

संहरते – समेट लेता है, पीछे खींच लेता है; क्रि.व.काल.तृ.पु.ए.व. 'सम्+ह1गण'

तदा – तब; अव्यय

तस्य – उसकी; सर्वनाम, ष.ए.व. 'तद्'

प्रज्ञा – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'प्रज्ञा'

प्रतिष्ठिता – प्रतिष्ठित हो चुकी; विशेषण, विशेष्य 'प्रज्ञा'

श्लोकार्थ : कछुआ चारों तरफ से अपने अंगों को अन्दर खींच लेता है, उसी तरह जब (साधक) इन इन्द्रियों के अर्थों में से इन्द्रियों को खींच लेता है तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।

विवेचन : स्थितप्रज्ञ कैसे बैठता है? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ से चार श्लोक (58 से 61) में देते हैं। जब इन इन्द्रियों के अर्थों में से अर्थात् इन्द्रियों के भोग्य

पदार्थों में से इन्द्रियों को (साधक) खींच लेता है तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। भोग्य पदार्थों में से वह इन्द्रियों को कैसे खींच लेता है, यह बताने के लिए कूर्म का दृष्टांत देते हैं। जैसे कछुआ स्वयं के हाथ, पांव आदि सभी अंगों को स्वाभाविक तरीके से (अन्दर) खींच लेता है उसी प्रकार इन्द्रियों को स्वभाव से ही भोग्य पदार्थों में से खींच ले अर्थात भोग्य पदार्थों का दर्शन होते ही इन्द्रियां स्वाभाविक रीति से ही उनमें से निवृत्त हो जाएँ तब बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।

विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।59।।

अन्वय :

यद्यपि – यद्यपि

निराहारस्य – निराहारी; विशेषण, विशेष्य 'देहिनः निर्गतः आहारः यस्मात् इति' बहु. आहारः =अन्तः प्रवेश

देहिनः – देहवाले को; नाम, ष.ए.व.पु. 'देहिन्'

विषयाः – विषय; नाम, प्र.ब.व.पु. 'विषय'

विनिवर्तन्ते – खिसक जाता है, दूर को जाता है; क्रि.व. काल तृ.पु.ब.व.वि+नि+वृत् 1 गण

परन्तु – परन्तु

रसवर्जम् – राग रहित; विशेषण, विशेष्य 'परम्'

अस्य – इसका; सर्वनाम, ष.ए.व. 'इदम्' पु.

रसः – राग; नाम, प्र.ए.व. 'रस'

अपि – भी, इसके अतिरिक्त; अव्यय

परम् – पर को; नाम, द्वि.ए.व.

दृष्ट्वा – देखकर;' विधेय कृदन्त

निवर्तते – निवृत्त होता है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व. नि+वत् 1 गण

श्लोकार्थ : रस (राग) को छोड़कर, निराहार देही के विषय दूर हो जाते हैं। इनके (स्थितधी के) रस भी (राग भी) पर के दर्शन होने से दूर हो जाते हैं।

विवेचन : कछुए की तरह, इन्द्रियों को भोग्य पदार्थों में से खींच लेने का उपदेश गत श्लोक में किया गया। उसमें शंका होती है कि जो मनुष्य अथवा देही आहार नहीं लेता है, उसकी इन्द्रियों में शक्ति ही नहीं रहने से इन्द्रियार्थों में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता, अत: उसे ही स्थितप्रज्ञ कहना योग्य है। इस शंका को इस श्लोक से दूर करते हैं। जो मनुष्य निराहारी होता है, उसकी इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्त नहीं होती, यद्यपि यह सही है, परन्तु उसमें रस रह जाता है। 'रस' अर्थात विषयों को अनुभव करने की अथवा विषयभोग की इच्छा। निराहार देही को यह इच्छा रहती है। यहां 'देही 'शब्द प्रयुक्त होने से उसे देहाभिमान भी रहता है, यह भावार्थ निकलता है।

इसकी, अर्थात् स्थितप्रज्ञ की रस अर्थात् विषय भोग की इच्छा भी दूर होती है। स्थितप्रज्ञ को पर रस अथवा परम उत्कृष्ट भगवदीय रस का अनुभव होने से लौकिक इन्द्रियों के भोग भोगने की उसे इच्छा रहती नहीं–यह स्वाभाविक ही है। कारण यह है कि जहां महानन्द हो वहाँ अल्पानन्द में प्रवृत्ति नहीं ही होती है। निराहार देही और स्थितप्रज्ञ में यही भेद है।

श्रीभागवत् 1/11/14 तथा *10/10/16* की सुबोधिनी में इस श्लोक की विस्तृत विवेचना है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।60।।

अन्वय :

कौन्तेय – अर्जुन; सम्बोधन
हि – निश्चय; अव्यय
यततः – यत्न करने वाले; विशेषण, विशेष्य 'पुरूषस्य'
विपश्चितः – बुद्धिमान के; विशेषण, विशेष्य 'पुरूषस्य'
पुरुषस्य – पुरुष का; नाम, ष.ए.व.
अपि – भी; अव्यय
मनः – मन; द्वि.ए.व. नपु. 'मनस्'

प्रमाथीनि – मन्थन करने का जिसका स्वभाव है; विशेषण, विशेष्य 'इन्द्रियाणि'
इन्द्रियाणि – इन्द्रियां; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'इन्द्रिय'
प्रसभम् – बलात्, बलपूर्वक; विशेषण, विशेष्य 'मन'
हरन्ति – हर लेती है; क्रि.व.काल. तृ.पु.ब.व. 'हृ' 1 गण

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय! क्षोभ करने वाली इन्द्रियां प्रयत्नशील विद्वान पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती है।

विवेचन : इन्द्रिय निग्रह सभी लोगों को करना चाहिए। तब फिर स्थितप्रज्ञ में विशेषता क्या है? ऐसी शंका के समाधानार्थ यह श्लोक योजित किया है। बहुत बुद्धिमान पुरुष भी इन्द्रियों को विषयों से विरक्त रखने का प्रयत्न करें तो भी मन का मथन अथवा मन का क्षोभ करने वाली इन्द्रियां प्रयत्न के उपरांत भी बलपूर्वक उसके मन को हर लेती हैं। इन्द्रियां मन को विषय की ओर ले जाती हैं अर्थात ऐसा मनुष्य भी विषयों का चिन्तन करता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।61।।

अन्वय :

तानि – उसे; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'इन्द्रियाणि'
सर्वाणि – सर्व; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'इन्द्रियाणि'
संयम्य – संयम में रखकर; विधेय कृदन्त
युक्तः – स्थिर चित्त; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषः'
मत्परः – मेरे परायण; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषः'
आसीत – स्थित होता है; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'आस्' 2 गण
हि – क्योंकि; अव्यय
इन्द्रियाणि – इन्द्रियां; नाम, प्र.ब.व. नपु. 'इन्द्रिय'
यस्य – जिसकी; सर्वनाम, ष.ए.व. 'यत्'
वशे – वश में; नाम, स.ए.व. 'वश'

तस्य – उसकी; सर्वनाम,ष.ए.व. 'तद्'
प्रज्ञा – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'प्रज्ञा'
प्रतिष्ठिता – स्थिर हुई ; विशेष, विशेष्य, 'प्रज्ञा'

श्लोकार्थ : योगी को चाहिए कि सर्व का संयम कर मत्पर होकर (मुझमें मन लगाकर) रहे क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हैं।

विवेचन : मैं ही जिनके लिए पर हूँ, वे मत्पर। भगवान को ही पर जानकर सर्व इन्द्रियों का संयम करके रहे। जिनकी इन्द्रियां वश में हैं, उनकी ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। अथवा जिनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है, उनकी ही इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, अन्य की नहीं। इसीलिए पूर्व श्लोक में कहा गया है कि विद्वान भी प्रयत्न करने के उपरांत भी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते।

विशेषः मत्परः, कृष्णपरः, ब्रह्मपरः, नादपरः, रसपरः, शब्दपरः, अर्थपरः, तात्पर्य यह है कि जीव एकाकी रहकर तो किसी भी स्थिति में किसी भी स्थान पर टिक नहीं सकता। अतः कोई योग्य सहायता या आधार आवश्यक है। इस सहायता अथवा आधार में परताद्वारा जीव का आश्रय स्थान बनता है। जब तक आश्रय स्थान, शुद्ध, सत्य और केवलभावरूप नहीं हो जाता तब तक जीव के लिए परता अथवा आश्रय स्थान कृष्ण स्वयं, खुद को ही इस श्लोक में बताते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण भावात्मक कृष्ण यदि जीव के लिए आश्रय स्थान बन जाए तो फिर इसके प्रत्येक धर्म निर्दोष और ब्रह्ममय हो जाते हैं। जीव का कृष्ण के साथ अंशांशी भाव होने से जीव कृष्ण के साथ तत्पर रह सकता है। मन जब तक इस स्थिति में पूर्णरूपेण अनुस्यूत (पिरो नहीं गया) नहीं होता तब तक अवरोध तो रहता ही है। इस अवरोध को मिटाने के लिए जीव का कर्त्तव्य है कि हर ओर से इन्द्रियों को विषय संसर्ग से बचाकर कृष्ण परायण हो और साथ-साथ बुद्धि को भी उसमें योजित करना चाहिए।

विवेचन : अब तक यह कहा गया है कि बाह्य इन्द्रियां वश में न हो तो क्या होता है। अब स्पष्ट करते हैं कि यदि मन वश में न हो तो बुद्धि योग से भ्रंश होता

है। इसमें प्रथम दो श्लोकों से (62-63) मन के संयम के अभाव से होते दोषों का वर्णन करते हैं।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस् तेषूपजायते।
संगात सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।62।।

अन्वय :
विषयान् – विषयों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'विषय'
ध्यायतः – ध्यान करने वाला; व.कृ. विशेषण, विशेष्य 'पुंसः'
पुंसः – पुरुष का; नाम, ष.ए.व. 'पुमान्'
तेषु – उन में; सर्वनाम, स.ब.व.पु. 'तद्'
सङ्गः – संग; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संग'
उपजायते – होता है; क्रि. व. काल. तृ.पु.ए.व. 'उप्+जन्' 4 गण
सङ्गात् – संगसे; नाम, पं.ए.व.पु. 'संग'
कामः – काम, इच्छा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'काम'
सञ्जायते – उत्पन्न होता है; क्रि. व. काल. तृ.पु.ए.व; 'सम्+जन्' 4 गण
कामात् – इच्छा से; नाम, पं.ए.व.पु. 'काम'
क्रोधः – क्रोध; नाम, प्र.ए.पु. 'क्रोध'
अभिजायते – उत्पन्न होता है; क्रि. व. काल, तृ.पु.ए.व. अभि+जन् 4 गण

श्लोकार्थ : विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष का विषयों से संग हो जाता है, संग से काम पैदा होता है। कामसे ही क्रोध उत्पन्न होता है।

विवेचन : विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष को विषयों में आसक्ति होती है। विषयों में आसक्ति होने से विषयों को भोगने की कामना होती है। कामना पूर्ण न हो अथवा कामना पूर्ति होने में विघ्न आने पर क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिवभ्रिमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।63।।

अन्वय :

क्रोधात् – **क्रोध से;** नाम, पं.ए.व.पु. 'क्रोध'

सम्मोहः – **अविवे, बूढ़ता;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'सम्मोह'

भवति – **होता है ;** क्रि.व.काल.तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण

सम्मोहात् – **मूढभाव से, अविवेक से;** नाम, पं.ए.व.पु. सम्मोह

स्मृतिविभ्रमः – **स्मृति बिगड़ने से;** नाम, पं.ए.व.पु. 'भ्रंश्'

स्मृतिभ्रंशात् – **स्मृति चले जाने से;** नाम, पं.ए.व.पु. 'भ्रंश'

बुद्धिनाशः – **बुद्धि का नाश;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'नाश'

बुद्धिनाशात् – **बुद्धि के नाश से;** नाम, पं.ए.व.पु.

प्रणश्यति – **नाश को प्राप्त होता है;** क्रि.तृ.पु.ए.व. 'प्र+नश्' 4 गण

श्लोकार्थ : क्रोध से सम्मोह होता है, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम होता है। स्मृति के भ्रंश होने से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि के नाश से विनाश को प्राप्त होता है।

विवेचन : क्रोध के कारण मोह विशेष होता है अर्थात विवेकहीन हो जाता है। मोह होने से शास्त्रों द्वारा अथवा गुरु द्वारा जो उपदेश श्रवण किया गया हो उसमें विभ्रम हो जाता है। इस प्रकार स्मृति का भ्रंश होने से व्यवसायात्मिका बुद्धि का नाश हो जाता है। ऐसी बुद्धि का नाश होने पर उसका स्वयं का विनाश हो जाता है अर्थात यह प्राकृत अविशुद्ध पुरुष रह जाता है। विषयों का चिन्तन करने से इस प्रकार विनाश हो जाता है, अतः विषयों का ध्यान नहीं करना चाहिए। इन (62-63) दो श्लोकों में स्थितप्रज्ञ किस प्रकार चलता (आचरण करता) है, उसका उत्तर दिया गया है। स्थितप्रज्ञ विषयों का ध्यान किए बिना चलता है।

राग-द्वेष-वियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति।।64।।

अन्वय :

तु – **तो;** अव्यय

विधेयात्मा – **अन्तःकरण जिसके वश में है;** नाम,प्र.ए.व.पु. 'आत्मन्'

रागद्वेषवियुक्तैः – **रागद्वेष रहित;** विशेषण, विशेष्य 'इन्द्रियैः'

आत्मवश्यैः – **स्वयं के वश में रखी हुई ;** विशेषण, विशेष्य, 'इन्द्रियैः'

इन्द्रियैः – **इन्द्रियों से;** नाम तृ.ब.व. नपु. 'इन्द्रिय'

विषयान्– **विषयों को;** नाम, द्वि.व.पु. 'विषय'

चरन् – **भोग करता हुआ;** व.कृ. नाम, द्वि.ए.व.पु.

प्रसादम् – **अन्तःकरण की प्रसन्नता;** नाम, द्वि.ए.व.पु. 'प्रसाद'

अधिगच्छति – **प्राप्त करता है;** क्रि.व. काल, तृ.पु.ए.व. 'अधि+गम्' 1 गण

श्लोकार्थ : कर्त्तव्य में चित्त स्थिर रखने वाला राग-द्वेषरहित होकर स्वयं के वश की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करते हुए प्रसाद प्राप्त करता है।

विवेचन : इन्द्रियों का स्वभाव ही विषयों की ओर आकर्षित होने का होने से इन्द्रियों का निग्रह अशक्य ही है, अतः प्रज्ञा कैसे प्रतिष्ठित रह सकती है? ऐसी शंका के निवारणार्थ कहते हैं कि 'विधेय' अर्थात कर्तव्य में चित्त स्थिर रखने वाले लोग, राग-द्वेष रहित होकर इन्द्रियों को स्वयं के वश में कर विषयों का भोग करे तो उनका चित्त प्रसन्न रहता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।65।।

अन्वय :

प्रसादे – **प्रसन्नता में;** नाम, स.ए.व.पु. 'प्रसाद'

अस्य – **इसका;** सर्वनाम, विशेष्य 'पुरुषस्य'

सर्वदुःखानाम् – **सभी दुःखों का;** नाम, ष.ब.व.

हानि – **नाश;** नाम, प्र.ए.व. स्त्री.

उपजायते – **उत्पन्न होता है;** क्रि.व.काल. तृ.पुए.व. 'उप + जन्' 4 गण

प्रसन्नचेतसः – **प्रसन्न चित्त वाला;** विशेषण, विशेष्य 'पुरुषस्य'

बुद्धिः – **बुद्धि;** नाम, प्र.ए.व. स्त्री.

आशु हि – **तुरन्त निश्चय;** अव्यय

पर्यवतिष्ठते – स्थिर होती है; क्रि.व.काल. तृ.पु.ए.व. 'परि+अव+स्था'1 गण

श्लोकार्थ : प्रसाद होने से इसके सर्वदु:खों का नाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्नचित वाले की बुद्धि भली – भांति प्रतिष्ठित होती है। 'प्रसाद' अर्थात् चित्त की प्रसन्नता।

विशेष : चित्त की प्रसन्नता होने से सर्व दु:खों का नाश हो जाता है। जब तक चित्त ब्रह्मपरायण नहीं होता तब तक चित्त में प्रसन्नता नहीं होती क्योंकि ब्रह्म के अलावा समस्त पदार्थ किसी न किसी रूप में दोषमय होते हैं। निर्दुष्ट चित्त ही ब्रह्म के साथ सहभाव को प्राप्त होता है और इस प्रकार के सहभावद्वारा ही ब्रह्म के साथ समानता होने पर लीला का आस्वाद लिया जा सकता है।

नास्ति बुद्धिः अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम्।।66।।

अन्वय :

अयुक्तस्य – अयुक्त को; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषस्य'
बुद्धिः – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'बुद्धि'
न – नहीं; अव्यय
अस्ति – है; क्रि.व.काल., तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण
च – और; अव्यय
अयुक्तस्य – आयुक्त को; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषस्य'
भावना – भाव, आसक्ति का भाव; नाम, प्र.ए.व. 'भावना' स्त्री.
अपि – भी
न – नहीं; अव्यय
भवति – होता है; क्रि.व.काल. प्र.पु.ए.व. 'भव'
अभावयतः – आसक्ति भाव रहित की; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषस्य'
शान्तिः – शान्ति; नाम, प्र.ए.व.
च – भी; अव्यय

न – नहीं; अव्यय
भवति – होता है
अशान्तस्य – शान्ति रहित पुरुष को; विशेषण, विशेष्य 'पुरुषस्य'
सुखम् – सुख; नाम, प्र.ए.व.पु. 'सुख'
कुतः – कहाँ से; अव्यय
स्यात् – होता है

श्लोकार्थ : अयुक्त में बुद्धि नहीं होती और न ही भावना होती है। भावना नहीं करने वाले को शान्ति प्राप्त नहीं होती। जिसे शान्ति नहीं है उसे सुख कहाँ से होगा?

विवेचन : मन को संयम में रखने से बुद्धि योग प्राप्त होता है– ऐसा ऊपर कह आये हैं। अब कहते हैं कि मन को संयम में नहीं रखने वाले को बुद्धि योग प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार व्यतिरेक से मन का निग्रह बुद्धि योग प्राप्त करने का साधन है। 'अयुक्त' अर्थात् मन जिसके वश में नहीं हो, मन को संयम में नहीं रखने वाला। मन के निरोध रूपी योग से रहित। ऐसे अयुक्त को व्यवसायात्मिका बुद्धि अथवा बुद्धियोग, जैसाकि ऊपर वर्णित है, नहीं होता है, न ही उसे भावना होती है। 'भावना' अर्थात तत्त्व का चिन्तन अथवा भगवान का चिन्तन। उससे यह भी नहीं हो सकता है। भावना जिसको नहीं है उसको शांति कहां से होगी और जिसे शांति न हो उसे सुख कहाँ से होगा?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते।
तद् अस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावम् इवाम्भसि।।67।।

अन्वय :

हि – निश्चय; अव्यय
अम्भसि – जल में; नाम, सं.ए.व.नपु. 'अम्भस्'
वायुः – वायु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'वायु'
नावम् – नौका; नाम, द्वि.ए.व.

इव – की भांति; अव्यय
हरति – हर लेता है; क्रि.व.काल, प्र.पु.ए.व. (तथैव विषयेषु = उसी तरह विषयों में)
चरताम् – धूमती इन्द्रियाँ ; विशेषण, विशेष्य 'इन्द्रियाणाम्'
इन्द्रियाणाम् – इन्द्रियों का; नाम, श.ब.व. नपु.
यद् – जो; सर्वनाम, विशेषण विशेष्य, 'मन'
अनु – पीछे; अव्यय
मनः – मन; नाम, प्र.ए.व.पु.
विधीयते – पकड़ी जाती है; क्रि. कर्मणि 'वि+धा' तृ.पु.ए.व.व.का.
तत् – वे इन्द्रियाँ; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'इन्द्रिय'
इन्द्रियं – इन्द्रिय
अस्य – इस को; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'पुरुषस्य'
प्रज्ञाम् – बुद्धि को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'प्रज्ञा'
हरति – हर लेती है; क्रि.व.काल.तृ.पु.ए.व. 'हृ' 1 गण

श्लोकार्थ : चलायमान (विचरण करने वाली) इन्द्रियों में से, जिनके पीछे मन जाता है, वे जल में जैसे वायु नाव को ले जाती है, उसी तरह उसकी बुद्धि को हर लेती हैं।

विवेचन : पिछले श्लोक में, अयुक्त को अथवा मन का निग्रह नहीं रखने वाले को बुद्धि नहीं होती, यह कहा, उसका कारण इस श्लोक में कहते हैं। राग–द्वेष रहित, निग्रह युक्त इन्द्रियों से, विषयोपभोग करने में आवे तो बुद्धि योग प्राप्त करने में कोई विघ्न नहीं होता पर जब इन्द्रियां वश में नहीं हो और लौकिक विषयों में इच्छानुसार विचरण करती हो तो जिस इन्द्रिय के पीछे मन जाता है वही इन्द्रिय उस मनुष्य की भावनात्मक अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि को हर लेती है। जिस प्रकार वायु जल में तैरने के साधनरूप नौका को खींच कर डुबा देती है, वैसे ही यह इन्द्रिय उस मनुष्य के तैरने (जीवन नैया पार करने) की साधनरूप व्यवसायात्मिका बुद्धि को हर कर, उसका अधःपात कराती है। इसलिए उसे बुद्धि योग प्राप्त नहीं होता तो यह योग्य ही है।

तस्मात् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।68।।

अन्वय :
तस्मात् – इसलिए; अव्यय
महाबाहो – लंबी भुजा वाला, कीर्तिवान; सम्बोधन
यस्य – जिसकी; सर्वनाम, विशेषण, विशेष्य 'पुरुषस्य'
इन्द्रियाणि – इन्द्रियों को; नाम, प्र.ब.व.नपु.
इन्द्रियार्थेभ्य : – इन्द्रियों के विषयों में से; नाम, पं.ब.व.
सर्वशः – हर प्रकार से; अव्यय
निगृहीतानि – ग्रहण की हुई ; विशेषण, विशेष्य 'इन्द्रियाणि'
भवति – होती है
तस्य – उसकी; सर्वनाम, ष.ए.व. 'तद्'
प्रज्ञा – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
प्रतिष्ठिता – स्थिर हुई ; विशेषण, विशेष्य 'प्रज्ञा'

श्लोकार्थ : अतः हे महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषयों में से सब ओर से निग्रह में हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

विवेचन : अब उपसंहार करते हैं। हे महाबाहो ! विशाल भुजाओं वाले अर्जुन ! तेरी भुजायें विशाल होने से तू भी क्रिया करने में समर्थ है, अतः तू भी इन्द्रिय निग्रह करने योग्य है, यह भावार्थ है। इन्द्रियों का निग्रह न करने वाले की प्रज्ञा भी नष्ट हो जाती है। अतः जिसने इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है उस की ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।69।।

अन्वय :
सर्वभूतानाम् – सभी प्राणियों की; नाम, ष.ब.व.

या – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. स्त्री.
निशा – रात्रि; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'निशा'
तस्याम् – उसमें; विशेषण, विशेष्य, 'निशायाम्' स.ए.व.
संयमी – संयम रखने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संयमिन्'
जागर्ति – जागता है; क्रि.व.काल.तृ.पु.ए.व. 'जागृ' 2 गण
यस्याम् – जिसमें; सर्वनाम, स.ए.व. स्त्री.
भूतानि – प्राणी; नाम, प्र.ब.व.
जाग्रति – जानते हैं; क्रि.व.काल.तृ.पु.ब.व. 'जागृ' 2 गण
पश्यतः – तत्व को समझ कर देखने वाला; क्रि.व.कृ. विशेषण, विशेष्य 'मुनिः'
मुनेः – मुनि की; नाम, ष.ए.व.पु. 'मुनि'
सा – वह; विशेषण, विशेष्य 'निशा'
निशा – रात्रि; प्र.ए.व. स्त्री. ;'निशा'
अस्ति – है; क्रि. पद.व.काल, तृ.पु.ए.वु. 'अस्'

श्लोकार्थ : सर्व प्राणियों की निशा में संयमी जागता है। जिसमें (सामान्य) प्राणी जागते हैं, वह देखने वाले (आत्मदर्शी) मुनि की निशा है।

विवेचन : इन्द्रियों के संयम से जिसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है उसके लक्षण इस श्लोक में समझाते हैं। आत्मविषयी बुद्धि अर्थात् भगवान सम्बन्धी बुद्धि, जो सब प्राणियों की निशा है अर्थात जिसका प्रकाश सर्व संसारी प्राणियों पर, मानो वे निद्रा में हो, पड़ता नहीं है, अथवा अज्ञान रूपी अन्धकार से कुंठित बुद्धि वाले संसारी प्राणी जिसका अनुभव नहीं कर सकते उसमें, इन्द्रियों को संयम में रखने वाला, प्रतिष्ठित बुद्धियुक्त जागता है अर्थात् (आत्म) साक्षात्कार करता है। जिन सांसारिक व्यवहारों में सर्व प्राणी जागते हैं अथवा विषयों में रचे-पचे रहते हैं, वह इस प्रकार से संयम रखने वाले मुनि की रात्रि है, अतः ऐसे व्यवाहारों से ऐसा मुनि निर्लिप्त रहता है। इस प्रकार संसारी प्राणियों से संयमी मुनि के लक्षण भिन्न ही होते हैं।

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।70।।

अन्वय :
यद्वत् – जिस प्रकार; अव्यय
आपूर्यमाणम् – सब तरफ से परिपूर्ण; विशेषण, विशेष्य 'समुद्र'
अचलप्रतिष्ठं – अचल प्रतिष्ठा वाला; विशेषण; विशेष्य, 'समुद्र'
समुद्रम् – समुद्र को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'समुद्र'
आपः – जल, (नदियाँ); नाम, प्र.ब.व.स्त्री. 'आपस्'
प्रविशन्ति – प्रवेश करते हैं, समाते हैं; व.का.तृ.ब.व. 'प्र + विश्' 6 गण
तद्वत् – उसी प्रकार; अव्यय
यम् – जिस; विशेषण, विशेष्य 'पुरुषः' अध्याहार
सर्वे – सभी; विशेषण, विशेष्य, 'कामाः'
कामाः – इच्छाएँ, भोग; प्र.ब.व.पु. 'कामः'
प्रविशन्ति – प्रवेश करते हैं; व.का.तृ.पु.ब.व. 'प्र + विश्' 6 गण
सः – वह; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषः'
शान्तिम् – शान्ति को; द्वि.ए.व.स्त्री. 'शान्ति'
आप्नोति – प्राप्त करता है; व.का.तृ.पु.ए.व. 'आप्' 5 गण
कामकामी – कामनाओं की इच्छा रखने वाला; प्र.ए.व. ''कामान् कमते इति कामकाजी'' उपपद
न – नहीं; अव्यय
आप्नोति – प्राप्त करता है

श्लोकार्थ : जिस प्रकार अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में जल (नद नदियों का समस्त जल) समा जाता है, उसी प्रकार सर्व कामनाएं जिसमें प्रवेश करती (समा जाती) हैं वही शान्ति प्राप्त करता है, भोगों की इच्छा वाला नहीं।

विवेचन : संयमी और प्रतिष्ठित बुद्धि वाले का दूसरा लक्षण इस श्लोक में कहा गया है। जैसे समुद्र किसी जल की ओर प्रयाण नहीं करता अपितु जल ही

अथवा नदियां ही समुद्र की ओर प्रयाण करती हैं उसी प्रकार सभी कामनाएं जिस संयमी में प्रवेश करती हैं और जिसे कोई कामना नहीं होती, वही शान्ति प्राप्त करता है। भोग अथवा कामनाएँ प्राप्त करने की इच्छा वाले को शान्ति प्राप्त नहीं होती।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिम् अधिगच्छति।।71।।

अन्वय :

यः – जो; प्र.ए.व. विशेषण, विशेष्य, 'पुमान्'
पुमान् – पुरुष; प्र.ए.व. 'पुमान्'
सर्वान् – समस्त; विशेषण, विशेष्य, 'कामान्'
कामान् – कामनाएं; द्वि.ब.व.
विहाय – छोड़कर; विधेय कृदन्त
निर्ममः – ममता रहित; विशेषण, विशेष्य, 'पुमान्'
निरहंकारः – अहंकार रहित; विशेषण, विशेष्य, 'पुमान्'
निःस्पृहः – स्पृहा रहित; विशेषण, विशेष्य, 'पुमान्'
चरति – विहार करता है, विचरण करता है, चलता है; व.का.तृ.पु.ए.व. 1 गण
सः – वह; अव्यय, विशेषण, विशेष्य, 'पुमान्'
शान्तिम् – शान्ति को; द्वि.ए.व.स्त्री. 'शान्ति'
अधिगच्छति – प्राप्त करता है; व.का.तृ.पु.ए.वु. 'अधि + गम्' 1 गण

श्लोकार्थ : जो पुरुष समस्त कामनाओं का त्याग कर निःस्पृही, ममता रहित और अहंकार रहित हो कर रहता है वह शान्ति प्राप्त करता है।

विवेचन : ऐसा होने पर जो पुरुष सर्व प्राकृत कामनाओं का त्याग कर आत्मा में ही रमण करने वाला होकर दूसरे किसी भी पदार्थ की किसी भी प्रकार की स्पृहा नहीं रखता और अहंता ममता रहित हो गया है वह शान्ति प्राप्त करता है।

''जब अहंता और ममता का नाश हो जाता है, सर्वथा अहंकार दूर हो जाता है और जीव स्वरूपस्थ हो जाता है तब वह कृतार्थ हुआ कहलाता है'' – इस सिद्धांतानुसार उसे शान्ति प्राप्त होती है।

एषा ब्राह्मी स्थितिःपार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति।।72।।

अन्वय :

पार्थ – अर्जुन; सम्बोधन, ए.व.
एषा – यह; प्र.ए.व. 'एतद्' स्त्री. विशेषण, विशेष्य 'स्थितिः'
ब्राह्मी – ब्रह्म भाव युक्त; विशेषण, विशेष्य 'स्थितिः'
स्थितिः – स्थिति; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'स्थिति'
एनाम् – इसे; द्वि.ए.व. 'एतद्' स्त्री
प्राप्य – पाकर, प्राप्त करके; विधेय कृदन्त प्र + आप्
न – नहीं; अव्यय
विमुह्यति – विशेष मोह करता है; वि + मोह 4 गण, तृ.पु.ए.व.
च – और; अव्यय
अन्तकाले – अन्तकाल में, मृत्यु के समय; स.ए.व.
अपि – भी; अव्यय
अस्याम् – इसमें; सर्वनाम, स.ए.व. 'इदम्' स्त्री.
स्थित्वा – रहकर; विधेय कृदन्त 'स्था'
ब्रह्मनिर्वाणम् – ब्रह्मसुख, ब्रह्मानंद; ''ब्रह्म एव निर्वाणं इति''
ऋच्छति – प्राप्त करता है; 'ऋच्छ्' 1 गण तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त करके कोई मोह को प्राप्त नहीं होता। अन्त समय भी इसी में रहकर ब्रह्मसुख को प्राप्त करता है।

विवेचन : इस योग की स्तुति करते हुए अब उपसंहार करते हैं। हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति तुझको कही। ब्रह्म निर्दोष एवं सम है, यही स्थिति ब्राह्मी स्थिति है अथवा ब्रह्मसम्बन्धी स्थिति ब्राह्मी स्थिति है।

स्थित धी अथवा प्रतिष्ठित बुद्धिरूपी ब्राह्मी स्थिति तुझे कही। इस स्थिति को प्राप्त करने वाला कभी मोहग्रस्त नहीं होता। अन्तकाल के समय भी जो इस स्थिति में रहता है उसे ब्रह्मसुख प्राप्त होता है तो जो जीवन पर्यन्त इस स्थिति में रहता है उसे ब्रह्मानन्द प्राप्त हो इसमें संशय ही क्या?

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सांख्य-योग' नाम
द्वितीयोऽध्यायः ।। 2 ।।

।। अध्याय 3 ।।

कर्मयोग

यहाँ से आठ अध्याय तक (अध्याय 3 से *10*) भगवान अर्जुन को वैदिक धर्म का उपदेश करते हैं। इस वैदिक धर्म से भगवान के माहात्म्यज्ञान का भान होता है और उससे भक्ति प्राप्त होती है। यहाँ पर वैदिक धर्म कहा गया होने से इसे 'मर्यादा' कहा जाता है अर्थात् इन आठ अध्यायों में मर्यादा मार्ग का ज्ञान करवाया गया है।

द्वितीय अध्याय में सांख्य और योग का निरूपण है। अब तृतीय अध्याय में धर्म अथवा कर्म का निर्णय करते हैं। 1. 'त्याग' अर्थात् कर्म का त्याग करना, यानि कर्म नहीं करना और 2. 'अत्याग' अर्थात कर्म करना। यहाँ उभय भेद से कर्म का निर्णय किया गया है। इसमें त्याग की तुलना में अत्याग उत्तम है अर्थात् कर्म का त्याग करने के बजाय अत्याग उत्तम है। कारण कि शरीर का सम्बन्ध रहने तक कर्म का त्याग सम्भव ही नहीं है। अतः भगवान की आज्ञानुसार भगवदर्थ कर्म करना ही उत्तम है, ऐसा निर्णय किया गया है।

द्वितीयाध्याय में कर्ममार्ग योग का उपदेश किया गया है। उसमें अन्त में 'विहाय कामान्-सर्वकामनाओं को त्याग कर' आदि कहा गया होने से सांख्यवत् कर्म त्याग का ही उपदेश न किया हो, ऐसा प्रतीत होने से अनिश्चय की स्थितिवश अर्जुन पुनः प्रश्न करता है।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर् जनार्दन!।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव!।। 1।।

अन्वय :
जनार्दन - भगवान ; सम्बोधन, ''जनाम् (अविद्यां) अर्दति इति''
चेत् - यदि ; अव्यय

बुद्धिः - बुद्धि, स्थिर बुद्धि ; नाम, प्र.ए.व ; 'बुद्धि'
कर्मणः - कर्म से ; नाम, पं.ए.व.
ज्यायसी - ज्यादा बड़ी, श्रेष्ठतर ; विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धि' (तुलनात्मक रूप से)
ते (तव) - तेरे (आपके) द्वारा ; सर्वनाम, ष.ए.व ; 'युष्मत्' का
मता - मानी हुई ; विशेषण, विशेष्य, 'बुद्धिः मन्' धातु का भू.कृ.
तत् - तब ; अव्यय
केशव - केशव ; सम्बोधन, 'क' = ब्रह्मा + ईश = शिव + 'व' = सुख। केशयोः वं यस्मात् इति''
माम् - मुझे ; सर्वनाम, द्वि. ए.व. ; 'अस्मद्'
घोरे - घोर में ; विशेषण, विशेष्य 'कर्मणि'
कर्मणि - कर्ममें ; नाम, स.ए.व ; 'कर्मन्' का नपु.
किम् - क्यों, किसलिए ; अव्यय
नियोजयसि - तू जोड़ता / आप जोड़ते हैं ; क्रि. व.काल. द्वि.पु.ए.व ; 'नि + युज्' *10* गण

श्लोकार्थ - हे जनार्दन! हे केशव! आप यदि कर्म के बजाय बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं तो घोर कर्म में मुझे किसलिए योजित करते हैं?

विवेचन - सर्व अविद्याओं को दूर करने वाले हे जनार्दन! कर्म के बजाय यदि बुद्धियोग उत्तम है तो मुझको कर्म में किसलिए जोड़ते हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव में।
तद् एकं वद् निश्चित्य येन श्रेयोऽहम् आप्नुयाम्।।2।।

अन्वयः
व्यामिश्रेण - संशययुक्त ; विशेषण, विशेष्य 'वाक्येन'
इव - वाला ; अव्यय
वाक्येन - वाक्य से ; नाम, तृ. ए.व ; नपु. 'वाक्य'

मे - मेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व ; 'अस्मद्'
बुद्धिम् - बुद्धि को ; नाम, द्वि. ए.व. स्त्री. 'बुद्धि'
मोहयसि - मोह में डालता है ; क्रि.व.काल ; द्वि.पु.ए.व. कारकभेद 'मुह्' 4 गण
इव - जैसा ; अव्यय
तत् - अतः ; अव्यय
एकम् - एक ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ; विशेषण, विशेष्य, 'वाक्यम'
वाक्यम् - वाक्यको
निश्चित्य - निश्चय करके ; विधेय कृदन्त
वद - कहो, कहिए ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.
येन - जिसके द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. ; 'यत्'
अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
श्रेयः - कल्याण ; नाम, द्वि.ए.व ;
आप्नुयाम् - प्राप्त करना ; क्रि. विध्यर्थ, प्र.ए.व ; 'आप' 5 गण

श्लोकार्थ - व्यामिश्र - से (मिश्रित, मिले - जुले) वाक्यों से मेरी बुद्धि को (आप) जैसे मोहित कर रहे हैं - ऐसा लगता है। अतः जिससे मेरा श्रेय हो वैसा एक निश्चय करके कहिए।

विवेचन - किसी स्थान पर कर्म की प्रशंसा करने वाले, कहीं कर्म त्याग की प्रशंसा करने वाले, कभी ज्ञान की प्रशंसा करने वाले वाक्य कहे। ऐसे व्यामिश्र अथवा मिश्रित वाक्यों से मेरी बुद्धि को आप मोहित कर रहे हैं, ऐसा लगता है। भगवान के वाक्य मोहक नहीं होते। पर जीवों से नहीं समझे जाते होने से मोह होता है। यही स्पष्ट करने के लिए 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। ''मोहित करते हैं'' ऐसा नहीं कह कर मोहित करते हुए से लगते हैं - यह अर्थ निकलता है। अतः मेरी बुद्धि का मोह दूर हो और जिससे मेरा श्रेय अथवा कल्याण हो, ऐसा उपदेश निश्चय करके कहिए।

श्री भगवान उवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ!।।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। 3।।

अन्वयः

अनघ – हे पाप रहित ; सम्बोधन
अस्मिन् – इसमें ; सर्वनाम, स.ए.व. 'इदम्' का
लोके – लोक में, संसार में ; नाम, स.ए.व.पु. 'लोक'
पुरा – पहले, पूर्व में ; अव्यय
मया – मेरे द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व ; 'अस्मत्'
द्विविधा – दो तरह की ; विशेषण, विशेष्य 'निष्ठा'
निष्ठा – श्रद्धा, आस्तिकी बुद्धि ; नाम, प्र.ए.व ; स्त्री. 'निष्ठा'
प्रोक्ता – कही हुई ; भू. कृ, विशेषण, विशेष्य, 'निष्ठा'
सांख्यानाम् – सांख्यतत्त्व जानने वालों की ; नाम, ष, ब, व, पु.
ज्ञानयोगेन – ज्ञानयोग से ; नाम, तृ.ए.व. पु.
च – और ; अव्यय
योगिनाम् – योगियों की ; नाम, ष.ब.व.पु. 'योगिन्'
कर्मयोगेन – कर्मयोगसे ; नाम, तृ.ए.व. 'पु.'

श्लोकार्थ – हे अनघ! इस लोक में पहले मैंने दो प्रकार की निष्ठा कही है :
1. सांख्यों की ज्ञानयोग से 2. योगियों की कर्म योग से।

विवेचन – ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने पूर्व में तुम्हें जो कुछ कहा उसे तुमने चित्त लगाकर श्रवण नहीं किया। मैंने दो प्रकार की निष्ठा कही – 1. सांख्यों की ज्ञानयोग से निष्ठा। इसमें सर्व का त्याग आवश्यक है। 2. योगियों की (निष्ठा)। इसमें मैंने योग का वर्णन किया, वैसे कर्म योग से निष्ठा। अपने – अपने अधिकारानुसार, ये दोनों, योग्य ही हैं। जिसे जिस निष्ठा का अधिकार हो उसे वही ग्रहण करना योग्य है। अधिकार भेद में तो सभी की सम्मति है। इसीलिए

शास्त्र में कहीं ज्ञान को और कहीं भक्ति को पुरुषार्थसाधक कहा गया है। इसमें मोह करने का कोई कारण नहीं है।

न कर्मणाम् अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। 4।।

अन्वयः

पुरुष : – पुरुष ; नाम, प्र.ए.व. पु.
न – नही ; अव्यय
तु – तो
कर्मणाम् – कर्मों का ; नाम, ष.ब.व. नपु. 'कर्मन्'
अनारम्भात् – कर्म का आरम्भ नहीं करने से ; नाम, पं.ए.व.
नैष्कर्म्यम् – कर्मों की फल रहितता ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'नैष्कर्म्य'
अश्नुते – प्राप्त करता है ; क्रि. व.कातृ. पु.ए.व. 'अश्' 5 गण
न, च – और, नहीं ; अव्यय
सन्यसनात् – छोड़ना पड़ता है ; नाम, पं.ए.व.
एव – ही ; अव्यय
सिद्धिम्–सिद्धि को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'सिद्धि'
समधिगच्छति – प्राप्त करता है ; क्रि. व. काल; तृ.पु.ए.व. 'सम् + अधि + गम्' 1 गण

श्लोकार्थ – कर्म का आरम्भ नहीं करने से पुरुष नैष्कर्म्य को नहीं पा लेता है, वैसे ही कर्म के सन्यास से ही सिद्धि को प्राप्त नहीं कर लेता है।

विवेचन – योगमार्ग वाले कर्मका आरम्भ ही न करें तो उससे उन्हें नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता वरन् बुद्धियोग से कर्म करें तो ही उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है और पुरुषार्थ सिद्ध होता है। उसी प्रकार सांख्यमार्गवाले मात्र कर्मका त्याग करें तो उसीसे उनको सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती किन्तु आगे इस अध्याय के 17–18 श्लोक में जो वर्णित है उस प्रकार रहने से उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है।

अतः तुम जैसे कर्म के अधिकारियों को कर्म त्याग से अथवा सांख्य से भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर् गुणैः।। 5।।

अन्वयः

हि – निश्चय पूर्वक ; अव्यय
कश्चित् – कोई ; सर्वनाम, प्र.ए.व.
जातु – निश्चित ; अव्यय
क्षणम् – क्षण ; नाम, प्र.ए.व. ; क्षण
अपि – भी ; अव्यय
अकर्मकृत् – कर्म नहीं करने वाले, अकर्मण्य ; नाम, प्र.ए.व.
न – नहीं ; अव्यय
तिष्ठति – खड़ा रहता है ; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व ; 'स्था' 1 गण
हि – निश्चय ; अव्यय
सर्व – सभी ; सर्वनाम, प्र.ए.व. पुरुष – पुरुष
प्रकृतिजैः – प्रकृति से उत्पन्न हुए ; नाम, तृ.ब.व.
गुणैः – गुणों से ; नाम, तृ. ब.व.
अवशः – जो स्वयं के वश में नहीं ; नाम, प्र.ए.व ; पु.
कर्म – कर्म ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
कार्यते – करवाते हैं ; क्रि. कर्मणि, कोझल कारक भेद, व. काल. तृ.पु.ए.व ; 'कृ' 8 गण अव्यय।

श्लोकार्थ – किसी एक क्षण के लिए भी कोई कर्म किए बिना नहीं रहता है क्योंकि प्रकृति के गुण सभी को परवश (विवश) कर कर्म कराते हैं।

विवेचन – प्रारब्ध कर्म का आश्रय तो जीवन मुक्त भी देह रहने तक करते ही हैं तो अन्य की बात ही क्या? प्रकृति के सत्वादि गुण सभी को परवश करके उनसे

कर्म कराते हैं। अतः किसी भी समय क्षणमात्र के लिये भी कोई कर्म किये बिना रह नहीं सकता।

श्रीभागवत् के अध्याय 1/1/11 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 6।।

अन्वय :

यः – जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.
विमूढात्मा – जिसका आत्मा विशेष मोहित है ; विशेषण, विशेष्य 'सः'
कर्मेन्द्रियाणि – कर्म में प्रवृत्त इन्द्रियां ; नाम, द्वि.ब.व. नपु.
संयम्य – संयम में रखकर ; विधेय कृदन्त
इन्द्रियार्थान् – इन्द्रियों के अर्थों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु.
मनसा – मन से ; नाम, तृ.ए.व. ; 'मनस्' नपु.
स्मरन् – रक्षण करते हुए ; व. कृदन्त, विशेषण, विशेष्य 'यः'
आस्ते – रहता है ; क्रि. व.काल ; तृ.पु. ए.व ; 'आस्' 2 गण आत्मने
सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्'
मिथ्याचारः – मिथ्या आचरणवाला ; नाम, प्र.ए.व. विशेषण, विशेष्य 'सः'
उच्यते – कहलाता है ; क्रि.व. काल ; कर्मणि, तृ.ए.व ; 'वच्' 2 गण

श्लोकार्थ – जो मूढ अन्तः करणवाला कर्मेन्द्रियों का संयम कर मन से इन्द्रियों के अर्थों का स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचारी कहलाता है।

विवेचन – कोई भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता तथापि कोई ऐसा मूढ अन्तः करणवाला होता है (जो) कि हाथ – पांव आदि इन्द्रियों का संयम कर मन से ही विषयों का स्मरण किया करता है। हमने कर्म का त्याग किया है –

ऐसा दिखावा करके जो मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण किया करता है वह मिथ्याचारी - दाम्भिक है। इसीलिए कहा गया है कि - सांख्य में त्याग कहा गया है तो वहां मन से भी त्याग ही है। त्याग नहीं हो सके तो योगमार्ग (योग्य है)। योग सिद्ध होने पर कृतार्थता होती है। इसके लिए कुछेक प्रक्रिया पुराणों में वर्णित है। ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कही गई है। सांख्य और योग का समान फल है। कर्म का त्याग होने पर संन्यास प्राप्त होता है (यह दोनों का फल है)। परन्तु मन से यदि पुनः (विषयों का) स्मरण हो तो विघ्न उत्पन्न होता है। अतः कर्म करना (योगमार्ग) उत्तम है। इसलिए कर्म का त्याग कर मन से इन्द्रियों के अर्थों का स्मरण करना बहुत ही अनर्थकारक है। ऐसा करने वाला मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन!।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् असक्तः स विशिष्यते।।7।।

अन्वयः

अर्जुन - हे ! अर्जुन ; सम्बोधन
यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'यत्'
तु - तो, और ; अव्यय
इन्द्रियाणि - इन्द्रियां ; नाम, द्वि.ब.व ; नपु.
मनसा - मन से ; नाम, तृ.ए.व. 'मनस्'
नियम्य - नियम में रखकर ; विधेय कृदन्त
कर्मेन्द्रियैः - कर्मेन्द्रियों से ; नाम, तृ.ब.व.
कर्मयोगम् - कर्मयोग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.
आरभते - आरम्भ करता है ; क्रि.व.काल ; तृ.पु.ए.व. 'आ+रभ्' 1 गण आत्मने
सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तद्' पु.
असक्तः आसक्ति रहित ; विशेषण, विशेष्य, 'सः'
विशिष्यते - विशेष है ; क्रि.व. काल ; तृ.पु.व. कर्मणि वि+शिष् 7 गण

श्लोकार्थ - पर हे अर्जुन! जो इन्द्रियों को मन से नियम में रखकर आसक्ति रहित होकर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग आरम्भ करता है वह उत्तम है।

नियतं कुरु कर्म त्वं धर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेद् अकर्मणः।।8।।

अन्वयः

त्वम् - तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
नियतम् - नियत किए हुए ; विशेषण, विशेष्य 'कर्म'
कुरु - कर ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण
कर्म - कर्म ; नाम, द्वि.ए.व ; 'कर्मन्' नपु.
हि - निश्चय ; अव्यय
अकर्मणः - नहीं किये हुये कर्मों को करना ; नाम, पं.ए.व. 'अकर्मन्' नपु.
कर्म - कर्म ; नाम, प्र.ए.व.
ज्यायः - श्रेष्ठ ; विशेषण, विशेष्य, 'कर्म'
अस्ति - है ; क्रि.व.काल. तृ.पु.ए.व. 'अस्'
च - और ; अव्यय
अकर्मणः - कर्म नहीं करते हुए, कर्म किये बिना ; नाम, पं. ए.व.
ते - तेरी, सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
शरीर यात्रा - शरीर का निर्वाह ; नाम, प्र.ए.व. 'स्त्री'
अपि न - भी नहीं ; अव्यय
प्रसिद्धयेत् - प्रसिद्ध होता है, क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व ; 'प्र + सिद्ध 4 गण'

श्लोकार्थ - तू कर्म अवश्य कर, कारण कि अकर्म के बजाय कर्म उत्तम है। तू कर्म नहीं करेगा तो तेरी शरीर यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

विवेचन - तू कर्म का अधिकारी है अतः अवश्य कर्म कर। अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है। कर्म किये बिना शरीर यात्रादि भी सिद्ध नहीं होगी। इसीलिए भगवदीयों को अनासक्त भाव से कर्म करना ही उत्तम है।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसंगः समाचर।। 9।।

अन्वयः

यज्ञार्थात् – **यज्ञरूप प्रयोजन द्वारा** ; नाम, पं.ए. 'यज्ञः एवं अर्थः इति' कर्मधारय

कर्मणः – **कर्म से** ; कर्म के अतिरिक्त ; नाम, पं.ए.व. नपु. 'कर्मन्'

अन्यत्र – **दूसरा, दूसरे काम में** ; अव्यय

अयम् – **यह** ; विशेषण, विशेष्य 'लोकः'

लोकः – **लोक** ; नाम, प्र.ए.व.

कर्मबन्धनः – **कर्म है बन्धन जिसका** ; नाम, प्र.ए.व. विशेषण, विशेष्य 'लोकः' ''**कर्म एवं बन्धनम् यस्य इति**'' **बहुव्रीहि**

कौन्तेय – **अर्जुन** ; सम्बोधन

तदर्थम् – **उसके लिए, यज्ञ के लिए** ; तद्धित, चतुर्थी निमित्तम

मुक्तसंगः – **जो संग से छूट गये हैं** ; नाम, प्र.ए.व. 'मुक्तः संगः यस्य इति' बहुव्रीहि

सन् – होकर

कर्म – **कर्म, काम** ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'कर्मन्'

समाचर – **आचरण कर** ; वर्त. काल. क्रि. आज्ञार्थ, द्वि. पु.ए.व. 'सम् + आ + चर्' 1 गण

श्लोकार्थ – यज्ञार्थ कर्म से अन्यत्र इस लोक के लिए (कर्मों में लगे रहने से) कर्म से बन्धन होता है। हे कौन्तेय! संग से मुक्त होकर यज्ञार्थ कर्म कर।

विवेचन – सांख्यवाले ''आत्मा के बिना अन्य सर्व बन्धनकर्ता हैं'' – ऐसा मानते हुए कर्म नहीं करने के लिए कहते हैं किन्तु यह मत शास्त्रानुकूल नहीं है। ''यज्ञो वै विष्णुः – यज्ञ विष्णु है'' – श्रुति के इस प्रमाण के आधार पर यज्ञ का अर्थ भगवान होता है। यज्ञार्थ कर्म का तात्पर्य है – भगवदर्थ कर्म, भगवत्सेवा आदि। भगवदर्थ कर्म के सिवा अन्य कर्म, जैसे काम्यकर्म, परधर्म

आदि इस लोक में बन्धन कारक हैं। किन्तु यज्ञार्थ कर्म से बन्धन नहीं होता है। अतः हे कौन्तेय ! यज्ञार्थ कर्म कर। किसी भी पदार्थ में आसक्ति न रखते हुए यज्ञार्थ कर्म कर।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। 10।।

अन्वय :

पुरा – **पूर्व में** ; अव्यय

प्रजापतिः – **ब्रह्मा** ; नाम, प्र.ए.व.

सहयज्ञाः – **यज्ञों के साथ** ; विशेषण, विशेष्य, 'प्रजाः, यज्ञेन सहितः' अव्ययीभाव

प्रजाः – **प्रजाको** ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री.

सृष्ट्वा – **उत्पन्न करके** ; विधेय कृदन्त

उवाच – **बोला** ; क्रि. पूर्ण भूतकाल तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण

अनेन – **इससे** ; सर्वनाम, तृ.ए.वं. 'इदम्' का पु.

यूयं – **तुम सब**

प्रसविष्यध्वम् – **वृद्धि प्राप्त करो** ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ब.व. प्र + सू भविष्यकाल

एषः – **यह (यज्ञ)** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'एतद्' का पु.

वः – **तुम्हें** ; सर्वनाम, च.ब.व. 'युष्मद्'

इष्टकामधुक् – **इच्छित काम को देने वाला** ; विशेषण, विशेष्य 'यज्ञः इष्टान् कामान् दोग्धि इति' उपपद

अस्तु – **हो, बनो** ; क्रि. आज्ञार्थ, तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण

श्लोकार्थ – पहले, आदि काल में, यज्ञ के साथ प्रजा उत्पन्न करके प्रजापति ने कहा ''इससे तुम वृद्धि प्राप्त करो। यह तुम्हें इष्ट काम को देने वाला हो।''

विवेचन – सर्गप्रकरण में शास्त्रों में बतलया गया है कि ब्रह्मा ने यज्ञ एवं प्रजा उत्पन्न की। इसलिए कर्म अवश्य करने चाहिये। यह बताने के लिये यहां से

चार श्लोक कहे गये हैं। पहले यज्ञ और यज्ञ के अधिकारी ब्राह्मणादि प्रजा, ब्रह्मा ने ही उत्पन्न की और प्रजा को कहा कि यज्ञ से तुम वृद्धि प्राप्त करो। यज्ञ तुम्हारे लिए इष्टकाम का प्रदाता हो। ऐसा वरदान ब्रह्मा ने प्रजा को दिया हुआ है। यहां काम्य कर्म की प्रशंसा की गई है ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि यज्ञ को कामधेनुरूप कहा गया है। अतः यज्ञादि अवश्य करने लायक विहित कर्म किसी भी प्रकार की कामना से रहित होकर करने से मोक्ष तक प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार यज्ञ सर्व पुरुषार्थ देने वाले होने से इन्हें कामधेनु कहा गया है। आगे भी यही कहा जा रहा है।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। 11।।

अनेन – इसके द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व ; 'इदम्'
देवान् – देवों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'देव'
भावयत् – समृद्ध करो (पोषण) ; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ब.व. 'भू' 1 गण
ते – वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व. विशेषण, विशेष्य 'देवाः'
देवाः – देवगण ; नाम, प्र.ब.व.
वः – तुम्हें ; सर्वनाम, द्वि.ब.व.
भावयन्तु – समृद्ध करें ; क्रि. आज्ञार्थ, तृ.पु.ब.व. 'भू' 1 गण
एवम् – इस प्रकार ;
परस्परम् – एक दूसरे को ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
भावयन्तः – समृद्ध करते हुए ; प्रेरक व. कृ.
परम् – परम, महान ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
श्रेयः – कल्याण ; नाम, द्वि.ए.व. ; 'श्रेयस' नपु.
अवाप्स्यथ – प्राप्त करोगे ; क्रि.भवि. द्वि.पु.ए.व. 'अव + आप्' 5 गण

श्लोकार्थ – तुम इससे देवों की वृद्धि करो और वे देव तुम्हारी वृद्धि करें। परस्पर वृद्धि करते हुए परम श्रेय को प्राप्त करोगे।

विवेचन – इन यज्ञों से तुम देवों को समृद्ध करो। देव तुम्हें समृद्ध करें। देवों को हविष प्रदान कर तुम देवों को समृद्ध करो और देव तुम्हें यज्ञ के साधन देकर समृद्ध करें। यों करते हुए (तुम) परमश्रेय अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करोगे।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यान्ते यज्ञभाविताः।
तैर् दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।। 12।।

अन्वयः
यज्ञभाविता : – यज्ञ की भावना वाले, यज्ञ से समृद्ध हुए; भू.कृ.विशेषण, विशेष्य, 'देवाः'
देवाः – देव; नाम, प्र.ब.व.
वः – तुम्हें; सर्वनाम, च.ब.व. 'युष्मद्'
इष्टान् – इच्छित्; विशेषण, विशेष्य, 'भोगान्'
भोगान् – भोगों को; नाम, द्वि.ब.व; पु. 'भोग'
दास्यन्ते – देंगे; क्रि.भवि.काल, तृ.पु.ब.व; 'दा' 3गण
तैः – उनके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ब.व. 'तद्'पु.
दत्तान् – दिये हुए भोग; कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'भोगान्'
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.; 'यद्' पु.
एभ्यः – ऐसों को; सर्वनाम, च.ब.व. 'इदम्' पु.
अप्रदाय – नहीं देकर; विधेय कृदन्त
हि – निश्चय; अव्यय
भुंक्ते – भोगता है; क्रि.व.काल, स.पु.ए.व.
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तद्' पु.
एव – भली भांति; अव्यय
स्तेनः – चोर; नाम,प्र.ए.व.पु.

श्लोकार्थ : कारण कि यज्ञ से वृद्धि को प्राप्त(समृद्ध) देवता तुम्हें इच्छित भोग प्रदान करेंगे । उनके द्वारा प्रदत्त को उन्हें अर्पित किये बिना जो भोग करता है वह चोर ही है।

विवेचन : वृष्टि आदि द्वारा देवता जो पदार्थ देते हैं वे पदार्थ उनको दिये बिना जो भोगता है वह चोर ही है। दूसरे की तथा दूसरे के लिए ही तय की हुई वस्तु में ''यह मेरी है'' ऐसी बुद्धि रखकर उससे स्वयं का पोषण करना चोरी है। ऐसा करने से परमपुरूषार्थ प्राप्त करने में अयोग्यता आती है। इतना ही नहीं बल्कि वह नरक में गिरता है। (रामानुज)

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। 13।।

अन्वयः

यज्ञशिष्टाशिनः - यज्ञ से अवशिष्ट को खानेवाले; विशेषण, विशेष्य, 'ते' यज्ञस्य शिष्टं.....''यज्ञशिष्टं अश्नुवन्ति इति'' उपपद
सन्तः - सन्त पुरूष; नाम, प्र.ब.व.पु. 'सत्'
सर्वकिल्बिषैः - सर्व पापों से; तृ.ब.व.नपु. 'किल्बिष'
मुच्यन्ते - मुक्त होते हैं; क्रि.कर्मणि, व. काल. तृ.पु.ब.व. 'मुच्' 6गण
ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.
पापाः - पापी; विशेषण,विशेष्य 'ते'
आत्मकारणात् - शरीर के पोषण के लिए; नाम,पं.ए.व.
पचन्ति -पकाते हैं; क्रि.व.काल, तृ.पु.ब.व. 'पच्' 1 गण
ते - वे लोग; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'तत्'
तु - तो; अव्यय
अघम् - पाप को; नाम, द्वि.ए.व.
भुञ्जते - खाते हैं, भोगते है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ब.व. 'भुज्' 7गण

श्लोकार्थ : यज्ञ करने के बाद अवशिष्ट रहे हुए का भोग करने वाले सर्व पापों से मुक्त हो जाते हैं। जो पापी लोग स्वयं के लिए ही अन्न पकाते हैं वे तो पाप का ही भोग करते हैं।

विवेचन : पांच प्रकार के यज्ञ भगवान का ही स्वरूप हैं। इसलिए यज्ञ करने के उपरांत अवशिष्ट रहे अन्नादि भगवान की ही प्रसादी होने से उसका भोग करने

से सर्व पापों से मुक्ति मिलती है। परंतु जो पापी इस प्रकार नहीं करके स्वयं ही पहले भोग करते हैं वे तो पाप ही भोगते हैं। ऐसे भोग का परिणाम पाप ही होने से ऐसे भोग को 'पाप' कहा गया है। (रामानुज)

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।। 14।।

अन्वयः

अन्नात् - अन्न से; नाम, पं. ए.व. नपु. 'अन्न'
भूतानि - प्राणी; नाम, प्र.ब.व. नपु.
भवन्ति - होते है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ब.व. 'भू' 1 गण
पर्जन्यात् - वर्षा से; नाम, पं.ए.व.
अन्नसंभवः - अन्न का उत्पन्न होना; प्र.ए.व. नाम
यज्ञात् - यज्ञ से; नाम, पं.ब.व.पु.'यज्ञ'
पर्जन्यः - वृष्टि; नाम, क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व. 'भू' 1गण
भवति - होता है; क्रि.व.काल. तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण
च - और; अव्यय
यज्ञः - यज्ञ; नाम, प्र.ए.व.पु.
कर्मसमुद्भवः - कर्म को उत्पन्न करना; विशेषण, विशेष्य 'यज्ञः'

श्लोकार्थ : अन्न से प्राणी (उत्पन्न)होते हैं, पर्जन्य से अन्न होता है। यज्ञ से पर्जन्य होता है। यज्ञ कर्म से होते हैं।

विवेचन : यहां से दो श्लोक तक (14/15) उत्पत्ति प्रकार पर ध्यान दे तो भी कर्म करने (ही) चाहिए, ऐसा उपदेश करते हैं। प्राणी मात्र का निर्वाह अन्न से होता है। वर्षा होने से अन्न पकता है। यज्ञ करने से वर्षा होती है। यज्ञात्मक भगवद्रूप की उत्पत्ति कर्म से भली प्रकार होती है, अर्थात् पुरूष द्वारा द्रव्य कमाया जाना आदि कार्य रूप कर्म करने से यज्ञात्मक भगवान का प्राकट्य होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवंविद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। 15।।

अन्वयः

हे पार्थ त्वं - हे पार्थ तू।

कर्म - कर्म; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

ब्रह्मोद्भवम् - ब्रह्म से उत्पन्न हुआ; विशेषण, विशेष्य, 'कर्म'

विद्धि - समझ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण

च - और; अव्यय

ब्रह्म - वेद; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

अक्षरसमुद्भवम् - अक्षर में से उत्पन्न हुआ; विशेषण, विशेष्य, 'कर्म'

तस्मात् - अतः; अव्यय

सर्वगतम् - सभी जगहों पर जाने वाला, सर्वव्यापी ; विशेषण, विशेष्य, 'ब्रह्म', 'स्वस्मिन् गतम्' उपपद

ब्रह्म-ब्रह्म ; नाम, प्र.ए.व. 'ब्रह्मन्' नपु.

नित्यम् - सर्वदा ; अव्यय

यज्ञे - यज्ञ में ; नाम, स.ए.व.पु. 'यज्ञ'

प्रतिष्ठितम् - रहा हुआ ; कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'ब्रह्म'

श्लोकार्थ - कर्म को तू ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान। ब्रह्म का उद्भव अक्षर में से होता है। अतः व्यापक ब्रह्म यज्ञ में नित्य स्थित है।

विवेचन - कर्म का उद्भव ब्रह्म अर्थात् वेद में से होता है अथवा कर्म का उद्भव ब्रह्मा-प्रजापति से हुआ है। ब्रह्म अर्थात् वेद अक्षर ब्रह्म में से उत्पन्न हुए हैं। यह व्यापक अक्षर ब्रह्म यज्ञ में नित्य स्थित है। प्रजापति ने ब्रह्म से अभिन्न ही यज्ञ पूर्व में किये हैं और ऊपर बताए गए प्रकार से यज्ञ करने का उपदेश किया है। अतः यज्ञ में ब्रह्म नित्य स्थित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ! स जीवति।। 16।।

अन्वयः

पार्थ - अर्जुन ; सम्बोधन

यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ;'यद्' पु.

इह - यहां, इस लोक में ; अव्यय

एवम् - इस प्रकार ; अव्यय

प्रवर्तितम् - प्रचलित हुए ; भू.कृ. विशेषण, विशेष्य, 'चक्रम्'

चक्रम् - चक्र, कर्म रूप चक्र ; नाम, द्वि.ए.व. नपु.

न - नहीं ; अव्यय

अनुवर्तयति - अनुसरण करता है ; क्रि. प्रेरक, व. काल, तृ.पु.ए.व. 'अनु + वर्त्' 1 गण

सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तद्' पु.

इन्द्रियारामः - इन्द्रियलम्पट ; विशेषण, विशेष्य, 'सः'

अघायुः- पापमय वृत्ति वाला ; विशेषण, विशेष्य, 'सः'

मोघम् - व्यर्थ, निष्फल ; अव्यय

जीवति - जीता है ; क्रि.व. काल. तृ. पु.ए.व. 1 गण 'जीव्'

श्लोकार्थ - हे पार्थ! इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो यहां अनुसरण नहीं करता वह इन्द्रियों में ही सुख मानने वाला पापमय जीवन जीने वाला वृथा ही जीता है।

विवेचन - इस प्रकार प्रजापति द्वारा उपदेशित एवं प्रवर्तित कर्म - चक्र का अथवा कर्म के अनुशासन का जो पुरुष अनुसरण नहीं करता और इसीलिए यज्ञार्थ कर्म नहीं करता है उस इन्द्रियों में अथवा इन्द्रियों के विषयों में ही रमण करने वाले का आयुष्य पापमय है, अतएव उसका जीवन व्यर्थ है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते।। 17।।

अन्वयः

तु-तो ; अव्यय

यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'यद्' पु.

मानव : - मनुष्य ; नाम, प्र.ए.व.पु.

आत्मरतिः - आत्मा में रति वाला ; विशेषण, विशेष्य, 'मानवः'

एव च - ही और ; अव्यय

आत्मतृप्तः - आत्मा में, कृतार्थ हुआ ; विशेषण, विशेष्य, 'मानव'

च - इसके अतिरिक्त और ; अव्यय

आत्मनि - आत्मा में ; नाम, स.ए.व. 'आत्मन्'

एव - ही ; अव्यय

संतुष्टः - संतोष प्राप्त ; विशेषण, विशेष्य, 'मानवः' कृदन्त

स्यात् - होता है ; क्रि. तृ.पु.ए.व ; विधेय काल 'अस्' 2 गण

तस्य - उसके लिए, उसको ; सर्वनाम, ष.ए.व. ; 'तद्'

कार्यम् - कार्य ; नाम, प्र.ए.व. नपु.

न - नहीं ; अव्यय

विद्यते - बताया है ; क्रि. कर्तरि, व. काल, तृ. पु.ए.व. 'विद्' 4 गण

श्लोकार्थ - परन्तु जो मनुष्य आत्मतृप्त और आत्मा में ही रमण करने वाला है और आत्मा में ही संतुष्ट रहता है उसे कुछ भी करना आवश्यक नहीं है।

विवेचन - इस प्रकार यह उपदेश देकर कि योगमार्गीय पुरुष को स्वार्थ की सिद्धि के लिए कर्म करना चाहिए, अब यहाँ से दो श्लोक (17-18) तक यह बताते हैं कि सांख्यमार्गीय को ज्ञान की ही आवश्यकता है, कर्म की नहीं। 'परन्तु' शब्द सूचित करता है कि अब पृथक मार्ग की बात कही जा रही है। जो मनुष्य आत्मतृप्त, आत्मा में ही रमण करने वाला हो और आत्मा से ही संतुष्ट रहता हो उसे तो कुछ भी कार्य करने की आवश्यकता नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः।। 18।।

अन्वयः

इह - इस लोक में ; अव्यय

तस्य - उसका ; सर्वनाम, ष.ए.व ; 'तद्'

कृतेन - कृति से, कार्य से ; कृदन्त, विशेषण, विशेष्य 'कर्मणा'

एव न - ही नहीं ; अव्यय

अर्थः - अर्थ, लाभ ; नाम, प्र.ए.व. 'अर्थ'

च - और ; अव्यय

अकृतेन - काम नहीं करने से ; विशेषण, विशेष्य, 'कर्मणा'

कश्चन - कोइ भी ; विशेषण, विशेष्य 'अर्थः'

अर्थः अस्ति - है, प्रयोजन है ; क्रि.पद.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

च न - और नहीं ; अव्यय

अस्य - इसका ; सर्वनाम, ष.ए.व. ; 'इदम्'

सर्वभूतेषु - सब प्राणियों में ; नाम, स.ब.व. ; नपु.

कश्चिद् - कोई - कोई ; विशेषण, विशेष्य, 'अर्थव्यपाश्रयः'

अर्थव्यपाश्रयः - अर्थ का संबंध ; नाम, प्र.ए.व. ; पु.

अस्ति - है ; क्रि. व.काल, तृ.पु.ए.व ; 'अस्'

श्लोकार्थः- उसे कर्म करने से अथवा नहीं करने से कुछ भी अर्थ (प्रयोजन) नहीं और उसका सभी प्राणियों से किसी भी प्रकार के अर्थ के लिए आश्रय नहीं (होता)।

विवेचन - उसे कर्म करने से पुण्यादि अर्थ प्राप्त नहीं होता तथा इसी प्रकार कर्म नहीं करने से उसे पापादि का कोई प्रत्यवाय होने वाला नहीं। देवादि सर्व प्राणियों में से किसी भी प्राणी से कोई भी अर्थ प्राप्त करने हेतु उसे आश्रय नहीं करना होता।

तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः।। 19।।

अन्वयः

तस्मात् – इसलिये ; अव्यय

त्वम् – तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व ; 'युष्मत्'

असक्तः – आसक्ति रहित ; कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'त्वम्'

सततम् – हमेशा ; अव्यय

कार्यम् – कर्तव्य करना ; विशेषण, विशेष्य 'कर्म'

कर्म – काम; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'कर्मन्'

समाचर – अच्छी तरह से आचरण कर ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'सम+आ+ चर्' 1 गण

हि – निश्चय ; अव्यय

असक्तः – आसक्ति रहित ; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषः'

कर्म – काम ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. 'कर्मन्'

आचरन् – आचरण करता हुआ ; व. कृ. विशेषण, विशेष्य 'पुरुषः'

पुरुषः – मनुष्य ; नाम, प्र.ए.व.

परम् – परम को ; नाम, द्वि.ए.व.

आप्नोति – प्राप्त करता है ; व.का.तृ.पु.ए.व. 'आप्' 5 गण

श्लोकार्थ – इसलिये असक्त रहकर निरन्त कर्तव्य कर्म कर, कारण कि असक्त रहकर कर्म करने वाला पुरुष पर (परमपद) को प्राप्त करता है।

विवेचन – तुझे सांख्य का ज्ञान नहीं है अतः तेरे लिए आसक्ति रहित होकर कर्म करना ही उत्तम है। इस प्रकार आसक्ति रहित होकर कर्म करने से परम पद की प्राप्ति होती है अथवा 'असक्त रहकर' अर्थात् भगवान के लिए कर्म करने वाला हो। इस प्रकार अर्थ करने का प्रयोजन यह है कि कोई भी देहाभिमानी पुरुष कोई भी कर्म कामना बिना करता ही नहीं है।

शंका – 'प्रतिदिन संध्या करना' – इस प्रकार के नित्य कर्मों का कुछ भी फल शास्त्र में वर्णित नहीं है इसलिए कामना बिना कोई कर्म करता ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

समाधान – ऐसा नहीं मानना चाहिए, कारण कि ऐसे कर्म करने की शास्त्राज्ञा होने से ऐसे कर्मों का भी कामनायुक्त फल है, ऐसी कल्पना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त ऐसे कर्म करने से विघ्न दूर होते हैं। यह भी फल ही तो है। जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञ का फल स्वर्ग है वैसे ही विघ्नों का नाश ऐसे नित्य कर्मों का फल है। ऐसा फल न हो तो कोई नित्यकर्मों में प्रवृत्त ही नहीं होगा। अतः इस श्लोक में यही कहा गया है कि भगवान की प्राप्ति की कामना से कर्म करने चाहिए। यह विषय आगे स्पष्ट किया जाएगा।

कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि।। 20।।

अन्वयः

जनकादयः – जनक व अन्य ; नाम, प्र.ब.व.पु.

आसक्तिरहितेन – आसक्तिरहित

कर्मणा – कर्म से ; नाम, तृ.ए.व. 'कर्मन्'

एव – ही ; अव्यय

संसिद्धिम् – सिद्धि, मोक्ष ; नाम, द्वि.ए.व.

आस्थिताः – प्राप्तकर्ता ; विशेषण, विशेष्य, 'जनकादयः'

लोकसंग्रहम् – लोकहित को ; नाम, द्वि.ए.व.

अपि – भी ; अव्यय

संपश्यन् – देखते हुए ; व. कृदन्त, विशेषण, विशेष्य, 'त्वम्'

त्वम् – तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'

कर्तुम – करने को ; हेत्वर्थ कृदन्त. एव –भलीभांति

अर्हसि – योग्य है ; क्रि.व.काल., द्वि.पु.ए.व. 'अर्ह' 1 गण

श्लोकार्थ – जनकादि ने कर्म से ही संसिद्धि प्राप्त की है। लोकसंग्रह को दृष्टिगत रखते हुए भी तुझे कर्म करना उचित है।

विवेचन – कर्म करने में सदाचार भी प्रमाण है। यह स्पष्ट करने के लिए कहते

हैं कि जनकादि ने भी अनासक्त रहकर संसिद्धि अथवा जीवनमुक्तावस्था प्राप्त की है। अथवा जनकादि ने कर्म से संसिद्धि अर्थात् ज्ञान की सिद्धि प्राप्त की है अतः तुझे ज्ञानसिद्धि का अभिमान हो तो भी तुझे कर्म करना योग्य है। लोकसंग्रह की ओर दृष्टि रखकर भी कर्म करना योग्य है। इसका कारण नीचे के श्लोक में बताते हैं।

यद् -यद् आचरति श्रेष्ठः तत् - तद्देवतरो जनः।।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस् तदनुवर्तते।। 21।।

अन्वयः

श्रेष्ठः - उत्तम ; विशेषण, वि. 'जनः'।
यद्यद् - जो - जो ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'यद्' नपु.
आचरति - आचरण करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'आ + चर्' 1 गण
इतरः - दूसरा ; सर्वनाम, विशेषण, वि. 'जनः'
जनः - मनुष्य ; नाम, प्र.ए.व.
अपि - भी ; अव्यय
तद्तद् - वैसा - वैसा ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
एव - ही ; अव्यय (अनुकुरुते = अनुकरण करता है)
सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तद्' पु.
यत् - जो कुछ ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.
प्रमाणम् - प्रमाण, नाम, द्वि.ए.व.
कुरुते - करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'कृ. 8 गण'
तद् - उसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'तद्' नपु.
लोकः - लोक ; नाम, प्र.ए.व.।
अनुवर्तते - अनुसरण करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अनु + वृत्' 1 गण

श्लोकार्थ : श्रेष्ठ पुरुष जैसे-जैसे आचरण करता है, वही-वही अन्य लोग करते हैं। वह जो भी प्रमाण रूप से स्वीकार करता है उसका लोग अनुसरण करते हैं।

विवेचन : श्रेष्ठ पुरुष के आचरण का लोग अनुसरण करते होने से तथा वह जो

कुछ प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है उसका अनुसरण करते होने से ऐसे पुरुष का लोक संग्रह के लिए अर्थात लोग भी उसके अनुसार आचरण करें - इस प्रयोजन से उसका कर्म करना उचित है।

श्री भागवत् के अध्याय 1/19/8 के संदर्भ में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानावाप्तम् अवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। 22।।

अन्वयः

पार्थ - अर्जुन ; सम्बोधन
मे (मह्यम्) - मेरे लिए ; सर्वनाम, च.ए.व. 'अस्मद्'
त्रिषु - तीनों में ; विशेषण, विशेष्य 'लोकेषु'
लोकेषु - लोकों में ; नाम, स.ब.व.
किञ्चन - कोई भी ; विशेषण, विशेष्य, 'कर्तव्य'
कर्तव्यम् - काम ; नाम, प्र.ए.व.
न - नहीं ; अव्यय
अस्ति - है ; क्रि.व.काल. तृ.पु.ए.व ; 'अस्' 2 गण
च - और ; अव्यय (किञ्चिदपि - कुछ भी)
अनवाप्तम् - नहीं प्राप्त करने योग्य ; विशेषण, विशेष्य, 'कर्तव्यम्'
वा - अथवा
अवाप्तव्यम् - प्राप्त करने योग्य ; विशेषण, विशेष्य 'कर्तव्यम्'
न - नहीं ; अव्यय, (अस्ति तथापि अहम् - है फिर भी)
कर्मणि - कर्म में ; नाम, स.ए.व.
एव - ही, मात्र ; अव्यय
वर्ते - मैं व्यवहार करता हूँ ; क्रि.व.काल पु.ए.व. 'वृत्' 1 गण

श्लोकार्थ – हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरे लिए कोई कर्तव्य (कर्म करने की बाध्यता) नहीं है। कुछ भी अप्राप्त, प्राप्त करना नहीं है, तथापि मैं कर्म में प्रवृत्त हूँ। (कर्म करता हूँ।)

विवेचन – लोक संग्रह हेतु कर्म करने वालों में स्वयं का ही दृष्टांत यहां से तीन श्लोक (22-24) से देते हैं। मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है उसी तरह कोई कर्म करने की आवश्यकता भी नहीं है फिर भी लोक संग्रह के लिए कर्म में प्रवृत्त होता हूँ।

विशेष – यह श्लोक सिद्ध पुरुषों के प्रकार को बतलाता है। जिन्हें परम सिद्धि की प्राप्ति हुई है उनके लिए कोई कर्तव्य शेष रहता नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उन्हें प्राप्त न हो। कारण कि समस्त वस्तुओं का अन्तर्भाव तो परम-तत्त्व कृष्णरूप से उन्हें प्राप्त होता ही रहता है। तथापि ये सिद्ध पुरुष कर्मों को वहन करते हैं। इस कारण से कि इनके आधार पर अन्य जीव प्रवृत्ति करें और आगे बढ़े। क्रिया उपकारक ही होनी चाहिये क्रिया उपकारक न हो तो वह क्रिया दोषवान है। स्वार्थ सिद्ध करने हेतु की गई क्रिया पापमय है। देखने में कदाचित लाभदायक दिखाई दे परंतु सूक्ष्मतया देखने पर वहां फलासक्ति होने के कारण (वह क्रिया) दोषवान बनती है और दोषमय होने से अन्य के लिए उपकारक नहीं है।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः।। 23।।

अन्वयः

हि – निश्चय ; अव्यय
यदि – जो ; अव्यय
अहम् – मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
अतन्द्रितः – सजग रहकर, आलस्य रहित ; विशेषण, विशेष्य, वि. 'अहम्'
जातु – निश्चित ; अव्यय

कर्मणि – कर्म में ; नाम, स.ए.व. 'कर्मन्' नपु.
न – नहीं ; अव्यय
वर्तेयम् – मैं वर्तन करूँ ; क्रि.विध्यर्थ, प्र.पु.ए.व. 'वृत्' 1 गण
तर्हि – तो ; अव्यय
पार्थ – अर्जुन ; सम्बोधन
सर्वशः – सब प्रकार से ; अव्यय
मनुष्याः – मनुष्य ; प्र. ब. व ; पु. 'मनुष्य'
मम – मेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मद'
वर्त्म – मार्ग ; नाम, द्वि.ए.व ; नपु.
अनुवर्तन्ते – चलते हैं, अनुसरते हैं ; क्रि.व.काल.तृ. पु.ब.व. 'अनु+वृत्' 1 गण

श्लोकार्थ – हे पार्थ! मैं आलस्य रहित होकर कभी कर्म में प्रवृत्त न होऊं तो (उचित नहीं होगा क्योंकि) मनुष्य सर्व प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।

विवेचन – श्रीभागवत् 10/77/30 पर सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान है।

उत्सीदेयुर् इमे लोक न कुर्यां कर्म चेद् अहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्याम् उपहन्याम् इमाः प्रजाः।। 24।।

अन्वयः

चेत् – जो ; अव्यय।
अहम् – मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
कर्म – कार्य ; नाम, द्वि.ए.व. 'कर्मन्' नपु.
न – नहीं ; अव्यय
कुर्याम् – करूं ; क्रि. विध्यर्थ, प्र.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण
इमे – ये ; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'इदम' पु.

लोकाः - लोक ; नाम, प्र.ब.व.
उत्सीदेयुः - उच्छेद हो जाए, भ्रष्ट हो जाएँ ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व. 'उत् + सद्' (सीद्) परस्मै.
च - और ; अव्यय
अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व.
सङ्करस्य - वर्ण संकर का, मिश्रित का ; नाम, ष.ए.व. पु. 'संकर'
कर्ता - करने वाला ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'कर्तृ'
स्याम् - होऊँ ; क्रि. विध्यर्थ, प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण
च - और ; अव्यय
इमाः - यह ; सर्वनाम, द्वि.ब.व. स्त्री. 'इदम्'
प्रजाः - प्रजा ; नाम, द्वि.ब.व. स्त्री 'प्रजा'
उपहन्याम् - नाश करूं ; क्रि. विध्यर्थ, प्र.पु.ए.व ; 'उप+हन्' 2 गण परस्मै.

श्लोकार्थ - यदि मै कर्म नहीं करूं तो इन लोकों का नाश हो जाए। मैं वर्ण संकरता का कर्ता बनूं और इस प्रजा का नाश करूं।

विवेचन - यदि मैं कर्म न करूं तो मनुष्य भी कर्म नहीं करेंगे, जिससे इस श्लोक में वर्णित लोकों (प्रजा) का नाश आदि परिणाम प्राप्त हों।

सक्ता कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत!।
कुर्याद् विद्वान् तथा सक्तःचिकीर्षुः लोकसंग्रहम्।। 25।।

अन्वयः
भारत - अर्जुन ; सम्बोधन
कर्मणि - कर्म में ; नाम, स.ए.व. 'कर्मन्' नपु.
सक्ताः - आसक्त ; विशेषण, विशेष्य, 'अविद्वंसः'
अविद्वांस - अविद्वान, मूर्ख ; नाम, प्र.ब.व ; 'विद्वान्' पु.
यथा - जिस प्रकार ; अव्यय
कुर्वन्ति - करते हैं ; क्रि.व.काल ; तृ.पु.ब. 'कृ' 8 गण परस्मै

तथा - उसी प्रकार ; अव्यय
असक्तः - आसक्ति रहित ; विशेषण, विशेष्य, 'विद्वान्' पु.
विद्वान् - विद्वान ; नाम, प्र.ए.व. 'विद्वान्' पु.
अपि - भी ; अव्यय
लोकसंग्रहम् - लोक संग्रह के लिए ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'लोक संग्रह'
चिकीर्षु - चाहता ; इच्छा दर्शक विशेषण वि. 'विद्वान'
कुर्यात् - करे ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए. 'कृ' 8 गण परस्मै.

श्लोकार्थ - हे भारत ! अविद्वान लोग जिस प्रकार आसक्त हो कर्म करते हैं उसी प्रकार विद्वान लोकसंग्रह की इच्छा से आसक्ति रहित होकर कर्म करें।

विवेचन - ब्रह्मसूत्र 3/3/42 पर किये गये अणुभाष्य के अनुसंधान में इस श्लोक का विवरण है।

हे भारत ! जैसे अविद्वान अथवा मूर्ख लोग कर्म में आसक्त होकर फलेच्छा से विषयों का त्याग करने की शक्ति नहीं होने से कर्म करते हैं वैसे ही विद्वान अर्थात् आत्मा और अनात्मा अथवा जड़ का स्वरूप जानने वाले लोगों को कर्म करने चाहिये। किन्तु कर्म में आसक्ति रहित होकर कर्म करने चाहिये। कर्म तो विद्वान अथवा अविद्वान दोनों ही करते हैं किन्तु अविद्वान कर्म में आसक्ति रखते हैं और विद्वान आसक्ति रहित होकर लोक संग्रह के लिये कर्म करते हैं।

न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान युक्तः समाचरन् ।। 26।।

अन्वयः
विद्वान् - विद्वान; नाम, प्र.ए.व. 'विद्वस्'
कर्मसंगिनाम् - कर्म में आसक्ति वाले; नाम, ष.ब.व.पु. 'कर्मसंगिन्'
अज्ञानाम् - अज्ञानियों का; नाम, ष.ब.व. ; विशेषण, पु. 'अज्ञ'

बुद्धिभेदम् – बुद्धि का भ्रम, बुद्धि में भ्रम, धर्म में अश्रद्धा करना; नाम, द्वि.ए.व.;पु. 'बुद्धौभेद:' सप्तमी तत्पुरूष
न – नहीं; अव्यय
जनयेत् – उत्पन्न करे; क्रि. विध्यर्थ काल, तृ.पु.ए.व. 'जन्' 4गण, कारक भेद परस्मै, किन्तु स्वयम् = परंतु स्वयं
युक्त: – योग्य स्वरूप में, योग्य; विशेषण, वि. 'विद्वान'
सर्वकर्माणि – सब कर्मों का; नाम, द्वि.ब.व.'नपु.'
समाचरन् – अच्छी तरह कर्म करने वाला; व.कृ. विशेषण, वि. 'विद्वान' (तानपि – इन लोगों को भी)
जोषयेत् – प्रवृत्ति करानी; क्रि. कारक भेद विध्यर्थ काल, तृ.पु.ए.व. 'जुष्' *10*गण, परस्मै.

श्लोकार्थ – विद्वान को कर्म संगी अज्ञों की बुद्धि का भेद नहीं करना चाहिए किन्तु (स्वयं) युक्त होकर कर्म करते हुए सब कर्म सिखाना चाहिए।

विवेचन – अज्ञ पुरूष कर्म के संगी हैं अथवा वे कर्मासक्त हैं, अत: उन्हें अन्य उपदेश नहीं देना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उनको बुद्धि का भेद/भ्रम होता है, अत: वे उपदेश ग्रहण नहीं कर सकते और कर्मों का भी त्याग कर देते हैं। वे चित्त की शुद्धि के लिए कर्म नहीं करते हैं किन्तु दूसरे पण्डितों को कर्म करते हुए देखकर फल प्राप्ति हेतु ही कर्म करते हैं। अत: विद्वानों को स्वयं बुद्धियोग से कर्म करते करते अज्ञों को सब कर्मों में प्रवृत्त करते हुए धीरे-धीरे सिखाना चाहिये।

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।
अहंकार-विमूढात्मा 'कर्ताहम्' इति मन्यते ।। 27।।

अन्वय:
सर्वश: – सब तरह से; अव्यय
कर्माणि – कर्म; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'कर्मन्'

प्रकृते: – प्रकृति के; नाम, ष.ए.व.स्त्री. 'प्रकृति'
गुणै: – गुणों द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु. 'गुण'
क्रियमाणानि – करते हुए; कर्मणि, व.कृ. 'कर्माणि'
(**सन्ति तथापि – है तो भी;** क्रि.तृ.पु.ब.व.'अस्' अव्यय)
अहंकारविमूढात्मा – अहंकार से विशेष मोहित चित्तवाला; 'अहंकारेण विमूढ आत्मा यस्य स: इति' बहुव्रीहि विशेषण, विशेष्य, 'पुरूष:'
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
कर्ता – करने वाला ; विशेषण, विशेष्य 'अहम्'
इति – ऐसा; अव्यय
मन्यते – मानता है; क्रि.तृ.पु.ए.व. 'मन्' 4गण आत्मने.

श्लोकार्थ – सब ओर से प्रकृति के गुण कार्य करते हैं। अहंकार से विमूढ अन्त: करण वाला ''मैं कर्ता हूँ '' ऐसा मानता है।

विवेचन – विद्वान और अविद्वान दोनों ही कर्म करते हैं पर दोनों मे क्या भेद हैं, यह दो श्लोकों (27-28)से और स्पष्ट करते हैं। रीति पूर्वक विचार करने पर जो सिद्ध होता है वही यहाँ कहते हैं। ब्रह्मवादी सांख्यमतानुसार जगत के कर्ता, भोक्ता सर्व धर्म के आश्रय पुरूषोत्तम ही हैं। श्री पुरूषोत्तम अपने अंश से अक्षर, काल, प्रकृति, पुरूष तथा आत्मा रूप होते हैं। श्रुति भी कहती है कि ''उसने स्वयं के दो विभाग किये, पति और पत्नि रूप हुए''। उसमें कार्य करने वाली प्रकृति है। पुरूष मात्र प्रकृति के संबंध से भोक्ता बनता है। अत: कर्म करने वाले(तो)प्रकृति के गुण ही हैं किन्तु अहंकार से मूढ अन्त:करण वाला जीव ''मैं कर्ता हूँ'' – ऐसी अपनी विपरीत मतिवश मानता है। वस्तुत: कमल और पलाश के पत्ते कभी जल से भीगते नहीं हैं उसी प्रकार पुरूष प्रकृति के गुणों से लिप्त नहीं होता तथापि इन्द्रियों के गुण कर्म करते हैं। वह कर्म मैं करता हूं- ऐसा जीव विपरीत मति से मानता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुण - कर्मविभागयो:।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।। 28।।

अन्वयः

तु – परन्तु ; अव्यय

महाबाहो – अर्जुन ; सम्बोधन

गुणकर्मविभागयोः – गुण और कर्म के विभाग को ; नाम, ष.द्वि वचन

तत्त्ववित् – तत्त्व को जानने वाला ; ''तत्त्वं वेत्ति इति'' उपपद. नाम, प्र.ए.व.प.

गुणाः – गुण ; नाम, प्र.ब.व. 'पू'

गुणेषु – गुणों में ; नाम, स.ब.व.पु.

वर्तन्ते – बरतते हैं ; क्रि. व काल, तृ.पु.व. 'वर्त' 1 गण आत्मने

इति – इस प्रकार ; अव्यय

मत्वा – मानकर ; संबंधक भूतकृदन्त

कर्मषु – कर्मों में ; नाम, स.ब.व.पु.

न – नहीं ; अव्यय

सज्जते – आसक्त होता है ; क्रि. व. काल, तृ.पु.व. 'वर्त' 1 गण आत्मने

श्लोकार्थ – परंतु हे महाबाहो! गुण और कर्म के विभाग के तत्व को जानने वाला, यह मानकर कि गुण ही गुणों में बरतते हैं, इनमें आसक्त नहीं होता।

विवेचन – गुण और कर्म के विभाग को जानने वाला अर्थात् गुण ही कर्म करते हैं, केवल आत्मा से कर्म नहीं होता, ऐसा समझने वाला कर्म में आसक्त नहीं होता। कारण कि इन्द्रियों के गुण ही विषयों में रहे हुए गुणों के लिए प्रवृत्ति करते हैं, आत्मा प्रवृत्ति नहीं करता। वे (गुण और कर्म के विभाग को जानने वाले) ऐसा मानते हैं।

प्रकृतेर् गुणसम्मूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन् न विचालयेत्।। 29।।

अन्वयः

प्रकृतेः – प्रकृति के ; नाम, ष.ए.व ; स्त्री 'प्रकृति'

गुणसम्भूढाः – गुणों से पूर्णतया मोहित ; विशेषण, विशेष्य 'पुरुषाः'

गुणकर्मसु – गुण और कर्मों में ; नाम, स.ब.व.

सज्जन्ते – आसक्त होते हैं ; क्रि.व.काल. तृ. पु. ब.व. 'सज्ज्' 1 गण आत्मने

तान् – उनको ; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'तद्' पु.

अकृत्स्नविदः – पूर्णतः नहीं जानने वाले ; विशेषण विशेष्य 'पुरुषाः'

मन्दान् – मूर्ख, मूढ, आलसी ; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुषान्'

कृत्स्नविद् – सब जानने वाले ; विशेषण, विशेष्य 'पुरुषः'

न – नहीं ; अव्यय

विचालयेत् – चलायमान करे ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए. व ; वि + चल् 1 गण

श्लोकार्थ – प्रकृति के गुणों से मूढ हुए गुणों के कर्म में आसक्त होते हैं। ऐसे पूर्णतः अजान, मन्द मतिवालों को पूर्ण जानने वाला 'ज्ञानी' चलायमान नहीं करे।

विवेचन – प्रकृति के गुणों से मूढ हुए अज्ञानी गुणों के कार्य, कर्म में आसक्त होते हैं। कारण यह है कि उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं है और वे मन्द मति हैं। ऐसे लोगों को पूर्ण जानकार, ज्ञानी विचलित नहीं करें। यहाँ 26 वें श्लोक में कही गयी बात को दृढ़ करने के लिये पुनः कहा गया है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर् निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। 30।।

अन्वयः

अध्यात्मचेतसा – अध्यात्म वृत्ति से, अध्यात्म चित्त से ; नाम, तृ. ए.व.नपु.'चेतस्'

सर्वाणि – सभी ; विशेषण, विशेष्य 'कर्माणि'

कर्माणि – कर्मों को ; नाम, द्वि.ब.व.नपु.

मयि – मुझ में ; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मद्' पु.

संन्यस्य – त्याग कर, समर्पण करके ; सं. भूत कृदन्त सम् + न्यस्

निराशीः - निराश ; 'निर्गतं आशा ममत्वं यस्य इति' बहुव्रीहि, विशेषण विशेष्य पुरुषः

निर्ममः - ममता रहित ; ''निर्गतं ममत्वं यस्य इति'' बहुव्रीहि, विशेषण विशेष्य पुरुष

च - और ; अव्यय

विगतज्वरः - संताप रहित ; 'विगतः ज्वरः यस्य इति' बहु. विशेषण, विशेष्य 'पुरुषः'

भूत्वा - होकर ; सं. 'भूतकृदन्त'

युध्यस्व - युद्ध कर ; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'युध्' 4 गण आत्मने.

श्लोकार्थ - आध्यात्मिक चित्त से समस्त कर्मों को मुझे अर्पण करके आशा रहित, ममतारहित और ताप रहित होकर युद्ध कर।

विवेचन - अध्यात्म चित्त से सर्व कर्म मुख्य साक्षात्कर्ता देवदेव मुझ प्रभु को समर्पण करके युद्ध कर। फलाकांक्षा से रहित होकर, कर्म से प्राप्त होते फल में ममता रहित होकर तथा 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार का कोई ताप अथवा उद्वेग रखे बिना युद्ध कर। यहाँ कर्म के फल, ममता तथा कर्तापन - ऐसा तीन प्रकार का त्याग कहा गया है। त. दी. निबंध 2/275 में भी यही अर्थ कहा गया है।

विशेष : जीव का स्वभाव तो किये गये कर्म का उपयोग करने का ही होता है। जीव वासनामय है, अतः इसके कर्म सामान्यतः दोषरूप ही होते हैं। दोषरूप कर्म के फल भी दोष रूप बन जाते हैं। एतदर्थ जीव सदैव दोषबद्ध ही रहता है। जब तक जीव दोषबद्ध है तब तक उसे मुक्ति की आशा रखना ही व्यर्थ है, इस कारण जीव किसी प्रकार की आशा रखे बिना ममत्व का त्याग कर शुद्ध चित्त से स्वयं के कर्मों को भगवान को समर्पित कर दे तो दोष रहित बन सकता है और कर्म बन्धन से मुक्त होता है। सन्ताप सदैव कर्म से ही पैदा होता है। कर्म अर्पण करने के बाद सन्ताप रहता नहीं है, कारण कि कर्म देवाधिदेव को अर्पित होते हैं। देवाधिदेव शुद्ध चित्तवाले के समस्त दोष दूर करने में

सामर्थ्यवान हैं। जीव परतन्त्र हैं पर भगवान स्वतंत्र है। परतन्त्र का धर्म, मात्र स्वतंत्र को सर्वनिवेदन करना है।

ये मे मतमिदं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।। 31।।

अन्वयः

ये - जो ; सर्वनाम, प्र.ब.व ; 'यत्' पु.

अपि - भी ; अव्यय

मानवाः मनुष्य ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'मानव'

अनुसूयन्तः - आसूयारहित ; विशेषण, वि. 'मानवाः'

च - और ; अव्यय

श्रद्धावन्तः - श्रद्धावान ; विशेषण. वि. 'मानवा'

नित्यम् - सदैव ; अव्यय

मे - मेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मद्' पु.

इदम् - यह ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'इदम्' नपु.

मतम् - मत को ; नाम, द्वि.ए.व. नपु.

अनुतिष्ठन्ति - अनुसरण करता है ; क्रि. वर्तमान काल, तृ.पु.ब.काल अनु + स्था 1 गौण. परस्मै.

ते - वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'तद्' पु.

कर्मभिः - कर्मों से ; नाम, तृ.ब.व. नपु. 'कर्मन्'

मुच्यन्ते - मुक्त होते हैं ; क्रि. व. काल ; तृ.पु.ब. व. 'मुच्' 6 गण कर्मणि, आत्मने

श्लोकार्थ - जो श्रद्धावन्त असूयारहित मनुष्य, मेरे इस मतानुसार, नित्य आचरण करते हैं, वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।

विशेष - संशयग्रस्त चित्त से किया गया समर्पण, शुभफलदायक नहीं होता है। संशय श्रद्धा से दूर होता है। श्रद्धा से विश्वास पनपता है। विश्वास देवाधिदेव के

प्रति हो तो सभी ओर से शुभभावनायुक्त बनने से, क्रिया के परिणाम में मददगार होता है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टान् अचेतसः।। 32।।

ये – जो ; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'यत्' पु.
तु – भी ;
अव्यय
अभ्यसूयन्तः – दोषबुद्धियुक्त; विशेषण,विशेष्य 'पुरूषाः'
अचेतसः – मूर्ख; विशेषण विशेष्य 'पुरूषान्'
एतद् – वे, ये; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.व. काल.
मे– मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मद्'
मतम् – मतको; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
न – नहीं; अव्यय
अनुतिष्ठिन्ति – अनुसरण करते है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ब.व. 'अनु+स्था' 1गण, परस्मै.
तान् – वे लोग; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'तद्' पु.
सर्वज्ञानविमूढान् – सब मोहित है; विशेषण, विशेष्य 'तान' (त्वम् – तूं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत')
नष्टान् – नाश को प्राप्त; विशेषण, विशेष्य 'पुरूषान्'
विद्धि – ज्ञान; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व; 'विद्' 2गण परस्मै

श्लोकार्थ – परन्तु जो, असूयावाले, मेरे इस मतानुसार नहीं चलते हैं, उन सर्वज्ञान विमूढ, शून्य हृदय वालों को तू नष्ट हुआ समझ।

विवेचन – इस श्लोक में भगवान जीव को अपना समझ, कुछ विशेष बोध कराते हैं। आशा, ममता और असूया जीव में स्वाभाविक दोष हैं। इनके अतिरिक्त भी दोष हैं। किन्तु ये तीन दोष उसे(जीव को) आगे बढ़ने की

सामग्री तैयार करने में बाधकरूप बनते हैं। इसीलिये भगवान यहां कहते हैं कि, इन तीन दोषों को जीव को दूर करना चाहिए, और मुझ में अचल श्रद्धा रखकर, स्वयं का स्वाभाविक कार्य करते, जो दोष हो भी जाय तो भी, उन्हें दूर करने के लिए, श्लोक संख्या 31 में कही गई प्रतिज्ञानुसार, कर्म समर्पित होने से, भगवान समर्थ बनते है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर् ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। 33।।

यतः – क्योंकि ; अव्यय
भूतानि – प्राणी ; नाम, प्र.ब.व. नपु. 'भूत'
प्रकृतिम् – प्रकृति को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'प्रकृति'
यान्ति – जाते हैं ; क्रि. व.काल, तृ.पु.ब.व. ; 'या' 2 गण परस्मै
ज्ञानवान् – ज्ञानी ; विशेषण, विशेष्य, 'पुरुष' अपि – भी ; अव्यय
स्वस्याः – स्वयं की ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'स्त्री'
प्रकृतेः – प्रकृति के ; नाम, ष.ए.व. 'स्त्री'
सदृशं – प्रमाण से ; जैसा, अव्यय
चेष्टते – चेष्टा करता है ; क्रि. व. काल. तृ.पु.ए.व. 'चेष्ट्' 1 गण
निग्रहः – रोकना ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'निग्रह'
किम् – कैसे, क्या ; अव्यय
करिष्यति – करेंगे, क्रि. भविष्यकाल, तृ.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण परस्मै

श्लोकार्थ – ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है। प्राणी प्रकृति के अनुसार ही गमन करते हैं, निग्रह क्या करेगा?

विवेचन – आपके मतानुसार चलने से ऐसा उत्तम फल मिलता हो तो, सभी इस प्रमाणानुसार क्यों नहीं चलते? इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं कि, साधारण मनुष्य तो क्या, पर शास्त्रज्ञ सात्विक पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं। अमुक प्रकार की चेष्टा करने में प्रकृति ही कारणरूप

है। प्रकृति से मोहित हुआ मनुष्य 'मैं ही ज्ञानी हूँ' ऐसा मानकर दूसरों का कहा, सुनता तक नहीं। ज्ञानीजन को जब यह प्रकृति, इस प्रकार वश करती है, तो अज्ञानियों की यह दशा हो तो उसमें कहना ही क्या? अतः सात्विक, राजस और तामस सभी प्राणी, जैसे तिनका वायु का अनुसरण करता है, वैसे अपनी-अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं। प्रकृति इतनी प्रबल होने कारण ''निग्रह'' अर्थात् उपदेश अथवा इन्द्रियों का संयम कैसे कर सकता है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता है।

विशेषः - क्रियाभावना के बजाय शरणभावना जितनी अधिक होती है, उसी प्रमाण में प्रकृति अर्थात् स्वभाव पर संयम अधिक रखा जा सकता है। शरणभावना के अभाव में स्वभाव निग्रह अनुपयोगी होता है, इतना ही नहीं, अपितु प्रकृति स्वयं के बलपर, जीव को वशकर उसे अधिक थकाती है। अतः शरणभावना-भगवत्शरणभावना ''मैं भगवान के शरण हूँ'' इस तरह की भावना करते रहना चाहिए।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर् न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।34।।

इन्द्रियस्य - इन्द्रियों का; नाम, ष. ए.व.नपु. 'इन्द्रिय'
अर्थे - अर्थ में, भोग मे; नाम, स, ए, व, पु, 'अर्थ'
यौ - वे, जो; सर्वनाम, प्र, द्विवचन।
व्यवस्थितौ - रहे हुए हैं; भू.कृ.विशेषण, विशेष्य 'रागद्वेषौ'
स्तः -है; क्रि. पद
तयोः - उन दोनों का; सर्वनाम, ष, द्वि वचन, 'तद्' पु.
वशम् - वश; नाम, द्वि.ए.व.पु.।
न - नही; अव्यय
आगच्छेत् - आना चाहिए; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व., तृ.पु.ए.व. 'आ+गम्' 1 गण परस्मै

हि - निश्चत; अव्यय
अस्य - आना; सर्वनाम, ष, ए, व, 'ईदम'
तौ - वे दोनो; सर्वनाम, प्र.द्वि. वचन, पु
परिपन्थिनौ - विघ्नकर्ता; विशेषण, विशेष्य, 'रागद्वेषौ'
स्तः - है।

श्लोकार्थ - इन्द्रियों का इन्द्रियार्थ के प्रति राग-द्वेष है, इन के वशीभूत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये इसके लिए (पुरूष के लिये) विघ्न कारक हैं।

विवेचन - प्रत्येक इन्द्रिय को स्वयं के इष्ट अर्थ के प्रति राग होता है, और, अनिष्ट अर्थ के प्रति द्वेष होता है। यह राग-द्वेष ही विवेकी पुरूष के लिए विघ्न कारक हैं। विरूद्ध रास्ते पर दौड़ाने वाले हैं, अतः राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए।

विशेष - जीव के दो शत्रु राग और द्वेष प्रकृति के गुणों पर आधारित हैं। इन राग-द्वेष को (जीव) स्वयं के ऐहिक इन्द्रियों के हितार्थ उपयोग में लेता है। जीव मानता है कि राग से मैं इन्द्रिय सुख ले सकता हूँ, और दूसरे के सुख को, स्वयं के पास रहे, द्वेष नामक शत्रु से, छीनकर, स्वयं और सुखी हो सकता हूँ। इस प्रकार से प्राप्त होते सुख में निश्चय से राग-द्वेष ही कारणभूत हैं, पर उसका यह सुख ही उसके लिये दुःख रूप होता है। इसीलिए राग-द्वेष को यहाँ जीव के शत्रु तरीके वर्णित किया है। अन्तः करण में, मोह, काम और क्रोध रहे हुए हैं। काम को 'मोह' भी कह सकते हैं, और क्रोध को 'रोष' भी।

इन्द्रिय धर्म तो इन्द्रियों के प्रयोजन में ही उपयोग में आते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म तो, चालू ही रहता है। और इसके चलते, जिस वस्तु के साथ क्रिया धर्म जुडता है, उसी वस्तु के साथ राग अथवा द्वेष हो जाता है। राग और द्वेष बाह्यभाव हैं। अन्तःकरण में रहे, काम-क्रोध को जगाते हैं। इस प्रकार गुणों में क्षोभ होने से, जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगामी होने के

उपरान्त भी ये दोनों (राग और द्वेष अथवा काम और क्रोध) उसके अवरोधक होते हैं। इसीलिये ये जीव के शत्रु हैं। प्रकृति और उसके गुण भी जीव के शत्रुरूप बनते हैं।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परमर्धो भयावहः ।। 35।।

अन्वय :

स्वनुष्ठितात् - अच्छी तरह से अनुष्ठित्; कृ.विशेषण, विशेष्य, 'परधर्मात्'
परधर्मात् - दूसरे के धर्म से; नाम, पं.ए.व.पु.'परधर्म'
विगुणः - गुण रहित; विशेषण, विशेष्य, 'स्वधर्म'
अपि - भी; अव्यय
स्वधर्मः - स्वयं का धर्म; नाम, प्र, ए, व , पु.
श्रेयान् - श्रेय अधिक श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'स्वधर्मः'
स्वधर्मे - अपने धर्म में; नाम, स.ए.व.पु.
निधनम् - नाश ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
अपि - भी ; अव्यय
श्रेयः - श्रेष्ठ ; विशेषण, विशेष्य, 'निधनम्'
च - और ; अव्यय
परधर्मः- दूसरे का धर्म ; नाम, प्र.ए.व.पु.
भयावहः - भय पैदा करने वाला ; विशेषण, विशेष्य 'परधर्मः'
अस्ति - है ; क्रि. व. काल. तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ - अच्छी तरह से अनुष्ठित् परधर्म के बजाय, स्वधर्म अधिक श्रेष्ठ है, परधर्म भय कारक है।

विवेचन - जीव प्रकृति के वश होने से, राग-द्वेष का त्याग कर, विहित धर्म में प्रवृत्ति नहीं कर सकता, तथापि प्राकृत जीव को भी, राग-द्वेष का त्याग कर, परधर्म का आचरण नहीं करना चाहिये, और स्वधर्म का त्याग नहीं करना

चाहिए, यह कहते हैं। सर्वांग सहित परधर्म का अच्छी तरह से आचरण करने में आए तो भी, इसके करते अंग रहित स्वधर्म का अपूर्ण आचरण श्रेयष्कर है। स्वधर्म के आचरण में मृत्यु तक आवे तो भी श्रेष्ठ है, परन्तु परधर्म तो भय ही उत्पन्न करता है। ऊपर 34 वें श्लोक में कहा गया है कि राग द्वेष के वश नहीं होना चाहिये। 35 वें श्लोक में परधर्म का आचरण करने के बजाय स्वधर्म का आचरण करना कहा गया। यह सब असंभव है, क्योंकि जीव को प्रकृति के अनुसार ही कार्य करने पड़ते हैं, वह स्वयं स्वतंत्र नहीं है। जैसे रोगी शक्तिहीन होने से परतंत्र हो, स्वयं की इच्छा होते हुए भी कार्य करने में समर्थ नहीं, स्वधर्म का आचरण नहीं कर सकता, परधर्म का त्याग नहीं कर सकता। इसका कारण क्या? कौन उसे बल पूर्वक उल्टे रास्ते पर ले जाता है? ऐसी शंका होने पर अर्जुन पूछता है.....

विशेष - अर्जुन देह से क्षत्रिय होने से क्षत्रियधर्म के बजाय कुछ श्रेष्ठ धर्म ब्राह्मण का अथवा संन्यासी का दर्शाता है। फिर भी उस धर्म को अंगीकार करने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा निश्चित दिखाई देता है। ऊपर की दृष्टि से देखने पर यही अर्थ निकलता है, पर वस्तुतः देखा जावे तो अर्जुन नर-जीव है, और उसके उपदेशक वासुदेव-नारायण हैं। अतः अर्जुन का स्वधर्म तो जीव अंश होता है। अतः वासुदेव गुरू और प्राकृत(प्रकृतिवश)शिष्य समान न गिनकर अप्राकृतभाव में ले जाने के लिए से आज्ञा करते हैं कि, तू तेरे जीवधर्म (भगवद्धर्म) का सही तरीके से निर्वाह कर, अंशी के साथ तेरा संबंध कायम रख, और उसकी आज्ञानुसार, योग्यायोग्य का विचार किये बिना, व्यवहार(बर्ताव)कर। तेरे प्रकृतिधर्मानुसार अयोग्य लगे तो भी(वैसे) व्यवहार कर।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरूषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः ।। 36।।

वार्ष्णेय - कृष्ण; सम्बोधन
अथ - बाद में,(अब), अव्यय
अयम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
पुरुषः - पुरुष; नाम, प्र.ए.ब.पु.
बलात् - बल पूर्वक; नाम, पं.,ए.व.
नियोजितः - जुड़ा हुआ; कृ.विशेषण, विशेष्य, 'पुरूष'
इव - जैसे; अव्यय
अनिच्छिन् - अनिच्छुक; वि. का. विशेषण विशेष्य 'पुरूष'
अपि - भी; अव्यय
केन - किसके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'किम्'पु.
प्रयुक्त - प्रायोजित; विशेषण, विशेष्य 'पुरूष'
पापम् - पाप को; अ.अ.नपु.द्वि.ए.
चरति - आचरण करता है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व. 'चर' 1 गण, परस्मै.

श्लोकार्थ - हे वार्ष्णेय ! तब इच्छा न होते हुए भी, मानो बलात् लगा दिया गया हो, किससे प्रेरित होकर वह पाप करता है?

विशेष - जीव का आचरण स्वयं की इच्छा से निर्मित नहीं होता। उसका आचरण प्रकृति के गुणभाव से निर्मित होता है। प्रकृति और उसके गुण भाव सामान्यतः दोषमय होने के कारण, जीव दोषमय कर्मों की ओर आसक्त होता है। अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान उत्तर देते हैं।

श्री भगवान् उवाच्

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महेशनो महापाप्मा विद्धयेनम् इह वैरिणम् ।। 37 ।।

अन्वयः
रजोगुणसमुद्भवः - रजोगुण से उत्पन्न हुए; विशेषण, विशेष्य 'काम'
एषः - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अःतद्'पु.

कामः - काम; नाम, प्र.ए.व.पु. 'काम'
एव - ही; अव्यय
क्रोधः - क्रोध; नाम, प.ए.व.पु.
अस्ति - है; क्रि.व. काल, तृ.पु.ब.व. 'अस्'
एषः - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'एतद्' पु.
महाशनः - महा अशन, बहुत खानेवाला, खा जानेवाला अग्निरूप; महत् अशनम् यस्य इति' बहुव्रीहि विशेषण, विशेष्य 'काम'
च - और; अव्यय
महापाप्मा - महापापी; ''महतू पापम् विद्यते यस्मिन इति'' बहुव्रीहि विशेषण, विशेष्य, 'काम'
अस्ति - है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व. 'अस्'
इह - यहां, इस विषय में;, अव्यय
एनम् - इसका; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्' पु.
वैरिणम - शत्रु; नाम, द्वि.ए.व.पु.
विद्धि -जान, समझ; क्रि.आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'विद्' परस्मै. 2गण।

श्लोकार्थ - रजोगुण से उत्पन्न, बहुत खुराकवाला, महापापी, ये काम है, ये क्रोध हैं। उन्हीं को यहां शत्रु समझ।

विवेचन - राग उत्पन्न करने वाला काम है। भिन्न भिन्न पदार्थ की इच्छारूपी काम ही राग उत्पन्न होने का कारण है। द्वेष उत्पन्न करने वाला क्रोध भी, काम का ही परिणाम है। काम, ही क्रोध है, परंतु काम की उत्पत्ति प्रथम होती है। कामना अपूर्ण रहने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध काम का परिणाम है। काम से बुद्धि का नाश होता है। काम दुष्पूर है, और महापाप कराता है। काम भोग से भी शांत नहीं होता, इसीलिए इसे बहुत खानेवाला कहा गया है। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि ''काम इच्छित पदार्थों के भोग से कदापि शांत नहीं होता है, परंतु हवि से जैसे अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है, वैसे ही पुनः(काम) बढ़ता है।''

काम दुष्पूर होने से महापाप कराता है। अतः स्वयं की इच्छा न होने के उपरांत भी, पुरूष को राग-द्वेष में प्रवृत्त कराकर पापाचरण जबरन करानेवाला यह काम ही है। उसे शत्रु समझ।

धूमेनाव्रियते वह्निर् यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भः तथा तेनेदम् आवृतम् ।। 38।।

अन्वयः

यथा - जिस तरह; अव्यय
धूमेन - धुएँ से; नाम तृ.ए.व. 'धूम' पु.
वह्नि - अग्नि;नाम,प्र.ए.व.पु. 'वह्नि'
च - और; अव्यय
मलेन - मैल से; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मल'
आदर्शः - दर्पण; नाम, प्र.ए.व.,
आव्रियते - ढ़क जाता है: क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व., कर्मणि आ+वृ 5गण
च यथा - और जिस तहर; अव्यय
उल्बेन - झिल्ली,(एक प्रकार का ढक्कन)नाम, तृ.ए.व.पु.
गर्भः - गर्भ; नाम, प्र.ए.व.पु.'गर्भ'
आवृतः - ढःका हुआ; भू.कृ.विशेषण, विशेष्य 'गर्भ'
तथैव -उसी प्रकार; अव्यय
इदम् - ये; सर्वनाम,प्र.ए.व. नपु.
तेन - उसके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'तद्' पु.
आवृत्तम् - ढंका हुआ है; भू.कृ.विशेषण, विशेष्य, 'ज्ञान'

श्लोकार्थः - जैसे धुएँ से अग्नि ढंक जाती है, जैसे मैल से दर्पण ढंक जाता है, जैसे झिल्ली से गर्भ ढंका रहता है, वैसे ही उससे(काम) यह(जीव जगत) ढंका हुआ है।

विवेचन - 'उससे' यानि काम से, सारा जगत ढंका हुआ है। कैसे ढंका हुआ है, यह बताने के लिए तीन दृष्टांत दिये गये हैं।

विशेष - जो जिसका अंश होता है, उसे, उसका ज्ञान, स्वाभाविकतया होता है। कारण कि अंश का अंशी के साथ नित्य संबंध होता है। यह संबंध सभी ओर से है, अतः नवसंबंध कुछ भी उत्पन्न नहीं कर पाता। केवल आसपास के अज्ञान के कारण, स्वयं के नित्य संबंध का भान जीव को नहीं रहता। पर जब ज्ञात होता है कि केवल अज्ञान के कारण, उसका स्वाभाविक ज्ञान लुप्त हो गया है, तब वह लुप्त ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न कर, स्वयं को व्यवस्थित कर लेता है।

आवृतं ज्ञानम् एतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
काम रूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ।। 39।।

च - और; अव्यय
कौन्तेय - कुन्ती का पुत्र; सम्बोधन, ए.व.
एतेन - इसके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु. 'एतद्'
अनलेन - अग्नि से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'अनल'
दुष्पूरेण - पूर्ण न होने वाला; विशेषण,विशेष्य, 'अनलेन'
कामरूपेण - कामरूप; 'कामः रूपं यस्य इति तेन' बहुब्रीहि, विशेषण, विशेष्य 'अनल'
ज्ञानिनः - ज्ञानी का; विशेषण, विशेष्य 'पुरूषस्य'
नित्यवैरिणा - नित्य वैरी; नाम, तृ.ए.व., विशेषण, विशेष्य ''नित्यम् वैरं यस्य इति'' बहुब्रीहि
ज्ञानम् - ज्ञान; नाम, प्र.ए.व. नपु.'ज्ञान'
आवृत्तम् - ढंका हुआ; कृ. विशेषण, विशेष्य 'ज्ञानम्' (अस्ति - है)

श्लोकार्थ - हे कौन्तेय ! ज्ञानियों के नित्य वैरी, इस कामरूपी अग्नि से ज्ञानी का ज्ञान ढंका हुआ है।

विवेचन – गत श्लोक में काम को शत्रु कहा गया है। यहां उसकी शत्रुता बताते हैं। काम अतृप्त है, यह तो पहले कहा ही जा चुका है। शोक और संताप को उत्पन्न करनेवाला होने से इसे अग्नि कहा गया है। अग्नि के समान कठिनाई से तृप्त होनेवाला होने से भी इसे, अग्नि कहना योग्य है। काम द्वारा ज्ञानी का ज्ञान ढंक जाता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानम् उच्यते ।
ऐतैर विमोहयत्येष ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ।।40।।

इन्द्रियांणि – इन्द्रियों को; नाम, प्र.ब.व. नपु.
मनः – मन; नाम, प्र,ए.व.स्त्री. 'मनस्'
च – और; अव्यय
बुद्धिः – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'बुद्धि'
अस्य(कामस्य) – इस काम का; नाम, ष.ए.व. 'इदम्'
अधिष्ठानम् – अधिष्ठान, रहने का स्थान; नाम, ष.ए.व. 'अधिष्ठान'
उच्यते – कहा जाता है; कर्मणि प्रयोग, तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2गण
एषः – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व; 'एतद्'
एतैः – इनके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ब.ब. 'एतद्'
ज्ञानम् – ज्ञान को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'ज्ञान'
आवृत्य – घेर कर, ढंक कर; सं. भूतकृदन्त आ+वृ
देहिनम् – देही को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'देहिन'
विमोहयति – विशेष मोह करता है; कारक, तृ.पु.ए.व.; व.का. वि+मुह् 4 गण परस्मै।

श्लोकार्थ – इन्द्रियां , मन और बुद्धि इसके(काम के) अधिष्ठान कहलाते हैं। इनके द्वारा यह(काम)ज्ञान को ढक कर, देही को मोहित करता है।

विवेचन – काम का स्थान अथवा रहने का स्थल कहते हैं। इन्द्रियां, मन अथवा अन्तःकरण और बुद्धि, ये काम के रहने के स्थान हैं। ये इन्द्रियां, मन और बुद्धि, ज्ञान को ढक कर , जीव को मोह उत्पन्न करती है।

विशेष – काम शब्द 'कम्' धातु से बना हुआ है। 'कम्' धातु का अर्थ चाहना होता है। 'काम' शब्द का अर्थ चाहना अथवा प्रेम। इसे शरीर रूपी घर में स्थान ग्रहण करना होता है, तब यह पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं छठे मन में स्थान बनाता है। इस प्रकार स्थान मिलने के बाद, यह अग्नि को धारण कर लेता है, और जो जो शुभाशुभ भाव आते हैं, उन सबको खा जाता है, फलस्वरूप अग्नि जैसे अन्त में, राख ही देती है, वैसे, यह किसी भी प्रकार के विकास में सहायता किये बिना, प्रत्येक इन्द्रिय को स्वयं के वश में कर लेता है। अब काम को जीतने के उपाय कहते हैं।

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञान-नाशनम् ।। 41।।

तस्मात् – अतः; पं.वि.ए.व. सर्व 'तद'
भरतर्षभ – भरतश्रेष्ठ; सम्बोधन, ए.व.,
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद'
आदौ – प्रारम्भ में; नाम, स.ए.व. 'आदि'
इन्द्रियाणि – इन्द्रियों का; नाम, द्वि.ब.व.नपु.
नियम्य – नियम में रखकर; स. भूतकृदन्त, नि+यम्
हि-निश्चय; अव्यय
एनम् -इसे;द्वि.ए.व
ज्ञानविज्ञाननाशनम् – ज्ञान और विज्ञान को नाश करनेवाला; द्वि.ए.व.,'ज्ञानं च विज्ञानं च ज्ञानविज्ञाने तयोः नाशनम् ईति'' तत्पुरूष.
पाप्मानं – पापी को; विशेषण, विशेष्य, 'काम'
प्रजहि – नाश करके; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व; 3गण 'प्र+हा'

श्लोकार्थ – अतः हे भरतर्षभ! प्रारंभ में इन्द्रियों को वश में रखकर, ज्ञान और विज्ञान का विनाश करने वाले, इस पापी को तू मार।

विवेचन – यह इन्द्रियों में रहता है, और इन्द्रियों से ही मोह उपजाता है। अतः इसे जीतने के लिए प्रथम, इसके अधिष्ठानरूप और कार्य सिद्ध करने में,

सहायभूत, इन्द्रियों को, वश में रख, अथवा नियमन कर, फिर शास्त्रीय ज्ञान और विज्ञान दोनों का नाश करनेवाले इस काम को मार।

विशेष - इन्द्रियों का नियमन कहा, दमन नहीं, फिर भी, दमन की आवश्यकता है, ऐसा लगता है। क्योंकि, काम का निर्वहन इन्द्रियों द्वारा होता है। इन्द्रियां कामना निर्वाहक होने से, इन्द्रियों को रोकने से काम को रोकना संभव है। इनको रोकने में मनोनिग्रहकी बहुत आवश्यकता है। जहां मनोनिग्रह कमजोर होता है, वहां नियमन की आवश्यकता है। कोइ भी प्रकार हो(साधना का)इन्द्रियों के निग्रह की आवश्यकता तो है ही। हठयोग में दमन है और राजयोग में नियमन है। अर्जुन, क्षत्रिय, अर्थात् रजोगुणी, विलासी होने से 'दमन' शब्द नहीं वापर के 'नियमन' शब्द का उपयोग किया है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। 42।।

विद्वांसः - विद्वान;नाम, द्वि.ब.व.
इन्द्रियाणि - इन्द्रियें; नाम, द्वि.ब.व.
शरीरात् - देह से; पं.ए.व.
पराणि - श्रेष्ठ(सूक्ष्म); विशेषण, विशेष्य, 'इन्द्रियांणि'
आहुः - कहते हैं; क्रि.तृ.पु.ब.व; का. 'ब्रू' 2गण
इन्द्रियेभ्यः - इन्द्रियों के बजाय; नाम, प.ब.व;
परम् - श्रेष्ठ; विशेषण, विशेष्य, 'मनः'
मनः - मन;प्र.ए.व.
तु - तो, और-अव्यय।
मनसः - मन के बजाय; नाम, पं.ए.व. 'मनस' नपुं.
परा - श्रेष्ठ-अव्यय, विशेष्य ''बुद्धि''
बुद्धि - बुद्धि; नाम,प्र.ए.व.स्त्री. 'बुद्धि'
अस्ति इत्याहु - है, ऐसा कहते हैं। क्रि पद

यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.; 'यत् ' पु.
तु - तो; अव्यय
बुद्धेः - बुद्धि के बजाय; नाम, पं.ए.व. स्त्री.'बुद्धि'
परतः - पर, सर्व श्रेष्ठ; विशेषण, विशेष्य 'बुद्धि'
अस्ति - है; क्रि.पद, तृ.पु.ए.व. 'अस्'
सः - वे; प्र.ए.व.; 'तत् '(आत्मा अस्ति-आत्मा है)

श्लोकार्थ - इन्द्रियों को पर कहते हैं। इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है, किन्तु, बुद्धि से भी पर वह (काम) है।

विवेचन - यहां ज्ञान से भी बलवान कौन है, यह कह रहे हैं। इन्द्रियों को ज्ञान के विरोध में, पर अथवा बलवती कहा गया है। इन्द्रियों से पर अथवा बलवान मन है, मन से भी अधिक बलवान, बुद्धि को कहा है, तथा बुद्धि से भी अधिक बलवान है वह, काम है। अतः इन्द्रियां ज्ञान की विरोधी हैं, मन से बुद्धि अधिक विरोधी है, और बुद्धि से भी काम अधिक विरोधी है(श्री वल्लभ जी)

विशेष - इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहा गया है। इन्द्रियों के बजाय मन श्रेष्ठ है, मन के बजाय बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। इस श्लोक में आत्मा की श्रेष्ठता बताई गई है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय और देहआत्मा को साधनरूप में प्रदान किये गये हैं। देह के बजाय, इन्द्रियां प्रबल हैं, और इन्द्रियों से भी अधिक मन प्रबल है, और मन से अधिक बुद्धि प्रबल है, बुद्धि से भी अधिक प्रबल आत्मा है। अधिकाधिक प्राबल्य को विचार कर, उसमें चित्त का निरोध आवश्यक होने से आत्मनिग्रह अधिक उपयोगी है। आत्मा को यदि भगवत्संग प्राप्त हो तभी उसका निग्रह शक्य है। इसके निग्रह से सबका निग्रह सम्भव है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानम् आत्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। 43।।

एवम् - इस प्रकार; अव्यय
बुद्धेः - बुद्धि से; नाम, पं.ए.व.स्त्री.

परम् – **श्रेष्ठ(सूक्ष्म)**; द्वि.ए.व. विशेषण, विशेष्य 'आत्मानम्'
आत्मानम् – **आत्मा को**; विधेय कृदन्त
बुद्ध्वा – **जानकर**;विधेय कृदन्त
आत्मना – **आत्मा से, बुद्धि से**; नाम, तृ.ए.व.पु. 'आत्मन्'
आत्मानम् – **आत्मा को, मन को**; नाम, द्वि.ए.ब.पु. 'आत्मन्'
संस्तभ्य – **वश में करके**; विधेय कृदन्त.
महाबाहो – **अर्जुन**;सम्बोधन, ए.व.
इदं कामरूपं – **इस कामरूपको**; विशेषण,विशेष्य 'शत्रुम'
दुरासदम् – **अशान्त रहनेवाले**; विशेषण, विशेष्य 'शत्रुम्'
शत्रुम् – **शत्रुको**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'शत्रु'
जहि – **नाश कर**; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'हन्' 2गण परस्मै.

श्लोकार्थ – हे महाबाहो ! इस प्रकार कामरूपी दुर्जय शत्रु को बुद्धि से पर समझ आत्मा से मन को स्थिर कर, कामरूपी शत्रु का त्याग कर।

विशेष – इस श्लोक में कामरूपी शत्रु का नाश करने में मुख्य साधन आत्मा को माना है, और उसकी मदद आदि में बुद्धि की भूमिका को गिना गया है। आत्मा को भगवद् संबंध है, अत: आत्मा निग्रह कर सकती है। इस प्रकार निग्रह द्वारा, काम नामक मुख्य शत्रु को जीता जा सकता है। जितने अंश में भगवद् संबंध अधिक, उतने अंश में जीत की संभावना अधिक।

इस अध्याय में कर्मयोग का उपेदश दिया गया है। काम और क्रोध बुद्धि के विनाशक होने से ,उनका त्याग करने का उपदेश यहां दिया गया है। इनका त्याग करने के लिये सर्वेन्द्रियों का निग्रह आवश्यक होने से सर्वेन्द्रियों के निग्रह का भी उपदेश दिया गया है। अत: श्रीहरि की ऐसी ही इच्छा होने से उन्हें कर्म का त्याग करवाना हो तो वहां कर्म का त्याग करना उत्तम है। इसीलिये ऐसा उपदेश होता है। परन्तु जहाँ भगवान स्वयं कर्म करवाते हों वहां

कर्म बंधनकारी कैसे हो सकता है ? अत: ऐसे प्रसंग में कर्म करना ही योग्य है। भक्तिमार्गरूपी आत्मयोग में भगवान की जैसी इच्छा दिखाई देती हो उसमें भक्तों को किसी प्रकार का विचार करने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि बिना विचारे भगवान की इच्छानुसार ही आचरण करना उचित है।

इति श्रीमद्भवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णअर्जुनसवांदे ''कर्मयोगो'' नाम
तृतीयोऽध्याय: ।। 3 ।।

।। अध्याय 4 ।।

ज्ञानकर्म सन्न्यास योग

तीसरे अध्याय में योगियों को कर्म करने का उपदेश दिया गया है। अब उक्त कर्मयोग को उत्तम दर्शाने के लिए उसकी परम्परा कहते हैं। परम्परा से प्राचीन होने के कारण कर्मयोग भी नित्य है, ऐसा उपदेश करते हैं। कर्मयोग नित्य होने से उसका आचरण करना चाहिए। सर्वत्र ब्रह्मभाव रखते हुए फल का विचार किए बिना कर्मयोग का ही आश्रय करने से योगी विद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। पिछले दो अध्याय में (2 एवं 3) वर्णित है कि योगबुद्धि से स्वधर्म का आचरण करने से मोक्ष प्राप्त होता है। इसी कर्मयोग का यहाँ भगवान् ब्रह्मभाव से निरूपण करते हैं। और यह निरूपण करने के लिए कि वह परम्परा से प्राप्त है, पहले तीन श्लोक से दर्शाते हुए, उसकी स्तुति करते हैं।

श्रीभगवान् उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् ।।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।1 ।।

अन्वयः

इमम् – यह ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. इद्म पु. ।
अव्ययम् – जिसका व्यय नहीं होता ; अव्यय
योगम् – योग को; नाम, द्वि.ए.व. ।
विवस्वते – विवस्वान को (के लिए) सूर्य को; नाम. च.ए.व. **''वसति इति विवस्वान्''**
अहम् – मैं; प्रोक्तवान्–कहा; व.कृ.विशेषण,वि. ''अहम्'' ।
विवस्वान् – सूर्य ; नाम, प्र.ए.व. (स्व पुत्राय = अपना पुत्र)
मनवे – मनु को; नाम, च.ए.व. ।
प्राह – कहा ; क्रि. अद्यतन भू. काल, तृ.पु.ए.व. ''ब्रू'' 2 गण, आत्मने
च – और ; अव्यय ।

मनुः - मनु ; नाम, प्र.ए.व. (स्व पुत्राय = अपना पुत्र)
इक्ष्वाकवे - इक्ष्वाकु को ; नाम, च.ए.व. ।
अब्रवीत् - कहा; क्रि. अद्यतन भू.काल, तृ.पु.ए.व. ''ब्रू'' 2गण

श्लोकार्थ : मैंने यह अव्यय योग सूर्य को कहा, सूर्य ने मनु को कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को कहा।

विवेचन : योग का फल अव्यय होने से योग को यहाँ अव्यय कहा गया है। यह अव्यय योग मैंने, अर्थात भगवान् विष्णु ने, सर्वप्रथम सूर्य को कहा। ऐसा नहीं है कि मै तुम्हे यह योग युद्ध के लिए उत्साहित करने के उद्धेश्य से कह रहा हूँ बल्कि मन्वन्तर के आरम्भ में ही सम्पूर्ण जगत के उद्धार के लिए मैंने (यह योग) सूर्य को कहा। सूर्य ने मनु को कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को कहा।

विशेष : जीव अलग पड़ा ''विस्फुल्लिंग'' अर्थात चिनगारी होता है अग्नि का समूह भगवान् हैं। स्वाभविक रूप से ही अग्नि अपना भाव जीव को प्रदान करता है और प्रकाशमान जीव को अपना भाव प्रदान करने की विशेष इच्छा करता है। इस कारण से यह ज्ञान विवस्वान को दिया गया है। ''विवस्वान'' अर्थात सूर्य। सूर्य कालाधिपति हैं और इस कारण यह ज्ञान उनको प्रदान किया गया है। इस प्रकार शिष्य परम्परा से अथवा पुत्र परम्परा से यह ज्ञान आगे बढ़ता रहा परन्तु परवर्ती समय में कालक्रम से लुप्त हो गया। अर्जुन को (भगवान् द्वारा) यह ज्ञान कहे जाते समय शंका होती है। अर्जुन मानता है कि कृष्ण उसी के जैसे तथा समान वय के हैं। इसलिए वे सूर्य को ज्ञान कहाँ से दे सकते हैं? क्योंकि सूर्य का जन्म बहुत पहले का है और कृष्णजन्म अर्जुन की मान्यतानुसार समकालीन है। अर्जुन सखा सच्चा है; भक्त सच्चा है परन्तु उसमें लौकिक भाव (देहभाव) होने से उसकी ऐसी मान्यता है। यदि उसमें भगवद्भाव स्फुरित हुआ होता तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यह सही है कि श्रीकृष्ण खुलासा करते हैं परन्तु उसमें (अर्जुन में) भगवद्भाव स्फुरित होने वाले लक्षणों का दान इस स्थान पर भगवान् नहीं करते। विराटस्वरूप का दर्शन

भगवन्माहात्म्य सूचक है। यह माहात्म्य भाव और सखामय स्नेहभाव भवगवद्स्वरूप का कोई विशेष दर्शन कराता है। यह स्वरूप दृष्ट होता है तथा ध्यान में भी उतर सकता है। योग में प्रवेश करने वाले को इस स्वरूप की विशेष रूप से आवश्यक्ता होती है।

एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदु : ।।
स कालेने महता योगो नष्टः परन्तप !।। 2।।

अन्वयः
एवम् -इस प्रकार से; अव्यय ।
परम्पराप्राप्तम् - परम्परा से प्राप्त; विशेषण,वि. ''योगम्''
इमम् - यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''इदम्'' पु. ।
योगम् - योग को; नाम, प्र.ब.व.पु. ।
राजर्षयः - राजर्षि; नाम, प्र.ब.व.पु.
विदुः - जाना ; क्रि. वर्तमान काल, तृ.पु.ब.व. ''विद्'' 2 गण
परं - परन्तु ;
परन्तप - अर्जुन; सम्बोधन, ए.व.
सः - वह; सर्वनाम प्र.ए.व. ''तद्'' पु. ।
योगः - योग; नाम, प्र.ए.व.पु. ''योग''
महता - बहुत ; विशेषण, वि. ''कालेन'' ।
कालेन - काल से ; तृ.ए.व.पु. 'काल'
इह - इस (लोक में) ; अव्यय
नष्टः - नष्ट हो गया; भू. कृ. विशेषण, वि. ''योगः''

श्लोकार्थ : इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षि जानते थे। हे परन्तप! वह योग बहुत समय बीत जाने से यहाँ (इस लोक में) नष्ट हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतद् उत्तमम् ।।3 ।।

अन्वयः

सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तद्''पु. ।

एव – ही; अव्यय

अयम् – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''इदम्''पु. ।

पुरातनः – पुरातन ; विशेषण, वि. ''योग''

योगः –योग; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

अद्य – आज; अव्यय ।

मया – मेरे द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. ''अस्मद्''पु. ।

ते – तुम्हें; सर्वनाम, च.ए.व. ''युष्मद्''

प्रोक्तः –कहा हुआ; कर्मणि, भू.कृ.विशेषण, वि. ''योगः'' ।

हि – निश्चय; अव्यय

त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मत्'' ।

मे– मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. ''अस्मद्''

भक्तः –भक्त; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

च – और; अव्यय

सखा – सखा, प्रिय; नाम, प्र.ए.व. ''सखिन्'' ।

असि – तू है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. ''अस्''2 गण, परस्मै

इति – इसलिए; अव्यय।

एतद् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.

उत्तमम् – उत्तम्; विशेषण, वि. ''रहस्यम्'' ।

रहस्यम् – रहस्य को; योग का गुप्त हित ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''रहस्य'' ।

अस्ति – है; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : तू मेरा भक्त और सखा है इसलिए वही यह पुरातन योग मैंने आज तुम्हें कहा क्योंकि यह उत्तम रहस्य है।

विवेचन : मैं तुम्हें यह योग केवल युद्ध का उत्साह उत्पन्न करने के लिए आज नया नहीं कह रहा हूँ बल्कि अन्य मन्वन्तरों में भी सम्पूर्ण जगत का उद्धार

करने के लिए इस योग का उपदेश किया गया है। वही परम्परा से प्राप्त योग आज मैंने तुम्हें कहा है। यह योग उत्तम रहस्य है परन्तु तू मेरा भक्त और सखा है इसलिए तुझे कहा है।

।। अर्जुन उवाच ।।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।।
कथम् एतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवान् इति ।।4 ।।

अन्वयः

भवतः – आपका; सर्वनाम, ष.ए.व. ''भवत्''

जन्म – जन्म; नाम, प्र.ए.व. नपु. ''जन्म''

तु – तो; अव्यय

अपरम् – परवर्ती; आधुनिक; विशेषण, वि. ''जन्म''

तु – तो; अव्यय

अपरम् – परवर्ती; आधुनिक; विशेषण, वि. ''जन्म''

विवस्वतः – विवस्वान का ; नाम, ष.ए.व. ''विवस्वत्''

जन्म – जन्म; नाम, प्र.ए.व.नपु. ''जन्म''

परम्– पूर्ववर्ती; विशेषण, वि. ''जन्म''

अतः – इससे; अव्यय

एतद् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''एतद्''नपु.

आदौ – आदि काम में; नाम, स.ए.व. स्त्री. ''आदि''

त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मद्'' ।

प्रोक्तवान् – कहा हूआ; कर्तृ भू.कृ. प्र.ए.व. विशेषण, वि. ''त्वम्''

इति कथम् – यह (बात) किस प्रकार; अव्यय ।

विजानीयाम् – मैं समझूँ; क्रि.विध्यर्थ, प्र.पु.ए.+ज्ञा 9 गण

श्लोकार्थ : आपका जन्म बाद में हुआ है। सूर्य का जन्म पहले हुआ है। पूर्व में भी आपने ही योग कहा था, यह मैं कैसे समझूँ ?

विवेचन : भगवान् के अवतार के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त करने के उद्धेश्य से अर्जुन यह प्रश्न असंभव के मिष से पूछता है। आपका जन्म तो आधुनिक समय में हुआ। सूर्य का जन्म तो बहुत समय पहले हो गया था। तब यह कैसे संभव है कि आपने पूर्व में सूर्य को इसका (योग का)उपदेश किया? यहां एक शंका होती है: ''यह कर्मयोग अपने पिछले किसी अन्य जन्म में भगवान् ने सूर्य को कहा होगा और उत्तम पुरूषों को अपने अन्य जन्मों का स्मरण रहना संभव है। अत: भगवान् ने पूर्व श्लोक में जो कहा उसमें विरोध नहीं है। इसके अतिरिक्त अर्जुन जानता था कि मुझे उपदेश देने वाले वासुदेव के पुत्र सबके ईश्वर हैं। क्योंकि वह स्वयं 10वें अध्याय के 12-13 श्लोक में कहता है कि

''सब ऋषि, देवर्षि, नारद, असित, देवल और व्यास आपको शाश्वत, दिव्य पुरूष, आदिदेव, अज और विभु कहते हैं। ''इसके अतिरिक्त युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ आदि प्रसंगों में भीष्म आदि से भी उसने श्रवण किया है कि '' श्रीकृष्ण ही लोकों की उत्पति, प्रभव और लय का स्थान हैं, श्रीकृष्ण के लिए ही यह स्थावर-जंगम समूचा जगत उत्पन्न हुआ है। ''(महाभारत, सभापर्व 38/23)। अत: अर्जुन ने यह जानते हुए भी यह सम्पूर्ण जगत श्रीकृष्ण के अंग का (रूप) है, उक्त प्रश्न क्यों किया?

उक्त शंका के समाधान में कहते हैं कि अर्जुन जानता ही था कि भगवान श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र हैं। इसके बावजूद भी न जानने के मिष से यह प्रश्न करने में उसका आशय यह था कि: सभी त्याज्य पदार्थो के विरोधी,मात्र सबका कल्याण करने में तत्पर, सब के ईश्वर, सर्वज्ञ, सम्यक् संकल्प, जिनको सब काम अपनी इच्छा मात्र से प्राप्त होते हैं उन भगवान् का, कर्म के वशीभूत हुए देवों मनुष्यों आदि की भांति जन्म लेना इन्द्रजाल आदि की तरह मिथ्या है या सच? यदि सत्य है तो उनका जन्म किस प्रकार होता है? उनका देह किस से निर्मित है? उनके जन्म का प्रयोजन क्या है? जन्म कब होता है? किसके लिए होता है? इन सभी प्रश्नों के समाधान के लिए अर्जुन ने यह प्रश्न किया है- यह समझाना चाहते हैं। (रामानुज) ।

।। श्रीभगवान् उवाच ।।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ! ।।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।। 5 ।।

अन्वय:
अर्जुन - अर्जुन; सम्बोधन ।
मे - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. ''अस्मद्''
च - और; अव्यय।
तव - तेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. ''युष्मद्''
बहूनि - कई ; विशेषण, वि.''जन्मानि'' ।
जन्मानि - जन्म; नाम, प्र.ब.व.नपु. ''जन्म''
व्यतीतानि - बीत गए; भू.कृ.विशेषण, वि. ''जन्मानि''।
परन्तप - अर्जुन; सम्बोधन
तानि - उनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व. ''तद्''नपु. ।
सर्वाणि - सब; सर्वनाम, द्वि.ब.व. ''सर्व''नपु.
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मद'' ।
न - नहीं; अव्यय
वेत्थ- जानता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.वि. ''विद'' 2गण ।
अपितु - अपितु; अव्यय
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''अस्मद्'' ।
वेद - जानता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. ''विद'' 2गण

श्लोकार्थ : हे अर्जुन ! मेरे और तेरे कई जन्म हो चुके हैं। हे परन्तप! उन सबको मैं जानता हूँ पर तू नहीं जानता ।

विवेचन : मेरे कई जन्म अथवा अवतार हो चुके हैं। इसलिए मैंने पूर्व में जब मेरा अवतार हुआ उस समय सूर्य को उक्त कर्मयोग बताया था। यहाँ कहा गया है कि मेरे कई अवतार हो गए हैं। अत: सभी अवतारों के हेतुभूत श्रीकृष्ण पूर्ण

अवतारी हैं। ये सब अवतार मैं (श्रीकृष्ण) जानता हूँ। कारण कि, नित्यसिद्ध ज्ञान इत्यादि सब शक्तियाँ मुझ में हैं। यह बात तू नहीं जानता। मैं ईश्वर होने से सर्वज्ञ हूँ अतः सब जानता हूँ। तू जीव होने से सर्वज्ञ नहीं है इसलिए नहीं जानता है। ईश्वर सर्वज्ञ है; जीव सर्वज्ञ नहीं है। इस प्रकार यह दर्शाया गया है कि जीव और ईश्वर के स्वरूप में ब्रह्मवाद की दृष्टि से भेद है। भगवान् ने अपने अनेक जन्म होना बताया है और अर्जुन के जन्मों का दृष्टान्त भी कहा। अतः इस प्रकार अपने (पूर्व) जन्म सत्य होने का बोध कराया। (रामानुज)

अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् ।।
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।। 6।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. "अस्मद्" ।
अव्ययात्मा - शाश्वत आत्मा; विशेषण, वि. "अहम्"
अजः - अजन्म; विशेषण, वि. "अहम्" ।
सन् - होते हुए भी; व.कृ. विशेषण, वि. "अहम्"
अपि - भी; अव्यय।
भूतानाम् - प्राणियों का; नाम, ष.ब.व.
ईश्वर : - ईश्वर; प्र.ए.व. विशेषण, वि. "अहम्" ।
सन् - होते हुए भी; व.कृ. विशेषण, वि. "अहम्"
अपि - भी; अव्यय।
स्वाम् - अपनी; विशेषण, वि. "प्रकृतिम"
प्रकृतिम्- प्रकृति को;नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. ।
अधिष्ठाय - अधीन रख कर; विधेय कृदन्त, "अधि+स्था" 1गण
आत्ममायया - आत्मा माया के द्वारा; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. "आत्ममाया"
सम्भवामि- उत्पन्न होता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. "सम्+भू" 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मैं अज, अव्ययात्मा और प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके अपनी माया से अवतरित होता हूँ।

विवेचन : भगवान अनादि और अविनाशी हैं तो जीव की भांति उनका जन्म कैसे कहा? इस शंका को दृष्टिगत रखते हुए यह श्लोक कहा गया है। मैं अज अथवा जन्म रहित हूँ; मैं "अव्ययात्मा" अर्थात विकार रहित हूँ; मैं प्राणियों का ईश्वर हूँ अतः कर्म के अधीन नहीं हूँ तो भी अपनी माया से अवतार लेता हूँ। मेरे अवतार का कारण मेरी स्वतंत्र माया है। "माया" शब्द के कई अर्थ होते हैं। हरिसामर्थ्य,अविद्या,मिथ्या,कृपा,कपट आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ "माया" शब्द का अर्थ कृपा है। आगे का 7वां श्लोक पढ़ने पर यही अर्थ समीचीन है ऐसा बोध होता है। अथवा यहाँ "माया" शब्द का अर्थ हरिसामर्थ्य ले सकते हैं। अप्रच्युत (अस्खलित) ज्ञान, बल, ऐश्वर्य आदि शक्तियों से सर्व भवन सामर्थ्य है-यह माया। ऐसी मेरी माया से मैं अवतार लेता हूँ। "भगवान् भले ही अपनी माया से अवतार लेते हों परंतु जीव की भांति उनका जन्म होने से वे जीव के सदृश माने जाने चाहिए" - इस शंका को दूर करने के लिए "प्रकृति स्वाम् अधिष्ठाय - अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके" - शब्दों का प्रयोग किया गया है। अपनी प्रकृति अर्थात अपना असाधारण स्वभाव अथवा नित्य सिद्ध ज्ञान और क्रियाशक्ति का आश्रयरूप तथा ऐश्वर्य आदि षट् गुणों का आश्रयरूप सच्चिदानन्दरूप। ऐसे रूप का अधिष्ठान करके अर्थात यह रूप अपने साथ लेकर ही मैं अपना प्रादुर्भाव करता हूँ न कि जीव की भांति अपने स्वरूप से च्युत होकर अवतार लेता हूँ। जीव का भगवान् से व्युच्चरण होते ही तुरंत भगवान् की इच्छा से उसके आनंद, ऐश्वर्य आदि छह गुण तिरोहित हो जाते हैं। आनन्दादि छह गुणों के तिरोहित हो जाने से जीव, जगत में जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है। मेरा जन्म इस प्रकार का नहीं है क्योंकि मैं अज और अव्ययात्मा अर्थात विकार रहित हूँ इसलिए मुझ में उन छह भावविकार में से एक भी (विद्यमान)नहीं है। यद्यपि जीव में भी ये भावविकार नहीं हैं बल्कि प्रकृति के परिणाम रूप देह में ही हैं, तो भी शरीर, आविर्भाव और तिरोभाव से जन्म और मरण की प्रतीति कराता है। अतः जीव में भावविकार न होने पर भी शरीर उसमें प्राकृत की भांति भावविकार होने की प्रतीति कराता है। इसलिए

सूत्रकार ने ब्रह्मसूत्र (3/2/5) में ''पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततो हि अस्य बन्ध-विपर्ययौ''- सूत्र का योजन किया है। ''पर'' अर्थात भगवान् की और ''अभिध्यानात्'' अर्थात अपनी और जीव (ना सर्वतः भोग) की इच्छा (हुई)। इस प्रकार ईश्वर की इच्छा से भगवान् से व्युच्चरण कर बाहर निकले हुए जीव से भगवान् के गुणों का तिरोभाव हो गया। 1. ऐश्वर्य का तिरोभाव होने पर जीव लाचार और पराधीन हुआ। 2.वीर्य के तिरोभाव से उसको सब दुःख सहन करने पड़े। 3.यश के तिरोभाव से वह सबसे अप्रतिष्ठित हुआ। 4.श्री का तिरोभाव होने से उसको जन्म-मरण आदि आपत्ति आई। 5. ज्ञान के तिरोभाव के कारण उसको देह आदि में ''यह मैं हूँ ''- ऐसी बुद्धि हुई। जैसे अपस्मार के रोगी को सब विपरीत बोध होता है वैसे ही उसको विपरीत ज्ञान होने लगा। और, 6.वैराग्य का तिरोभाव होने से वह विषयों मे रचा-पचा रहने लगा। भगवान् के इन छह गुणों का तिरोभाव होने से जीव को बंधन और विपरीत ज्ञान होने लगा। ''आनन्द'' अंश का तो पहले ही तिरोभाव हो गया और उसी कारण से उसको जीव की स्थिति प्राप्त हुई और इस प्रकार वह काममय (कामनाओ से भरपूर)हो गया। इसका कारण यह है कि जहां आनन्द होता है वहाँ कामनाएँ नहीं होती। इसलिए देह धारण करने वाले जीव का जन्म और मरण होता है। ब्रह्म अथवा भगवान् का आर्विभाव और तिरोभाव ही होता है। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि ''मैं अवतार लेता हूँ'' अर्थात मेरा नित्य और असीम देह प्रकट होता है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि ; मैं अवतारी पुरूषोत्तम ही अन्यान्य अवतार लेता हूँ इसके अलावा, अंज होते हुए भी अवतार लेता हूँ, बाल होते हुए भी किशोर हो जाता हूँ, एक होते हुए भी अनेक हो जाता हूँ। मैं सभी विरूद्ध धर्मों का आश्रय होने से इसमें कोई अनुपपत्ति(असंभावना)नहीं है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत ! ।।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।। 7 ।।

अन्वयः

भारत - हे अर्जुन; सम्बोधन ।

यदा-यदा - जब-जब; अव्यय
धर्मस्य - धर्म की; नाम, ष.ए.व. ।
ग्लानिः - ह्रास,हानि; नाम,प्र.ए.व.पु.
च - और ; अव्यय ।
अधर्मस्य - अधर्म की; नाम, ष.ए.व.पु. ''अधर्म''
अभ्युत्थानम् - वृद्धि ,बढ़ोतरी; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''भू'' 1गण, परस्मै
तदा हि - तब निश्चय ही; अव्यय।
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''अस्मद्''
आत्मानम् - स्वयं अपने आप को; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''आत्मन्''
सृजामि - सृजन करता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. ''सृज्'' 6गण,परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत्! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं स्वयं अवतार लेता हूँ।

विवेचन : यहाँ से दो श्लोक (7-8)तक यह निरूपण करते हैं कि भगवान् स्वयं कब अवतार लेते हैं। जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म का अभ्युत्थान अर्थात् वृद्धि अथवा उत्पत्ति होती है तब मैं स्वयं अवतार लेता हूँ। श्रीभागवत् के श्लोक 1/1/23, 1/10/24 और 10/47/10 के संदर्भ में इस श्लोक का अनुसंधान सुबोधिनी में किया गया है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। 8।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम,प्र.ए.व. ''अस्मद्'' ।
साधूनाम् - साधु पुरूषों के; नाम, ष.ब.व.पु. ''साधु''
परित्राणाय - रक्षण के लिए; नाम,च.ए.व.नपु. ।
च - और; अव्यय

दुष्कृताम् - दुष्कर्म करने वालों का; नाम,ष.ब.व.विशेषण,पु. ''दुष्कृत''
विनाशाय - विनाश के लिए; नाम,च.ए.व.पु. ''विनाश'' ।
धर्मसंस्थापनार्थाय - धर्म स्थापना करने के लिए; नाम,च.ए.व.पु. ।
युगे-युगे - युग-युग में; नाम,स.ए.व.पु. ''युग''
सम्भवामि - प्रकट होता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. ''सम्+भू'' 1गण,परस्मै

श्लोकार्थ : साधुओं का रक्षण करने, पापियों का विनाश करने और धर्म का संस्थापन करने के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ ।

विवेचन : साधु अथवा धर्मी पुरूषों के रक्षण के लिए, उनके प्रतिपक्षी, दुष्ट कर्म करने वाले पापियों का विनाश करने के लिए और धर्म के भली-भांति स्थापन के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ। साधु पुरूषों का ईश्वर रक्षण करता है और पापियों का संहार करता है-ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि जैसे माता पुत्र का लालन करती है ओर दोषी होने पर उसको मारती है तो माता दयाहीन नहीं हो जाती वैसे ही गुणी को प्रोत्साहित करने और पापियों को शिक्षा देने से ईश्वर भी पक्षपाती नहीं हो जाता।

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।। 9 ।।

अन्वयः
अर्जुन - अर्जुन; सम्बोधन ।
मे- मेरे; सर्वनाम,ष.ए.व. ''अस्मद्''
जन्म - जन्म; नाम, द्वि.प.व. ''जन्मन्'' नपु. ''जन्म''
कर्म-कर्म; नाम, द्वि.ए.व. ''कर्मन्'' नपु.
च - और; अव्यय।
दिव्यम् - दिव्य,अलौकिक;विशेषण,वि. ''जन्म कर्म''
अस्ति - है; क्रियापद, तृ.ए.व. ''अस्'' ।
एवम् - इस प्रकार; अव्यय

यः-जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''यत्'' पु. ।
तत्त्वतः- तत्व से; नाम, पं.ए.व.
वेत्ति - जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''विद'' 2गण, परस्मै।
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तद्'' पु.
देहम् - देह को;नाम,द्वि.ए.व.पु. ''देह'' ।
त्यक्त्वा - छोड़कर, विधेय,कृदन्त
पुनर्जन्म - पुनर्जन्म;नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''पुनर्जन्मन्''।
न - नहीं; अव्यय
एति - प्राप्त करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''इ'' 2गण,परस्मै।
अपितु - अपितु;
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''अस्मद्'' ।
एव - ही; अव्यय
एति - प्राप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''इ'' 2गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! इस प्रकार मेरे जन्म और कर्म को जो तत्वतः दिव्य जानता है वह देह त्याग के उपरांत पुनः जन्म नहीं लेता। वह मुझे ही प्राप्त करता है।

विवेचन : वैष्णव तंत्रों के अनुसार उत्पत्ति भी तीन प्रकार की है। अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति को ''जन्म'' कहा जाता है। नित्य पदार्थ के दो उपविभाग परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न हैं। ''परिच्छिन्न'' अर्थात सीमित अर्थात अमुक प्रमाण में। ''अपरिच्छिन्न'' अर्थात असीमित अर्थात व्यापक। नित्य परिच्छिन्न पदार्थ का अन्य के साथ समागम ही उत्पत्ति है। नित्य और अपरिच्छिन्न पदार्थ का प्रादुर्भाव हो तो वह ''उत्पत्ति''। भगवान् नित्य और अपरिच्छिन्न होने से भगवान् का जन्म प्रादुर्भाव ही है। भगवान् का जन्म प्रादुर्भावरूपी होने से दिव्य है। जन्म दिव्य है तो वपुः अथवा शरीर दिव्य होने में आश्चर्य ही क्या है? भगवान् के कर्म भी दिव्य अथवा अलौकिक ही हैं। इस प्रकार मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं- जो यह तत्व से जानता है वह प्राकृत देह के त्याग के बाद पुनः जन्म नहीं लेता बल्कि मुझे ही प्राप्त करता है।

कुछेक वादी यह मानते हैं कि भगवान् का देह जन्म लेते होने से वह प्राकृत-अनित्य है, जो उचित नहीं है। क्योंकि भगवान् का देह और आत्मा सब आनन्दमय आनन्दस्वरूप ही हैं। भगवान् में देह और देही जैसा कोई विभाग नहीं है। सभी जीवों का देह जन्म लेता होने से अनित्य है उसी प्रकार भगवान् का देह भी अनित्य है- यह मानना उचित नहीं है। ऐसा मानने से सब जीवों का ज्ञान-इच्छा आदि अनित्य है तो भगवान् का ज्ञान, भगवान् की इच्छा आदि भी अनित्य ही मानने पड़ेंगे। ''भगवान् जगत के कर्ता होने से उनका ज्ञान नित्य मानना पड़ेगा क्योंकि नित्य ज्ञान न हो तो जगत की रचना नहीं की जा सकती। ''ऐसा कहने से उसी कारण से भगवान् का देह भी आनन्दमय और नित्य मानना होगा। क्योंकि नित्य आनन्दमय देह न हो तो भी जगत की रचना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त भगवान् का देह नित्य और अपरिच्छिन्न होने से उनका प्रादुर्भाव ही जन्म है। साधारण जीवों जैसा भगवान् का जन्म नहीं है इसलिए भगवान् को देह भी साधारण जीवों के देह की भांति अनित्य नहीं है। ''मात्र आनन्दात्मक ही कर, पाद, मुख, उदर आदि जिनके हैं''-इत्यादि शास्त्र वचनों से जिनका देह, इन्द्रिय, प्राण, अंत:करण, आत्मा सभी आनन्दमय आनन्दस्वरूप हैं वे सदानन्दरूप ज्ञानरूप पुरूषोत्तम मात्र आत्मरूप नहीं हैं-ऐसा नि:शंक जानना चाहिए। ''ऐसा मानने पर आनन्द तत्व और देहत्व दोनों में विरोध दिखता है।''-ऐसी शंका करना उचित नहीं है। कारण कि, प्रमाणों के आधार पर अपने-अपने आलंबन में उन दोनों को एक साथ होना सिद्ध होता है इसलिए विरोध नहीं रह जाता। फिर भी, आनन्द धर्मी रूप (गुणवाला पदार्थ) होने से वह धर्मरूप (गुण) कैसे हो सकता है? ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि ''जो सर्वज्ञ है''- अर्थात श्रुति के अनुसार भगवान् ज्ञान के आधार हैं और सच्चिदानंद हो कर ज्ञानरूप भी हैं। इसी प्रकार भगवान् के आनंदरूप होने और आनंद के आधार होने में भी विरोध नहीं है। भगवान् विरूद्ध धर्मो के आश्रय होने से आनंदयुक्त भी हैं। यह यथार्थ उपदेश करने वाले भगवान् के वचनों से निश्चय होता है कि भगवान् का जो रूप दिखाई देता है वह भगवान् ने अपनी इच्छा से धारण किया होने से वे देहधारी आनंदमय पुरूषोत्तम ही हैं। ये गोपालनंदन, हरि,

पुरूषोत्तम ही हैं और अपने भक्तों को विश्वास दिलाने के लिए अपने ऐश्वर्यादि युक्त, अक्षर, विरूद्ध धर्मों के आधार रूप, वेद में प्रतिपादित, अपने दृष्टिगोचर शरीर के कभी-कभी दर्शन कराते हैं।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया माम् उपाश्रिता: ।।
बहवो ज्ञान-तपसा पूता मद्भावम् आगता: ।। 10 ।।

अन्वय:

वीतरागभयक्रोधा - राग,भय और क्रोध से रहित;विशेषण, वि. ''पुरूषा: वीता: राग:भय: क्रोधश्च यस्य इति'' बहु.

मन्मया - मुझ में स्थित; विशेषण, वि. 'पुरूषा:'

माम: मन्मया - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''अस्मद्''

उपाश्रिता: - शरणागत हुए; भू.कृ.विशेषण, वि. ''पुरूषा:'' ।

बहव: - बहुत से; प्र.ब.व. ''बहु''

ज्ञानतपसा - ज्ञानरूपी तप से; नाम,तृ.ए.व.नपु. ''तपस: ज्ञानं एव तप:'' कर्मधारय

पूता: - पवित्र हुए; विशेषण,वि.पुरूषा: ।

मद्भावम् - मेरे भाव को, मेरे स्वरूप को; नाम, द्वि.ए.व.

आगता: - आए हुए, आ चुके; भू.कृ. विशेषण,वि. ''पुरूषा:''।,

सन्ति - हैं; क्रियापद, तृ.पु.ब.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : जिनके राग, भय और क्रोध दूर हो गए हैं वे मन्मय, मेरा आश्रय करने वाले, ज्ञान और तप से पवित्र हुए बहुत लोग (भक्त) मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं।

विवेचन : यदि मेरे जन्म और कर्म प्राकृत होते तो मेरा आश्रय करने वाले कोई भी मुक्ति नहीं पाते। परन्तु मेरा आश्रय करने वाले बहुत से मुक्त हुए हैं। उनके राग,भय और क्रोध दूर होते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। 11 ।।

अन्वयः

पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन ।

ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''अस्मद्''।

यथा - जिस प्रकार; अव्यय

प्रपद्यन्ते - शरण में हैं, भजते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. प्र+पद् 4गण, आत्मने।

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''अस्मद्'' ।

अपि - भी; अव्यय

तान् - उनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु. ।

तथा एव - उस प्रकार से ही; अव्यय

भजामि - भजता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. ''भज्'' 1गण,परस्मै (इदं ज्ञात्वैव=इसको जानकार ही)।

मनुष्याः -मनुष्य; नाम,प्र.ब.व.पु. ।

सर्वशः - सब प्रकार से; अव्यय

मम - मेरा; सर्वनाम,ष.ए.व. ''अस्मद्''

वर्त्म - मार्ग; नाम,द्वि.ए.व.नपु. ''वर्त्मन्''

अनुवर्तन्ते - अनुसरण करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.''अनु+''वृत्'' (वर्त्)

श्लोकार्थ : जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं उनको मैं उसी प्रकार से भजता हूँ। हे पार्थ ! सब तरफ से मनुष्य मेरे मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।

विवेचन : जो आपका आश्रय करते हैं उनको आप मुक्ति देते हैं और जो आपका आश्रय नहीं करते उनको आप मुक्ति नहीं देते अतः आप में भी वैषम्य (पक्षपात)दोष आ जाता है-इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि पुष्टि,प्रवाह,मर्यादा आदि मार्गो के अधिकारी सकाम अथवा निष्काम रीति से जैसे मुझे भजते हैं उनको मैं उसी प्रकार का फल देता हूँ। सब ओर से मनुष्य

मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं। कारण कि, जो इन्द्रादि देवों का भजन करते हैं वे इन्द्रादि देव मेरी ही विभूति होने से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं। लेकिन वे मेरा भजन नहीं करते क्योंकि यह भजन करने का उचित प्रकार नहीं है (आगे अध्याय 9 के श्लोक 23 में ऐसा कहा गया है।)।

ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/3/30 के संदर्भ में अणुभाष्य में और श्री भागवत् के श्लोक 1/1/23, 1/9/24, 1/10/24, 1/11/8, 1/11/28, 10/28/6, 10/31/18, 10/33/13, 10/35/22, 10/47/7, 10/68/29, 10/81/30, और 10/83/56के संदर्भ में सुबोधनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर् भवति कर्मजा ।। 12 ।।

अन्वयः

इह - इस, यहाँ;अव्यय।

मानुषे लोके - मनुष्य लोक में; नाम, स.ए.व.

कर्मणाम् - कर्मों की; नाम,ष.ब.व.नपु. ''कर्मन्'' ।

सिद्धिम् - फल; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. ''सिद्धि''

कांक्षन्तः - इच्छा रखने वाले; वर्त.कृ.विशेषण,वि. ''जनाः'' ।

देवताः - देवता; नाम,द्वि.ब.व.स्त्री.

यजन्ते - पूजते हैं; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. ''यज्'' 1गण,आत्मने ।

तेषाम् - उनकी;सर्वनाम,ष.ब.व.

कर्मजा - कर्मों से उत्पन्न होने वाली; विशेषण,वि. ''सिद्धि'' ।

सिद्धिः - सिद्धि ,फल; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.

अपि - भी; अव्यय।

क्षिप्रम् - शीघ्रतापूर्वक; अव्यय

हि - निश्चय; अव्यय।

भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''भू'' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : कर्म की सिद्धि की आकांक्षा रखनेवाले इस लोक में देवताओं का यजन करते हैं। क्योंकि मनुष्य लोक में कर्म से सत्वर (शीघ्र) सिद्धि प्राप्त होती है।

विवेचन : तब इस लोक में मनुष्य अन्य देवों को क्यों भजते हैं? इस शंका को दृष्टि में रखते हुए यह श्लोक कहा गया है। अन्य देवों का भजन करने से इस लोक में कर्म का फल तुरंत ही प्राप्त होता है। कर्म का फल प्राकृत है। ऐसा प्राकृत फल इन्द्रादि देव तुरंत ही प्रदान करते हैं। अत: प्राकृत फल की इच्छा वाले इस लोक में मेरा भजन नहीं करते बल्कि इन्द्रादि देवों का यजन करते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः ।।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यक्रर्तारम् अव्ययम् ।। 13 ।।

अन्वय:

गुणकर्मविभागशः - गुण-कर्म के विभाग से;नाम,प्र.ए.व.पु.
चातुर्वर्ण्यम् - चार वर्ण का समूह; नाम,प्र.ए.व. ''चतुर्णाम् वर्णानाम् समाहार: इति'' - चतुर्वर्ण द्विगु. ऊपर से तद्धित के ''य'' से भाव नाम।
मया - मेरे द्वारा; तृ.ए.व. ''अस्मद्'' ।
सृष्टम् - उत्पन्न किए हुए; भू.कृ.विशेषण,वि. ''चातुर्वर्ण्यम्''
तस्य - उसका; सर्वनाम, ष.ए.व. ''तद्'' ।
कर्तारम् - कर्त्ता; नाम, द्वि.ए.व.विशेषण, पु. ''कर्तृ''
अपि - भी, तो भी; अव्यय।
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''अस्मद्''
अव्ययम् - अव्यय, अविनाशी; अव्यय।
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मद्''
अकर्तारम् - अकर्ता; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''अकर्तृ''।
एव - ही; अव्यय
विद्धि - जान; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. ''विद्'' 2गण

श्लोकार्थ : गुण और कर्म के विभाग के अनुसार मैंने चार वर्ण सृजित किए हैं। मुझ अकर्ता और अव्यय को उनका कर्ता भी समझ ।

विवेचन : कई मनुष्य कामनाओं के लिए देवों को भजते हैं, कई अन्य निष्काम रहकर आपको भजते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म करते हैं और जैसे कर्म करते है उनके अनुसार ब्राह्मण आदि उत्तम-अधम वर्ण के होते हैं। आपकी इस प्रकार की रचना होने से आप भी अमुक जीवों पर कृपा रखते हैं और अमुक जीवों पर अकृपा रखते हैं। ऐसा होने से आपको भी वैषम्य अथवा नैर्घृण्य दोष क्यों नहीं लगता? इस शंका के समाधान के लिए कहते हैं कि मैंने जगत में गुण और कर्म के अनुसार चार वर्णों का सृजन किया है।

सत्व, रज और तम तीन गुण हैं। सत्वप्रधान ब्राह्मण, सत्वरज: प्रधान क्षत्रिय, रजस्तम: प्रधान वैश्य और तम: प्रधान शूद्र रचे गए हैं। इन गुणों के अनुसार क्रमश: शम-दमादि, शौर्यादि, कृषि-वाणिज्यादि तथा द्विज-सेवा इन वर्णों के धर्म निर्धारित किए हैं। इन चार वर्ण के जीवों का प्रकृति के साथ संबंध होने से उनको इंद्रियों के साथ ही गुण और कर्म भी प्रदान किए हैं। अत: वे जैसे कर्म करते हैं वैसे ही फल भी उनको मिलते हैं। इस प्रकार उक्त चार वर्णों का मैं कर्ता अथवा जनक होने पर भी अकर्ता हूँ-ऐसा समझ। मैं अकर्ता हूँ क्योंकि मैं अव्यय हूँ। अहंकार आदि मुझ में नहीं है। अत: मुझको वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोष नहीं लगते। ''वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति''- से ब्रह्मसूत्र में भी यही बोध कराया गया है। भगवान् जीव के कर्म के अनुसार सुख-दु:ख आदि देते हैं इसलिए उनमें वैषम्य-नैर्घृण्य आदि दोष नहीं हैं। वादियों ने अपने संतोष के लिए यह भी कहा है कि भगवान् फलदान करने में कर्म की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुत: सभी जीव भगवान् में से ही व्युच्चरित होने से,भगवान् के अंश होने से भगवान् से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार सभी जीव भगवान् से ही सृष्ट अथवा आत्म सृष्ट हुए। अत: सब जीव आत्मसृष्टि ही होने से वैषम्य-नैर्घृण्य दोष की संभावना ही नहीं रहती।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर् न स बध्यते ।। 14 ।।

अन्वयः

कर्मफले - कर्मफल में; नाम, स.ए.व.नपु. ।
मे - मेरी; सर्वनाम, ष.ए.व. ''अस्मद्''
स्पृहा - इच्छा; नाम। प्र.ए.व. स्त्री. ''स्पृहा'' ।
न - नहीं; अव्यय
अस्ति अतः - है, अतः; क्रि. व. का. तृ. ए. व. 'अस्'
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि. ए. व. 'अस्मद्'
कर्माणि - कर्म; नाम, प्र. ब.व. नपु.
न-नहीं; अव्यय
लिम्पन्ति - लिप्त करते; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''लिप्'' 6 गण ।
इति - इस प्रकार से; अव्यय
माम् - मुझको; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''यत्'' पु.
अभिजानाति - जानता है, समझता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. अभि+ज्ञा 9 गण, परस्मै
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. प्र.ए.व. ''तद्'' पु. ।
कर्मभिः - कर्मों से; नाम, तृ.ब.व. ''कर्मन्''
न - नहीं; अव्यय।
बध्यते - बंधता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. कर्मणि, ''बध्'' 9 गण

श्लोकार्थ : मुझे कर्म लिप्त नहीं करते । मुझे कर्मफल की स्पृहा नहीं है। जो मुझे इस रूप में जानते हैं उनको कर्म बांधते नहीं ।

विवेचन : मुझे कर्म लिप्त नहीं करते क्योंकि मुझको कर्मफल की स्पृहा नहीं है। जीव और ईश्वर में यही मुख्य विलक्षणता है। जो मुझको इस प्रकार से जानते हैं उनको कर्म का बंधन नहीं होता।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि ।।
कुरू कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।। 15 ।।

अन्वयः

पूर्वैः - पूर्व में; विशेषण, विशेष्य ''मुमक्षुभिः'' ।
मुमुक्षुभिः -मुमुक्षु; नाम, तृ.ब.व.पुं. ''मुमुक्षु''
अपि एवम् - इस प्रकार भी; अव्यय ।
ज्ञात्वा - जानकर; विधेय कृदन्त
एव - ही; अव्यय।
कर्म - कर्म; नाम, द्वि.ए.व. ''कर्मन्'' नपु.
कृतम् - किए हुए; भू.कृ.विशेषण,वि. ''कर्म''।
तस्मात् - इसलिए; अव्यय
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मद्'' ।
अपि - भी; अव्यय
पूर्वैः - पूर्वजों के द्वारा; नाम,तृ.ब.व. ।
पूर्वतरम् - पूर्ववर्ती,पूर्वकाल के; विशेषण,वि. ''कर्म''
कृतम् - किए हुए; भू.कृ.विशेषण,वि. ''कर्म'' ।
कर्म - कर्म; नाम, द्वि.ए.व. कर्म का नपु.
एव - ही; अव्यय।
कुरू - कर; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. ''कृ'' 8गण, परस्मै ।

श्लोकार्थ : पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर कर्म किए हैं। अतः पूर्वजों द्वारा किए हुए कर्म ही तू कर ।

विवेचन : इस प्रकार प्रासंगिक (मन्तव्य) कहकर पुनः कर्म करने के लिए स्मरण कराते हैं। भगवदर्थ किए हुए कर्म बंधन में नहीं रखते यही समझकर पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं कुक्षीवान्, नारद, मनु आदि ने भी अपने-अपने धर्म के अनुसार कर्म किए हैं। इस प्रकार कर्म (सिद्धांत) आधुनिक न होकर प्राचीन

काल से है और पूर्वजों ने किए हुए हैं। अत: कर्म करना शिष्टाचार होने से भी कर्म करना उचित ही है। इसलिए तू कर्म कर।

किं कर्म किं अकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता: ।।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। 16 ।।

अन्वय:

कर्म - कर्म; नाम, प्र.ए.व.नपु. ''कर्मन्'' ।।
किम्-क्या; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ''किम्''
च- और; अव्यय ।
अकर्म - अकर्म; नाम, प्र.ए.व.नपु.
किम् - क्या; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ''किम्'' ।
इति अत्र - इस प्रकार यहाँ; अव्यय
कवय: -बुद्धिमान पुरूष; नाम, प्र.ब.व.पु. ''कवि'' ।
अपि - भी; अव्यय
मोहिता: - मोह को प्राप्त; भू. कृ. विशेषण, वि. ''कवय:'' । (अत: अहं=इसलिए मैं)
ते - तुझको; सर्वनाम,च.ए.व. ''युष्मद्'' ।
तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ''तद्''
कर्म - कर्म; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''कर्मन्'' ।
प्रवक्ष्यामि - कहूँगा; क्रि.भवि. प्र.पु.ए.व. ''प्र+वच्'' 2गण, परस्मै
यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''यत्'' नपु. ।
ज्ञात्वा - जानकर; विधेय कृदन्त
त्वम् - तू; सर्वनाम,प्र.ए.व. ''युष्मद''।
अशुभात् - अशुभ से, संसार से; नाम, पं.ए.व. ''अशुभ''
मोक्ष्यसे - मुक्त हो जाएगा; क्रि. कर्मणि, भवि.का.द्वि.पु.ए.व. ''मुच्'' आत्मने, 6गण

श्लोकार्थ : कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषय में बुद्धिमान पुरूष भी मोहित हो गए हैं। मैं तुझे कर्म (तत्वत:) कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जाएगा ।

विवेचन : ''कर्म'' अर्थात विहित या करने योग्य कर्म। कर्म कौन से? और ''अकर्म'' अर्थात अविहित कर्म अथवा नहीं करने योग्य कर्म कौन से? यह एक गंभीर प्रश्न है। इसका निर्णय करने में कवि (बुद्धिमान पुरूष) भी मोह को प्राप्त कर भूल कर गए हैं। अत: विचारपूर्वक कर्म करना ही उचित है। लोक परंपरा से ही करना ठीक नहीं। अत: मैं तुझे यह भली-भांति समझाऊंगा कि कर्म क्या है। अर्थात तुझे ज्ञान प्राप्त होने से तू अशुभ कर्म अथवा विकर्म से मुक्त रहेगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण: ।।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति : ।। 17 ।।

अन्वय:

कर्मण : - कर्म का; नाम, ष.ए.व. नपु. ''कर्मन्'' ।
अपि - भी; अव्यय
बोद्धव्यम् - जानना चाहिए; विध्यर्थ कृदन्त,विशेषण,वि. ''तत्वम्''।
च - और; अव्यय
विकर्मण: - विलोम कर्म; नाम, ष.ए.व. नपु. ।
बोद्धव्यम् - जानना चाहिए; विध्यर्थ कृदन्त, विशेषण, वि. ''तत्वम्''
च - और; अव्यय।
अकर्मण: - न करने योग्य; नाम,ष.ए.व. नपु. (अपि=भी)
बोद्धव्यम् - जानना चाहिए; विध्यर्थ कृदन्त,विशेषण, वि. ''तत्वम्''।
हि - निश्चय; अव्यय
कर्मण: - कर्म की; नाम, ष.ए.व. ।
गति: - गति, नाम, प्र.ए.व. स्त्री.

गहना – समझ में न आने योग्य; विशेषण,वि. ''गति'' ।
अस्ति – है ;क्रियापद,तृ.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, विकर्म का भी जानना चाहिए और अकर्म को भी जानना चाहिए। कर्म की गति गहन है।

विवेचन : विहित कर्म, विकर्म अथवा निषिद्ध कर्म और अकर्म अथवा अविहित कर्म का स्वरूप जानना चाहिए। विहित कर्म का स्वरूप जाने बिना यह समझ में नहीं आता कि कौन से कर्म करने योग्य हैं तथा विकर्म और अकर्म का स्वरूप जाने बिना यह नहीं जाना जा सकता कि कौन से कर्म त्याज्य हैं। अतः सबका स्वरूप जानना चाहिए। कर्म की गति गहन हैं। इसलिए कर्मादि का स्वरूप जानना कठिन है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः ।।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ।।18।।

अन्वयः
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''यत्'' ।
कर्मणि – कर्म में, अंहकार रहित किए हुए कर्म में; नाम, स.ए.व. नपु.
अकर्म – अकर्म; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
पश्येत् – देखता है; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. ''दृश्'' (पश्य्) 1गण, परस्मै
च – और; अवयय
यः–जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''यत्''पु.
अकर्मणि – अज्ञानी पुरूषों द्वारा किए गए त्याज्य कर्म; नाम, स.ए.व. ।
कर्म – त्यागरूप क्रिया; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
पश्येत् – देखता है;
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तत्''पु.
मनुष्येषु – मनुष्यों में; नाम, स.ब.व.पु. ''मनुष्य'' ।
बुद्धिमान् – बुद्धिमान्; विशेषण, वि. ''सः'' (अस्ति=है)

सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तत्'' ।
युक्तः – युक्त (योगयुक्त योगी); भू. कृ. विशेषण, वि. ''सः''
कृत्स्नकर्मकृत् – सम्पूर्ण कर्म करने वाला;विशेषण, वि. ''सः'' (अस्ति=है)।

श्लोकार्थ : जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान युक्त(योगी) सम्पूर्ण कर्म करने वाला है।

विवेचन : जो कर्म अथवा विहित कर्म में अकर्म अर्थात कर्म के बंधन का अभाव देखता है अर्थात् यह जानता है कि विहित कर्म करने से कर्म बंधन नहीं होता एवं अकर्म में अर्थात निषिद्ध कर्म में अथवा न करने योग्य कर्म में कर्म को अर्थात कर्म बंधन को देखता है अर्थात जो यह जानता है कि निषिद्ध अथवा न करने योग्य कर्म करने से कर्म बंधन प्राप्त होता है वह सब मनुष्यों में बुद्धिमान् है तथा युक्त अर्थात कर्मयोग वाला है और सम्पूर्ण कर्म करने वाला है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।। 19 ।।

अन्वयः
यस्य – जिसके; सर्वनाम, ष.ए.व. ''यत्''पु. ।
सर्वे – समस्त; सर्वनाम, प्र.ब.व. ''सर्व''पु.
समारम्भाः – कार्य; नाम, प्र.ब.व.पु. ''समारम्भः'' **कामसङ्कल्पवर्जिताः – काम और संकल्प से वर्जित–रहित** विशेषण,वि. ''समारम्भाः''
सन्ति – हैं; क्रियापद, तृ.ब.व. ''अस्''।
तम् – उसे; सर्वनाम,द्वि.ब.व. ''तद्''पु.
ज्ञानग्निदग्धकर्माणम् – ज्ञानाग्नि से भस्म हो गए हैं कर्म जिसके; ''ज्ञानम् एव अग्निः तेन दग्धानि यस्य कर्माणि तम्'' बहुब्रीहि

बुधाः - ज्ञानीजन; नाम, प्र.ब.व.पु. ''बुध'' ।
पण्डितम् - पण्डित; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''पण्डित''
आहुः - कहते हैं; क्रि. व.का.तृ.पु.ए.व. ''ब्रू'' 2गण

श्लोकार्थ : जिसके सभी समारम्भ (कार्य) काम और संकल्प से रहित हैं उसको ज्ञानीजन ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्म युक्त पण्डित कहते हैं।

विवेचन : जिसके कर्म के सभी समारम्भ, ''काम'' अर्थात फल और ''संकल्प'' अर्थात फल प्राप्त करने की इच्छा, दोनों से रहित हैं, अर्थात जो कर्म के सभी समारम्भ, फल की अथवा फल प्राप्त करने की इच्छा की अपेक्षा के बिना करता है, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हो गए हैं। कर्म दग्ध हो जाने से उनके बीज पुनः वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। इसलिए उसको कर्मबंधन की भीति कदापि नहीं होती। ऐसे पुरूष को ज्ञानी पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।।
कर्मण्यभिप्रवृतोऽपि नैव किंचित करोति सः ।। 20 ।।

अन्वयः
निराश्रयः - आश्रय रहित; विशेषण, वि. ''सः'' ।
नित्यतृप्तः - सदा तृप्त,परमानन्द में विलासिता हुआ; भू.कृ. विशेषण,वि. ''सः''
सः - वह;सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तद्''पु.।
कर्मफलासङ्गम् - कर्मो का फल और संग, अभिमान; नाम, द्वि.ए.व.पु.
त्यक्त्वा - त्याग कर; विधेय कृदंत ।
कर्मणि - कर्म में; नाम, स.ए.व. नपु.
अभिप्रवृत्तः - सम्यक् रूपेण प्रवृत; भू.कृ.विशेषण.वि. ''सः''।
अपि - भी; अव्यय
किञ्चित् - कोई भी, कुछ भी; सर्वनाम, द्वि.ए.व. किम्+चित्, नपु. ।एव
न- ही नहीं; अव्यय

करोति - करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''कृ'' 8गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : कर्म के फल और आसंग को त्याग कर नित्यप्रवृत्त और निराश्रय रहकर कर्म में प्रवत्त रहने पर भी वह कुछ करता ही नहीं है।

विवेचन : यहां से चार श्लोक (20 से 23)तक ऊपर अठारहवें श्लोक में कथित अर्थ का भगवान् स्वयं विवेचन करते हैं। क्रिया से होते यज्ञादि कर्म के स्वर्गादि फल और ''मैं कर्ता हूँ'' -इस प्राकृत आसक्ति का त्याग करके, नित्य तृप्त रहकर, कर्म से बांधने वाले और कर्म के फल प्रदान करने में साधनभूत अदृष्ट आदि का आश्रय किए बिना, कर्म के साधन आदि सब में विद्यमान अप्राकृत वस्तु की यथार्थ रीति से भावना रखकर कर्म में रचे-पचे रहने पर भी वह कोई कर्म नहीं करता। ऐसा पुरूष नित्यानन्द में तृप्त रहने से, प्राकृत आश्रय से रहित होने से, कर्म के फल की इच्छा से रहित होने से तथा कर्म में आसक्ति रहित होने से उसको कर्म-बंधन नहीं होता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् आप्नोति किल्बिषम् ।। 21 ।।

अन्वयः
यतचित्तात्मा - जिसने अन्तःकरण को जीत लिया है; विशेषण, वि. ''पुरूष''''यतम् चितम् आत्माय येन इति'' - बहुव्रीहि ।
त्यक्तसर्वपरिग्रहः - सब भोगों को छोड दिया है जिसने; ''त्यक्ताः सर्वे परिग्रहाः येन'' बहुव्रीहि, विशेषण, वि. पुरूषः
च - और; अव्यय
निराशीः - आशा रहित; ''निरगता आशा यस्मात् इति बहुव्रीहि, विशेषण, वि. ''पुरूषः''
केवलम् - मात्र; अव्यय
शारीरम् - शरीर संबंधी; विशेषण, वि. ''कर्म''
कर्म - कर्म; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

कुर्वन् - करता है; व. कृ. विशेषण, वि. ''पुरूषः''
अपि - भी; अव्यय।
किल्बिषम् - पाप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''किल्बिष''
न - नहीं; अव्यय
आप्नोति-प्राप्त करता है; क्रि.व.काल., तृ.पु.ए.व. ''आप्'' 5गण

श्लोकार्थ : जो आशा रहित है, जिसने चित्त और देह को वश में कर लिया है और सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया है वह केवल शारीरिक कर्म करते रहने से पाप को प्राप्त नहीं होता।

विवेचन : जो स्वर्गादि कर्म फल की आशा अथवा इच्छा रहित हो, जिसने योग से चित्त और देह को स्वयं के वश में कर लिया है और पशु-पुत्रादि स्वयं के सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया है, वह केवल शारीरिक कर्म करने से पाप को प्राप्त नहीं होता कारण कि ''मैं कर्ता हूँ'' - ऐसा अंहकार उसको नहीं होता।

विशेष : आरूढ़ ज्ञानी, आरूढ़ भक्त और आरूढ़ कर्मठ ये तीनों अपने-अपने क्षेत्र में-तात्पर्य कि ज्ञान-भक्ति-कर्म में, प्रवर्तित रहते हैं परंतु ये आरूढ़ होने से इनकी प्रवृत्ति लौकिक आशा रहित, निर्दुष्ट अन्तःकरण की भावना सहित और शुभ कर्म करने वाली एवं मात्र शरीर के सामान्य निर्वाह के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार का अतिरिक्त उपार्जन नहीं करने तथा सामान्य शरीर व्यवहार में रहने की होने से सामान्य कर्म करने वाली होने के बावजूद (तीनों आरूढ़)निर्दोष रहते हैं।

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।। 22 ।।

अन्वयः
यदृच्छालाभसन्तुष्टः - स्वतः प्राप्त से सन्तुष्ट रहने वाला; भू. कृ. विशेषण, वि. ''पुरूष''

द्वन्द्वातीतः - हर्ष-शोक,लाभालाभ, सुख-दुःख आदि से रहित; विशेषण,वि.''पुरूषः द्वन्द्वात् अतीतः'' तत्पुरूष ।
विमत्सरः - ईर्ष्या रहित; विशेषण, वि. ''पुरूषः विगत मत्सरः यस्मिन् इति'' बहुव्रीहि।
च - और; अव्यय।
सिद्धौ - सिद्धि में; नाम, स.ए.व. स्त्री. ''सिद्धि''
असिद्धौ - असिद्धि में ; नाम, स.ए.व.।
च - और ; अव्यय
समः - समान, समभाव वाला ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''
कर्मणे - कर्मों को ; द्वि.ए.व.
कृत्वा - करते हुए ; विधेय कृदन्त।
अपि न - भी नहीं ; अव्यय
निबध्यते - बंधता है ; क्रि.व.काल, कर्मणि, तृ.पु.ए.व. नि + बुध् 9 गण

श्लोकार्थ : जो यदृच्छा लाभ से सन्तुष्ट है, द्वन्द्वातीत है, मत्सर रहित है तथा सिद्धि और असिद्धि में सम है वह कर्म करके भी बंधता नहीं।

विवेचन : जो भगवादिच्छा से लाभ हो उसी में संतोष से रहने वाला, सुख और दुःख रूपी द्वंद्व से अतीत, मत्सर रहित और कर्म की सिद्धि अथवा असिद्धि दोनों में समान रहने वाला है वह कर्म करते रहने पर भी कर्म से बंधता नहीं। कर्म की सिद्धि अथवा असिद्धि में समता कहकर पूर्व में निरूपित सांख्य और योग के अर्थ का बोध कराते हैं।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। 23 ।।

अन्वयः
गतसङ्गस्य - संग रहित, आसक्ति रहित ; विशेषण, वि. ''मुक्तस्य''
ज्ञानावस्थितचेतसः - ज्ञान में स्थित चित्तवाले के ; विशेषण, वि. ''मुक्तस्य ज्ञाने अवस्थितम् चेतः यस्य इति'' बहु.

यज्ञाय - यज्ञ के लिए ; नाम, च.ए.व.पु. ''यज्ञ''। आचरत: - आचरण करने वाले के ; व.कृ. विशेषण, वि. ''मुक्तस्य''
मुक्तस्य - मुक्त पुरुष के ; नाम, ष.ए.व.।
कर्म - कर्म ; नाम, प्र.ए.व. नपु. ''कर्मन्''
समग्रम् - समस्त ; विशेषण, वि. ''कर्म''।
प्रविलीयते - नष्ट हो जाता है ; क्रि.व.का., कर्मणि तृ.पु.ए.व. 9 गण, वि + लि।

श्लोकार्थ : संगरहित, मुक्त, ज्ञान से स्थिर चित्त वाला यज्ञ के लिए कर्म करता है तो उसके सब कर्म लय हो जाते हैं।

विवेचन : जो लौकिक पशुपुत्रादि सर्व परिग्रह में आसक्ति रहित होता है, जो कर्म फल से मुक्त होता है, ज्ञान से जिसका चित्त स्थिर हो गया है तथा जो यज्ञ अथवा विष्णु के लिए कर्म करता है उसके सभी कर्म लय को प्राप्त होते हैं अथवा अकर्म हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर् ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। 24।।

अन्वय :
अर्पणम् - अपर्ण ; नाम, प्र.ए.व.।
ब्रह्म - ब्रह्म ; नाम, प्र.ए.व. ''ब्रह्मन्'' नपु.
हवि-हवि ; नाम, प्र.ए.व. नपु.।
अपि - भी ; अव्यय
ब्रह्म - ब्रह्म ; नाम , प्र.ए.व. ''ब्रह्मान्'' नपु.।
च - और ; अव्यय
ब्रह्माग्नौ - ब्रह्म अग्नि में ; नाम, स.ए.व.।
ब्रह्मणा - ब्रह्म से ; नाम, तृ.ए.व. नपु. ''ब्रह्मन्''
हुतम् - होम किया हुआ ; नाम, प्र.ए.व. नपु. ''हुत्'' (अपि ब्रह्म अस्ति = तो भी ब्रह्म है ; क्रियापद, व.काल, तृ.पु.ए.व. ''अस्'')

ब्रह्मकर्मसमाधिना - ब्रह्मकर्म रूप समाधि ; नाम, तृ.ए.व.।
तेन - उसके द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. ''तद्''
गन्तव्यम् - गन्तव्य ; विधेय कृदन्त।
अपि - भी ; अव्यय
ब्रह्म - ब्रह्म ; नाम, प्र.ए.व. नपु. ''ब्रह्मन्''।
एव - ही ; अव्यय
अस्ति - है ; क्रियापद, तृ.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : ब्रह्म अर्पण से ब्रह्म हवि: ब्रह्माग्नि में ब्रह्म के द्वारा (यज्ञकर्ता के द्वारा) होम की जाती। इस ब्रह्मकर्म की समाधि से प्राप्त होने वाला भी ब्रह्म ही है।

विवेचन ; कर्म का लय किस प्रकार होता है, यहाँ इसी का निरूपण है। ''अर्पण'' अर्थात होम करने के साधन काष्ठ का चाटु (स्रुवा) आदि ब्रह्म हैं। उस ब्रह्म अर्पण से जो ''हवि:'' अर्थात् घी आदि का होम किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है। जिस अग्नि में होम किया जाता है वह भी ब्रह्म है। होम करने वाला यज्ञकर्ता भी ब्रह्म है। इस प्रकार ऐसा कर्म ब्रह्म है। इस ब्रह्म कर्म की समाधि से जो प्राप्त करना है वह भी ब्रह्म है। अत: अर्पण, हवि:, अग्नि, होमकर्ता आदि सब में ब्रह्म की भावना से ब्रह्मरूप कर्म ही किया जाने से बंधन प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार सब कर्मों का लय होता है। अनेक प्रकार की ब्रह्म की उपासना करते हुए एवं अभेद की भावना रखते हुए, भगवान् के सत्, चित् और आनन्द अंश से उत्पन्न हुए जगत को कार्य के रूप में पृथक जानते होने के बावजूद कारण (ब्रह्म) के साथ उसका अभेद देखने में आए उसी को यहाँ ब्रह्मवादियों अथवा ज्ञानियों का ब्रह्म यज्ञ होना कहा गया है।

ब्रह्मसूत्र के सूत्र 1/1/33 के संदर्भ में अणुभाष्य में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिन: पर्युपासते।।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। 25।।

अन्वय :

अपरे – अन्य ; सर्वनाम, प्र.ब.व. ।

योगिनः – योगीजन ; प्र.ब.व.पु.

दैवम् – देव सम्बन्धी पूजन ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. ''दैव''।

यज्ञम् – यज्ञ को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''यज्ञ''

एव – ही ; अव्यय।

पर्युपासते – भली – भांति उपासना करते है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. परि + उप + आस. 2 गण, आत्मने

च – और ; अव्यय।

अपरे – अन्य; सर्वनाम, प्र.ब.व.

ब्रह्माग्नौ – परब्रह्मरूप अग्नि में ; नाम, स.ए.व. ''अग्नि''

यज्ञेन – यज्ञ के द्वारा; नाम, तृ.ए.व.

एव – ही ; अव्यय।

यज्ञम – यज्ञ को; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''यज्ञ''

उपजुह्वति – हवन करते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.उप + हु 3 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : कोई योगीजन दैव यज्ञ की ही उपासना करते हैं। अन्य यज्ञ को ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही हवन करते हैं।

विवेचन : इस प्रकार ब्रह्मकर्म ब्रह्मभाव का ज्ञान प्राप्त करने का साधन है, इतना निदर्शन कर कहते हैं कि अधिकार भेद से अलग – अलग अधिकारी अलग – अलग यज्ञ करते हैं। उपर्युक्त निरूपण के अनुसार, ज्ञानी – ब्रह्मवादी ब्रह्माग्नि में ब्रह्मरूपी यज्ञ को ब्रह्मरूपी यज्ञ से हवन करते हैं।

विशेष : ऊपर के श्लोक में बताई गई प्रक्रिया किसी विलक्षण प्रकार के, शिखर पर पहुँचे हुए आरूढ़ ज्ञानी के संबंध में बताई गई है। आरूढ़ भक्त की स्थिति और आरूढ़ कर्मी की स्थिति इस श्लोक में समझाई गई है। आरूढ़ भक्त उपासना मार्ग में प्रवेश कर किसी न किसी देव के अर्चन – पूजन द्वारा अपनी

समस्त क्रिया उसको अर्पण करता है। आरूढ़ कर्मी सामान्यतः अपने नित्यकर्म और नैमित्तिक कर्म वेदादि मंत्रों द्वारा करता है। इन कर्मों में भी अलग–अलग समय में अलग–अलग देवों के निमित्त आहुति देकर अपने द्वारा निर्धारित अग्नि में पंचविधि से अपनी क्रिया पूर्ण करता है और शिष्ट आहुति अच्युत के भाव से अग्नि को अर्पण करता है। कर्म में किसी प्रकार की खामी न रहे इस हेतु से यह शिष्ट आहुति दी जाती है। इस प्रकार अपनी क्रिया जारी रखते हुए यज्ञ – भगवान् के निकट परिचय में आ जाता है और फिर धीरे–धीरे मुक्त भी हो जाता है। यह इन सबकी आरूढ़ दशा होने से पूर्णभाव से अपनी क्रिया करते हैं।

श्रोत्रादीन् इन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।।
शब्दादीन् विषयान् अन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। 26।।

अन्वयः

अन्ये–अन्य ; नाम, प्र.ब.व.पु. ।

श्रोत्रादीनि – श्रोत्र इत्यादि ; नाम, द्वि.ब.व.नपु. ''श्रोत्र''

इन्द्रियाणि – इन्द्रियाँ ; नाम, द्वि.ब.व.नपु. ''इन्द्रिय''।

संयमाग्निषु – संयमरूपी अग्नियों में ; नाम, स.ब.व.पु. ''अग्नि''

जुह्वति – हवन करते हैं ; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. ''हु'' 3 गण, परस्मै

अन्ये – अन्य, दूसरे ; नाम, प्र.ब.व.पु. ।

शब्दादीन् – शब्द आदि ; नाम, द्वि.ब.व.पु.

विषयान् – विषयों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु. ''विषय''।

इन्द्रियाग्निषु – इन्द्रिय रूपी अग्नियों में ; नाम, स.ब.व.पु. ''अग्नि''

जुह्वति – हवन करते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''हु'' 3 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : अन्य श्रोत्र आदि इंन्द्रियों का संयमाग्नि में हवन करते हैं। अन्य कुछेक शब्द आदि विषयों का इंद्रियाग्नि में हवन करते हैं।

विवेचन : श्रोत्र आदि इंद्रियों का संयमाग्नि में हवन करते हैं, अर्थात योग से मुझको प्राप्त करने की इच्छा से (मेरी) प्राप्ति में प्रतिबंध करने वाली इंद्रियों का

संयम करते हैं। अन्य शब्दादि विषयों का उस-उस इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं।

विशेष : यह श्लोक योग परिचर्या का विषय समझाता है। इस वर्ग का स्वीकृत पक्ष यह होता है कि शरीर के प्रत्येक विभाग और आन्तर इंद्रियों के संयम द्वारा अपनी इष्ट सिद्धि करने में तत् - तत् देव सहायक रूप होते हैं तथा अपने नित्य व्यवहार और नैमित्तिक व्यवहार में उन देवों की सहायता ली जाती है। इष्ट सिद्धि जब पूर्ण भाव तक आती है तो ये सभी देव मुख्य देव ब्रह्म के अंगरूप होने से ब्रह्म में योग की पूर्णता होती है।

श्लोक 25 से 30 योग विषयक हैं। अलग-अलग प्रकार से उनमें प्रवृत्त होने वाले योगियों की परिस्थिति समझाते हैं। यद्यपि प्रकार तो अलग-अलग बताते हैं परंतु वास्तव में प्रत्येक प्रकार ब्रह्म के साथ सम्बन्ध करने में उपयोगी सिद्ध होता है। इस वर्ग को किसी भी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा दिखाई नहीं देती। मात्र नियमन पर विशेष भार दिया जाता है और इस नियमन द्वारा अन्तः करण की शुद्धि होते-होते परमात्म भाव को अंगीकार करना ही पड़ता है। यहाँ परमात्मा ब्रह्मवाचक है। यज्ञ के अनेक प्रकार हैं। यज्ञ का उपयोग मात्र परमात्मा की संतुष्टि के लिए है। इस प्रकार जिसकी जैसी गति और शक्ति होती है उसी प्रमाण में वह अपनी नियत यज्ञ क्रिया में जुड़कर पूर्णभाव से यज्ञ रूप परमात्मा में अपना विनिमय करता है। ध्यान में केवल इतना ही रखना आवश्यक है कि 1. भूत 2.मात्रा 3. इन्द्रिय 4. क्रिया 5. मनचतुष्टय और 6. जीव। इन 6 का विनियोग परमात्मा में करना है। इतना होने पर सर्वकार्य सिद्ध होते हैं।
1. भूत में पंचमहाभूत 2.मात्रा में पंचतन्मात्रा 3. इन्द्रिय में पंचकर्मेन्द्रिय
4. क्रिया में पंच परिणाम भाव 5. मनचतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार
6. जीव में जीवन भाव 7. गुणत्रय 8. प्रकृति 9. ईश्वर 10. गुणाधिष्ठातृ देवता।

सर्वाणीन्द्रीय कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। 27।।

अन्वयः

अपरे - अन्य ; सर्वनाम, प्र.ब.व.।

सर्वाणि - सम्पूर्ण ; सर्वनाम, द्वि.ब.व.नपु,

इन्द्रियकर्माणि - इन्द्रिय कर्म, चेष्टाएं ; नाम, द्वि.ब.व.नपु.।

च - और ; अव्यय

प्राणकर्माणि - प्राण के कर्मों को ; नाम, द्वि.ब.व. नपु.।

ज्ञानदीपिते - ज्ञान से प्रदीप्त हुई विशे. वि. ''योगाग्नौ''

आत्मसंयमयोगाग्नौ - आत्मा के संयम रूप योगमय अग्नि में ; नाम, स.ए.व.पु.

जुह्वति - हवन करते हैं ; तृ.पु.ब.व. ''हु'' 3 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अन्य (योगीजन) सर्व इन्द्रियों के कर्मों को तथा प्राण - कर्मों को ज्ञान से प्रदीप्त आत्मसंयम रूप योगाग्नि में हवन करते हैं।

द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञा योगयज्ञाः तथाऽपरे।।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रता।। 28।।

अन्वय :

अपरे - अन्य ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ''अपर''।

द्रव्ययज्ञाः- द्रव्यमय यज्ञ ; नाम, प्र.ब.व.पु.

तथा - और ; अव्यय।

तपोयज्ञाः - तपमय यज्ञ ; नाम, प्र.ब.व.पु.

अपरे - अन्य (कई) ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ''अपर''।

योगयज्ञाः - योगमय यज्ञ ; नाम, प्र.ब.व.पु.

च - और ; अव्यय।

संशितव्रताः - तीव्र व्रत धारण करने वाले ; नाम, प्र.ब.व.

यतयः - मुनिजन, यत्नशील योगी ; नाम, प्र.ब.व.।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञा : - अध्ययनद्वारा ज्ञानरूपी यज्ञ ; नाम, प्र.ब.व. कुर्वन्ति - करते हैं ; क्रियापद, प्र.ब.व. ''कुर्वन्''

श्लोकार्थ : अन्य व्रत पालने वाले यति द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ करने वाले होते हैं।

विवेचन : द्रव्य यज्ञ करने वाले गृहस्थाश्रमी, तपोयज्ञ करने वाले वानप्रस्थी, योगयज्ञ करने वाले योगी, स्वाध्याय यज्ञ करने वाले ब्रह्मचारी और ज्ञानयज्ञ करने वाले ज्ञानी होते हैं। सब अपने – अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। 29।।

अन्वय ;
केचन – कई एक ;
अपाने – अपान वायु में ; नाम, स.ए.व.पु.
प्राणम् – प्राणवायु को ; नाम, द्वि.ए.व.प. ''प्राण''।
जुह्वति – हवन करते हैं , क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''हु'' 3 गण परस्मै
तथा – इसके अलावा ; अव्यय।
अपरे – अन्य ;
प्राणे – प्राण में ; नाम, स.ए.व. ''प्राण''।
अपानम् – अपान वायु को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''अपान''।
जुह्वति – हवन करते हैं ; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. ''हु'' 3 गण, परस्मै
अपरे – अन्य ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ''अपर''।
प्राणापानगती – प्राण और अपान की गति को ; नाम, द्वि.द्विव. स्त्री.
रूद्ध्वा – रोककर ; विधेय कृदन्त।
प्राणायामपरायणाः – प्राणायाम परायण ; नाम, प्र.ब.व.
भवति – होते हैं ; क्रियापद

श्लोकार्थ : कोई अपान में प्राण का हवन करते हैं। अन्य कई प्राण में अपान का हवन करते हैं और कोई प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम परायण रहते हैं।

विवेचन : अपान में अर्थात अधः स्थित प्राण में, प्राण अर्थात ऊर्ध्वस्थ प्राण का हवन करते हैं। इसको ''पूरक'' विधि कहते हैं। अन्य कई प्राण में अपान का

हवन करते हैं। इसको ''रेचक'' विधि कहते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई कुम्भक विधि से प्राण और अपान दोनों की गति को रोककर ''प्राणायाम परायण'' रहते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। 30।।

अन्वयः
अपरे – अन्य ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ''अपर''
नियताहाराः – नियत आहार वाले ; विशेषण, वि. ''अपरे''
प्राणान् – प्राणवायुओं को ; नाम, द्वि.ब.व.पु. ''प्राण''
प्राणेषु – प्राणों में ; नाम, स.ब.व.
जुह्वति – हवन करते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''हु'' 3 गण, परस्मै।
इत्थं – इस प्रकार से
यज्ञक्षपितकल्मषाः– यज्ञ से जिनके पाप नष्ट हो गए हैं ; विशेषण, वि. ''एते''
एते – ये ; सर्वनाम, प्र.ब.व. ''एतद्'' पु.।
सर्वे – सब ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ''सर्व''
अपि – भी ; अव्यय।
यज्ञविदः– यज्ञों को जानने वाले ; नाम, प्र.ब.व.पु. ''यज्ञवित्''
सन्ति – हैं ; क्रियापद, तृ.पु.ब.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : दूसरे कितने ही नियत आहार वाले प्राण का प्राण में हवन करते हैं। ये सब भी यज्ञ को जानने वाले हैं। उनके पापों का यज्ञ से क्षय हो गया है।

विवेचन : दूसरे कई नियत आहार लेते हैं और आहार से तृप्त होने वाली प्राण की वृत्तियों का प्राण में ही हवन करते हैं। ऊपर अलग–अलग यज्ञ करने वालों का वर्णन किया गया है। वे सब यज्ञ को जानने वाले हैं और उन सब के पापों का यज्ञ से क्षय हो गया होता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञश्च कुतोऽन्यः कुरुसत्तम!।।31।।

अन्वयः

कुरुसत्तम – कुरुश्रेष्ठ ; सम्बोधन।

यज्ञशिष्टामृतभुजः – यज्ञ में से अवशिष्ट रहे अमृत का भोग करने वाले ; विशेषण , वि. ''पुरुषाः यज्ञात् अवशिष्टं अमृतं भुञ्जन्ति इति'' उपपद

सनातनम् – सनातन ; विशेषण, वि. ''ब्रह्म''

ब्रह्म – ब्रह्म ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. ''ब्रह्मन्''

यान्ति – जाते हैं, प्राप्त होते हैं; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. ''या'' 2 गण परस्मै

अयज्ञस्य – यज्ञ रहित के लिए, यज्ञ न करने वाले के लिए ; नाम, ष.ए.व.।

अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''इदम्'' पु.

लोकः – लोक ; नाम, प्र.ए.व.पु.

सुखकारकः– सुखप्रद

न – नहीं ; अव्यय

अस्ति – है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''अस्'' 2 गण, परस्मै

तर्हि – तो फिर ; अव्यय।

अन्यः– दूसरा (लोक), परलोक ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.

कुतः – कहाँ से ; अव्यय (सुखदायकः भविष्यति? = सुखदायक होगा?)

श्लोकार्थ : यज्ञ के अवशिष्ट अमृत का भोग करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। हे कुरुसत्तम! यज्ञ न करने वालों को यह लोक भी (सुखदायक) नहीं है। फिर अन्य तो कहाँ से होगा?

विवेचन : यज्ञ करते हुए अवशिष्ट अमृत का जो भोग करते हैं उनको परब्रह्म की प्राप्ति होती है। यज्ञ नहीं करने वालों को यह लोक भी सुखप्रद नहीं होता। यज्ञ न करने वालों को इस अल्पानन्द लोक में अल्प आनंद की प्राप्ति भी नहीं होती तो अन्य लोक की अर्थात दिव्य लोक की प्राप्ति कहाँ से होगी? अतः यज्ञ

अवश्य करना चाहिए। ब्रह्मज्ञानियों को कर्म का त्याग करना होता है, वे भी ऊपर वर्णित ब्रह्म यज्ञ करते हैं। अतः कर्म किए बिना तो कोई एक क्षण भी रह नहीं सकता – यह स्पष्ट होता है। अतः यज्ञ अवश्य करने।

विशेष : यज्ञ क्रियात्मक और ज्ञानात्मक होते हैं। क्रियात्मक यज्ञ में क्रिया का प्राधान्य है और उसमें अलग – अलग देवों का यजन होता है तथा उसी प्रकार से आहुति भी दी जाती है। ये सब अलग–अलग देव परमात्मा के अलग–अलग अंग रूप हैं। यही कारण है कि इनके द्वारा परमात्मा को पूजन और निवेदन पहुंचता है। इसके पश्चात अवशिष्ट रहा पदार्थ निष्पाप बन जाता है। निष्पाप पदार्थ का सेवन, अन्तः करण को शुद्ध बनाते हुए, ब्रह्म रस का पान करने के योग्य बनाता है।

ज्ञानात्मक यज्ञ स्वाध्याय के द्वारा अन्तःकरण के विचारों को शुद्ध भाव की तरफ ले जाता है। इस प्रकार भी अतः करण शुद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि क्रियात्मक यज्ञ अथवा ज्ञानात्मक यज्ञ ब्रह्म रस का पान करा सकता है। इसी को ''अमृत'' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के अमृत का उपभोग करते–करते ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त किया जा सकता है। कई इसको मोक्ष भी कहते हैं। वस्तुतः आनन्दमय स्वरूप के साथ का सम्बन्ध सनातन ब्रह्म कहा जाता है। इस प्रकार के अमृत का उपभोग जिनको प्राप्त नहीं हो पाता उनका जीवन केवल भार स्वरूप है। इस प्रकार उनके लिए यह लोक भी निरूपयोगी हो जाता है और परलोक भी निरूपयोगी हो जाता है। यद्यपि इनके जीवन–मरण का विषय तो सतत रहता ही है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।32।।

अन्वयः

एवम् – इस प्रकार ; अव्यय।

बहुविधाः – बहुत प्रकार के ; विशेषण, वि. ''यज्ञाः''

यज्ञाः – यज्ञ ; नाम, प्र.ब.व.पु.।

ब्रह्मणः – ब्रह्मा के ; नाम, ष.ए.व.पु.।
मुखे – मुख में ; नाम, स.ए.व.।
विततः – विस्तार को प्राप्त ; विशेषण, वि. ''यज्ञाः''
सन्ति – है ; क्रियापद, तृ.पु.ब.व. ''अस्''।
तान् – उनको ; सर्वनाम, द्वि.ब.व. ''सर्व'' पु.।
सर्वान् – सब को; सर्वनाम, द्वि. ब. व. 'सर्व' पु.
कर्मजान् – कर्म से उत्पन्न हुए ; नाम, द्वि.ब.व.पु.
विद्धि – जान ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. ''विद्'' 2 गण, आत्मने
एवम् – इस प्रकार ; अव्यय।
ज्ञात्वा – जानकर ; विधेय कृदन्त।

विमोक्ष्यसे – मोक्ष को प्राप्त होगा, मुक्त हो जाएगा ; क्रि. कर्मणि भविष्यकाल, द्वि.पु.ए.व. ''वि+मुच्'' 6गण

श्लोकार्थ : इस प्रकार वेद में कई प्रकार के यज्ञों का विस्तार से वर्णन है। उन सबको तू कर्मजन्य जान। ऐसा जानकर तू मुक्त हो जाएगा।

विवेचन ; वेद में, ऊपर के वर्णन के अनुसार, कई प्रकार के यज्ञ विस्तार से कहे गए हैं। वे सब यज्ञ कर्म से अथवा क्रिया से सिद्ध होते हैं – यह समझ। यह जान लेने से तुझे मोक्ष प्राप्त होगा।

विशेष : वेद में अनेक प्रकार के यज्ञ बताए गए हैं। ये सभी यज्ञ रजोगुणमय हैं, तथापि दीर्घ काल तक निष्काम भाव से किए जाएँ तो निश्चय ही भावनाओं को बदलते हैं और अन्तः करण में निश्चित रूप से सात्त्विक भावनाओं का उदय होता है। सात्त्विक भावनाएँ सात्विक विचारों को जागृत करती हैं और इस प्रकार जिन – जिन ज्ञानपोषक भावों का प्राकट्य हृदय में होता है उन–उन प्रकार के साधनों का चित्त अवलम्बन करता है। इस अवलम्बन के आधार पर अपने विचार परमात्मा की ओर उन्मुख होते हैं और ब्रह्म भाव का प्रस्फुटन करते हैं।

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप!।।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते।। 33।।

अन्वयः
परन्तप – अर्जुन, शत्रु को ताप देने वाला ; सम्बोधन।
द्रव्यमयात् – द्रव्ययुक्त ; विशेषण वि. ''यज्ञात्''
यज्ञात् – यज्ञ से ; नाम, पं.ए.व.पु. ''यज्ञ''।
ज्ञानयज्ञः – ज्ञानरूपी यज्ञ ; नाम, प्र.ए.व.पु.
श्रेयान् – अधिक श्रेष्ठ ; विशेषण, विशेष्य ''ज्ञानयज्ञ''।
यतः – क्योंकि ; अव्यय
पार्थ – अर्जुन ; सम्बोधन।
सर्वम् – सम्पूर्ण ; सर्वनाम प्र.ए.व. ''सर्व'' नपु.
अखिलम् – समस्त, जिनमें पाप नहीं है; विशेषण वि. 'कर्मन्'
कर्म–कर्म ; नाम, प्र. ए.व. 'कर्मन्' नपु.
ज्ञाने – ज्ञान में ; नाम, स.ए.व.पु.
परिसमाप्यते – परिणाम को प्राप्त होता है ; क्रि.व.का.कर्माणि परि+सम्+आप् 5 गण

श्लोकार्थ : हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ अधिक श्रेष्ठ है। हे पार्थ! सभी कर्म ज्ञान में पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं।

विवेचनः इस प्रकार भिन्न–भिन्न यज्ञों का बोध कराके यह खुलासा करते हैं कि अन्य सब यज्ञों की अपेक्षा सांख्य और योग का एकार्थ रूप ब्रह्मात्मक ज्ञान यज्ञ उत्तम है क्योंकि उसमें सब कर्म ज्ञान में पूर्णतः अर्थात फल सहित समाहित हो जाते हैं।

श्रीभागवत के श्लोक सं. 10/81/38के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया।

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः।। 34।।

अन्वयः

पार्थ – हे अर्जुन; सम्बोधन।

त्वम् – तू ;

तत् – उस ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''तत्'' नपु.।

ज्ञानम् – ज्ञान ; नाम, प्र.ए.व. नपु.

प्रणिपातेन – दण्डवत् प्रणाम से ; नाम, तृ.ए.व.पु.।

परिप्रश्नेन – निष्कपट प्रश्नों की परम्परा से ; नाम, तृ.ए.व.पु.

च– और ; अव्यय।

सेवया – सेवा से, सेवा के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व.स्त्री.

प्राप्यते इति – प्राप्त होता है (ऐसा) ; क्रियापद।

विद्धि – जान ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. ''विद्'', 2 गण

एवम् – इस प्रकार से ; ।

तत्त्वदर्शिनः– तत्त्व को देखने वाले (तत्त्वदर्शी), मर्म को समझने वाले ; नाम.प्र.ब.व.

ज्ञानिनः – ज्ञानीजन ; नाम, प्र.ब.व.।

ते–तुझको ; सर्वनाम, च.ए.व. ''युष्मद्''

ज्ञानम् – ज्ञान ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।

उपदेक्ष्यन्ति – उपदेश करेंगे ; क्रि. भविष्यकाल, तृ.पु.ब.व. उप+दिश्, 6गण

श्लोकार्थ : दण्डवत् प्रणाम के द्वारा, निष्कपट भाव से पूछे गए प्रश्नों के द्वारा और सेवा से उस ज्ञान को तू जान। तत्त्व को देखने वाले (समझने वाले ज्ञानीजन) तुझको ज्ञान का उपदेश करेंगे।

विवेचन : प्रणिपात अथवा अपना अमानित्व दर्शाने वाला कायिक प्रणाम करते हुए, परिप्रश्न अर्थात प्रणयपूर्वक बारम्बार प्रश्न करते हुए और सेवा के

द्वार तू उस ज्ञान को जान। ज्ञान की प्राप्ति प्रणाम और प्रणयपूर्वक (विनयपूर्वक) प्रश्न पूछने से तथा ज्ञानियों की सेवा करने से होती है– ऐसा जान। तुझको तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन ज्ञान का उपदेश करेंगे।

यज् ज्ञात्वा न पुनर् मोहम् एवं यास्यसि पाण्डव!।।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। 35।।

अन्वयः

यत् – जिसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.।

ज्ञात्वा – जानकर ; विधेय कृदन्त

त्वम् – तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मद्''।

पुनः एवम् – फिर से इस प्रकार ; अव्यय

मोहम् – मोह को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''मोह''।

न – नहीं ; अव्यय

यास्यसि – तू प्राप्त करेगा ; क्रि. भ.का. द्वि.पु.ए.व. ''या'', 2 गण।

पाण्डव – अर्जुन ; सम्बोधन

येन – जो ; सर्वनाम, तृ.ए.व. ''यत्''।

ज्ञानेन – ज्ञान के द्वारा ; तृ.ए.व.

आत्मनि – आत्मा में ; नाम, स.ए.व.पु. ''आत्मन्''।

अशेषेण – सम्पूर्णता से ; नाम, तृ.ए.व.पु. ''अशेष''

भूतानि – भूतों को, प्राणियों को ; नाम, द्वि.ब.व. नपु।

द्रक्ष्यसि – देखेगा ; क्रि. भवि.का. द्वि.पु.ए.व. ''दृश्'' (पश्य्), 1गण

अथ उ – तत्पश्चात् पूरक ; अव्यय।

मयि – मुझ में ; सर्वनाम, स.ए.व. ''अस्मद्''

(सर्वाणि भूतानि द्रक्ष्यति = सब भूतों को देखेगा ; क्रियापद)

श्लोकार्थ : हे पाण्डव! उसको (तत्त्व ज्ञान को) जान लेने के पश्चात् तुझे पुनः इस प्रकार का मोह नहीं होगा। अतः सब भूतों को तू अपने में (स्वयं में) और मुझ में देखेगा।

विवेचन : यहाँ से साढ़े तीन श्लोक तक ज्ञान का फल कहते हैं। सांख्य और योग का एकार्थरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान तुझको प्राप्त होगा। उसके पश्चात् तुझको इस प्रकार का मोह प्राप्त नहीं होगा तथा चिदंशभूत सब प्राणियों को तू चेतन पुरुष में और मुझ में देखेगा। यह श्लोक – **''तत् त्वम् असि''** – नाम महावाक्य को समझाता है।

अपि चेद् असि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 36।।

अन्वयः

चेद – यदि ; अव्यय।
त्वम् – तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मद्''
सर्वेभ्यः – सब की अपेक्षा ; सर्वनाम, पं.ब.व.।
पापेभ्यः – पापियों की अपेक्षा ; नाम, पं.ब.व.नपु. ''पाप''
अपि – भी ; अव्यय।
पापकृत्तम :– सबसे अधिक पाप करने वाला ; नाम, प्र.ए.व.
असि – तू हो जाएगा ; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. ''अस्'' 2 गण, परस्मै।
तदापि – तब भी ; अव्यय
ज्ञानप्लवेन – ज्ञान रूपी नौका से ; नाम, तृ.ए.व.।
एव – मात्र ; अव्यय
सर्वम् – समस्त ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.।
वृजिनम् – पाप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''वृजिन्''
संतरिष्यसि-सम्यक् रूपेण तर जाएगा; क्रि.भवि.का.द्वि.पु.ए.व. सम्+तृ, 1 गण परस्मै

श्लोकार्थः इसके अतिरिक्त यदि (तू) सब पापियों से भी अधिक पापी होगा तो भी ज्ञान रूपी नौका से ही सब पापों से सहजता से तर जाएगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निः भस्मात्कुरूतेऽर्जुन! ।।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात् कुरूते तथा ।। 37।।

अन्वयः

अर्जुन-अर्जुन; सम्बोधन ।
यथा-जिस प्रकार; अव्यय
समिद्धः -प्रज्वलित; विशेषण,वि. ''अग्नि'' भू. कृ. सम्-इध्, 7गण
अग्निः - अग्नि; नाम, प्र.ए.व.पु. ''अग्नि''।
एधांसि-ईंधन, लकड़ियाँ;नाम, द्वि.ब.व. ''एधस्'' नपु.
भस्मात्- भस्ममय; नाम, अव्ययी प्रयोग,सात् प्रत्यय।
कुरूते-करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''कृ'' 8गण, आत्मने
तथा - उसी प्रकार ; अव्यय
ज्ञानाग्निः - ज्ञान रूपी अग्नि ; नाम, प्र.ए.व.
सर्वकर्माणि - सभी कर्मों को ; नाम, द्वि.ब.व. 'सर्वाणि च कर्माणि च' द्वन्द्व
भस्मसात्- भस्ममय ; नाम अव्ययी भाव प्रयोग 'सात्' प्रत्यय
कुरूते-करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''कृ'' 8 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ को भस्मसात् कर देती है वैसे ही ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्मसात् कर देती है।

विवेचन : पिछले श्लोक में पाप को समुद्र मानकर ज्ञान को नौका कहा गया है परन्तु समुद्र अगाध और विस्तृत होने से और नौका छोटी होने से कदाचित् नौका के समुद्र में डूब जाने का भय रहने के कारण पुनः ज्ञान का प्राबल्य दर्शाने वाला दूसरा दृष्टांत कहते हैं। जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ को भस्मसात् कर देती है वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को जलाकर भस्मसात् कर देती है।

ब्रह्मसूत्र के सूत्र 4/1/13 के संदर्भ में अणुभाष्य में तथा श्रीभागवत् के श्लोक 1/5/25, 10/61/32 और 10/71/33 के संदर्भ मे श्री सुबोधनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

विशेषः पिछले श्लोक में बताया गया कि ज्ञान रूपी नौका से तू तर जाएगा। इस वस्तुस्थिति को इस श्लोक में और अधिक स्पष्ट करते हैं। जीव का आत्मा के

साथ शाश्वत सम्बन्ध है परन्तु यह सम्बन्ध कर्मवशात् दूर हो गया है। अर्थात इसके पूर्वस्वरूप में हीनता आ जाती है। इस हीनता और मोह के वश होकर वह किसी न किसी फल की आशा से कर्म करते चला जाता है और अपने भगवत्सम्बन्ध अर्थात ब्रह्म के साथ के सम्बन्ध को भूल जाता है। इस सम्बन्ध को बताने के लिए उसको ज्ञान की जरूरत पड़ती है। ज्ञान, इस सम्बन्ध के बारे में बताता है। इतना ही नहीं, बल्कि यह भी बताता है कि जीव ब्रह्म का अंश है; तात्पर्य कि, ब्रह्म जैसा ही है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं अर्थात तब कर्म अपना फल देने में समर्थ नहीं रहते।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते।।
तत् स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। 38।।

अन्वय :

हि – निश्चित ; अव्यय।
इह – इस लोक में ; अव्यय
ज्ञानेन – ज्ञान से ; नाम, तृ.ए.व.नपु.।
सदृशम् – जैसा ; अव्यय
पवित्रम् – पवित्र करने वाला ; विशेषण, वि. ''साधनम्''।
न – नहीं ; अव्यय
विद्यते – जाना जाता है ; क्रि.व.का.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. ''विद्'' 2 गण।
तत् – वह ज्ञान ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.।
कालेन – समय पर, उचित समय आने पर ; नाम, तृ.ए.व.पु. ''काल''
स्वयम् – स्वयं, स्वयं ही ; सर्वनाम, अव्यय।
योगसंसिद्ध : – योग के द्वारा सिद्ध हुआ, समत्व बुद्धि रूप योग से शुद्ध अन्तःकरण वाला, विशेषण, वि. ''पुरुष''।
आत्मनि – आत्मा में ; नाम, स.ए.व.पु. ''आत्मन्''।
विन्दति – प्राप्त करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. ''विद्'' 6गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : ज्ञान के समान पवित्र यहाँ कुछ नहीं है। योग से सिद्ध हुआ पुरूष स्वयं समयानुसार वह ज्ञान अपने भीतर प्राप्त करता है।

विवेचन : तप, ध्यान आदि साधनों में से ज्ञान के समान पवित्र कोई भी साधन नहीं है। सांख्य रूप ज्ञान भी योगसिद्ध पुरूष समयान्तराल से अपने भीतर प्राप्त कर लेता है। कोई केवल सांख्य को प्राप्त करता है और कोई केवल योग को प्राप्त करता है परन्तु सांख्य और योग के एकार्थरूप इस ज्ञान का प्राप्त होना कठिन है।

विशेष : ज्ञान को यहाँ पवित्र माना गया है। इससे यह अर्थ द्योतित नहीं होता कि लोकसम्बन्धी व्यवहार वाला ज्ञान पवित्र है। इस प्रकार का ज्ञान तो जीव की अधोगति ही करता है। तात्पर्य यह है कि वासना से आबद्ध को आबद्ध ही रखता है।

समभाव वाले ज्ञान का अर्थ है – ब्रह्मज्ञान अथवा श्रीवासुदेव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, इस प्रकार का ज्ञान। यह ज्ञान जिस मार्ग पर चलने से प्राप्त होता है उस मार्ग को योग की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार के योग का कुछ समय तक सेवन करते रहने से परागति अथवा परमज्ञान अथवा उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। अविद्या, प्रकृति और अज्ञान – ये तीनों माया के संबंध से अपने-अपने विलक्षण कार्यों को अंजाम देते हैं। जब किसी जीव का अविद्या और माया से संबंध होता है तो उस स्थिति में जीव कर्मपरायण बनता है। तात्पर्य, कि उसका मन कभी-कभार अलग-अलग प्रकार के कर्म करने का हो जाता है। और इसके द्वारा वह लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है।

प्रकृति, जीव का एक मूल भाव प्रकट करती है और उस मूल भाव के हिसाब से ही उसकी प्रवृत्ति चालू रहती है। माया का इसके साथ सम्बन्ध होता है। वह कुछ अलग-अलग प्रपञ्च व्यक्त करती है, परन्तु प्रवृत्ति में माया की तुलना में एक विशेष सामर्थ्य कही गई है। इस कारण से उसकी प्रवृत्ति अपनी सामान्य

स्थिति में ही कार्यरत रहती है। वह उसको (जीव को) कोई भी विशेष पक्ष अंगीकार करने नहीं देती।

कोई - कोई जीव केवल अज्ञान का ही ग्रहण करके रहता है। ऐसे जीव में तामस भाव अथवा जड़ भाव अपेक्षाकृत अधिक होता है। इस प्रकार का बुद्धि का जड़ भाव उसको करणीय-अकरणीय का विचार नहीं करने देता। इसलिए उसको स्वयं का हिताहित समझ में नहीं आता। यह परिस्थिति गंभीर है क्योंकि यह अंधकारमय अवस्था को ही भोगना है। उसकी (ऐसे जीव की) अज्ञानता अन्य को लाभकारक होती है। इस प्रकार की मूढ़दशा विषमता ही उत्पन्न करती है।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति।।39।।

अन्वयः

संयतेन्द्रियः- संयत किया हुआ है इन्द्रियों को जिसने ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''

तत्परः - तत्पर, ज्ञानलीन ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''।

श्रद्धावान् - श्रद्धायुक्त ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''

ज्ञानम् - ज्ञान को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।

लभते - प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''लभ्'' 1 गण, आत्मने

ज्ञानम् - ज्ञान को ; नाम, द्वि.ए.व. नपु.।

लब्ध्वा - प्राप्त करके ; विधेय कृदन्त

अचिरेण - अविलम्ब ; अव्यय।

पराम् - श्रेष्ठ,ब्रह्ममयी ; विशेषण, वि. ''शान्तिम्'',

शान्तिम् - शान्ति को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'शान्ति'

अधिगच्छति - मिलता है, प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''अधि+गम्'' परस्मै 1 गण

श्लोकार्थ : श्रद्धावान, ज्ञानपरायण और इन्द्रियों को नियम में रखने वाला ज्ञान प्राप्त करता है तथा ज्ञान प्राप्त करके कुछ समय के पश्चात् परा गति को प्राप्त करता है।

विवेचन : उत्तम ज्ञान का दान किसको करना, यह निश्चित करने के लिए गुरू शिष्य की श्रद्धा का परीक्षण करता है। अतः श्रद्धावान् को ही ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धावान, ज्ञानपरायण और इंद्रियों का संयम रखने वाला पुरूष ज्ञान प्राप्त करता हैं। ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् परा शान्ति अथवा चित्त की शान्ति प्राप्त होती है।

विशेष : श्रद्धा, संकल्प और धैर्य इन तीन की विशेष आवश्यकता बताई गई है। गुरुवाक्य, प्रमाणवाक्य और शास्त्र वाक्य में श्रद्धा रखनी चाहिए। ''संकल्प'' अर्थात् निश्चय - विचार। धैर्य के द्वारा जीव को किसी भी कार्य मेंआती कठिनाईयों को सहन करने की शक्ति बढ़ती है। सहन शक्ति के बढ़ने से लालच दूर होकर लोलुपता घटती जाती है। लोलुपता घटने से पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। इस प्रकार का नियन्त्रण स्थिर हो जाता है तब सम (शान्ति), दम, तितिक्षा और उपरति प्राप्त होती है। इस स्थिति को इन्द्रिय विजय कहा जाता है। अभ्यास में भी इस प्रकार की विजय की आवश्यकता है। यह स्थिति क्रमेण ज्ञान को सिद्ध करती है जिससे परम शान्ति मिलती है। सम = शान्ति, अर्थात चित्त की शान्ति, दम अर्थात दमन (इन्द्रियों पर नियन्त्रण), तितिक्षा = सारासार का विचार करके सार ग्रहण करने की शक्ति का विस्तार और उपरति = सांसारिक पदार्थों में क्लेशभाव ही उत्पन्न होता है, ऐसा मानकर इस तरफ की (सांसारिक पदार्थों की) ममता को निकाल दूर करना।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। 40।।

अन्वय :

अज्ञः - भगवत् तत्त्व को न जानने वाला ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''।

च – और ; अव्यय

अश्रद्दधानः – अश्रद्धालु; व.कृ. विशेषण, वि. 'पुरुष'

च – और ; अव्यय

संशयात्मा – जिसका अन्तःकरण संशय वाला है, वह ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''

विनश्यति – नाश को प्राप्त होता है, परम सुख से भ्रष्ट होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.वि. + नश् 4 गण, परस्मै

संशयात्मनः – संशययुक्त अन्तःकरण वाले को ; नाम, ष.ए.व.पु. ''संशय एव आत्मा यस्य इति'' बहु.

न – नहीं ; अव्यय।

अयम् – इस ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''इदम्'' पु.

लोकः – लोक ; नाम, प्र.ए.व.पु. ''लोक''।

अस्ति – है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. ''अस्'' 2 गण

च – और ; अव्यय।

सुखम् – सुख ; नाम, प्र.ए.व.नपु.

न – नहीं ; अव्यय

अस्ति – है ; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : अज्ञ, श्रद्धारहित और संशय युक्त विनाश को प्राप्त होता है। संशय युक्त को इस लोक, परलोक और सुख की प्राप्ति नहीं होती।

विवेचन : श्रद्धा बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता – यह कहकर स्पष्ट करते हैं कि जो श्रद्धारहित होता है वह अधिकारी नहीं होता, यह सिद्ध होता है। आगे यह भी स्पष्ट करते हैं कि अन्य अनधिकारी कौन – कौन हैं। अज्ञ अर्थात प्राप्त हुए उपदेश का जो अर्थ भी न जानता हो वह अज्ञानी भी है और अधिकारी भी नहीं है। ज्ञान हो लेकिन श्रद्धा न हो वह भी अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार संशययुक्त भी अधिकारी नहीं है। संशययुक्त को किसी भी प्रकार का निश्चय नहीं होता इसलिए वह ज्ञान का अनधिकारी ही है। उसको इहलोक, परलोक

अथवा सुख प्राप्त नहीं होता। अतः संशय वाला न होकर निश्चयात्मिका बुद्धि रखना उचित है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!।। 41।।

अन्वयः

धनञ्जय – हे अर्जुन ; सम्बोधन।

योगसंन्यस्तकर्माणम् – समत्व बुद्धि रखकर जिसने कर्म भगवदार्पण कर दिए हैं, उसको ; ''योगेन संन्यस्तानि कर्माणि येन तम् इति'' बहु. विशेषण, वि. ''पुरुषम्''

ज्ञानसंछिन्नसंशयम् – ज्ञान के द्वारा जिसका संशय छिन्न हो गया है वह ; ''ज्ञानेन संछिन्नाः संशयाः यस्य तम्'' बहु. विशेषण, वि. ''पुरुषम्''।

आत्मवन्तम् – आत्मावाला, भगवद् परायण ; विशेषण, वि. ''पुरुषम्''

पुरुषम् – पुरुष को ; द्वि.ए.व.

कर्माणि – कर्म ; नाम, प्र.ब.व. नपु. ''कर्मन्''।

न–नहीं ; अव्यय

निबध्नन्ति – बांधते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. नि + बध्, परस्मै, 9 गण

श्लोकार्थ : हे धनञ्जय! योग से जिसने कर्मों का त्याग कर दिया है, ज्ञान से जिसका संशय छिन्न–भिन्न हो गया है उस आत्मवान् को कर्म बन्धन नहीं करते।

विवेचन : सांख्य और योग, उभय के एकार्थ में जो तत्पर है उसको कर्म बन्धन नहीं करते–ऐसा कहते हैं। बाह्य रूप से क्रिया करते रहने पर भी, योग के पूर्व वर्णन के अनुसार क्रिया की सिद्धि अथवा असिद्धि उभय में समान चित्त रखकर भीतर से जिसका कर्म से कोई भी संबंध नहीं और सांख्य ज्ञान से जिसके सर्व संशय छिन्न–भिन्न हो गए हैं तथा इसीलिए आत्मा और अनात्मा संबंधी सभी संशय दूर हो जाने से जिसको अनात्मा का अल्प भी अभिमान

नहीं और जो मात्र आत्मवान् ही है उस पुरुष को किए गए कर्म बन्धन नहीं करते।

तस्माद् अज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।।
छित्त्वैनं संशयं योगम् आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत!।। 42।।

अन्वय :

तस्मात् - उसके लिए ; अव्यय।

भारत - अर्जुन ; सम्बोधन

त्वम् - तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''युष्मद्''।

योगम् - योग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''योग''

आतिष्ठ - शुरू कर , ध्यान दें ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. ''आ+स्था'' 1 गण परस्मै

च - और ; अव्यय।

अज्ञानसम्भूतम् - अविद्याजन्य; विशेषण, वि. ''संशयम् अज्ञानेन सम्भूतम्'' उपपद

हृत्स्थम् - हृदय में स्थित ; विशेषण, वि. ''संशयम्''।

एनम् - इसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''एतद्'' पु.

आत्मनः - आत्मा के ; नाम, ष.ए.व. ''आत्मन्''।

संशयम् - संशय को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''संशय''

ज्ञानासिना - ज्ञान रूपी तलवार से ; नाम, तृ.ए.व. ''ज्ञानम् एव असिः'' कर्मधारय।

छित्त्वा - छेद कर ; विधेय कृदन्त।

उत्तिष्ठ - खड़ा हो ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. ''उत्+स्था'' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अतः हे भारत! उठ और अज्ञान से उत्पन्न हुए, हृदय में स्थित तेरे इस संशय को ज्ञान रूपी तलवार से छेद कर योग कर।

विवेचन : अतः हे भारत! तू उठ और सांख्य बुद्धि के अनुसार अनात्मरूप संशय को ज्ञान रूपी असि से छेद कर योग कर। तेरे क्षत्रियत्व के अनुरूप कर्म के लिए अर्थात युद्ध के लिए तैयार हो।

विशेषः इस श्लोक में जीव को कर्त्तव्यपरायण होने का उपदेश करते हैं। जीव का धर्म तो मात्र कर्त्तव्य - कर्म ही करना और वह फर्ज़ के रूप में ही करना चाहिए। उसमें फल की आशा नहीं रखनी चाहिए। फल की आशा से किए गए कर्म वासनाओं को उत्पन्न करते हैं जबकि किसी भी प्रकार की आशा के बिना किए गए कर्म बुद्धि का समत्व रखकर ब्रह्म के साथ सम्बन्ध रखने में सहायक होते हैं। जीव का मित्र अन्तर्यामी - आत्मा है। उसके मार्गदर्शन में जीव अपने कार्य में प्रवृत्त हो तो किसी भी प्रकार का संशय खड़ा नहीं होता। संशय मात्र अज्ञान से उत्पन्न होता है। इस कारण से इस श्लोक में कहते हैं कि तू संशय - अज्ञान को छोड़ कर तेरे युद्ध - कार्य में प्रवृत्त हो। ऐसा करने से तू अपनी कीर्ति की रक्षा करेगा और निष्पाप रहेगा। विशेष रूप से, यह कि तू ज्ञाननिष्ठ होगा और ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त होगा।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ''कर्मब्रह्मार्पण योगो'' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।4।।

।। अध्याय 5 ।।

कर्मसन्न्यास योग

पिछले चतुर्थ अध्याय में यह भली - भांति प्रतिपादन किया गया है कि बाह्य रूप से कर्म करते रहना परंतु फल में आसक्ति नहीं रखना तथा भीतर किसी भी प्रकार से कर्म से सम्बन्ध नहीं रखना। यह सांख्य और योग उभय का एकार्थ है। यह बात भली - भांति नही समझ पाने के कारण अर्जुन पुनः अपने श्रेय के संबंध में प्रश्न करता है।

।। अर्जुन उवाच।।

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण! पुनर्योगं च शंससि।।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। 1।।

अन्वयः

कृष्ण-कृष्ण ; सम्बोधन।
कर्मणाम् - कर्मों का ; नाम, ष.ब.व.नपु. ''कर्मन्''
सन्न्यासम् - त्याग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''सन्न्यास''।
च पुनः - और फिर से ; अव्यय
योगम् - योग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''योग''।
शंससि - प्रशंसा करते हैं ; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. ''शंस्'' 1 गण, परस्मै
एतयोः दोनों में से, योग और सन्न्यास में से ; सर्वनाम, स.द्वि.वचन, पु. ''एतद्''
एकम् - एक को ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।
यत् - जो ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु
सुनिश्चितम् - भली - भांति निश्चित किया हुआ ; विशेषण, वि. ''श्रेयः''
श्रेयः - कल्याण ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. ''श्रेयस्''।
तत् - उसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.।
मे - मुझको ; सर्वनाम, च.ए.व. ''अस्मद्''।

ब्रूहि-कहिए ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. ''ब्रू'' 2 गण

श्लोकार्थ : हे कृष्ण (आप) मुझे सन्न्यास का और पुनः योग का उपदेश कर रहे हैं। इन दोनों में से जो (मेरे लिए) कल्याणकारी हो उसको समुचित रूप से निश्चय करके मुझे कहिए।

विवेचनः कर्म के सन्न्यास अथवा त्याग का उपदेश आप कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त, आप कर्म का भी उपदेश कर रहे हैं। कर्मयोग का अनुसरण करने अथवा कर्म करते रहने से कर्म से सम्बन्ध छूटता नहीं है अतः सन्न्यास का पालन नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्म से सम्बन्ध त्याग कर सन्न्यास का पालन करने से कर्मयोग नहीं सध सकता। अतः दोनों परस्पर विरूद्ध स्वरूप वाले होने से मनुष्य एक ही समय में दोनों का पालन नहीं कर सकता। अतः दोनों में से जो भी एक श्रेयस्कर है उसका मुझे भली - भांति निश्चय करके आप उपदेश कीजिए।

।। श्रीभगवान् उवाच।।

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।2।।

अन्वयः

सन्न्यासः - सन्न्यास ; नाम, प्र.ए.व.पु।
च - और ; अव्यय
कर्मयोग : - कर्मयोग ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
उभौ - दोनों ; सर्वनाम, प्र. द्विवचन, पु.
निः श्रेयसकरौ - कल्याणकारी ; नाम, प्र.द्वि.व.पु.।
स्तः - है ; क्रियापद
तु - परन्तु ; अव्यय।
तयोः - उन दोनों में से ; सर्वनाम, स.द्विवचन
कर्मसन्न्यासात् - कर्म के त्याग की अपेक्षा ; नाम, पं.ए.व.।

कर्मयोगः - कर्म में युक्त होना ; नाम, प्र.ए.व.पु. ''कर्मयोग''
विशिष्यते - श्रेष्ठ है ; क्रि.व.का. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. वि + शिष् 7 गण

श्लोकार्थः सन्न्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं परन्तु कर्मसन्न्यास की तुलना में कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है।

विवेचनः सांख्य का कर्मसन्न्यास और कर्मयोग दोनों श्रेयस्कर हैं। दोनों मुख्य साधन हैं और स्वतंन्त्र रूप से पुरुषार्थ के साधन हैं। दोनों में से कोई भी एक, दूसरे का अंग नहीं है। दोनों में से किसी भी एक का आचरण करने वाले को मोक्षरूप श्रेयः प्राप्त होता है, तथापि सन्न्यास की तुलना में कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है। सन्न्यास में बाह्य स्तर पर भी सब कर्मों का त्याग अपेक्षित है जबकि कर्मयोग में बाह्य स्तर पर कर्मों का त्याग न करके मन से ही त्याग अपेक्षित है। कर्मयोग सन्न्यास से उत्तम है। इसी कारण से तत्त्वज्ञानी भी लोकानुग्रह के लिए कर्म करते ही हैं। अतः मन से ही कर्म का त्याग करते हुए बाहर से कर्म का त्याग न करके कर्म करते रहना ही तेरे लिए भी उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।।3।।

अन्वयः

महाबाहो-अर्जुन ; सम्बोधन।
यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''यत्'' पु.
न - नहीं ; अव्यय।
द्वेष्टि - द्वेष करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''द्विष्'' 2गण, परस्मै
च न - और नहीं ; अव्यय।
कांक्षति - इच्छा करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''काङ्क्ष्'' 1 गण, परस्मै
सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तत्'' पु.।
नित्यसन्न्यासी - सदा सन्न्यासी ; नाम, प्र.ए.व. ''सन्नयासिन्'' पु.
ज्ञेयः - जानना चाहिए ; कर्मणि,विध्यर्थ कृदन्त,विशेषण, वि. ''सः''।

हि-निश्चय हि; अव्यय
निर्द्वन्द्वः - जिसको द्वन्द्व नहीं है; विशेषण, वि. ''सः''।
सुखम् - सुख से; अव्यय, नाम,
बन्धात् - बन्धन में से; नाम,पं.ए.व.
प्रमुच्यते - बिल्कुल मुक्त हो जाता है ; क्रि.व.का. कर्मणि, तृ.पु.ए.व.प्र+मुच्, 6 गण, कर्मणि

श्लोकार्थ : हे महाबाहो ! जो द्वेष नहीं करता और इच्छा भी नहीं रखता उसको नित्य सन्न्यासी जानना चाहिए। क्योंकि वह द्वंद्वरहित होने से सहज ही संसार से मुक्त हो जाता है।

विवेचन : योग मार्ग के अनुसार जो कर्म करता हो परन्तु द्वेष न करता हो और इच्छा न रखता हो एवं द्वन्द्व रहित हो तो वह नित्यसन्न्यासी ही है। जो द्वेष न करता हो, कर्म फल की इच्छा न रखता हो, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों से रहित हो, उसने द्वन्द्वों का त्याग कर दिया होने से वह नित्यसन्न्यासी ही है। वह बंधन से सहजतापूर्वक मुक्त हो जाता है। तू महाबाहो होने से तुझको भी ऐसा ही करना उचित है।

सांख्य-योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।।
एकमप्यास्थितः सम्यग् उभयोर् विन्दते फलम् ।।4 ।।

अन्वयः
सांख्ययोगौ - सांख्य और योग; द्वंद्व समास, द्वि.व.पु. ।
बालाः - मूर्ख लोग; नाम,प्र.ब.व.
पृथक् - अलग; अव्यय।
प्रवदन्ति - कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''प्र+वद्'' परस्मै 1 गण
पण्डिताः - पण्डित लोग; नाम, प्र.ब.व. ।
न - नहीं; अव्यय ।
यतः - क्योंकि; अव्यय।

एकम् - एक; विशेषण, वि. ''सांख्य'' नाम, द्वि.ए.व.
अपि,सम्यक् - परन्तु, भली भांति; अव्यय।
आस्थितः - स्थिर; विशेषण, वि. ''पुरूषः'' भ.कृ.
उभयोः - दोनों का; सर्वनाम, ष.द्वि.व. ।
फलम् - फल; नाम, द्वि.ए.व. नपु. ''फल''
विन्दते - प्राप्त करता है; क्रि.तृ.पु.ए.व. ''विन्द्'' 6 गण।

श्लोकार्थ : सांख्य और योग को बालक (अल्पज्ञ) अलग-अलग कहते है; पण्डित नहीं कहते। एक का भी भली-भांति अनुसरण करने पर दोनों का फल प्राप्त होता है।

विवेचन : सांख्य और योग भिन्न-भिन्न शास्त्र होने पर भी उनका एक ही अर्थ कैसे कहा गया है? इस शंका के निवारण के लिए कहते हैं कि दोनों शास्त्र एक ही फल प्राप्त कराने वाले होने से तथा उनका एक ही अर्थ होने से दोनों एक ही हैं, सांख्य के अनुसार कर्म का त्याग किया जाता है और योग के अनुसार कर्म किए जाने हैं। यह भेद होने के बावजूद योग में भी लाभ और हानि, जय और पराजय आदि द्वन्द्वों का त्याग करते हुए भीतर से कर्मों के साथ किसी भी प्रकार का संबंध रखे बिना कर्म करने होते हैं; अतः दोनों का अर्थ एक ही है। अतः बालक अथवा मूर्ख ही सांख्य और योग को अलग-अलग कहते हैं, पण्डित लोग अलग-अलग नहीं कहते। इन दोनों में से एक का भी आचरण करने पर भली-भांति फल की प्राप्ति होती है।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। 5 ।।

अन्वयः
सांख्यैः - सांख्य के द्वारा; नाम,तृ.ब.व. ।
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
स्थानम् - स्थान को; नाम, प्र.ए.व. नपु. ''स्थान''।

प्राप्यते – प्राप्त किया जाता है; क्रि.व.का. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. प्र+आप् 5 गण।
योगैः – निष्काम कर्मयोगियों के द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु. ''योग''
अपि – भी; अव्यय ।
तत् – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
गम्यते – प्राप्त किया जाता है; क्रि.ए.व. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. ''गम्'' 1 गण
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
सांख्यम् – ज्ञानयोग; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''सांख्य''
च – और; अव्यय।
योगम् – निष्काम कर्मयोग; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''योग''
एकम् – एक जैसा; विशेषण, वि. ''सांख्य योगम्''।
पश्यति – देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''दृश्'' (पश्य्) 1 गण, परस्मै ।
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. पु. ''तत्''।
च – ही; अव्यय (यथार्थम् = यथार्थ को)
पश्यति – देखता है; पूर्ववत् ।

श्लोकार्थ : सांख्य (योगियों) को जो स्थान प्राप्त होता है वही (निष्काम कर्म) योगियों को भी प्राप्त होता है। जो सांख्य और योग का एकत्व जानते हैं वे यथार्थ जानते हैं।

विवेचन : सांख्य की पद्धति से कर्म करने वाले को जो मोक्ष रूपी स्थान प्राप्त होता है वही स्थान योग का आचरण करने वाले को भी प्राप्त होता है। सांख्य और योग दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक एक ही फल प्रदान करने वाले होने से एक ही हैं। एक ही फल प्रदान करने वाले सांख्य और योग को जो एक ही जानते हैं वे सत्य जानते हैं।

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखम् आप्तुम् अयोगतः।।
योगयुक्तो मुनिर् ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।। 6।।

अन्वयः
तु-परन्तु ; अव्यय।

महाबाहो – अर्जुन ; सम्बोधन
अयोगतः – कर्म योग के बिना; नाम, पं.ए.व.
सन्न्यासः – सन्न्यास, ज्ञान प्रयोग; नाम, प्र.ए.व.
आप्तुम् – प्राप्त होना; हत्वर्थ कृदन्त
दुःखम् – दुःख को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
अस्ति – है; क्रियापद, वर्त. काल, तृ.ए.व.पु. 'अस्'
च – और ; ''अव्यय''
योगयुक्तः – योगयुक्त ; विशेषण, वि. ''मुनिः''।
मुनि : – मुनि ; नाम, प्र.ए.व.पु.
ब्रह्म – परब्रह्म को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''ब्रह्मन्''।
न चिरेण – अविलम्ब, शीघ्र ; अव्यय
अधिगच्छति – प्राप्त करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. परस्मै, ''अधि + गम्'' 1 गण।

श्लोकार्थ : हे महाबाहो! योग के बिना सन्न्यास प्राप्त करना बहुत कठिन है परन्तु योगयुक्त मुनि अल्प समय में ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

विवेचन : सांख्य से सिद्ध होने वाले कार्य सन्न्यास रहित योग से हो सकते हैं परन्तु योग के बिना सन्न्यास की सिद्धि नहीं होती। योग के बिना सन्न्यास प्राप्त करना बहुत कठिन है। कार्य की सिद्धि और असिद्धि में सम रहना ही योग है। अतः योग का आचरण किए बिना सन्न्यास प्राप्त होना कठिन है क्योंकि बाह्य रूप से भी जो कर्म न करता हो तो सन्न्यास अथवा त्याग किसका किया जा रहा है? जो कर्म किए ही नहीं गए उनका त्याग कैसे कहा जा सकता है क्योंकि नहीं किए गए कर्मों का त्याग तो स्वतः है ही, तो फिर सन्न्यासी को त्याग किसका करना? इसीलिए कहा गया है कि योग के बिना सन्न्यास प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है ; यद्यपि सांख्य का आचरण करने वाले योगयुक्त मुनि – सन्न्यासी अल्प समय में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 7।।

अन्वयः

विजितात्मा – जिसका शरीर अपने वश में है ; विशेषण, वि. ''पुरुष''

जितेन्द्रिय :– जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''

विशुद्धात्मा – जिसका अन्तः करण विशुद्ध है ; विशेषण वि. ''पुरुषः''

योगयुक्त : – योग से जुड़ा हुआ ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''।

च – और ; अव्यय

सर्वभूतात्मभूतात्मा – सब प्राणियों के आत्मा रूप में ऐक्य भाव से स्थित; ''सर्वेषां भूतानाम् आत्मा, तस्य भूतस्य आत्मा – सर्वभूतात्मा'' तत्पुरुष।

कुर्वन् – करते हुए ; व.कृ. विशेषण, वि. ''पुरुषः''

अपि न – भी नहीं ; अव्यय।

लिप्यते – लिप्त होता है ; क्रि. व. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. ''लिप्'' 6 गण।

श्लोकार्थ : योगयुक्त, विशुद्ध अंतःकरण वाला, जिसने मन को जीत लिया, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसका आत्मा, प्राणीमात्र का आत्मारूप है वह कर्म करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता।

विवेचन : यहाँ से तीन श्लोक तक योगी के स्वरूप का वर्णन करते हैं। योग का आचरण करने वाला, शुद्ध अन्तःकरण वाला, मन और इन्द्रियों को जिसने जीत लिया है और जिसका आत्मा सब प्राणियों को आत्मारूप है अर्थात् जो प्राणीमात्र के आत्मा को अपना आत्मारूप जानता है वह योग कर्म करते हुए भी कर्मों से लिप्त नहीं होता।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।। 8।।

प्रलपन विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन्नपि।।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। 9।।

अन्वयः

तत्त्ववित् – तत्त्व को जानने वाला ; व.कृ.विशेषण, वि. ''पुरुषः''

युक्त : – युक्त, सांख्य योग से युक्त ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् – देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वि. ''पुरुषः''।

जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् – सूँघता हुआ, खाता हुआ, जाता हुआ ; व.कृ.विशेषण वि. ''पुरुषः''।

स्वपन् श्वसन प्रलपन् – सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वि. ''पुरुषः''

विसृजन गृह्णन् – त्याग करता हुआ ग्रहण करता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वि. ''पुरुष''।

उन्मिषन् निमिषन् – आँख खोलता हुआ, आँख बंद करता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वि. ''पुरुषः''।

अपि – भी ; अव्यय।

इन्द्रियाणि – इन्द्रियाँ ; नाम, प्र.ब.व.नपु.।

इन्द्रियार्थेषु – इन्द्रियों के विषयों में ; नाम, स.ब.व.।

वर्तन्ते – बरतती है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''वृत्'' 1 गण

इति – इस प्रकार ; अव्यय।

धारयन् – समझता हुआ, धारण करता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वि. ''पुरुषः''

किञ्चित् – कुछ ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।

अपि न – भी नहीं ; अव्यय

करोमि – करता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. ''कृ'' 8 गण, परस्मै।

इति एव – इसी प्रकार ; अव्यय

मन्येत – माने ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. ''मन्'' 4 गण

श्लोकार्थ : तत्त्व को जानने वाला योगी देखते, स्पर्श करते, सुनते, सूंघते, खाते, जाते, सोते, श्वास लेते, बोलते, देते, लेते, आँख खोलते अथवा आँख बंद करते

हुए, यह धारणा रखकर कि – ''इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों (विषयों)'' में बरतती हैं। यह मानता है कि – 'मैं कुछ नहीं करता'।

विवेचन : गत श्लोक में यह प्रतिपादित किया गया है कि कर्म करते हुए भी योगी कर्म से लिप्त नहीं होता। यह प्रतिपादन, नियत फल वाले कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होना चाहिए, इस सिद्धान्त के विरूद्ध होने से उचित नहीं है। इस शंका को दूर करते हैं। देखने से आरंभ करके आँख बंद करने तक वर्णित किए गए इन्द्रियों के द्वारा किए जाने वाले विभिन्न व्यापार के सतत रहने पर भी – ''मैं कर्ता हूँ'' – का अभिमान न होने से, प्रत्युत, ''इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के कार्यों (विषयों) में बरतती है और मैं कर्ता नहीं हूँ''– ऐसी प्रतीति होने से, कर्तृत्व का किंचित् भी अभिमान न होने से तथा लाभ – हानि, जय – पराजय आदि द्वन्द्वों से रहित होने से सभी कर्म करते रहने के उपरान्त भी कर्मों का बंधन न हो तो इसमें (कर्म सिद्धान्त से) कोई विरोध नहीं है। ऐसे पुरुष को कर्मबन्धन नहीं होने से वह केवल सांख्यमार्गीय मुनि है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, वरन् वह कर्म करता होने से योगमार्गीय तत्त्ववेत्ता ही है। अगले श्लोक में यही स्पष्ट किया गया है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रम् इवाम्भसा।। 10।।

अन्वयः

यः – जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।
कर्माणि – कर्म ; नाम, द्वि.ब.व. नपु.।
ब्रह्मणि – ब्रह्म में ; नाम, स.ए.व.।
आधाय – अर्पण करके ; विधेय कृदन्त
च – और ; अव्यय।
सङ्गम् – सङ्ग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.
त्यक्त्वा – छोड़कर ; विधेय कृदन्त।
करोति – करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''कृ'' 8 गण

सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।
अम्भसा – जल से ; नाम, तृ.ए.व. ''अम्भस्'' नपु.
पद्मपत्रम् – कमल का पत्ता ; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
इव – इस प्रकार से ; अव्यय
पापेन – पाप से ; नाम, तृ.ए.व.नपु.।
न – नहीं ; अव्यय
लिप्यते – लिप्त होता है ; क्रि.व. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. ''लिप्'' 2 गण

श्लोकार्थ : ब्रह्म में कर्मों का अनुसंधान करके, संग का त्याग करके जो कर्म करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे जल से कमल–पत्र लिप्त नहीं होता।

विवेचन : ब्रह्म अर्थात चतुर्थ अध्याय में किए गए वर्णन के अनुसार ब्रह्मयज्ञ का विषय। उसी में अपने द्वारा किए गए सभी कर्मों का अनुसन्धान रखकर, कर्म में फल की इच्छा अथवा ममता का त्याग करके जो योगी कर्म करता है वह पाप से लिप्त नहीं होता। जैसे कमल–पत्र जल में रहने पर भी उससे लिप्त नहीं होता वैसे ही कर्मयोगी कर्म के बंधन से लिप्त नहीं होता।

श्लोक 8 से 10 का अनुसन्धान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 1/1/1 के संदर्भ में अणुभाष्य में किया गया है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैरपि।।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। 11।।

अन्वयः

योगिनः – योगीजन ; नाम, प्र.ब.व. ''योगिन्'' पु.।
केवलैः– केवल ; विशेषण, वि. ''इन्द्रियैः''
इन्द्रियैः– इन्द्रियों से ; नाम, तृ.ब.व. नपु.।
मनसा – मन से ; नाम, तृ.ए.व. ''मनस्'' नपु.
बुद्ध्या– बुद्धि से ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री.।

कायेन – शरीर से ; तृ.ए.व.पु. ।
अपि – भी ; अव्यय।
सङ्गम् – सङ्ग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.
त्यक्त्वा – छोड़कर ; विधेय कृदन्त।
आत्मशुद्धये – अन्तः करण की शुद्धि के लिए ; नाम, च.ए.व. स्त्री.
कर्म – कर्म को ; नाम, द्वि.ए.व. ''कर्मन्'' नपु. ।
कुर्वन्ति – करते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''कृ'' 8 गण

श्लोकार्थ : काया से, बुद्धि से, मन से और मात्र इन्द्रियों से भी योगीजन चित्त की शुद्धि के लिए ही संग का त्याग कर कर्म करते हैं।

विवेचन : आसन आदि कर्म काया से, ध्यान आदि मन से, तत्त्वनिश्चय आदि बुद्धि से और श्रवण–दर्शन–कीर्तन आदि कर्म आसक्ति रहित इन्द्रियों से नारदादिक योगी करते हैं। आत्मा अर्थात् मन की शुद्धि के लिए अथवा समत्व के लिए योगीजन इस प्रकार आसक्ति का त्याग कर कर्म करते हैं। अतः जो सांख्य मत का अनुसरण करने वाले हैं वे कर्मत्याग को ही सिद्धान्त मानते हैं और जो योग मार्ग का अनुसरण करने वाले हैं वे कर्म करने को ही सिद्धान्त मानते हैं। यहाँ दर्शाए गए सदाचार से भी कर्म कर्त्तव्य ही है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम्।।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। 12।।

अन्वयः
युक्तः – निष्काम कर्मयोगी ; भू.कृ. विशेषण, वि. ''योगी''।
कर्मफलम् – कर्मफल को ; नाम, द्वि.ए.व. नपु.
त्यक्त्वा – त्याग कर, ईश्वरार्पण करके ; विधेय कृदन्त।
नैष्ठिकीम् – निष्ठा वाली, भगवत् निष्ठा वाली ; विशेषण, वि. ''शान्तिम्''।
शान्तिम् – शान्ति को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. ।
आप्नोति – प्राप्त होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''आप्'' 5 गण

च – और ; अव्यय।
अयुक्तः – अयोग्य ; विशेषण, वि. ''योगी''
फले – फल में ; नाम, स.ए.व. नपु. ।
सक्तः – आसक्तियुक्त ; विशेषण, वि. ''योगी''
कामकारेण – कामना के कारण, कामना के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व.पु.
निबध्यते – बंध जाता है ; क्रि.कर्मणि, व.का.तृ.पु.ए.व. ''नि+बध्'' 9 गण।

श्लोकार्थ : योग युक्त मनुष्य कर्म के फल का त्याग कर नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है। अयुक्त मनुष्य फल में आसक्त होकर कामना से बंध जाता है।

विवेचन : योग के अनुसार कर्म करने से नैष्ठिक शान्ति अथवा मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु उससे विपरीत रीति से फल में आसक्ति रखकर कर्म करने से बंधन प्राप्त होता है।

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।। 13।।

अन्वयः
वशी – अन्तः कारण को वश में रखने वाला ; विशेषण, वि. ''योगी''।
देही – देहधारी पुरुष ; नाम, प्र.ए.व. ''देहिन्'' पु.
एव न – ही नहीं ; अव्यय।
कुर्वन् – करता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वि. ''योगी''
च न – और न ही ; अव्यय
कारयन् – करवाता हुआ ; प्रेरक, व.कृ. विशेषण, वि. ''योगी''
नवद्वारे – नव द्वार वाला ; विशेषण, वि. ''पूरे''।
पुरे – शरीर रूपी घर में ; नाम, स.ए.व.
सर्वकर्माणि – समस्त कामों को ; नाम, द्वि.ब.व.नपु. ।
मनसा – मन से ; नाम, तृ.ए.व.नपु.
सन्न्यस्य – उत्तम रीति से त्याग करके ; विधेय कृदन्त ।

सुखम् - सुख से; अव्यय
आस्ते - है, रहता है; क्रिया, व.का.तृ.पु.ए.व. ''आस्'' आत्मने, 2 गण

श्लोकार्थ : इन्द्रियों को वश में रखने वाला देही समस्त कर्मों को मन से त्याग कर नवद्वार वाले पुर में कुछ नहीं करता हुआ और कुछ नहीं करवाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।

विवेचन : योग में, मन से कर्म का त्याग करके बाह्य रूप से कर्म करते रहना होता है। अतः योग से सम हुए मन के द्वारा सभी कर्मों का त्याग करके योगी सुख से रहता है। इस नवद्वार वाले पुर में अर्थात शरीर में वह कुछ नहीं करता है और न ही इन्द्रियों से कुछ करवाता है क्योंकि उसने मन से सब कर्मों का त्याग कर दिया होता है।

विशेष : जो कर्म किए जाते हैं उनको समस्त देवों के अधिपति देव (ब्रह्म) को अर्पण करना आवश्यक होता है। कर्माङ्ग देव को कर्म का अर्पण होने से उसका फल वासनामय होगा और ब्रह्म को कर्म का अर्पण होने से उसका फल ज्ञानमय होगा। वासनामय कर्म पुनः संसार में संलग्न करेंगे और ज्ञानमय कर्म मोक्ष प्राप्त कराएंगे। सांख्य मत में भी, जो ज्ञान प्राप्त किया जाना है वह निर्लेप भावनामय है। कर्मयोग द्वारा अन्तिम प्राप्तव्य - मोक्ष - की ज्ञान में परिसमाप्ति होती है। इन दोनों ही मार्गों से जीव अपना अहं भाव छोड़ देता है और उसमें ब्रह्मभाव का अंकुरण होता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। 14 ।।

अन्वयः
प्रभुः - परमेश्वर; नाम, प्र.ए.व.पु. ''प्रभु''।
लोकस्य - लोक की; नाम, ष.ए.व.पु. ''लोक''
न - नहीं; अव्यय।
कर्तृत्वं - कर्तापन; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''कर्तृत्व''

न - नहीं; अव्यय।
कर्माणि - कर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु. ''कर्मन्''
च - और; अव्यय।
कर्मफलसंयोगम् - कर्मफल संयोग को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
अपि न - भी नहीं; ।
सृजति - सृजन करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''सृज्'' 6 गण, परस्मै
तु - परन्तु; अव्यय।
स्वभावः - स्वभाव, प्रकृति; नाम, प्र.ए.व.पु. ''स्वभाव''
प्रवर्तते - बरतता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.प्र+वृत् 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : प्रभु लोक में (मनुष्यों में) कर्तापन अथवा कर्म अथवा कर्मफल के संयोग का सृजन नहीं करते अपितु स्वभाव ही बरतता है।

विवेचन : प्रभु - ईश्वर, प्राकृत शरीर के अभिमान वाले लोक के कर्तापन को अथवा कर्मों को अथवा कर्मफल के संयोग को नहीं रचते हैं परन्तु लोक का स्वभाव ही ऐसा है कि वह ''मैं कर्ता हूँ'' - ऐसा अभिमान रखता है, कर्मों में प्रसक्त रहता है और कर्मफल की अभिलाषा रखता है।

विशेष : प्रभु और प्रकृति (स्वभाव) दोनों हैं और पृथक्-पृथक् काम करते माने जाते हैं। हमको इतनी ही पड़ताल की आवश्यकता है कि यह पार्थक्य किस स्तर तक जारी रहता है। जब तक जीव में ''मैं'' पन विशेष प्रमाण में प्रवृत रहता है तब तक स्वभाव और प्रभु पृथक्-पृथक् रहते हैं।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।। 15 ।।

अन्वय :
विभुः - परमेश्वर, व्यापक; नाम, प्र.ए.व.पु. ''विभु''।
न - नहीं; अव्यय।
कस्यचित् - किसी के भी; सर्वनाम, ष.ए.व. ।

पापम् – पाप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''पाप''
च न – और न; अव्यय।
कस्यापि – किसी के भी;
सुकृतम् –सुकर्म को, पुण्य को; विशेषण, वि. ''कर्म''।
एव – मात्र; अव्यय
आदत्ते – लेता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. आ+दा, 3 गण, आत्मने
अज्ञानेन – अज्ञान से ; नाम, तृ.ए.व. नपु.।
ज्ञानम् – ज्ञान ; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
आवृतम् – आच्छादित ; विशेषण, वि. ''ज्ञानम्''।
अस्ति – है ; क्रियापद, वर्त. का. तृ.पु.ए.व. ''अस्''
तेन – उससे ढंके हुए, ज्ञान के द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु. ''तत्''।
जन्तवः – प्राणी ; नाम, प्र.बहु. पु. ''जन्तु''
मुह्यन्ति – मोह को प्राप्त होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. मुह् 4 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : प्रभु किसी भी पाप अथवा पुण्य को ग्रहण नहीं करते। अज्ञान से ज्ञान ढंका हुआ होने से प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं।

विवेचन : प्रभु किसी भी पाप अथवा पुण्य को ग्रहण नहीं करते। बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन, प्राण सब प्रभु ने रचे हैं। इनकी भोग अथवा मोक्ष में प्रवृत्ति होती है। इसलिए सब स्वभाव से ही होता रहता है। जीव भगवान् का अंश होने पर भी मोह को क्यों प्राप्त होता होगा? इस संशय के निवारणार्थ कहते हैं कि अज्ञान से उसका ज्ञान ढंका हुआ है। अतः उसको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। उसके अपने स्वरूप का ज्ञान अविद्या के पांच पर्व के भीतर पहले पर्व ''स्वरूपाज्ञान'' (स्वरूपविस्मृति) से ढँक जाता है। फिर अविद्या के अन्य चार पर्वों – प्राणाध्यास, अंतः करणाध्यास इन्द्रियाध्यास और देहाध्यास से ढँक जाता है। यथार्थ रूप से, विचित्र रमण करने की इच्छा वाले भगवान की श्री, पुष्टि, गीः (सरस्वती), कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, इच्छा और माया ये बारह शक्तियाँ श्रीभागवत् के श्लोक 10/36/55 में कही गई

है। उनकी अविद्या, शक्ति, जीव से कर्म कराती है और उसको जन्म-मरण के फेर में डालती है। यह शक्ति विद्या शक्ति के विरूद्ध स्वभाव वाली है। यह आत्मा के स्वरूप के ज्ञान को ढँक देती है। इस शक्ति से प्राणी जंतुओं जैसे होकर मोह को प्राप्त होते हैं। इससे जीव स्वयं ही अपने में कर्तृत्व आदि मानने लगता है अर्थात् परमात्मा को सर्जक नहीं मानता – यह भाव है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितम् आत्मनः।।
तेषाम् आदित्यवज् ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।। 16।।

अन्वयः
तु– इसके अतिरिक्त ; अव्यय।
येषाम् – जिनका ; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. ''यत्''।
तत् – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.।
आत्मनः – अन्तःकरण के; नाम, ष.ए.व.पु. ''आत्मन्''
अज्ञानम् – अज्ञान को; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
ज्ञानेन – ज्ञान के द्वारा; नाम, तृ.ए.व.नपु.
नाशितम् – नाश को प्राप्त; प्रेरक भू.कृ. विशेषण, वि. ''अज्ञानम्''।
तेषाम् – उनका; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. ''तत्''।
तत् – उस;
ज्ञानम् – ज्ञान को; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
आदित्यवत् – आदित्य जैसे; विशेषण, वि. ''ज्ञानम्''
तत्परम् – उस परामात्मा को; नाम, द्वि.ए.व. ।
प्रकाशयति – प्रकाशित करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. प्र.+काश् 10 गण

श्लोकार्थ : परंतु जिनका अज्ञान, ज्ञान से नाश को प्राप्त हो गया है उनका वह आत्मज्ञान सूर्य की भांति परब्रह्म को प्रकाशित करता है।

विवेचन : भगवान् जिनको आत्मविद्या का दान करते हैं उनको मोह नहीं होता। जो भगवान् के कृपापात्र हैं अथवा जिन्होंने साधना के द्वारा भगवान् को

प्रसन्न कर लिया है उनका स्वरूपाज्ञान भगवान् प्रदत्त आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है और भगवान् प्रदत्त आत्मज्ञान, जैसे सूर्य सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ''पर'' को अर्थात ''ब्रह्म को जानने वालों को ''पर'' की प्राप्ति होती है '' - श्रुति के इस वचन के अनुसार, परब्रह्म को प्रकाशित करता है। परब्रह्म के प्रकाशित होने में यह ज्ञान मात्र करणरूप नहीं बल्कि कर्तृ है।

तद् बुद्धयस् तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ।।
गच्छन्त्यपुनरावृतिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। 17 ।।

अन्वयः

तद् बुद्धयः - उसमें ही बुद्धि है जिनकी; विशेषण,वि. ''पुरूषाः''
तदात्मानः -परमात्मा ही आत्मा है जिनका; विशेषण,वि. ''पुरूषाः''
तन्निष्ठाः - उसमें ही निष्ठा है जिनकी; विशेषण, वि. ''पुरूषाः''
तत्परायणः - भगवत्परायण; विशेषण, वि. ''पुरूषाः''।
ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः - ज्ञान से जिनके कल्मष धुल गए हैं; विशेषण, वि. ''पुरूषाः''।
पुरूषाः - पुरूष; प्र.ब.व
अपुनरावृत्तिम् - अपुनरावृत्ति को, परम गति को; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री.
गच्छन्ति - जाते हैं, प्राप्त होते हैं; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. ''गम्'' 1 गण परस्मै

श्लोकार्थ : उसी में बुद्धि वाले, उसी में चित्त वाले, उसी में निष्ठा वाले, उसी के परायण तथा ज्ञान से जिनके पाप धुल गए हैं वे अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं।

विवेचन : उक्त ज्ञान प्राप्त को मुक्ति प्राप्त होती है - यह भावार्थ है ।''उसमें'' - अर्थात परब्रह्म में बुद्धि वाले, परब्रह्म में चित्त वाले, परब्रह्म में निष्ठा अथवा भाव वाले परब्रह्म परायण पुरूषों के पाप उनके ज्ञान से धुल जाते हैं और वे अपुनरावृत्ति अर्थात मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

विद्या-विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। 18 ।।

अन्वयः

पण्डिताः - पण्डितः नाम, प्र.ब.व.पु. ''पण्डित''।
विद्या - विनयसम्पन्ने - विद्या और विनय सम्पन्न में; विशेषण, वि. ''ब्राह्मणे''
ब्राह्मणे - ब्राह्मण में; नाम, स.ए.व. पु.।
च - और; अव्यय
गवि - गाय में; नाम, स.ए.व. स्त्री. 'गो' ''।
हस्तिनि - हाथी में; नाम, स.ए.व.पु. ''हस्तिन्''
शुनि - कुत्ते में; नाम, स.ए.व.पु. ''श्वन्''।
च,एव - और,इसी प्रकार; अव्यय
श्वपाके - चांडाल में; नाम, स.ए.व. ''श्वपाक''।
समदर्शिनः - समभाव से देखने वाले; नाम, प्र.ब.व.पु. ''समदर्शिन्''
भवन्ति - होते हैं; क्रियापद, वर्त.का.

श्लोकार्थ : विद्या और विनय सम्पन्न ब्राह्मण,गाय, हाथी, कुत्ते और चांडाल के प्रति पण्डित समदर्शी होते हैं।

विवेचन : उक्त ज्ञानी कैसे होते हैं - यह बताने के लिए उनके लक्षण कहते हैं। वे ब्राह्मण आदि विषम पदार्थों में भी एक ही ब्रह्म को देखते हैं और इसीलिए सब पदार्थों के प्रति समदर्शी होते हैं। श्रीभागवत् के श्लोक 1/18/45 के संदर्भ में उक्त श्लोक का अनुसंधान सुबोधिनी जी में किया गया है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।। 19 ।।

अन्वयः

येषाम् -जिनका; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. ''यद्''।
मनः -मन; नाम, प्र.ए.व. ''मनस्''नपु.
साम्ये - समभाव में; नाम, स.ए.व.नपु. ''साम्ये''।

स्थितम् - स्थित; विशेषण, वि. ''मन:''
तै: - उनके द्वारा ; सर्वनाम तृ.ब.व. 'तत्' ''पु.।
इह, एव - यहाँ , ही; अव्यय
सर्ग: - सम्पूर्ण संसार; नाम, प्र.ए.व.पु. ''सर्ग:''।
जित: - जीत लिया; भू.कृ.विशेषण,वि. ''सर्ग:''
ब्रह्म - ब्रह्म; नाम, नाम, प्र.ए.व.नपु. ''ब्रह्मन''।
हि - निश्चय हि; अव्यय
निर्दोषम् - निर्दोष; विशेषण, वि. ''ब्रह्म''।
च - और; अव्यय
समम् - सम; विशेषण, वि. ''ब्रह्म''।
अस्ति - है ; क्रियापद, वर्त. का . तृ.पु.ए.व. ''अस्''
तस्मात् - इसलिए ; अव्यय।
ते-वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
ब्रह्मणि - ब्रह्म में ; स.ए.व. नाम, नपु. ''ब्रह्मन्'' ।
स्थिता: - स्थित हुए ; भू.कृ. विशेषण, वि. ''ते''
सन्ति - है; क्रियापद, वर्त.का.तृ.पु.ब.व. ''अस्''।

श्लोकार्थ : जिनका मन साम्य में स्थित है उन्होंने यहाँ ही सर्ग (संसार) को जीत लिया है क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। अत: वे ब्रह्म में ही स्थित हैं।

विवेचन : ब्रह्म सम है, अत: यही मानना चाहिए कि जो - जो सम हैं वे ब्रह्मरूप ही हैं। यदि मन भी निरोध से सम हो जाता है तो ब्रह्मरूप ही हो जाता है। इसलिए जिनका मन साम्य में स्थित है अर्थात सम है उन्होंने यहाँ ही ''सर्ग'' अर्थात प्रवाह मार्ग को जीत लिया है। ब्रह्म निर्दोष और सम होने से उनका भी मन सम होने से वे ब्रह्म में ही स्थित हैं। श्री भागवत् के श्लोक 1/8/27 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसन्धान किया गया है।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।।
स्थिरबुद्धि: असम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित: ।। 20 ।।

अन्वय:
प्रियम - प्रिय को; विशेषण, वि. ''वस्तु''।
प्राप्य - प्राप्त करके; विधेय कृदन्त
न - नहीं; अव्यय ।
प्रहृष्येत् - आनन्द पाता है; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. आत्मने, प्र+हृष् 4 गण
च - और; अव्यय ।
अप्रियम् - अप्रिय; विशेषण,वि. ''वस्तु''
प्राप्य - प्राप्त करके; विधेय कृदन्त ।
न - नहीं; अव्यय
उद्विजेत् - उद्विग्न होता है; क्रि.विध्यर्थ,तृ.पु.ए.व. ''उद्+विज्'' 6 गण ।
एतादश: - ऐसा;
स्थिरबुद्धि: - स्थिर बुद्धि वाला; विशेषण,वि. ''पुरूष:''।
असम्मूढ: - सम्मोह रहित, संशय रहित; विशेषण,वि. ''पुरूष:''
ब्रह्मवित् - ब्रह्म को जानने वाला; विशेषण,वि. ''पुरूष:''।
ब्रह्मणि - परब्रह्म में; नाम, स.ए.व.नपु. ''ब्रह्म''
स्थित: - ऐक्यभाव को प्राप्त हुआ; विशेषण, वि. ''पुरूष:''।
अस्ति - है; क्रियापद,वर्त.का.तृ.पु.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : स्थिर बुद्धि वाला, मोह रहित, ब्रह्म में स्थिति वाला, ब्रह्मवित् प्रिय(पदार्थ)को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता और अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता।

विवेचन : ऐसे ज्ञानी को परमानन्द की प्राप्ति कराने वाले लक्षण यहाँ से दो श्लोक में कहते हैं। वह स्थिर बुद्धि वाला होता है। मोह आसुरी होने से वह मोह रहित होता है। वह ब्रह्म को जानने वाला और ब्रह्म में स्थिति वाला होता है। इससे वह प्रिय पदार्थ प्राप्त होने से हर्षित नहीं होता और अप्रिय पदार्थ प्राप्त होने से उद्विग्न नहीं होता।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखम् अक्षय्यम् अश्नुते।। 21।।

अन्वय :

बाह्यस्पर्शेषु – बाह्य स्पर्श में, सांसारिक भोगों में ; नाम, स.ब.व.पु.

असक्तात्मा – आसक्तिरहित अन्तः करण वाला ; विशेषण, वि. ''पुरुष''

आत्मनि – अन्तःकरण में ; नाम, स.ए.व.पु. ''आत्मन्''।

यत् – जो ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.

सुखम् – सुख को , भगवदानन्द को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।

अस्ति तत् – है उसको , क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ए.व.

विन्दति – प्राप्त होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''विद्'' 6 गण।

च – और ; अव्यय

सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।

ब्रह्मयोगयुक्तात्मा – परमात्मा रूप ऐक्य भाव को प्राप्त ; विशेषण, वि. ''पुरुषः'' ब्रह्म एव योग : तेन युक्तः आत्मा यस्य इति ''बहुव्रीहि'' (पुरुषः = पुरुष)।

अक्षय्यम् – अक्षय ; विशेषान, वि. ''सुखम्''।

सुखम् – सुख को , आनंद को ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. ''सुख''।

अश्नुते – प्राप्त होता है, खाता है, अनुभव करता है, ऐक्य भाव को पाता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''अश्'' 5 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : बाह्य स्पर्श (सांसारिक भोगों में) में आसक्तिरहित अन्तः करण वाला आत्मा में जो सुख प्राप्त करता है वह अक्षय सुख ब्रह्म योग में युक्त आत्मा वाला प्राप्त करता है।

विवेचन : जिसको बाहर के विषयों में आसक्ति न हो उसको आत्मा में जो सुख प्राप्त होता है, वही अक्षय सुख ब्रह्मयोग से, ब्रह्म के साथ जिसकी आत्मा का ऐक्य हो गया है, वह भी भोगता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। 22।।

अन्वय :

कौन्तेय – अर्जुन ; सम्बोधन।

ये – जो ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ''यत्''

संस्पर्शजा – इन्द्रिय तथा विषयों के स्पर्श से उत्पन्न ; विशेषण, वि. ''भोगाः''

भोगा : – भोग ; नाम, प्र.ब.व. पु. ''भोग''।

सन्ति – हैं ; क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ब.व. ''अस्''

ते– वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ''तत्''।

हि–निश्चय ही ; अव्यय

दुःखयोनयः– दुःख के हेतु ; नाम, प्र.ब.व. स्त्री।

एव– ही ; अव्यय

आद्यन्तवन्तः – आदि और अन्त वाले ; विशेषण, वि. ''भोगाः''।

सन्ति – हैं ; क्रियापद, वर्त.का. तृ.पु.ब.व. ''अस्''

बुधः – ज्ञानी ; नाम, प्र.ए.व.पु. ''बुध''।

तेषु – उनमें ; सर्वनाम, स.ब.व. ''तत्'' पु.

न – नहीं ; अव्यय।

रमते – रमण करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. ''रम'' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय ! संस्पर्श से प्राप्त भोग दुःख उत्पन्न करने वाले ही हैं तथा आदि – अन्त वाले हैं। विद्वान् उनमें रमण नहीं करता।

विवेचन : ''संस्पर्श'' अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से जो भोग उत्पन्न होते हैं वे भोग आदि – अन्त वाले हैं अर्थात नित्य नहीं है इसलिए दुःख ही उत्पन्न करने वाले हैं। ऐसा होने से विद्वान इन भोगों में नहीं रमता। ऐसे भोग विद्वान नहीं भोगता अर्थात भोगने की इच्छा भी नहीं रखता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।।
काम - क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। 23।।

अन्वयः

यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''यत्'' पु. ।
शरीरविमोक्षणात् - शरीर छूटने से ; नाम, पं.ए.व.नपु.
प्राक् एव - पहले ही ; अव्यय।
कामक्रोधाद्भवम्- कामक्रोध से उत्पन्न होने वाले ; विशेषण, वि. ''वेगम्''
वेगम् - वेग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ।
सोढुम् - सहन करने के लिए ; हेत्वर्थ कृदन्त
शक्नोति - शक्तिमान है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''शक्'' 5 गण परस्मै।
सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तत्'' पु. ।
नरः - नर, पुरुष ; नाम, प्र.ए.व.पु. ''नर''
इह - इस संसार में ; अव्यय।
युक्तः योगी ; विशेषण, वि. ''सः''
च - और ; अव्यय।
सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तत्'' पु.
सुखी - सुखी ; विशेषण, वि. ''नरः''।
अस्ति - है ; क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : शरीर छूटने से पहले यहाँ ही जो काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है वही पुरुष युक्त और सुखी है।

विवेचन : योगी का पुरुषार्थ मोक्ष ही है। मोक्ष-मार्ग के विरोधी सब दुःखों को वह सहन करता है तब ही उसको मोक्ष प्राप्त होता है। काम और क्रोध के वेग को शरीर छोड़ने से पहले सहन करे और सहन करना पड़े तब भी मोक्ष - साधन किए बिना न रहे, वही यथार्थ में योगी और सुखी है।

योन्तः सुखोऽन्तरारामः तथान्तर्ज्योतिरेव यः।।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। 24।।

अन्वयः

यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ''यत्''।
अंतः सुखः - अन्तः करण में सुखवाला ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''
अन्तरारामः- अन्तःकरण में आराम (रमण करने वाला) वाला ; विशेषण, वि. ''पुरुषः''
तथा - इसके अतिरिक्त ; अव्यय।
यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
अंतर्ज्योति :- जिसके अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश है, वह ; विशेषण, वि. ;''पुरुषः - योगी''
पुरुषः अस्ति - पुरुष है ; क्रि.तृ.पु.ए.व. ''अस्''।
सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
ब्रह्मभूतः ऐक्यभाव को प्राप्त ; विशेषण, वि. ''पुरुष-योगी''।
योगी-योगी ; सांख्य योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. ''योगिन्''
एव - ही ; अव्यय।
ब्रह्मनिर्वाणम् - ब्रह्म की शान्ति को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.
अधिगच्छति - प्राप्त होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. अधि + गम् 1 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : जो अन्तः सुख वाला, अन्त आराम वाला और अन्तः ज्योतिः वाला है वह ब्रह्मभूतयोगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है।

विवेचन : जो अन्तरात्मा में ही सुखी, अन्तरात्मा में रमण करने वाला और अन्तरात्मा में प्रकाश वाला योगी होता है उसको ब्रह्म निर्वाण अर्थात् मोक्ष अथवा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। मात्र काम - क्रोध के वेग को सहन करने से ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती अपितु यहाँ कहे गए गुणों की भी आवश्यकता होती है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् ऋषयः क्षीणकल्मषाः।।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। 25।।

अन्वयः

क्षीणकल्मषाः- जिनके पाप नष्ट हो गए हैं ; विशेषण, वि. ''ऋषयः''।
छिन्नद्वैधाः - जिनके सब संशय नष्ट हो गए है ; विशेषण, वि. ''ऋषयः''।
यतात्मानः - जिनका अन्तःकरण नियम में है ; विशेषण, वि. ''ऋषयः''।
रताः - मग्न, आनंद वाला ; भू.कृ. विशेषण, वि. ''ऋषयः''।
सर्वभूतहिते-सब प्राणियों के हित में ; नाम, स.ए.व. नपु.
ऋषयः - ऋषि, भगवन्मार्ग पर चलने वाले ; नाम, प्र.ब.व.पु.।
ब्रह्मनिर्वाणम् - परा शान्ति को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.
लभन्ते - प्राप्त होते हैं ; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. आत्मने, 1 गण, ''लभ्''।

श्लोकार्थ : जिनके पाप क्षीण हो गए हैं, जिनका द्वैतभाव (संशय) दूर हो गया है, जिनका अन्तः करण नियम में है और जो प्राणीमात्र के हित में रमण करते हैं वे ऋषि ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

विवेचन :- यहाँ सत्पुरुषों के आचरण का वर्णन करते हैं। जिन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के पाप क्षीण हो गए हैं, जिनका संशय मिट गया है और जो प्राणीमात्र के हित में रमण किया करते हैं वे ब्रह्मनिर्वाण अथवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त करते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। 26।।

अन्वयः

कामक्रोधवियुक्तानाम् - काम - क्रोध रहित ; विशेषण, वि. ''यतीनाम्''
विदितात्मनाम् - जिन्होंने परब्रह्म का साक्षात्कार किया है ; विशेषण, वि. ''यतीनाम्''
यतचेतसाम् - जिन्होंने चित्त को जीत लिया है ; विशेषण, वि. ''यतीनाम्''

यतीनाम् - ज्ञानी पुरुषों के लिए ; नाम, ष.ब.व.पु. ''यति''।
अभितः - सब स्थानों पर, आस-पास ; ''अव्यय''।
ब्रह्मनिर्वाणम् - परा शान्ति, परमात्मापद ; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
वर्तते - है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''वृत्'' 1 गण

श्लोकार्थ : काम - क्रोध रहित, चित्त को नियम में रखने वाले, आत्मा को जानने वाले यतियों को अभितः (सर्वत्र) ब्रह्म निर्वाण है।

विवेचनः कामक्रोध रहित आदि गुणों वाले यतियों को अभितः अर्थात् शरीर के रहते हुए भी और मरण के उपरान्त भी ब्रह्मानन्द है ही। उनको शरीर के रहते हुए भी ब्रह्म निर्वाण है अतः ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करने के लिए देहान्तर की भी आवश्यकता नहीं है।

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान् चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तराचारिणौ।। 27।।

यतेन्द्रिय - मनो - बुद्धिः मुनिर् मोक्ष-परायणः।।
विगतेच्छा - भय - क्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। 28।।

अन्वयः

बाह्यान् - बाहर के ; विशेषण, वि. ''स्पर्शन्''।
स्पर्शान् - स्पर्शेन्द्रियों को, इन्द्रियों के विषयों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु.।
बहिः एव - बाहर ही ; अव्यय
कृत्वा - करके, रखकर ; विधेय कृदन्त।
च - और ; अव्यय
चक्षुः - चक्षु की शक्ति को, दृष्टि को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु।
भ्रूवोः - दोनों भौंहों की, दोनों भृकुटियों की ; नाम, ष.द्वि.व. ''भ्रू.''स्त्री।
अन्तरे - मध्य में ; अव्यय
नासाभ्यन्तरचारिणौ - नासिका में विचरण करने वाले ; विशेषण, वि. ''प्राणापानौ''।

प्राणापानौ - प्राण और अपान ; नाम, द्वि.द्विवचन, पु. ।
समौ - सम ; विशेन, वि. 'पाणापानौ' ''
कृत्वा - करके ; विधेय कृदन्त।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः - इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जिसने जीत कर नियम में रख लिया है ; विशेषण, वि. ''मुनिः''।
यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
मोक्षपरायणः - मोक्षपरायण ; विशेषण, वि. ''मुनिः''
मुनिः - मननशील योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. ''मुनि''।
विगतेच्छाभयक्रोध : - इच्छा, भय और क्रोध से जो रहित है ; विशेषण, वि. ''मुनि''
अस्ति - है ; क्रियापद, वर्त का.तृ.पु.ए.व. ''अस्''।
सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तत्''पु.
सदा - सदेव ;अव्यय ।
मुक्तः - मुक्त; विशेषण, वि. ''मुनिः''
एव - ही ,मात्र; अव्यय।
अस्ति - है; क्रियापद, वर्त.का.तृ.पु.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : बाह्य स्पर्शों को बाहर रखकर, चक्षुओं को दोनों भृकुटियों के मध्य में रखकर, नासिका में विचरण करते प्राण और अपान को सम रखकर जो मोक्षपरायण मुनि इन्द्रियों, मन और बुद्धि को नियंत्रण में रखता है जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित है वह सदा मुक्त ही है।

विवेचन : अब दो श्लोक से योग का वर्णन करते हैं। यह योग ईश्वर का आलंबन कराता है। ईश्वर का आलबंन कराने वाले योग का स्वरूप दो श्लोक से कहते हैं। बाह्य स्पर्श अर्थात रूप, रस आदि बाहरी पदार्थ। यदि इन पदार्थों का मात्र चिन्तन भी करने में आए तो ये तत्क्षण अंतः प्रवेश करते हैं। अतः उनके चिन्तन का त्याग करके, उनको अन्तः प्रवेश से रोककर बाहर ही रखते हुए और ज्ञान प्रधान नेत्रों को दोनों भृकुटियों के मध्य रखते हुए अर्थात नेत्र आधे

बंद रखते हुए तथा मन को एकाग्र करके ऊर्ध्व और अधोगति वाले प्राण और अपान दोनों को समान रखते हुए अर्थात प्राण और अपान दोनों को प्राणायाम की कुम्भक विधि से संयमित करके उनको नासिका में रखकर; अपने कार्य के सिद्धि परायण होकर नहीं अपितु मोक्षपरायण होकर अर्थात मोक्ष के लिए ईश्वर का अवलम्बन करने वाला जो मुनि अपनी इन्द्रियों,प्राण,मन और बुद्धि को संयम में रखता है जिसकी इच्छा,भय,क्रोध आदि दूर हो गए हैं वह सदा मुक्त ही है, अर्थात प्रपञ्च में भी वह जीवन्मुक्त ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति ।। 29 ।।

अन्वयः
यज्ञतपसाम् - यज्ञ और तप के कर्मों के; ष.ब.व.नपु. ।
भोक्तारम् - भोगने वाला; नाम, द्वि.ए.व. ''भोक्तृ''पु. ।
सर्वभूतानाम् - समस्त भूत, प्राणियों का; नाम, ष.ब.व.नपु. ।
सुहृदं -मित्र; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''सुहृत्''।
च - और; अव्यय
सर्वलोकमहेश्वरम् - सब लोकों का ईश्वर; नाम, द्वि.ए.व.पु. ।
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. ''अस्मद्''
ज्ञात्वा - जानकर; विधेय कृदन्त ।
पुरूषः - पुरूष;
शान्तिम् - शान्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
ऋच्छति - प्राप्त करता है; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. ''ऋ(ऋच्छ)'' 1 गण परस्मै।

श्लोकार्थ : मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता, सब लोको का महेश्वर और प्राणी मात्र का सुहृत् जानकर वह(योगी) शान्ति को प्राप्त करता है।

विवेचन : इन्द्रिय आदि के संयम से मुक्ति कैसे प्राप्त होती है- ऐसी शंका के निवारणार्थ कहते हैं कि मात्र संयम से मुक्ति प्राप्त नहीं होती अपितु मेरे अर्थात

भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। मैं यज्ञ और तप का भोक्ता हूँ अर्थात वेद के कर्मकाण्ड का तात्पर्य मैं ही हूँ। मैं सर्व लोकों का महेश्वर हूँ अर्थात वेद के उपासनाकाण्ड का तात्पर्य भी मैं ही हूँ। मैं प्राणी मात्र का मित्र और आत्मा हूँ अर्थात वेद के ज्ञानकाण्ड का तात्पर्य भी मैं ही हूँ। इस प्रकार मेरे माहात्म्य का ज्ञान योगी को होता है; इसी से वह शान्ति प्राप्त करता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ''कर्मसन्न्यासयोगो'' नाम पञ्चमोध्याय ।। 5 ।।

।। अध्याय 6 ।।

आत्मसंयम योग

श्रीभगवान् उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर् न चाक्रियः।। 1।।

अन्वयः

यः – जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'।

कर्मफलम् – कर्मफल को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'कर्मफल'

अनाश्रितः – आश्रयरहित, इच्छारहित ; विशेषण, वि. 'यः'

कार्यम् – कार्य – कर्त्तव्य को, करने लायक को ; 'कृ' विशेषण, वि. 'कर्म'

कर्म – कर्म को ; नाम, द्वि.ए.नपु. कर्मन्।

करोति – करता है ; क्रि. व.का.तृ.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण, परस्मै।

सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'

सन्न्यासी – सन्न्यासी ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संन्यासिन्'।

च – और ; अव्यय

योगी : – योगी ; नाम, प्र.ए.व. 'योगिन्' पु.

अस्ति – है ; क्रियापद, वर्त का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

च केवलम् – और केवल ; अव्यय।

निरग्नि : – अग्नि का त्याग करने वाला ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'निर् + अग्नि' (सन्न्यासी = सन्न्यासी)।

न – नहीं ; अव्यय

अस्ति – है ; क्रियापद, वर्त, का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

च केवलम् – और केवल ; अव्यय

अक्रियः – क्रिया का त्याग करने वाला ; विशेषण, वि. 'सन्न्यासी, योगी' (अपि सन्न्यासी = सन्न्यासी भी)

न – **नहीं** ; अव्यय।
अस्ति – **है** ; क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : कर्मफल का आश्रय किए बिना जो कर्त्तव्य कर्म करता है वही सन्न्यासी और योगी है। निरग्नि (केवल अग्नि का त्याग करने वाला) अथवा अक्रिय (क्रिया का त्याग करने वाला) (सन्न्यासी अथवा योगी) नहीं।

विवेचन : ऊपर के वर्णन के अनुसार, आत्म संयम से संन्यास और योग दोनों के एकार्थ की सिद्धि होती है। अत: जो कर्म फल का त्याग करके, मात्र कर्त्तव्य होने से ही अग्निहोत्र आदि कर्म करता है, उसने कर्मफल का आश्रय नहीं किया होने से अथवा कर्मफलरूप स्वर्ग आदि का त्याग किया होने से वह सन्न्यासी है और कर्तव्य कर्म करता होने से वह योगी भी है। इस प्रकार संन्यास और योग दोनों के एकार्थ की सिद्धि हो जाती है। परन्तु जो निरग्नि है अर्थात अग्नि से करणीय अग्निहोत्र आदि कर्म नहीं करता वह सन्न्यासी नहीं है। अत: योगी तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार जो अक्रिय है अर्थात् जो अग्नि के बिना करणीय कर्म – जैसे कुआं – बावड़ी आदि खुदवाना, दान करना आदि नहीं करता वह भी सन्न्यासी नहीं है और योगी भी नहीं हो सकता। अत: फल की इच्छा बिना मात्र कर्तव्य समझकर ही जो कर्म करता है वही सन्न्यासी है और वही योगी भी है।

यं सन्न्यासम् इति प्राहुः योगं तं विद्धि पाण्डव!।।
न ह्यसंन्यस्त-संकल्पो योगी भवति कश्चन।। 2।।

अन्वय:
पाण्डव – **अर्जुन** ; सम्बोध।
यम् – **जिसको** ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.
सन्न्यासम् – **सन्न्यास को** ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'सन्न्यास'।
इति – **इस प्रकार** ; अव्यय
प्राहुः – **कहते हैं** ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. प्र + ब्रू 2 गण।

तम् – **उसीको** ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तत्'
त्वम् – **तू** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
योगम् – **योग को** ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योग'
विद्धि – **जानो, समझो** ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण, आत्मने
हि – **कारण कि** ; अव्यय।
असन्न्यस्तसंकल्प :– **जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया** ; विशेषण, वि. 'योगी'
कश्चन – **कोई भी** ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
योगी – **योगी** ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन'
न – **नहीं** ; अव्यय।
भवति – **होता है** ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पाण्डव ! जिसको सन्न्यास कहते हैं, उसको योग जानो। क्योंकि (फल के) संकल्प का सन्न्यास किए बिना कोई भी योगी नहीं होता।

विवेचन : ऋषिगण जिसको सन्न्यास कहते हैं वही योग है। कारण यह है कि उसमें भी फल के संकल्प का त्याग करने का उपदेश है। उस संकल्प का त्याग किए बिना कोई भी योगी नहीं हो सकता। अत: सन्न्यास और योग दोनों में कर्मफल के संकल्प का त्याग किए जाने का उपदेश होने से दोनों एक ही हैं।

विशेष : सामान्यजन ऐसा मानते हैं कि सन्न्यासी अग्नि और कर्म से रहित होने चाहिए। तात्पर्य यह है कि अग्नि और कर्म के साथ संबंध नहीं रख सकते अर्थात वैदिक अग्नि और वैदिक कर्म से सम्बन्ध नहीं रख सकते। यद्यपि शिष्ट पुरुषों की बताई हुई यह परिपाटी सही है परंतु यह श्लोक इस बात को अधिक महत्त्व न देते हुए एक अलग ही प्रकार के सन्न्यासी के लक्षण बताता है। केवल त्याग को सन्न्यास मानने के बजाए कर्म के फल के प्रति अनासक्ति रखकर कर्म करते रहने को भी सन्न्यास के रूप में ज्ञापित किया गया है। सन्न्यासी = उत्पन्न होती वृत्तियों का त्याग करने वाला अथवा उन पर अंकुश लगाकर निर्लिप्त होकर आगे बढ़ने वाला ; न कि विहित कर्म का त्याग करने

वाला। कर्म करते रहकर भी उसके फल की आशा न रखने वाला। इस प्रकार का कर्म-सन्न्यास, योगमार्ग में महत् साधन के रूप में कार्य करता है और ब्रह्म के साथ संबंध करने में भी सहायक बनता है। योग का अर्थ है भगवान के साथ जुड़ाव। यह जुड़ाव कर्म द्वारा, ज्ञान द्वारा और भक्ति द्वारा हो सकता है। प्रत्येक में त्याग की जरूरत है और यह त्याग मन से होना चाहिए।

आरूरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणम् उच्यते।।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणम् उच्यते।। 3।।

अन्वयः

योगम् - योग को, समत्वबुद्धियोग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योग'
आरूरुक्षोः - आरूढ़ होने की इच्छा करने वाले का ; ष.ए.व.पु. 'आरूरुक्षुः'
मुनेः मुनि का ; नाम, ष.ए.व.पु.।
कर्म-कर्म, निष्काम कर्म ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'कर्मन्'
कारण - कारण ; प्र.ए.व.नपु.।
उच्यते - कहा जाता है ; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण
तस्य - उसका ; सर्वनाम, ष.ए.व.पु.।
योग आरूढ़स्य - जो योग में आरूढ़ हो गया है ; विशेषण, वि. 'तस्य'
शमः - मन का निग्रह, संकल्पों का अभाव ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'शम'
एव - ही ; अव्यय
कारणम् - कारण ; नाम, प्र.ए.व.नपु.
उच्यते - कहा जाता है ; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण

श्लोकार्थ : योग आरोह करने की इच्छा रखने वाले मुनि के लिए कर्म साधन है। वही जब योगारूढ़ होता है तब शम साधन है।

विवेचन : योग अथवा आत्मसंयम करने की इच्छा वाले मुनि को उन्हें प्राप्त करने का मुख्य साधन ऊपर वर्णित कर्म है। अर्थात फल की इच्छा बिना

स्वधर्म का आचारण साधन है। वही मुनि योगारूढ़ होता है अर्थात उसी को आत्मसयंम सिद्ध होता है। ऐसी ही स्थिति में उसके लिए 'शम' अर्थात सर्व संकल्प का त्याग साधन है। सर्व संकल्प का त्याग करने से आत्मसंयम दृढ़ होता है। अतः शम अर्थात सर्व संकल्प का त्याग योगारूढ़ मुनि के लिए स्थूणा-खनन न्याय की भांति आत्मसंयम को विशेष दृढ़ करने का साधन है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।।
सर्वसंकल्प सन्न्यासो योगारूढस् तदोच्यते।।4।।

अन्वयः

यदा हि - जब निश्चयपूर्वक ; अव्यय
इन्द्रियार्थेषु - इन्द्रियों के अर्थ (भोगों में) ; नाम, स.ब.व.पु. 'इन्द्रियार्थ'।
न- नहीं ; अव्यय
अनुषज्ज्ते-आसक्त होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अनु + सज्ज' 1 गण आत्मने
च न - और नहीं ; अव्यय
कर्मसु - कर्मों में ; नाम, स.ब.व. नपु. 'कर्मन्'
अनुषज्जते - आसक्त होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अनु+सज्ज' 1 गण, आत्मने
तदा - उस समय : अव्यय
सर्वसंकल्पसन्न्यासी - सब संकल्पों का त्याग करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.
योगारूढ़ :- योग पर आरूढ़ हुआ ; विशेषण, वि. 'सन्न्यासी'
उच्यते - कहा जाता है ; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'च्' 2 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : जब (मनुष्य) इन्द्रियों के अर्थों (भोगों) में अथवा कर्मों में आसक्त नहीं होता और सभी संकल्पों का त्याग कर देता है तब योगारूढ़ कहा जाता है।

विवेचन : जब इन्द्रियों की अर्थ में से आसक्ति हट जाती है और अपनी क्रिया से होते कर्म में भी आसक्ति नहीं रहती तथा संकल्प का त्याग हो जाता है तब (मनुष्य को) योगारूढ़ कहा जाता है।

विशेष : योगारूढ़ अर्थात योग में आरूढ़। उसका (योगारूढ़ का) चित्त ब्रह्म में ही लगा रहने से लोकधर्म में वह संलिप्त नहीं रहता। अतः इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों के साथ उसका संबंध संभव नहीं है। मात्र देह के निर्वाह के लिए (इंद्रियों के विषयों की ओर) सामान्य रूप से ध्यान देना दोषपूर्ण नहीं है। वह (योगारूढ़) देह धारण किए रहने के लिए ही ध्यान देता है न कि देह को सुख अथवा आराम देने लिए।

उद्धरेद् आत्मनात्मानं नामत्मानम् अवसादयेत्।।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः।। 5।।

अन्वयः

आत्मना - आत्मा के द्वारा, मन से ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'आत्मन्'
आत्मानम् - आत्मा को, संसार रूप शरीर को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'
उद्धरेत् - उद्धार करता है ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. उत्+ हृ 1 गण
च न - और नहीं ; अव्यय।
अवसादयेत् - अधोगति करता है ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. कारक 'अध+सद्' प्रेरक, 1 गण, परस्मै
आत्मानम् - आत्मा को, अपने जीवात्मा को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.।
हि - क्योंकि ; अव्यय
आत्मा - आत्मा ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'आत्मन्'।
एव - ही, मात्र ; अव्यय
आत्मनः - आत्मा का ; नाम, ष.ए.व.पु.।
बन्धुः - बन्धु ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'बन्धु' (अस्ति च = है, और)।
आत्मा - आत्मा ; नाम, प्र.ए.व.पु.।

एव - ही, मात्र ; अव्यय।
आत्मनः - आत्मा का ; नाम, ष.ए.व.पु.
रिपुः - दुश्मन ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'रिपु'
अस्ति-है ; क्रि.प.वर्त. का. तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : आत्मा से आत्मा का उद्धार करे पर आत्मा का नाश न करे। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बंधु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

विवेचन : विषयों में आसक्ति न रखकर कर्म करते हुए अपने आत्मा का उद्धार करे अर्थात विषयों में आसक्ति रख कर आत्मा का विनाश न करे। कारण यह है कि आत्मा अर्थात कर्ता अपने ही आत्मा का बंधु है। तात्पर्य, कि फल की इच्छा बिना कर्तव्य मानकर ही कर्म करते हुए अपना उद्धार करता है ; और आत्मा अर्थात कर्ता अपने ही आत्मा का शत्रु है अर्थात विषयों में आसक्ति रख कर अपना विनाश करता है।

विशेष : आत्मा, आत्मा का उद्धार करता है और आत्मा ही आत्मा का नाश करता है। 'आत्मा' का एक अर्थ जीव होता है और दूसरे अर्थ में जीव को सहायता के लिए दी गई सामग्री - मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, देह प्राण और इन्द्रिय को भी आत्मा रूप कहा जाता हे। अब जीव को अपना उद्धार करना है अतः वह इस सामग्री की उचित सहायता लेता है तो उद्धार होता है और यदि वह सामग्री के प्रति बेपरवाह रहे तो जीव का अधः पतन होता है। उदाहरणस्वरूप घुड़सवार यदि घोड़े पर काबू न रखे तो घोड़ा स्वच्छंद होकर घुड़सवार को गिरा देता है और यदि नियंत्रण में रखे तो नियत स्थान तक ले जाता है। इस प्रकार अपना/स्वयं का मित्र भी बन सकता है और शत्रु भी बन सकता है। इन्द्रियाँ अश्व रूप हैं। मन उनकी लगाम रूप है। बुद्धि सारथी का काम करती है। देह रथ रूप है। जीव रथी रूप है। जब ये सभी अपने-अपने काम नियमित रूप से करते हैं तो रथी को सुखकर भी होते हैं और नियत स्थल तक भी ले जाते हैं।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। 6।।

अन्वयः

येन – जिसके द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.।

आत्मनाः – आत्मा से, जीवात्मा के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व.पु.

एव – ही, मात्र ; अव्यय

आत्मा – आत्मा, स्वयं, मन, इन्द्रिय सहित शरीर ; नाम, प्र.ए.व.पु.

जितः – जीता हुआ ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'आत्मा'।

अस्ति – है ; क्रि. प.वर्त. का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

तस्य – उसका ; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'तत्'।

आत्मनः – आत्मा का , जीवात्मा का ; नाम, ष.ए.व.पु.

आत्मा – आत्मा ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'आत्मन्'।

बन्धुः – बन्धु ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'बन्धु'

तु– परंतु, तो ; अव्यय ।

अनात्मन : – जिसको आत्मा नहीं, जिसने इंद्रिय आदि को नहीं जीता ; नाम, ष.ए.व.पु.।

आत्मा–जीवात्मा ; नाम, प्र.ए.व.पु.।

एव – ही, मात्र ; अव्यय

शत्रुवत् – शत्रु की भांति ; अव्यय।

शत्रुत्वे – शत्रु रूप में ; नाम, स.ए.व.नपु. 'शत्रुत्व'

वर्तेत – बर्ताव करता है ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'वृत्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : जिसने आत्मा से आत्मा को ही जीत लिया है उसका आत्मा, आत्मा का बंधु है, परंतु अनात्मा शत्रु होने से आत्मा ही शत्रु की भांति बर्ताव करता है।

विवेचन : जिसने आत्मा से अर्थात विवेकबुद्धि से अपने आत्मा को अर्थात कर्ता होने के अभिमान को जीत लिया है उसका आत्मा, आत्मा का अर्थात

अपना बंधु है। तात्पर्य यह है कि जिसको "मैं कर्ता हूँ" – ऐसा अभिमान नहीं है, उसका आत्मा उसका बंधु है। परंतु अनात्मा अर्थात विवेकरहित बुद्धि, "मैं कर्ता हूँ" – ऐसा अभिमान रखने वाली बुद्धि सदा शत्रु होती है अतः जिसकी ऐसी बुद्धि है उसका आत्मा उसके शत्रु की भांति बर्ताव करता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।।
शीतोष्ण – सुख – दुःखेषु तथा मानापमानयोः।। 7।।

अन्वय :

शीतोष्ण – सुख – दुःखेषु – शीत, उष्ण, सुख और दुःख में; नाम, स.ब.व.पु.

तथा – और ; अव्यय।

मानापमानयोः – मान और अपमान में ; नाम, स.द्वि.व. मान + अपमान

प्रशान्तस्य – शान्त, विकाररहित पुरुष के ; विशेषण, वि. 'आत्मनः'

जितात्मनः – स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष का ; नाम, ष.ए.व. 'आत्मन' पु. (मनसि = मन में)

परमात्मा – परमात्मा ; नाम, प्र.ए.व.पु.।

समाहित :– सम्यक् प्रकार से स्थित है ; विशेषण, वि. 'परमात्मा'

श्लोकार्थ : जिसने आत्मा को जीत लिया है और जो शीत अथवा उष्ण, सुख अथवा दुःख और मान अथवा अपमान में सर्वथा शान्त है उसको (उसमें) परमात्मा समाहित है।

विवेचन : उपरिवर्णित कथन के अनुसार जिसने आत्मा को जीत लिया है और जो शीतादि सब अवस्थाओं में सर्वथा शान्त रहता है, उसका परमात्मा समाहित है अर्थात अंतर्यामी की भांति समाधि में स्थित है।

ज्ञान – विज्ञान – तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।।
'युक्त' इत्युच्यते योगी समालोष्ठाश्मकाञ्चनः।। 8।।

अन्वयः

ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा = ज्ञान और विज्ञान से जिसका अन्तः करण तृप्त है ; विशेषण, वि. 'योगी' ''**ज्ञानविज्ञानाभ्यां तृप्तः आत्मा यस्य इति**'' बहु

कूटस्थ : - निर्विकार शरीर में स्थित ; विशेषण, वि. 'योगी'।

च - और ; अव्यय

विजितेन्द्रियः - जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है ; विशेषण, वि. 'योगी'

तथा - और ; अव्यय

समलोष्ठाश्मकाञ्चनः- मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण में जिसकी समबुद्धि है ; विशेषण, वि. 'योगी' ''**लोष्ठं अश्मं काञ्चनं च समम् यस्य इति**'' बहुव्रीहि

योगी - योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।

युक्तः - योग्य, भगवत् प्राप्ति वाला ; विशेषण, वि. 'योगी'

इति - इस प्रकार ; अव्यय

उच्यते - कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : जिसका अन्तः करण ज्ञान और विज्ञान से तृप्त है, जो निर्विकार है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसके लिए लोष्ठ, पत्थर और सुवर्ण समान हैं - ऐसा योगी 'युक्त' कहा जाता है।

विवेचन : यहाँ से दो श्लोक तक योगारूढ़ मुनि के स्वरूप और उसकी उत्तमता का वर्णन करते हैं। जिसका अन्तः करण उपदेश से प्राप्त हुए ज्ञान से तथा साक्षात अनुभव से तृप्त हो गया है, जो विकार रहित है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है तथा मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण में जिसकी समान बुद्धि है - ऐसा योगी युक्त अथवा योगारूढ़ है।

सुहृन - मित्रार्युदासीन - मध्यस्थ - द्वेष्य - बन्धुषु।।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर् विशिष्यते।। 9।।

अन्वय :

सुहृन् - मित्रार्युदासीन - मध्यस्थ - द्वेष्य - बन्धुषु = सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धु में ; नाम, स.ब.व.।

च-और ; अव्यय

साधुषु - साधुओं में ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'समबुद्धि'

च - और; अव्यय

पापेषु - पापियों में; नाम, स.ब.व.पु.

अपि -भी; अव्यय

समबुद्धिः - सम भाव वाला; नाम, प्र.ए.व. स्त्री 'समबुद्धि'

विशिष्यते - श्रेष्ठ है, विशेष है ; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'वि + शिष्' 7 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधुओं और पापियों में भी जिसकी बुद्धि समान है वह उत्तम है।

विवेचन : 'सुहृत्' अर्थात् सर्वहित उपदेश करने वाला, 'मित्र' अर्थात स्नेह से परवश रहने वाला, 'उदासीन' अर्थात शत्रु भी नहीं और मित्र भी नहीं, 'मध्यस्थ' अर्थात वाद करने वाले दोनों पक्ष के सद् अथवा असद् वाक्यों का निर्णय करने वाला, 'द्वेष्य' अर्थात सद्भाव रहित, 'बन्धु' अर्थात संबंधी, 'साधु अर्थात सदाचारयुक्त और पापी' अर्थात धर्मविरोधी - इन सब में जिसकी बुद्धि समान है वह उत्तम योगी है।

योगी युञ्जीत सततम् आत्मानं रहसि स्थितः।।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।। 10।।

अन्वयः

निराशीः - आशा रहित, वासना रहित ; विशेषण, वि. 'योगी'

यतचित्तात्मा - मन - इन्द्रिय सहित शरीर को जीतने वाला ; विशेषण, वि. 'योगी'

च - और ; अव्यय ।

अपरिग्रहः - जो संग्रह न करता हो ; विशेषण, वि. 'योगी'

योगी - योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।

एकाकी - **अकेला** ; विशेषण, वि. 'योगी'
रहसि - **एकान्त में** ; नाम, स.ए.व. 'रहस्' नपु. ।
स्थितः - **स्थिर रहा हुआ** ; विशेषण, वि. 'योगी'
सततम् - **निरन्तर** ; अव्यय ।
आत्मानम् - **आत्मा को** ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'
युञ्जीत - **जोड़े** ; क्रि. विध्यार्थ तृ.पु.ए.व. 'युज्' 7 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : योगी एकान्त में रहकर, चित्त और बुद्धि को नियम में रखकर, इच्छा रहित और परिग्रह रहित रहकर निरन्तर आत्मा को (परमात्मा में) युक्त रखे।

विवेचन : योगारूढ़ मुनि का स्वरूप कहकर, यहाँ से छह श्लोक (10 से 15) तक स्पष्ट करते हैं कि अंग सहित योग की सिद्धि किस प्रकार की जाती है। यहाँ बताई गई रीति से योगी एकान्त में योग साधे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरम् आसनमात्मनः।।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।। 11।।

अन्वय :
शुचौ - **पवित्र, शुद्ध** ; विशेषण, वि. 'देशे',
देशे - **स्थान में** ; स.ए.व.पु. 'देश'
चैलाजिनकुशोत्तरम् - **वस्त्र, मृगचर्म, दर्भ युक्त** ; विशेषण, वि. 'आसनम्'
आत्मनः - **अपना** ; नाम, ष.ए.व.पु. 'आत्मन्'।
आसनम् - **आसन को** ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'आसन'
न - **नहीं** ; अव्यय।
अत्युच्छ्रितम् - **बहुत ऊंचा** ; विशेषण, वि. 'आसनम्'
च न - **और न ही** ; अव्यय।
अतिनीचम् - **बहुत नीचा** ; विशेषण, वि. 'आसन' (एतादृशम् - इस प्रकार का)

स्थिरम् - **स्थिर** ; विशेषण, वि. 'आसनम्'।
प्रतिष्ठाप्य - **लगाकर, स्थापित करके** ; प्रेरक, सं. भू. कृदन्त

श्लोकार्थ : न अधिक ऊँचा, न अधिक नीचा ; ऐसे अपने स्थिर आसन, जिसमें कुश के ऊपर मृगचर्म और वस्त्र हो, पवित्र स्थान पर स्थापित करके उस पर बैठकर योग करें।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत - चित्तेन्द्रिय - क्रियः।।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगम् आत्मविशुद्धये।। 12।।

समं काय - शिरो - ग्रीवं धारयन् अचलं स्थिरः।।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।। 13।।

अन्वयः
तत्र - **वहाँ** ; अव्यय।
आसने - **आसन पर** ; नाम, स.ए.व.नपु. 'आसन'
उपविश्य - **बैठकर** ; विधेय कृदन्त।
मनः - **मन को** ; नाम, द्वि.ए.व. 'मनस्' नपु.
एकाग्रम् - **एकाग्र** ; विशेषण, वि. 'मन'।
कृत्वा - **करके** ; विधेय कृदन्त
यतचित्तेन्द्रियक्रियः - **चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जिसने रोक लिया है** ; विशेषण, वि. ''योगीः चित्तस्य इन्द्रियाणां क्रियाः यताः येन इति'' बहुव्रीहि
आत्मविशुद्धये - **अन्तःकरण की शुद्धि के लिए** ; नाम, च.ए.व. स्त्री. 'आत्मविशुद्धि'
योगम् - **योग को** ; नाम, द्वि.ए.व.पु.।
युञ्ज्यात् - **जोड़े, अभ्यास करे** ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'युज्' 7 गण, परस्मै
कायशिरोग्रीवं - **काया, सिर, गर्दन** ; नाम, द्वि.ए.व. 'कायः, शिरः, ग्रीवा च द्वंद्व'

समम् - सम, सीधा ; विशेषण, वि. ''कायशिरोग्रीव'।
च-और ; अव्यय।
अचलम् - अचल ; विशेषण, वि. 'कायशिरोग्रीव'
धारयन् - धारण करके ; व.कृ. विशेषण, वि. 'योगी'।
स्थिरः - स्थिर, दृढ़ ; विशेषण, वि. 'योगी'
भूतवा - होकर ; क्रि.प.
स्वम् - अपने ; विशेषण, वि. 'नासिकाग्रम्'।
नासिकाग्रम् - नासिका की नोक ; नाम, द्वि.ए.व.
सम्प्रेक्ष्य - देखते हुए ; विधेय कृदन्त।
च - और ; अव्यय।
दिशः - दिशाएँ ; नाम, द्वि.ब.व. 'दिश्' स्त्री।
अनवलोकयन् - नहीं देखता ; व.कृ. विशेष्णण, वि. 'योगी'

श्लोकार्थ : मन को एकाग्र कर काया, सिर और गर्दन को भली - भांति अचल रखकर अपने नाक के अग्रभाग को देखते हुए तथा दिशाओं को देखे बिना स्थिर रहकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं का निग्रह कर आत्मा की शुद्धि के लिए योग करे।
यहाँ श्लोक 11 से 13 तक योग करने की रीति का उपदेश किया गया है।

प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।। 14।।

अन्वयः
ब्रह्मचारिव्रते - ब्रह्मचारी के व्रत ; नाम, स.ए.व.पु. 'ब्रह्मणि चरति' इति ब्रह्मचारी तस्य व्रते इति ''तत्पुरुष''।
स्थितः - स्थित हुआ ; विशेषण, वि. 'योगी'
विगतभीः - निर्भय ; 'विगताभीः यस्य इति' बहुव्रीहि।
च - और ; अव्यय

प्रशान्तात्मा - सम्यक् रूपेण शान्त अंतः करणवाला ; विशेषण, वि. 'योगी'
युक्तः सावधान (युक्त योगी) ; विशेषण, वि. 'योगी'
भूत्वा - होकर।
मनः - मन को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'मनस्'
संयम्य - संयम में रखकर ; विधेय कृदन्त।
मच्चित्तः - मुझ में चित्त है जिसका ; विशेषण, वि. 'योगी'
च - और ; अव्यय।
मत्परः - मुझ में परायण ; विशेषण, वि. ''योगी मयि परं अयनं यस्य इति'' बहुव्रीहि
आसीत - रहे ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'आस्' 2 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : योगी, शान्त आत्मा वाला, भयरहित, ब्रह्मचारिव्रत युक्त होकर, मन का संयम कर, मुझ में चित्त रखकर, सावधान होकर मेरे परायण होकर रहे।

विवेचनः मन का संयम कर, भगवान् में चित्त रखकर, सावधान होकर भगवत्परायण रहने को संप्रज्ञात समाधि का प्रकार कहा गया है।

युञ्जन् एवं सदात्मानं योगो नियतमानसः।।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थाम् अधिगच्छति।। 15।।

अन्वय :
एवम् - इस प्रकार ; अव्यय।
आत्मानम् - आत्मा को, अन्तः करण को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'
सदा - हमेशा ; अव्यय।
युञ्जन् - (परमात्मा में) लगाता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वी. 'योगी'
नियतमानसः - स्वाधीन मन वाला (अपने अधीन मन वाला) ; विशेषण, वी. 'योगी' 'नियतं मनः यस्य इति' बहुव्रीहि
योगी - योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।

मत्संस्थाम् - मुझ में स्थिति रूप ; विशेषण, वि. 'शान्तिम्'
निर्वाणपरमाम् - परमानन्द पराकाष्ठा वाली ; विशेषण, वि. 'शान्तिम्'
शान्तिम् - शान्ति को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'शान्ति'
अधिगच्छति - प्राप्त करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'अधि + गम्' 1 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : आत्मा को सदा इस प्रकार (परमात्मा में) लगाते हुए मन को नियम में रखने वाला योगी निर्वाण से भी उत्तम मुझ (परमात्मा) में स्थिति रूपी शान्ति प्राप्त करता है।

विवेचनः इस प्रकार सदा आत्मा को मुझ में युक्त रखते हुए निर्वाण अर्थात मोक्ष अथवा अक्षर ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं बल्कि उससे भी अधिक मुझ में लय अथवा स्थिति रूपी शान्ति को प्राप्त करता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तम् अनश्नतः।।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन!।।16।।

अन्वयः
अर्जुन - अर्जुन ; सम्बोधन।
योगः - योग ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योग'
अत्यश्नतः - अधिक खाने वाले का ; वर्त. कृ. विशेषण, 'पुरुषस्य'।
न - नहीं ; अव्यय।
अस्ति - है ; क्रि. वर्त. का. तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै।
च - और ; अव्यय।
एकान्तम् - बिल्कुल, केवल ; अव्यय।
अनश्नतः - नहीं खाने वाले का ; वर्त.कृ. विशेषण, वि. 'पुरुषस्य'
तु,न,च - तो भी नहीं और ; अव्यय।
अतिस्वप्नशीलस्य - अधिक सोने वाले को ; विशेषण, वि. 'पुरुषस्य'
न च - नहीं, और ; अव्यय।

(अति) जाग्रतः - अधिक जागरण करने वाला ; वर्त.कृ. विशेषण, वि. 'पुरुषस्य'
न, एव - नहीं, ही ; अव्यय।

श्लोकार्थ : हे अर्जुन ! अधिक खाने वाले को योग प्राप्त नहीं होता और बिल्कुल नहीं खाने वाले को भी योग प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार अधिक निद्रा करने वाले को और अधिक जागरण करने वाले को भी प्राप्त नहीं होता।

विवेचन : योग करने की इच्छा रखने वाले को कैसा आहार इत्यादि करना चाहिए, यह बताते हैं। कहते हैं कि अधिक आहार अथवा अधिक उपवास और इसी प्रकार अधिक निद्रा और अधिक जागरण नहीं करना चाहिए।

कैसा आहार इत्यादि करना चाहिए, यह नीचे के श्लोक में बताते हैं।

युक्ताहार - विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।।
युक्त - स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। 17।।

अन्वय :
दुःखहा - दुःख का नाश करने वाला ; विशेषण, वि. 'योगिनः' 'दुःखं हन्ति इति' उपपद
योगः - योग ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योग'।
युक्ताहारविहारस्य - आहार - और विहार जिसका यथायोग्य है ; विशेषण, वि. योगिनः''**युक्तः आहारः विहारश्च यस्य इति**''बहुव्रीहि
कर्मसु - कर्मों में ; नाम, स.ब.व.नपु. 'कर्मन्'
युक्तचेष्टस्य - जिसकी चेष्ट यथायोग्य है ; विशेषण, वि. 'योगिनः''''युक्ताः चेष्टाः यस्य इति''बहुव्रीहि
युक्तस्वप्नावबोधस्य - निद्रा और जागरण जिसका सम है ; विशेषण, वि. 'योगिनः' ''युक्तः स्वप्नं अवबोधश्च यस्य इति''बहुव्रीहि
भवति - (सिद्ध) होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''भू''1 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : उचित आहार और उचित विहार वाले को, कर्म में उचित चेष्टा वाले को, उचित निद्रा और उचित जागरण वाले को दु:खों का नाश करने वाला योग (सिद्ध) प्राप्त होता है।

यदा विनियतं चित्तम् आत्मन्येवावतिष्ठते ।।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो ''युक्त'' इत्युच्यते तदा ।। 18 ।।

अन्वयः

यदा – जब ; अव्यय।

विनियतम् – अत्यन्त वश में किया हुआ ; विशेषण, वि. 'चित्तम'

चित्तम् – चित्त ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'आत्मन्'

आत्मनि – परमात्मा में; नाम, स.ए.व.पु. 'आत्मन्'

एव – ही, मात्र ; अव्यय।

अवतिष्ठते – सम्यकरूपेण स्थित होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अव+स्था' 1 गण, आत्मने

तदा – तब ; अव्यय

सर्वकामेभ्यः – सभी इच्छाओं में से ; नाम, पं. ब.व.पु.

निःस्पृह :– जो सर्वथा कामनारहित हो गया है ; विशेषण,वि. 'पुरूषः'

युक्तः – योग्य, समत्व बुद्धि वाला; विशेषण, वि. 'पुरूषः'।

इति – इस प्रकार; अव्यय

उच्यते – कहा जाता है; क्रि.व.का. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : जब नियम में रहा हुआ चित्त आत्मा में ही स्थित हो जाता है और सब कामनाओं से निःस्पृह हो जाता है तब वह (योगी) 'युक्त' कहा जाता है।

विवेचन : अब यह निरूपण करते हैं कि पुरूष सिद्धयोग वाला कब हो जाता है। जब नियत चित्त आत्मा में स्थित हो जाता है और योग से जो ऐश्वर्यादि सिद्धियाँ प्राप्त होती है उनकी भी स्पृहा नहीं रखता तब वह सिद्ध योगवाला अर्थात दृढ़ योगी अथवा असम्प्रज्ञात समाधि वाला योगी कहा जाता है।

विशेष : इस श्लोक में योग में स्थिर भाव कब कहा जाता है इसके लक्षण बताए गए हैं। 1. चित्त नियम (नियंत्रण) में रहता है। 2. निः स्पृहता अर्थात किसी भी प्रकार की लोभमय प्रवृत्ति का न होना। इन दो प्रकारों पर समुचित ध्यान दिया जाएगा तो चित्त स्थिर हो जाने से अन्तः करण के दोषों का नाश होगा और ब्रह्म का बोध होने से ब्रह्ममयता का अनुभव होगा। किसी स्थिर स्वरूप का चित्त में आविर्भाव हो तब उस स्वरूप को समुचित धारणापूर्वक ध्यान में उतार लेना चाहिए। बार-बार इस स्वरूप का ध्यान होता रहेगा तो वह तेज के रूप में घूमता (मन-मस्तिष्क में) रहेगा। इस स्तर तक आने पर ''ब्रह्मज्योतिः सनातनम्'' का अनुभव होगा।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगम् आत्मनः।। 19।।

अन्वयः

यथा–जिस प्रकार से ; अव्यय ।

निवातस्थः वायुरहित स्थान में स्थित ; विशेषण, वि. 'दीपः'

दीपः – दीपक ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'दीपः'।

न – नहीं ; अव्यय

इङ्गते – हिलता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'इङ्ग' 1 गण, आत्मने

सा – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'तत्'।

उपमा – उपमा ; नाम, प्र.ए.व.स्त्री 'उपमा'

आत्मनः – परमात्मा को (से) ; नाम, ष.ए.व.पु. 'आत्मन्'

योगम् – योग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योग'

युञ्जतः – सम्बद्ध करते हुए ; वर्त. कृ. विशेषण, वि. 'योगिनः'

यतचित्तस्य – निरूद्ध चित्त वाले; वर्त.कृ. विशेषण, वि. 'योगिनः'

योगिनः – योगी की ; नाम, ष.ए.व.पु. 'योगिन'

स्मृता – कही जाती है, समझी जाती है, बताई जाती है ; विशेषण, वि. 'उपमा'

श्लोकार्थ : जैसे पवन रहित प्रदेश में स्थित दीपक की (लौ) में कोई स्पंदन नहीं होता वैसी उपमा नियत चित्त वाले, योग का आचरण करते योगी के मन के लिए बताई गई है।

विवेचन : जिसका चित्त आत्मा के साथ एक होकर स्थित है उस योगी के चित्त को पवन रहित प्रदेश में स्थित दीपक के सदृश कहा गया है। ऐसा दीपक जिस प्रकार हिलता नहीं, निष्कम्प रहता है ; उसी प्रकार योगी का चित्त भी चंचल न होकर स्थिर रहता है। (निर्वात – निष्कम्प दीपशिखा की भांति)।

यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया।।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति।। 20।।

अन्वय :

यत्र – जब (जिस अवस्था में) ; अव्यय।
योग सेवया – योग के सेवन से ; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'योगसेवा'
निरूद्धम् – रोका हुआ ; विशेषण, वि. 'चित्तम्'।
चित्तम् – चित्त ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'चित्त'।
उपरमते – शांत रहता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'उप + रम्' 1 गण, आत्मने
च यत्र एव – और जब निश्चय ही ; अव्यय।
आत्मना – आत्मा से, शुद्ध बुद्धि के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व.पु.
आत्मानम् – परमात्मा को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'
पश्यन् – देखते हुए, साक्षात् करते हुए ; व.कृ. विशेषण, वि. 'योगी'
आत्मनि – अपने में, अन्तः करण में ; नाम, स.ए.व.पु. ।
एव – ही ; अव्यय
तुष्यति – संतोष प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'तुष्' 4 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : योग सेवा (योगसेवन) से चित्त जिस (अवस्था) में उपराम रहता है तथा जिस (अवस्था) में आत्मा से आत्मा को देखकर आत्मा में संतोष प्राप्त करता है।

विवेचन : योग का ही स्वरूप और फल साढ़े तीन श्लोक से कहा गया है। जिस अवस्था में योगतन्त्र के अनुसार (योग का) सेवन करने से निरूद्ध हुआ चित्त उपराम रहता है अथवा सब तरफ से शान्त रहता है उस अवस्था को 'योग' कहते हैं। यह योग का स्वरूप लक्षण है। पातंजल योग सूत्र में भी चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है। इस अवस्था में चित्त का निरोध होने से आत्मा को आत्मा से अर्थात् मन से देखकर आत्मा में ही संतोष प्राप्त करता है।

सुखम् आत्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। 21।।

अन्वयः

अतीन्द्रियम् – इन्द्रियों से अतीत ; नाम, विशेषण, वि. 'सुखम्'
बुद्धिग्राह्यम् – शुद्ध बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य ; विशेषण, वि. **'सुखम् अतीन्द्रियम्'** इन्द्रियातीत, विशेषण, वि. 'सुखम्'।
यत् – जो ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.
आत्यन्तिकम् – अनन्त, अनन्त आनन्दमय रस ; विशेषण, वि. 'सुखम्'
सुखम् – सुख ; आनन्द रस ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
तत् – वह ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
यत्र – जब ; अव्यय।
वेत्ति – जानता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै
च – और ; अव्यय।
स्थितः – स्थिर रहा हुआ ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'अयम्'।
अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'इदम्'।
तत्त्वतः – भगवत्स्वरूप से ; नमो, पं.ए.व.पु. 'तत्त्वतः'।
न एव – नहीं, और ; अव्यय
चलति – चलित होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'चल' 1 गण, परस्मै

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।। 22।।
तं विद्याद् दुःखसंयोग - वियोगं योगसञ्ज्ञितम्।

अन्वयः

च - और ; अव्यय।

यम् - जिसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'यत्'

लब्ध्वा - मिलने पर ; विधेय कृदन्त।

ततः - उसके बजाए ; सर्वनाम, पं.ए.व. 'तत्' पु.

अधिकम् - दूसरा, अधिक ; नाम, द्वि.ए.व. 'अधिक'।

अपरम् - दूसरा ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'अपर'

लाभम् - लाभ को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'लाभ'।

न - नहीं ; अव्यय

मन्यते - मानता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'मन्' 4 गण, आत्मने।

च - और; अव्यय

यस्मिन् - जिसमें; सर्वनाम, स.ए.व. 'यत्' पु. ।

स्थितः - स्थिर हुआ; विशेषण, वि. 'योगी'

गुरूणा - भारी, बडा; विशेषण, वि. 'दुःखेन'

दुःखेन - दुख से; नाम, तृ.ए.व.नपु. दुःखेन; ।

अपि न - भी नहीं; अव्यय

विचाल्यते - विचलित किया जाता है ; क्रि.व.का. कारक, तृ.पु.ए.व. 1 गण, कर्मणि, वि + चल्

यम् - जो

दुःख संयोगवियोगं - दुःख रूप संसार के संयोग से रहित ; विशेषण, वि. 'तम् - सुखम्'

अस्ति - है ; क्रि.प.वर्त. का तृ.पु.ए.व. 'तत्'

योगसंज्ञितम् - ''योग'' नाम से कहा जाता ; विशेषण, वि. 'तम्'

तम् - उसको (सुख को); सर्वनाम, ए.व.द्वि.पु. 'तत्'

विद्यात् - जानना चाहिए ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'विद्' क्रि।

विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : जिस (अवस्था) में आत्यन्तिक सुख अथवा जो बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है, उसका अनुभव करता है और जिसमें स्थित होकर योगी तत्त्व से विचलित नहीं होता, जिसको प्राप्त करके अन्य किसी लाभ को उससे अधिक नहीं मानता, जिसमें स्थित रहकर महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता उस दुःखों के संयोग के वियोग को ही योग संज्ञा वाला जानना चाहिए।

विवेचन : आत्यन्तिक अथवा नित्य का सुख, जिसका बुद्धि से ही अनुभव होता है और जो इन्द्रियों से अतीत है उस सुख का जिस अवस्था में अनुभव होता है और जिस अवस्था में योगी सुख रूप आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होता। उस दुःख-संयोग के वियोग को अर्थात दुःखों के नाश करने वाले को 'योग' जानना चाहिए।

यहाँ से उपदेश करते हैं कि इतना उत्तम होने से योग का आचरण करना चाहिए

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। 23।।
अनिर्विण्णचेतसा - शोक (निर्वेद) रहित चित्त से।।

अन्वय :

सः - वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'

योगः - योग ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योग'।

निश्चयेन - निश्चयपूर्वक ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'निश्चय'

योक्तव्यः - प्रवृत्त होना चाहिए, जुड़ने लायक ; विधेय कर्मणि कृ. विशेषण, वि. 'योग'

श्लोकार्थ : खिन्नता रहित चित्त से योग का निश्चयपूर्वक आचरण करना चाहिए।

सङ्कल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः।।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। 24।।

शनैः शनैः उपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। 25।।

अन्वयः

संकल्पप्रभवान् - सङ्कल्प से उत्पन्न होने वाली ; विशेषण, वि. 'कामान्'

सर्वान् - सब ; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु. 'सर्व'।

कामान् - कामनाओं को, वासनाओं को ; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'काम्'

अशेषतः - निःशेष ; अव्यय।

त्यक्त्वा - छोड़कर ; विधेय कृदन्त।

च - और ; अव्यय।

मनसा - मन से ; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'मनस्'

इन्द्रियग्रामम् - इन्द्रियों के समूह को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'इन्द्रियग्राम'।

समन्ततः - सब तरफ से ; अव्यय।

एव - ही ; अव्यय।

विनियम्य - नियम में रखकर ; विधेय कृदन्त

शनैः शनैः - धीरे - धीरे ; अव्यय

उपरमेत-शान्त हो जाना चाहिए, शांति प्राप्त करता है ; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु. ए.व. 'उप + रम्' 1 गण, परस्मै

धृतिगृहीतया - धैर्य से ग्रहण बुद्धि के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री.।

बुद्ध्या - बुद्धि के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री।

मनः - मन को ; नाम, द्वि.ए.व. 'मनस्' नपु.।

आत्मसंस्थम् - परमात्मा में स्थित ; विशेषण, वि. 'मनः'

कृत्वा - करके ; विधेय कृदन्त ।

किञ्चित अपि न - कुछ भी नहीं ; अव्यय।

चिन्तयेत - चिन्तन करना चाहिए ; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'चिन्त्' 10 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : संकल्प से उत्पन्न होती सभी कामनाओं को पूर्णतया तज कर, सब तरफ से इन्द्रियों के समूह को मन से नियन्त्रण में रखकर धैर्ययुक्त बुद्धि से उपराम (शान्त) हो जाना चाहिए। मन को आत्मा में स्थिर कर किसी का भी चिन्तन नहीं करना चाहिए।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलम् अस्थिरम्।।
ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत्।। 26।।

अन्वयः

एतद् - यह ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'एतद्'।

अस्थिरम् चञ्चलम् - अस्थिर, विशेष्झण, वि. 'मनः'।

मनः - मन ; नाम, प्र.ए.व. 'मनस्'।

यतः यतः - जिस-जिस कारण से ; अव्यय।

निश्चरति - बहिर्मुख होता है, सांसारिक पदार्थों में विचरण करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. निस्+चर, 1 गण, परस्मै।

ततः ततः - उस कारण में से ; अव्यय।

नियम्य - नियम में रखकर ; विधेय कृदन्त

आत्मनि - आत्मा में, परमात्मा में ; नाम, स.ए.व.पु. 'आत्मन्'।

एव - ही ; मात्र ; अव्यय।

वशम् - वश में ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'वश'

नयेत् - ले जाना चाहिए, लगाना चाहिए ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'नी' 1 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : चंचल और अस्थिर मन जिस - जिस तरफ बाहर जाता है वहाँ - वहाँ से उसको नियंत्रित करके आत्मा के वश में रखना चाहिए। इस श्लोक का अनुसंधान श्रीभागवत के 10/84//33 की सुबोधिनी में किया हुआ है।

विशेष : योग के अभ्यासी को बुद्धि की स्थिरता रखनी चाहिए। मन को वश में

रखना चाहिए और अपने चित्त के व्यापार को ब्रह्म की ओर प्रवृत्त रखना चाहिए। बुद्धि की स्थिरता के उत्कर्ष के लिए धैर्य की जरूरत है। दु:ख सहन किए बिना धैर्य प्राप्त नहीं होता। दु:ख भौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक होता है। इन तीनों प्रकार के दु:खों को प्रभु में दृढ़ आश्रय रखकर सहन करने का अभ्यास करने से बुद्धि स्थिर होती है। बुद्धि स्थिर हो जाने पर मन को और इन्द्रियों को वश में रखने का अभ्यास करना चाहिए। बुद्धि और मन को नियंत्रित रखने से धीरे-धीरे चित्त के व्यापार भी कम होते जाएंगे और अंतत: ब्रह्म में लय प्राप्त होगा।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतम् अकल्मषम्।। 27।।

अन्वय:

हि- निश्चय, अव्यय।

प्रशान्तमनसम् - शान्त मन वाला ; विशेषण, वि. 'योगिनम्'

अकल्मषम् - पापरहित ; विशेषण, वि. 'योगिनम्'।

शान्तरजसम्-जिसका रजोगुण शांत हो गया है ; विशेषण, वि. 'योगिनम्'।

एनम् - इस ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'एतद्'।

ब्रह्मभूतम् - जिसका आनंदघन में ऐक्य हो गया है ; विशेषण, वि. 'योगिनम्'

योगिनम् - योगी को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योगिन्'।

उत्तमम् - उत्तम ; विशेषण, वि. 'सुख'

सुखम् - सुख, आनन्द ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'सुख'

उपैति - जाता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'उप + इ' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अति शान्त मनवाला, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है उस ब्रह्मभूत पापरहित योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन् एवं सदात्मानं योगी विगतकल्मष:।।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते।। 28।।

अन्वय:

विगतकल्मष: - पापरहित ; विशेषण, वि. 'योगी'

योगी-योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'

एवम् सदा - इस प्रकार सदैव ; अव्यय।

आत्मानम् - परमात्मा को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'

युञ्जन् - जोड़ता हुआ, लगाता हुआ ; व.कृ. विशेषण, वि. 'योगी'।

सुखेन - सुख से ; नाम, तृ.ए.व. नपु.

ब्रह्मसंस्पर्शम् - ब्रह्म साक्षात्कार का ; नाम द्वि.ए.व.पु.।

अत्यन्तम् - अनन्त को ; विशेषण, वि. 'सुखम्'

सुखम् - सुख को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'सुख'।

अश्नुते -प्राप्त करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'अश्' 5 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : इस प्रकार सदा आत्मा को मुझ में योजित रखने वाला पाप रहित योगी ब्रह्मसंस्पर्श अत्यन्त सुख से भोगता है।

विवेचन : कहते हैं कि ऐसा करने से (योगी) कृतार्थ होता है। इस प्रकार आत्मा को सदा परब्रह्म में युक्त रखने वाले योगी के सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह सुख से अथवा अनायास ही ब्रह्म संस्पर्श का सुख भोगता है। ब्रह्म अथवा अक्षर ब्रह्म के संस्पर्श सुख का तात्पर्य है - आत्यन्तिक भेद को दूर करने वाला साक्षात्कार। अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार रूप सुख लोकोत्तर है। ऐसा लोकोत्तर अत्यन्त सुख योगी भोगता है। ''अश्नुते'' में 'अश्' धातु है जो परस्मैपद रूप होने पर भी योगी को स्वयं को सुख रूप फल प्राप्त होता होने से उसका आत्मने पद रूप योजित किया है। इसमें यह सूचित किया गया है कि ऐसा योगी लोकोत्तर सुख भोगता होने से जीवनमुक्त है।

सर्वभूतस्थम् आत्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।।
ईक्षत योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। 29।।

अन्वयः

सर्वत्र - सब जगह ; अव्यय।

समदर्शन :- सब को समान भाव से देखने वाला ; विशेषण, वि. 'योगी'

योगयुक्तात्मा - योग से युक्त है आत्मा जिसका : विशेषण, वि. 'योगी'

आत्मानम् - आत्मा को, परमात्मा को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'।

सर्वभूतस्थम् - सब प्राणियों में स्थित; विशेषण, वि. 'आत्मानम्'

च - और : अव्यय।

सर्वभूतानि - सब प्राणियों को ; द्वि.ब.व.नाम.नपु.।

आत्मनि - आत्मा में, स्वयं में; नाम, स.ए.ब.पु.

ईक्षते - देखता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ईक्ष 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : सर्वत्र समदर्शन वाला योगयुक्त पुरुष सब भूतों में स्थित स्वयं को और स्वयं में सब भूतों को देखता है।

विवेचन : ऐसे योगी को ब्रह्म सुख का आविर्भाव होने पर वामदेव की तरह सर्वात्म भाव सिद्ध हो जाता है। गुह्य असंप्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है। 1. अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध वाली 2. भगवान् के संबंध वाली। इनमें से पहले प्रकार का फल इस श्लोक में कहा गया है। (इस अवस्था में) वह सर्व भूतों में अपने को देखता है और अपने में सर्व भूतों को देखता है। अक्षर ब्रह्म कारण है और भूत कार्य हैं। अतः कारण और कार्य एक ही होने से अथवा सर्व भूतमात्र की अक्षर ब्रह्म में स्थिति होने से वह सर्व भूतों को अपने में देखता है अर्थात् उसमें आनंद अंश का आविर्भाव हो गया होने से वह स्वयं भगवदात्मक हो जाने से उसमें व्यापकत्व प्रकट हो जाता है। अतः वह सर्व भूतों को अपने में देखता है। यह गुह्य फल कहा। अब दूसरे प्रकार का, उससे भी विशेष गुह्य, फल कहते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। 30।।

अन्वय :

यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।

सर्वत्र - सब जगह ; अव्यय

माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मद्'

पश्यति - देखता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1 गण, परस्मै।

च - और ; अव्यय

सर्वम् - सब को ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'सर्व'।

मयि - मुझ में ; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'

पश्यति - देखता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1 गण, परस्मै

तस्य - उसका ; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'तत्'।

अहम् - मैं ; सर्वनाम्, प्र.ए.व. 'अस्मद्'

न - नहीं ; अव्यय।

प्रणश्यामि - भली - भांति नाश को प्राप्त होता हूँ, अदृश्य होता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'प्र + नश्' 4 गण, परस्मै

च - और; अव्यय

सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'

मे - मेरे लिए, मुझे; सर्वनाम, च.ए.व. 'अस्मत्'

न - नहीं; अव्यय

प्रणश्यति - अदृश्य होता है; क्रिया, वर्त. काल, तृ.पु.ए.व. प्र+नश् 4 गण परस्मै

श्लोकार्थ : जो मुझे सर्वत्र देखता है और मुझ में सबको देखता है उससे मैं अदृश्य नहीं होता और वह मुझ से अदृश्य नहीं होता है।

विवेचन : मुझ वासुदेव को जो सर्वत्र देखता है और सर्व भूत तथा स्वयं भी मुझ में स्थित होने से सब को मुझ में देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं हूँ अर्थात मैं उस पर निरंतर कृपा दृष्टि से अनुग्रह करता हूँ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वम् आस्थितः।।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। 31।।

अन्वयः

यः - जो, सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
एकत्वम् - एकत्व को, साम्य भाव को, ऐक्य, प्राणी में अंतः स्थ समभाव; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'एकत्व'
आस्थितः - स्थित, रहा हुआ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'माम्'
सर्वभूतस्थितम् - सब भूतों में आत्मा रूप से स्थित; विशेषण, वि. 'माम्'
माम् -मुझ को; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
भजति - भजता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''भज्'' 1 गण, परस्मै।
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ''तत्''
योगी - योगी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।
सर्वथा - सब प्रकार से; अव्यय
वर्तमानः - बर्ताव करता हुआ; वर्त.कृ.विशेषण, वि. 'योगी'।
अपि - भी; अव्यय
मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. ''अस्मत्''
वर्तते - बर्ताव करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''वृत्'' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : एकत्व भाव में स्थित होकर जो सब भूतों में विद्यमान मुझ को भजता है वह योगी सब प्रकार का बर्ताव करते हुए भी मुझ में स्थित है।

विवेचन : इस प्रकार एकत्व में स्थित जो योगी प्राणीमात्र में स्थित मुझ वासुदेव को भजता है वह चाहे जिस प्रकार से व्यवहार करते रहने पर भी मुझ में स्थित है अर्थात वह मुझ पर आधृत है। तात्पर्य यह है कि शुकदेव जी और उद्धव की भांति वह मेरा सेवक है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।32।।

अन्वयः

अर्जुन - अर्जुन; सम्बोधन।
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
आत्मैपम्येन - अपने सादृश्य से, अपने को देखना; नाम, तृ.ए.व. ''आत्मा एव उपमा यस्य इति'' बहुव्रीहि
सर्वत्र - सब स्थानों पर; अव्यय।
समम् - समान; विशेषण, वि. ''सुखं दुःखं च''
पश्यति - देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''दृश्'' (पश्य) 1 गण, परस्मै
वा - अथवा; अव्यय।
सुखम् - सुख को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'सुख'।
यदि वा - जो अथवा; अव्यय।
दुःखम् - दुख को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ''दुख''
सर्वत्र समम् पश्यति - सब जगह समान देखता है; क्रि.प.।
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'तत्'
योगी - योगी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।
परमः - श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'योगी'
मतः - माना गया है; भू.कृ. विशेषण, वि. 'योगी'

श्लोकार्थ : हे अर्जुन ! जो अपने दृष्टांत से (अपने शरीर की उपमा से) सुख अथवा दुःख को सर्वत्र समान देखता है वह योगी श्रेष्ठ माना गया है।

।। अर्जुन उवाच ।।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन! ।।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ।।33।।

अन्वय :

मधुसूदन - कृष्ण (मधु = मोह, सूदन = नाशक, मोह के नाशक) सम्बोधन

यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।

अयम् - यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'इदम्'

योग :- योग ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योग'।

त्वया - आपके द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'युष्मत्'

साम्येन - समत्व से, समतापूर्वक ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'साम्य'।

प्रोक्तः कहा गया है ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'योगः'

एतस्य - इसका, उसका ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'एतद्' पु. ।

अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

चञ्चलत्वात् - चंचलता के कारण ; नाम, पं.ए.व. नपु. 'चञ्चल'

स्थिराम् - स्थिर, दीर्घकाल तक रहने वाली ; विशेषण, वि. 'स्थितिम्'

स्थितिम् - स्थिति ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'स्थिति'।

न - नहीं ; अव्यय

पश्यामि - देखता हूँ ; क्रि.व.का.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थः हे मधुसूदन ! आपने साम्य के साथ (समतापूर्वक) जो यह योग कहा है उसकी स्थिति को (मन की) चंचलता के कारण मैं स्थिर रूप में नहीं देख सक रहा हूँ।

विवेचन : ऊपर वर्णित योग असंभावित ही है। कारण कि मन अत्यधिक चंचल होने से सुख - दुःख आदि में स्थिर और एक - सा नहीं रह सकता। ऐसा मानकर अर्जुन दो श्लोक से प्रश्न करते हैं कि हे मधुसूदन! मन बहुत चंचल होने से मन को सम रखकर साम्य से सिद्ध होने वाले इस योग का आपने जो वर्णन किया उस योग की स्थिति स्थिर दिखाई नहीं देती। क्योंकि आग्नीध्र और सौभरि जैसे (ऋषियों) का मन भी स्थिर नहीं रहा।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्।।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। 34।।

अन्वयः

हि-निश्चित रूप से ; अव्यय।

कृष्ण - हे कृष्ण ; सम्बोधन

मनः - मन ; नाम, प्र.ए.व. 'मनस्' नपु. ।

चञ्चलम् - चञ्चल ; विशेषण, वि. 'मनः'

च - और ; अव्यय।

प्रमाथि - प्रमथनशील, घबरा देने वाला ; विशेषण, वि. 'मनः'

बलवत् - बलवान् ; विशेषण, वि. 'मन'।

च - और ; अव्यय

दृढम् - दृढ़ ; विशेषण, वि. 'मनः'।

अस्ति - है ; क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

तस्य - उसका ; सर्वनाम, ष.ए.व.नपु. 'तत्'।

निग्रहम् - निग्रह, वश ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'निग्रह'

अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।

वायोः - वायु के ; नाम, ष.ए.व.पु. 'वायु'

इव - की भांति ; अव्यय।

सुदुष्करम् - अत्यंत कठिन ; विशेषण, वि. 'निग्रहम्'

मन्ये - मानता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'मन्' 4 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : कारण कि हे कृष्ण! मन चंचल, इंन्द्रियों को क्षुब्ध करने वाला, बलवान और दृढ़ है। वायु की भांति उसका निग्रह मैं दुष्कर मानता हूँ।

विवेचन : इस प्रकार के योग की स्थिति स्थिर नहीं हो सकती। क्योंकि मन बहुत चंचल है, इंद्रियों को क्षुब्ध कर देता है, बलशाली है अर्थात ज्ञान के बोध बिना साध्य नहीं है और दृढ़ है अतः स्वयं का जिस विषय में अनुराग रहता है उसका त्याग नहीं करता। जैसे आकाश में सनसनाती वायु का घट आदि में निग्रह असंभव है उसी प्रकार मैं मानता हूँ कि मन का निग्रह भी असंभव है।

।। श्रीभगवान् उवाच।।

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। 35।।

अन्वयः

महाबाहो - अर्जुन ; सम्बोधन।

असंशयम् - संशय रहित, यथार्थतः ; अव्यय

मनः - मन ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'मनस्'।

दुर्निग्रहम् - वश में करना कठिन है ; विशेषण, वि. 'मनः'

च - और ; अव्यय।

चलम् - चञ्चल, अस्थिर ; विशेषण, वि. 'मनः'

अस्ति - है ; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'।

तु-परंतु ; अव्यय

कौन्तेय - है अर्जुन ! सम्बोधन।

अभ्यासेन - बारंबार यत्न करने से ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'अभ्यास'

च - और ; अव्यय।

वैराग्येण - वैराग्य से ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'वैराग्य'

गृह्यते - पकड़ में आता है, वश में होता है ; क्रि.व.कर्मणि तृ.पु.ए.व. 'गृह्' 9 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे महाबाहो ! निश्चय ही मन दुर्निग्रह और चंचल है परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से उसका निग्रह होता है।

विवेचन : अर्जुन का कथन उचित होने से अब भगवान् मन के निग्रह का उपाय कहते हैं। मन का निग्रह अत्यन्त कठिन है क्योंकि वह चंचल है फिर भी अभ्यास और वैराग्य से उसका निग्रह हो सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुम् उपायतः।। 36।।

अन्वयः

असंयतात्माना - जिसने मन को वश में नहीं किया है ऐसे योगी के द्वारा ; विशेषण, वि. 'योगिना'

''न संयतः आत्मना यस्य इति'' बहुव्रीहि

योग :- योग ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योग'।

दुष्प्रापः - प्राप्त होना कठिन है ; विशेषण, वि. 'योगी' ''दुःखेन प्राप्तुं शक्यः इति'' उपपद

अस्ति - है ; क्रियापद, वर्त. का त्रि.पु.ए.व. 'अस्'।

तु - परन्तु ; अव्यय

वश्यात्मना - वश में किए हुए मन वाले (योगी) के द्वारा ; विशेषण, वि. 'योगिना'

यतता - यत्नशील (के द्वारा) ; व.कृ. विशेषण, वि. 'योगिना'

योगिना - योगी के द्वारा ; नाम।

उपायतः - साधन से, उपाय से ; नाम, पं.ए.व. 'तः' प्रत्यय

अवाप्तुम् - प्राप्त करने (के लिए) ; हेत्वर्थ कृदंत, 5 गण, 'अव + आप्'

शक्यः - हो सकने योग्य ; विधेय कर्मणि कृदन्त।

इति - इस प्रकार ; अव्यय

मे - मेरी ; सर्वनाम, ष.ए.व. अस्मत्।

मतिः मत ; अभिप्राय, नाम, प्र.ए.व. स्त्री, 'मति'

अस्ति - क्रियापद ; वर्त.का.तृ.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : जिसका मन वश में नहीं उसको योग दुष्प्राप्य है ऐसा मेरा मत है। परन्तु जिसका मन वश में है उसको यत्न करने से और उपाय से (योग) प्राप्त हो सकता है।

विवेचन : मन का निरोध करके मन को वश में रखने से योग प्राप्त हो सकता है। अन्य किसी भी प्रकार से वह प्राप्त हो सकता हो - ऐसा नहीं है।

।। अर्जुन उवाच।।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगात् चलितमानसः।।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति।। 37।।

अन्वयः

कृष्ण - हे कृष्ण ! ; सम्बोधन।
योगात् - योग से ; नाम, पं.ए.व.पु.
चलितमानसः - चलायमान मानस वाला ; विशेषण, वि. 'अयतिः'
अयतिः - शिथिल प्रयत्न करने वाला ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अयति'।
श्रद्धया - श्रद्धा से ; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'श्रद्धा'
उपेतः - रहने वाला ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'अयतिः' ।
पुरुषः - पुरुष, नाम, प्र.ए.व.
योगसंसिद्धिम् - योग की सिद्धि को, भगवत्साक्षात्कार को ; नाम, द्वि.ए.व.व. स्त्री 'योगसंसिद्धि'
अप्राप्य - नहीं प्राप्त करके ; विधेय कृदन्त।
काम् - किस ; विशेषण, वि. 'गतिम्'
गतिम् - गति को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'गति'
गच्छति - जाता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'गम (गच्छ्)' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे कृष्ण! अल्प प्रयत्न वाला श्रद्धालु जिसका मन योग से विचलित हो गया है वह सिद्धि प्राप्त न करके किस गति को प्राप्त करता है?

विवेचन : योग करने की अभिलाषा रखने वाले का मन वश में न हो और वह मन को वश में करने का प्रयत्न भी न करता हो उसकी क्या गति होती है, यह जिज्ञासा होने से अर्जुन पुनः प्रश्न करते हैं कि हे कृष्ण! योग साधने के साधन रूप अभ्यास और वैराग्य में जो श्रद्धायुक्त हो परन्तु अल्प प्रयत्न वाला हो और उसका मन वश में न होकर योग से विचलित हो तो उसको योग सिद्ध नहीं होता है। तब उसकी क्या गति होती है?

कच्चिन् नोभयविभ्रष्टः छिन्नाभ्रमिव नश्यति।।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि।। 38।।

अन्वयः

महाबाहो - हे महाबाहो ; नाम, सम्बोधन, ए.व.पु.।
कच्चित् - क्या ; अव्यय।
ब्रह्मणः - भगवत्प्राप्ति के ; नाम, ष.ए.व.प.नपु. 'ब्रह्मन.'।
पथि - मार्ग में ; नाम, स.ए.व.पु. 'पथिन्'
विमूढ़ः - मोहित ; नाम, प्र.ए.व. 'विमूढ़' विशेषण।
अप्रतिष्ठः - प्रतिष्ठा रहित, आश्रय रहित ; विशेषण, वि. 'पुरुषः'
पुरुषः - पुरुष ; नाम, प्र.ए.व.।
छिन्नाभ्रम् - तितर - बितर बादल ; नाम, प्र.ए.व.नपु.
इव - की भांति; अव्यय।
उभयविभ्रष्टः - दोनों तरफ से भ्रष्ट ; विशेषण, वि. 'पुरुषः ''उभयाभ्यां विभ्रष्ट'' उपपद
सन् - होकर; ।
न - नही; अव्यय
नश्यति - नाश को प्राप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'नश्' 4 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे महाबाहो ! अप्रतिष्ठित होने से और ब्रह्म मार्ग में विमूढ़ (विचलित) होने से, दोनों से भ्रष्ट अलग-थलग हुए बादलों की भांति वह (योगी) नाश को तो प्राप्त नहीं होता ?

विवेचन : अर्जुन अपने संदेह का विवेचन करते हैं। हे सर्व संदेह दूर करने में समर्थ महाबाहो! ऐसा पुरूष अप्रतिष्ठित होता है। इसका कारण यह है कि वह पूर्व में जो कर्म इत्यादि करता था उनका त्याग कर योगमार्ग में प्रवृत्त हुआ और योगमार्ग पर चलने के लिए मन के निग्रह का अभ्यास नहीं हो सकने और वैराग्य प्राप्त नहीं होने से इस ब्रह्म मार्ग अर्थात ब्रह्म को प्राप्त करने के उपाय रूप योगमार्ग में भी विमूढ़ (विचलित) हो गया है। इस प्रकार उभय मार्ग से भ्रष्ट हो

जाने से अन्य बादलों से अलग-थलग हुए बादलों की भांति उसका नाश तो नहीं हो जाता न?

एतन् मे संशयं कृष्ण छेत्तुम् अर्हस्यशेषतः ।।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।। 39।।

अन्वयः

कृष्ण - हे कृष्ण; सम्बोधन ।
मे - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
एतद् - इस; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु. ।
संशयम् - संशय को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
अशेषतः - समूल, शेष नहीं रहे वह; अव्यय।
छेत्तुम् - छेदन करने के लिए; हेत्वर्थ कृदन्त
त्वमेव - आप ही; ।
अर्हसि - योग्य है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अर्ह्' 1 गण, परस्मै
अस्य - जिसका, जिसके; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'इदम्'
संशयस्य - संशय का, संशय के; नाम,ष.ए.व.पु. 'संशय'
छेत्ता - छेदन करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'छेतृ' ।
त्वत् अन्यः - आपके अलावा दूसरा; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
हि न - निश्चय ही नहीं; अव्यय
उपपद्यते - मिल सकता है; क्रि.विध्यर्थ, त्रि.पु.ए.व. कर्मणि ''उप+पद'' 4 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को पूरी तरह दूर करने के लिए आप ही योग्य हैं। कारण कि आप के बिना संशय को दूर करने वाला अन्य कोई नहीं है।

।। श्रीभगवान् उवाच ।।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति ।। 40।।

अन्वयः

पार्थ - हे अर्जुन! सम्बोधन ।
तस्य - उसका; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'तत्'
न/इह/च/न/अमुत्र - न यहाँ और न परलोक में; अव्यय।
एव - ही; अव्यय
विनाशः - विनाश; नाम, प्र.ए.व.पु. 'विनाश' ।
विद्यते - है; क्रि.व.का. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'विद्' 4 गण, आत्मने
हि- कारण कि; अव्यय।
तात - अर्जुन,प्रिय; सम्बोधन
कश्चित् - कोई भी; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
कल्याणकृत - शुभ कार्य करने वाला, भगवत् अर्थ करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.
दुर्गतिम् - दुर्गति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'दुर्गति' ।
न - नहीं; अव्यय
गच्छति - जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''गम्(गच्छति)'' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! इस लोक या परलोक में उसका विनाश नहीं होता। क्योंकि हे प्रिय(अर्जुन) ! कल्याण करने वाले की किसी की भी दुर्गति नहीं होती।

विवेचन : हे पार्थ! कल्याण अथवा शुभ कर्म करने वाले की किसी की भी दुर्गति नहीं होती। ऐसा पुरूष कल्याण कर्म में प्रवृत्त हुआ होने से उसकी दुर्गति कैसे हो सकती है? इस लोक या परलोक में कहीं भी उसका नाश नहीं होता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः ।।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। 41।।

अन्वयः

योगभ्रष्टः - योग से भ्रष्ट हुआ; नाम,प्र.ए.व.पु. 'योगभ्रष्ट'

पुण्यकृताम् - पुण्य करने वालों को; नाम, ष.ब.व.पु. ।
लोकान् - लोकों को ,स्वर्गादि लोकों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.
प्राप्य - प्राप्त होकर; विधेय कृदन्त ।
शाश्वतीः - बहुत; विशेषण, वि.'समाः'
समाः - वर्ष; नाम, द्वि.ब.व.स्त्री. 'समा' ।
उषित्वा - रहकर, बस कर; विधेय कृदन्त, 'वस्' 1गण, परस्मै
शुचीनाम् - शुद्ध आचरण वालों के; नाम,ष.ब.व.पु. 'शुचि'
श्रीमताम् - श्रीमंत पुरूषों के; नाम, ष.ब.व.पु. 'श्रीमत्' ।
गेहे - घर में; नाम, स.ए.व.नपु. 'गेह'
अभिजायते - जन्म लेता है; क्रि .व.का.तृ.पु.ए.व. 'अभि+जन्' 4 गण, आत्मने

श्लोकार्थ - पुण्य करने वालों के लोकों को प्राप्त कर, वहाँ कई वर्षों तक रहकर योग भ्रष्ट पवित्र श्रीमंतों के घर जन्म लेता है।

विवेचन : उसने शुभ अथवा कल्याण कर्म किए होने से वह योगभ्रष्ट पुरूष पुण्य करने वालों के लोकों को प्राप्त होता है और किए गए कल्याण कर्मों के फल भोगने तक अनेक वर्षों तक वहाँ रहकर पुनः शुचि अर्थात पवित्र अथवा सदाचार वाले श्रीमंतों के यहाँ जन्म लेता है। उसने अशुभ कर्म नहीं किए होने से उसकी दुष्ट (पतित) गति नहीं होती। यही भाव है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यद् ईदृशम्।। 42।।

अन्वयः
अथवा - अथवा; अव्यय ।
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.
धीमताम् - बुद्धिमानों के, ज्ञानवानों के; नाम, ष.ब.व.पु. 'धीमत्'
योगिनाम् - योगियों के; नाम, ष.ब.व.पु. 'योगिन्'।

एव- ही, मात्र; अव्यय
कुले - कुल में; नाम,स.ए.व.नपु. 'कुल' ।
भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भू' 1गण, परस्मै
ईदृशम् - इस प्रकार का; विशेषण, वि. 'जन्म' ।
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'यत्'
एतद् - यह,वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'एतद्' ।
जन्म - जन्म; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'जन्मन्'
तत् -वह; अव्यय
हि - निश्चय; अव्यय
लोके - लोक में; नाम, स.ए.व.नपु. 'लोक' ।
दुर्लभतरं - अतिदुर्लभ; विशेषण, वि. 'जन्म'
अस्ति - है; क्रियापद, वर्त.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : अथवा बुद्धिशाली योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। कारण कि संसार में ऐसा जन्म मिलना बहुत दुर्लभ है।

विवेचन : अथवा वह (पूर्व में) योग का आरंभ कर योग से भ्रष्ट हो चुका होने से अपने पूर्व के योग के संस्कारों के कारण पुनः योगसाधना के लिए बुद्धिशाली अथवा योगबुद्धियुक्त योगियों के कुल में जन्म लेता है। इस लोक में इस प्रकार से जन्म होना अतिदुर्लभ है। पिछले श्लोक में बताया गया है कि योगभ्रष्ट शुचि श्रीमंतों के यहाँ जन्म लेता है। वहाँ वह पूर्व संस्कारों के वश भरत राजा की भांति योग साधने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार प्रयत्न करते हुए उसको योग सिद्ध हो जाता है। इस श्लोक में कहा गया है कि उसका जन्म योगियों के यहाँ होता है और इस प्रकार से जन्म होने पर उसको बिना प्रयत्न के ही जड़ भरत की भांति योग सिद्ध हो जाता है। ऐसा जन्म अतिदुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगम् लभते पौर्वदेहिकम् ।।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दन ! ।। 43।।

अन्वयः

तत्र – **वहाँ पर**; अव्यय

तम् – **उसको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तत्'

पौर्वदेहिकम् – **पूर्वदेह के, पूर्वदेह संबंध का**; विशेषण, वि. 'बुद्धिसंयोगम्'

बुद्धिसंयोगम् – **समत्व बुद्धि के योग को, उसके संस्कार को**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'बुद्धिसंयोग'

लभते – **प्राप्त होता है**; क्रि.व.का.तृ.ए.व.पु. 'लभ्' 1 गण, आत्मने ।

च – **और**; अव्यय

कुरूनंदन – **हे अर्जुन**; सम्बोधन ।

ततः – **भूयः** – **अतः फिर से**; अव्यय

संसिद्धौ – **भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि में**; नाम, स.ए.व.स्त्री. 'संसिद्धि'

यतते – **प्रयास करता है**; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'यत्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे कुरूनंदन ! वहाँ वह पूर्व देह का बुद्धि संयोग प्राप्त करता है और फिर पुनः संसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है ।

विवेचन : पूर्व देह में विद्यमान योगबुद्धि उसको पुनः प्राप्त हो जाती है और वह पुनः योग सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।। 44।।

अन्वयः

सः – **वह**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'

अवशः – **विषयों के वश में रहने वाला**; विशेषण, वि. 'सः'

अपि – **भी**; अव्यय

तेन – **उसके द्वारा**; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु. 'तत्' ।

एव – **ही, मात्र**; अव्यय

पूर्वाभ्यासेन – **पूर्व जन्म के अभ्यास के द्वारा, गत जन्म के अभ्यास से**; नाम, तृ.ए.व.पु. 'पूर्व अभ्यास'

हि – **निश्चयपूर्वक**; अव्यय ।

ह्रियते – **आकर्षित होता है, निवृत्त हो जाता है, भगवान की तरफ आकर्षित हो जाता है**; क्रि.वर्त. काल, कर्मणि, तृ.पु.ए.व. ''ह्र'' 1 गण, आत्मने ।

च – **और**; अव्यय।

योगस्य – **योग का, समत्व बुद्धि रूप योग का**; नाम, ष.ए.व.पु. 'योग'

जिज्ञासुः – **जिज्ञासु, जानने की इच्छा वाला**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'जिज्ञासु' ।

अपि – **भी**; अव्यय

शब्दब्रह्म-**शब्दब्रह्म** ; **वेद में कहे हुए सकाम कर्म के फल का** ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'शब्दब्रह्म'

अतिवर्तते – **अतिक्रमण कर जाता है** ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. अति + वृत् 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : पूर्वजन्म के उसी अभ्यास से अवश होने पर भी वह विषयों से निवृत्त हो जाता है। इस योग का जिज्ञासु शब्दब्रह्म का अतिक्रमण कर जाता है।

विवेचन : विषयों रूपी अन्तराय के कारण योग साधने की इच्छा न होने पर भी उसने पूर्व जन्म में योग का अभ्यास किया होने से वह विषयों से निवृत्त हो जाता है और योग साधने में तत्पर रहता है। इसमें आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं है। क्योंकि मात्र योग के स्वरूप को जानने की इच्छा होने से ही वह शब्दब्रह्म का अतिक्रमण करता है अर्थात योग के प्रभाव से शब्दब्रह्म के तात्पर्यभूत परब्रह्म का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो फिर जिसने योग साधने का प्रयत्न किया हुआ हो उसको ऐसा फल प्राप्त हो तो उसमें आश्चर्य क्या?

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।।
अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम्।। 45।।

अन्वय :

अनेकजन्मसंसिद्धः – **अनेक जन्मों से संसिद्ध हुआ** ; 'अनेकैः **जन्मभिः**

संसिद्धः इति तत्पुरुष।
तु-परंतु, फिर भी ; अव्यय।
प्रयत्नात्-प्रयत्न से ; नाम, पं.ए.व.पु. 'प्रयत्न'
यतमानः - यत्न करता हुआ, अभ्यास करता हुआ ; विशेषण, वि. 'योगी'
योगी - योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।
संशुद्धकिल्बिषः - सब पापों से भली - भांति शुद्ध ; विशेषण, वि. 'योगी'।
ततः - उससे, उसके प्रभाव से ; अव्यय।
पराम् - परम, श्रेष्ठ ; विशेषण, वि. 'गतिम्'
गतिम् - गति को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'गति'
याति - जाता है, प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'या' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करता हुआ योगी सब पापों से विशुद्ध होकर, अनेक जन्म से संसिद्ध होने के पश्चात परागति को प्राप्त करता है।

विवेचन : ऊपर योगभ्रष्ट की गति का वर्णन करने के पश्चात अब जो योग से भ्रष्ट नहीं हुआ है और प्रयत्नपूर्वक मन का निग्रह करके योग का अभ्यास करता है उसकी गति कहते हैं। उसके सब पापों का नाश हो जाने से वह विशुद्ध हो जाता है और फिर अनेक जन्म तक तत्त्वज्ञानयुक्त रहकर योग सिद्ध करके परा गति अर्थात मेरे स्वरूप अक्षर को प्राप्त करता है अथवा अनेक जन्म के योग के पश्चात भक्ति प्राप्त करता है और भक्ति के द्वारा वैकुंठरूपी परागति को प्राप्त होता है। निबंध में भी श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि 'ईश्वर का आलम्बन रूप योग अनेक जन्म के विपाक से (के पश्चात्) भक्ति उत्पन्न करता है।

इस अध्याय के 41 से 45 एवं 46 श्लोक का अनुसंधान श्रीभागवत् के श्लोक 2/1/6 के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन!।। 46।।

अन्वयः
योगी-योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।
तपस्विभ्यः तपस्वी की तुलना में ; नाम, पं.ब.व.पु.
अधिक :- अधिक ; विशेषण, वि. 'योगी'
च - और ; अव्यय
ज्ञानिभ्यः - ज्ञान की तुलना में ; नाम, पं.ब.व.पु. 'ज्ञानिन्'।
अपि - भी ; अव्यय
अधिक :- अधिक ; विशेषण, वि. 'योगी'।
मतः - माना गया है, मत है ; भू.कृ.विशेषण, वि. योगी मन् 4 गण
च - और ; अव्यय।
कर्मिभ्यः- कर्मों की तुलना में ; नाम, पं.ए.व.पु. 'कर्मिन्'
अपि - भी ; अव्यय।
अधिक :- अधिक ; विशेषण, वि. 'योगी'
तस्मात् - इसलिए, इस कारण ; अव्यय।
अर्जुन-अर्जुन ; सम्बोधन
त्वम् - तू, तुम : सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'।
योगी - योगी ; नाम, प्र.ए.व.पु.
भव - हो ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! योगी तपस्वी से श्रेष्ठ है, वह ज्ञानी से भी अधिक माना गया है और कर्मियों से भी योगी अधिक (श्रेष्ठ) है। इसलिए तुम योगी हो जाओ (योगी बनो)।

विवेचन : काया का क्लेश इत्यादि सहन करने वाले तपस्वियों की अपेक्षा (तपो) योगी श्रेष्ठ होता है। सांख्य वाले ज्ञानियों से भी (सांख्य) योगी अधिक है और मात्र कर्म करने वाले कर्मियों से भी (कर्म) योगी श्रेष्ठ है। अतः तू मन का निग्रहरूप योग साधने वाला योगी हो। तुम्हें बाह्य योग का नहीं बल्कि अनिषिद्ध उत्तम योग का उपदेश किया है। कारण कि तुम्हारे चित्त का निरोध

मुझ में – श्री वासुदेव में करवाना है। अतः तुम्हें उत्तम भक्तिरूप योग का उपदेश किया है। इसलिए तुम योगी हो जाओ।

योगीनामपि सर्वेषां मदगतेनान्तरात्मना।।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।47।।

अन्वयः

सर्वेषाम् – सबका ; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'सर्व'।
योगिनाम् – योगियों का ; नाम, ष.ब.व.पु. 'योगिन्'
अपि – भी ; अव्यय।
यः – जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।
श्रद्धावान् – श्रद्धायुक्त ; विशेषण, वि. 'यः'।
मद्गतेन – मुझ में लीन ; विशेषण, वि. 'अन्तरात्मना'
अन्तरात्मना – अन्तरात्मा के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व.पु.
माम् – मुझ को ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
भजते – भजता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भज्' 1 गण, आत्मने
सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'।
मे – मेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
युक्ततमः – परम श्रेष्ठ, योगियों में उत्तम ; विशेषण, वि. 'सः'
मतः – मानना, मान्य ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'सः'

श्लोकार्थ : मुझ में अन्तरात्मा को युक्त कर, श्रद्धालु होकर जो मुझको भजता है उसको मैं सभी योगियों में उत्तम योगी मानता हूँ।

विवेचन ; सब योगियों में भी पुष्टि भक्ति परायण योगी उत्तम है। वह अपने चित्त का मुझ श्री वासुदेव में ही निरोध करता है। इस प्रकार चित्त का मुझ में निरोध कर, श्रीमदाचार्यचरण के उपदेश पर श्रद्धा रखकर जो मुझ श्री वासुदेव का भजन करता है वह उत्तम योगी है। अतः जिस योग का फल शरण भक्ति प्राप्त होना है उस योग को साधने वाला योगी हो – यही गूढ आशय है।

इसीलिए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि(भगवान् ने भगवद्गीता में)आरंभ में सांख्य और योग का निरूपण कर, अर्जुन का मोह दूर कर बाद में उसको भक्तिरूप अमृत का पान कराया-यह सार है। इन छह अध्याय में सांख्य और योग में विवेक और धैर्यपूर्वक अपने धर्म का आचरण भक्ति से करने के लिए कहा गया है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ''आत्मसंयमयोगो'' नाम
षष्ठोध्यायः ।।6।।

।। अध्याय 7 ।।

ज्ञानविज्ञान योग

प्रथम छह अध्याय में यह दर्शाया गया है कि सांख्य और योग का फल आत्मज्ञान है। अब यहाँ से भगवान् के माहात्म्यज्ञान पूर्वक भक्ति का निरूपण किया जा रहा है।

''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सब से अधिक स्नेह को 'भक्ति' कहा है। इसी से मुक्ति होती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं'' - इसलिए भगवान् वासुदेव के माहात्म्य का ज्ञान योगियों को सिद्धि प्राप्त कराने वाला होने से तथा सिद्धि प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं होने से यहाँ भगवान् वासुदेव के माहात्म्य का निरूपण किया जा रहा है।

जो भक्त प्रयाण के समय भगवान् का स्मरण करता है उसको अंगसहित श्रीपुरूषोत्तम के माहात्म्य का विज्ञान प्राप्त होता है। आरंभ में योगधर्म का आचरण करने से भगवान् के माहात्म्य का विज्ञान प्राप्त होता है। आश्रय होने से भगवान् का ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान उत्तम है। ऐसा ज्ञान होने से ही ज्ञानियों की श्रेष्ठता कही गई है। कारण कि भगवान् का जिनको ज्ञान होता है वे ही (ज्ञानी) उत्तम हैं, मात्र आत्मज्ञान होने से वे उत्तम नहीं हैं। ऐसे ज्ञानी निरन्तर भगवान् की सेवा करते हैं।

।। श्री भगवान् उवाच ।।

मय्यासक्तमनाः पार्थ! योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तत् शृणु ।। 1।।

अन्वयः

पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन ।

मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'

आसक्तमनाः - जिसका मन आसक्त है; विशेषण, वि. पुरूषः 'आसक्तं मनः यस्य इति' बहुव्रीहि

च – **और**; अव्यय ।
मदाश्रयः – **मेरा आश्रय करने वाला**; विशेषण, वि. 'त्वम्'
च – **और**; अव्यय ।
योगम् – **योग को**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योग'
युञ्जन् – **जोड़ता हुआ**; व.कृ.विशेषण, वि. 'पुरूषः'।
त्वम् – **तू**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
माम् – **मुझको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
समग्रम – **सम्पूर्ण साधन से, सभी प्रकार से**; विशेषण, वि. 'माम्'
यथा असंशयम् – **जिस प्रकार संशय रहित(रूप से)**; अव्यय
ज्ञास्यसि – **जानेगा**; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'ज्ञा' 9 गण, परस्मै
तत् – **उसे**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'तत्'
शृणु – **सुन**; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'शृ' 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! मुझ में मन को आसक्त रखकर , मेरा आश्रय रखकर , योग का आचरण करते हुए जिस प्रकार से तू मुझको संपूर्णता से निस्संदेह जान सकेगा, उसे सुन।

विवेचन : मुझ भगवान्, स्वधर्म के आश्रय, उत्तम, अलौकिक लीला वाले, प्रमुख नियंता, करूणानिधान, परमात्मा में मन को आसक्त रखकर , मेरा आश्रय रखकर, पूर्व वर्णित योग का आचरण करते हुए मेरा निरूपाधि माहात्म्ययुक्त तथा उत्तम अलौकिक गुण से पूर्ण जिस प्रकार का ज्ञान तुमको होगा उसे मैं तुम्हें कहता हूँ। उसको सुन।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्याम्यशेषतः ।।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ।। 2।।

अन्वयः
अहम् – **मैं**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
ते (तुभ्यम्) – **तुझको**; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मद्'

इदम् – **यह**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'इदम्' ।
सविज्ञानम् – **रहस्य के साथ**; विशेषण, वि. 'ज्ञानम्'
ज्ञानम् – **ज्ञान**; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'ज्ञान' ।
अशेषतः – **संपूर्ण रूप से, पूरा-पूरा**; अव्यय
वक्ष्यामि – **कहूँगा**; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'वच्' 2गण, परस्मै ।
यत् – **जो**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
ज्ञात्वा – **जानकर**; विधेय कृदन्त ।
इह भूयः – **फिर से इस लोक में**; अव्यय
अन्यत् – **अन्य**; सर्वनाम,द्वि.ए.व.नपु.' अन्यत्'
ज्ञातव्यम् – **जानने योग्य**; विधेय कर्मणि, कृ.विशेषण, वि. 'अन्यत्'
न – **नही**; अव्यय
अवशिष्यते – **शेष रहता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. कर्मणि, अव+शिष् 7 गण,आत्मने

श्लोकार्थ : मैं तुम्हें विज्ञान सहित इस ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से कहूँगा। उसको जानकर और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाएगा।

विवेचन : विज्ञान सहित अर्थात विविध अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार से, चिद् और अचिद् रूप से, विभूतियों के धर्मों सहित और अन्य भेदों के साथ यह सम्पूर्ण ज्ञान मैं तुम्हें कहूँगा। उसको जान लेने के पश्चात तुम्हारे लिए जानने को कुछ भी यहाँ शेष नहीं रहेगा।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।।
यततामपि सिद्धानां कश्चित् मां वेत्ति तत्त्वतः।। 3।।

अन्वयः
सहस्त्रेषु – **हजारों में**; विशेषण, वि. 'पुरूषेषु' ।
मनुष्याणाम् – **मनुष्यों में**; नाम, ष.ब.व.पु. 'मनुष्य'
कश्चित् – **कोई-कोई**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।

सिद्धये - सिद्धि के लिए; नाम, च.ए.व.स्त्री. 'सिद्धि'
यतति - यत्न करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'यत्' 1गण, परस्मै
यतताम् - यत्न करने वालों के; व.कृ.विशेषण,वि. 'सिद्धानाम्'
सिद्धानाम् - सिद्ध योगियों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'सिद्ध'
अपि - भी; अव्यय
कश्चित - कोई; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
तत्वतः - तत्व से; नाम, पं.ए.व.पु. 'तः' प्रत्यय ।
वेत्ति - जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण

श्लोकार्थ : हजारों मनुष्यों में कोई एक ही सिद्धि के लिए प्रयास करता है और प्रयास करने वाले सिद्धों में से भी कोई-कोई ही मुझे तत्व से जानता है।

विवेचन : हजारों मनुष्यों में से कोई-कोई ही आत्मतत्व के ज्ञान के लिए प्रयास करता है और जिन प्रयास करने वालों को ऐसा ज्ञान सिद्ध होता है उनमें से भी कोई-कोई ही मुझ भगवान्, परमात्मा,सर्वधर्मों के आश्रय ईश्वर को तत्व से अर्थात निरतिशय माहात्म्यपूर्वक जानता है। व्यास, वामदेव, शुक जैसे मुझे तत्व से जानने वाले बिरले ही होते हैं। अतः मेरा यह अत्युत्तम ज्ञान मैं तुम्हें कहूँगा ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। 4।।

अन्वयः
भूमिः -भूमि; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. ।
आपः - जल,पानी; नाम, प्र.ब.व.स्त्री. (सदा बहुवचन में प्रयुक्त होता है)
अनलः - अग्नि; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
वायु : वायु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'वायु'
खम् - आकाश; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ख' ।

मनः - मन ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'मनस्'
बुद्धिः - बुद्धि ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री 'बुद्धि'।
च - और ; अव्यय
अहङ्कारः - अहङ्कार ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अहंकार'।
एव इति - मात्र इस प्रकार ; अव्यय।
इयम् - यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'इदम्'।
अष्टधा - आठ प्रकार से ; अव्यय।
भिन्ना - भेदों वाली ; विशेषण, वि. 'प्रकृति'।
मे - मेरी ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
प्रकृति :- प्रकृति है ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'प्रकृति'

श्लोकार्थ : भूमि, जल, अग्नि, वायु आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार - यह आठ प्रकार की मेरी भिन्न प्रकृति है।

विवेचन : यहाँ से भगवान् ब्रह्मवाद के अनुसार अपनी महिमा आप ही कहते हैं। सब धर्मों का आश्रय परब्रह्म जिसको 'पुरुषोत्तम' भी कहा जाता है, वह अपनी इच्छा से, समस्त, चित्- अचित् इत्यादि हो जाता है। ब्रह्मसूत्रों में भी ''क्षीरवद्धि'' ''आत्मकृतेः परिणामात्''- इत्यादि उपदेश किया गया है। अतः इस जगत का अभिन्न निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म है। इसलिए यहाँ भी परा और अपरा दो प्रकार की प्रकृति से असाधारण सृष्टि आदि कार्य भगवान् करते हैं। यह निरूपण अपना माहात्म्य दर्शाने के लिए करते हैं। पहले अपरा प्रकृति के आठ प्रकार कहते हैं। निरतिशय महिमायुक्त मुझ भगवान् की, सदंशभूत होने के बावजूद, अज प्रकृति भूमि आदि आठ प्रकार की है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं। मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अनिरूद्ध, प्रद्युम्न, और संकर्षण के अधिष्ठानरूप हैं। इस तरह आठ प्रकार कहे गए। नवाँ ''चित्त'', श्रीवासुदेव का अधिष्ठान होने से, अपने से अभिन्न होने से और अर्जुन द्वारा स्वयं को देखे जाते होने से नहीं कहा। अथवा तो चित्त भागवत् है, प्राकृत नहीं है, इसलिए यहाँ नहीं कहा। यह भगवान् की सदंशभूत

प्रकृति कही, इसको अचित् भी कहते हैं। उसका चित्त से संबंध होने पर ही सब कार्य करने की सामर्थ्य आती है। उसके बिना कोई कार्य नहीं होता। इसलिए उसको अपरा कहते हैं।

अपरेयम् इतस् त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्।। 5।।

अन्वयः

इयम् - यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. स्त्री।
तु - तो ; अव्यय।
मे - मेरी ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
अपरा - दूसरी ; सर्वनाम, प्र.ए.व. स्त्री.
प्रकृतिरस्ति - प्रकृति है ; क्रियापद।
महाबाहो - अर्जुन ; सम्बोधन
इतः - इससे ; अव्यय।
अन्याम् - दूसरी ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. स्त्री 'अन्या'
जीवभूताम् - जीवरूप बनी हुई ; विशेषण, वि. 'पराम्'
पराम् - परा, चेतन शक्ति ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'परा'।
प्रकृतिम् - प्रकृति को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री 'प्रकृति'
विद्धि - जान ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै
यया- जिसके द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. स्त्री 'यत्'।
इदम् - यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु. 'इदम्'
जगत् - जगत ; नाम, प्र.ए.व. नपु.।
धार्यते - धारण करता है ; क्रि.वर्त. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'धृ' 10 गण

श्लोकार्थ : यह अपरा प्रकृति है। हे महाबाहो! इससे अन्य मेरी जीवभूत परा प्रकृति को जान जिससे यह जगत धारण किया जाता है।

विवेचन : यह अर्थात् पिछले श्लोक में कही गई प्रकृति अवश्य ही अपरा अथवा नीची प्रकृति है। परन्तु हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृति से भिन्न मेरी

अन्य जीवभूता परा प्रकृति भी है। यह परा प्रकृति चिद्रूप होने से जड़ नहीं है। भोक्त्री (भोक्तृ) होने से प्रधानभूत अथवा मुख्य परा है। कई स्थान पर उसको 'पुरुष' भी कहा गया है। यहाँ ''जीवभूताम्'' शब्द का प्रयोग हुआ है ; ''जीवीभूताम्'' शब्द का नहीं। अतः यह सिद्ध होता है कि जीव अविद्या से नहीं बल्कि भगवान् की सहज इच्छा से बना है। इस जीवभूत भगवदंश से यह जगत अर्थात् जड़रूप शरीर सत् और असत् के मिश्रणवाला विराट रूप धारण किए हुए है। मेरी इस प्रकृति को जान।

एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। 6।।

अन्वयः

सर्वाणि - सब ; सर्वनाम, द्वि.ब.व.नपु.।
भूतानि - प्राणियों, भूतों ; नाम, द्वि.ब.व. नपु.
एतद्योनीनि - इन दोनों प्रकृति से उत्पन्न हुए ; विशेषण, वि. 'भूतानि'
च - और ; अव्यय।
अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
कृत्स्नस्य - अखिल ; विशेषण, वि. 'जगतः'।
जगतः - जगत का ; ष.ए.व.नपु. 'जगत्'
प्रभवः - प्रभव ; उत्पादक ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रभव'।
प्रलय : - नाशक, संहारक ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रलय'
तथा - तथा (उस प्रकार) ; अव्यय।
अस्ति - हूँ ; क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
इति - इस प्रकार ; अव्यय
उपधारय - जान, समझ ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'उप + धृ' 10 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सब भूत इन दो (प्रकृतियों) से ही उत्पन्न होते हैं ; ऐसा जान। मैं सब जगत का प्रभव और प्रलय हूँ।

विवेचन : ये दोनों प्रकृति सभी प्राणीमात्र की उत्पत्ति का कारण हैं। ऐसा कहकर भगवान् यह बताना चाहते हैं कि इन दोनों के द्वारा वे स्वयं असाधारण कार्य करते हैं। स्थावर-जंगमात्मक सब भूतों की उत्पत्ति इन दोनों प्रकृति में से होती है- ऐसा जान। इनमें से जड़ अपरा प्रकृति से देह आदि (उत्पन्न) होते हैं और चेतन परा प्रकृति से भोक्ता - क्षेत्रज्ञ-जीव उत्पन्न होते हैं। वे देहादि में प्रवेश कर उसको धारण करते हैं। ये दोनों प्रकृति मुझ में से ही उत्पन्न हुई है और इसीलिए (दोनों प्रकृति भी) मैं ही हूँ। अतः जैसे घट - पट आदि का कारण भूमि है उसी प्रकार सर्व भूतमात्र का प्रकृति और पुरुष (रूप से) द्वारा मैं कारण हूँ। इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय मुझ में से ही है।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिद् अस्ति धनञ्जय!।।
मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7।।

अन्वय :

धनञ्जय - अर्जुन ; सम्बोधन।
मत्तः - मुझ से ; सर्वनाम, पं.ए.व. प्रत्यय।
परतरम् - श्रेष्ठ, अधिक श्रेष्ठ ; विशेषण, वि. 'वस्तु'।
अन्यत् - दूसरा ; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
किञ्चित् - कोई एक ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.।
न - नहीं ; अव्यय।
अस्ति - है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै।
इदम् - यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'सर्व'
सर्वम् - सब ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'इदम्'।
जगत् - जगत ; नाम
मयि - मुझ में ; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'।
सूत्रे - धागे में ; नाम, स.ए.व. नपु. 'सूत्र'
मणिगणाः - (धागे की) मणियाँ ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'मणिगण'।
इव - की भांति, जैसा ; अव्यय५ भू.कृ. विशेषण, वि. 'सर्वम्'।

प्रोतम् - पिरोया हुआ ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'सर्वम्'
अस्ति - है ; क्रियापद, वर्त. का. तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : हे धनञ्जय! मुझ से पर, अन्य (मेरे अतिरिक्त) कुछ भी नहीं है। धागे में मणियों के समूह की भांति यह सब मुझ में पिरोया हुआ है।

विवेचन : मेरा यह माहात्म्य जानने जैसा है। सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय मुझ से ही होता है, अतः मुझ से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। मैं ही सबसे पर (परम) हूँ। जैसे उत्पत्ति और प्रलय मुझमें से ही होते हैं वैसे ही सम्पूर्ण जगत की स्थिति भी मुझ में ही है। जैसे सूत्र (धागे में) में मणियाँ पिरोई हुई होती हैं वैसे ही सम्पूर्ण जगत मुझ में पिरोया हुआ हैअर्थात् मेरा आश्रय करके स्थित है। यहाँ सूत्र और मणि का दृष्टांत दिया गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि जड़ और जीव अविद्या से कल्पित नहीं बल्कि सत्य हैं तथा शरीर में जैसे जीव रहता है उसी प्रकार उसमें ईश्वर स्थित है। ''जिसकी पृथ्वी शरीर है, जिसका आत्मा शरीर है'' इत्यादि से इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है।

रसोऽहम् अप्सु कौन्तेय! प्रभास्मि शशि - सूर्ययोः।।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। 8।।

अन्वयः

कौन्तेय - हे अर्जुन ; सम्बोधन।
अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।
अप्सु - जलों में ; नाम, स.ब.व.नपु.।
रसः - रस ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'रस'
शशिसूर्ययोः - चंद्र और सूर्य में ; नाम, स. द्वि.व.
प्रभा - प्रभा ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'प्रभा'
सर्ववेदेषु - सब वेदों में ; नाम, स.ब.व.पु.।
प्रणवः - प्रणव ॐ ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रणव'।

खे - **आकाश में** ; नाम, स.ए.व.नपु. 'ख'
शब्दः - **शब्द** ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'शब्द'
च - **और** ; अव्यय।
नृषु - **मनुष्यों में** ; नाम, स.ब.व.पु. 'नृ'
पौरुषम् - **पुरुषत्व** ; नाम,प्र.ए.व.नपु. 'पौरुष'
अस्मि - **मैं हूँ** ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस' 2 गण परस्मै

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय! (सभी प्रकार के) जलों में रस मैं हूँ। चन्द्र और सूर्य में प्रभा, सब वेदों में प्रणव, आकाश में शब्द और पुरुषों में पौरुष मैं ही हूँ।

विवेचन : एक भगवान् ही सम्पूर्ण जगत के कारण हैं। ऐसा कहने से शंका होती है कि भगवान् जगत के उपादान कारण हैं अथवा निमित्त कारण? उसमें भी, भगवान् मुख्य कारण हैं अथवा गौण? ऐसी शंका के निवारणार्थ स्पष्ट करते हैं कि भगवान् सर्व जगत के उपादान और निमित्त कारण भी हैं और वे ही मुख्य कारण भी हैं ; गौण कारण नहीं हैं क्योंकि भगवान् सर्वरूप हैं। सर्वशक्तियुक्त हैं। उनके कारण होने में अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। श्रुति, स्मृति और श्रीमद्भागवत् में भगवान् को मुख्य कारण ही कहा गया है। अतः भगवान् यहाँ भी उसी प्रकार से चार श्लोक (8 से 11) से अपनी विभूतियों के माहात्म्य को स्पष्ट कर अपने मुख्य कारणपन को दर्शाते हैं। हे कौन्तेय! जलों में रस मैं हूँ, सूर्य और चंन्द्रमा में प्रभा मैं हूँ। सर्व वेदों में प्रणव, आकाश में शब्द और पुरुषों में पौरुष अथवा वीर्य भी मैं ही हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।। 9।।

अन्वय :
च - **और** ; अव्यय।
पृथिव्याम् - **पृथ्वी में** ; नाम, स.ए.व. स्त्री.
पुण्यः - **पवित्र** ; विशेषण, वि. 'गन्ध'।

गन्धः - **गन्ध** ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'गन्ध'
विभावसौ - **अग्नि मैं, विभावसु में** ; नाम, स.ए.व.पु. 'विभावसु'
तेजः - **तेज** ; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'तेजस्'।
अस्मि - **हूँ** ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
तथैव - **उसी प्रकार** ; अव्यय।
सर्वभूतेषु - **सब प्राणियों में** ; नाम, स.ब.व.नपु.।
जीवनम् - **जीवन** ; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'जीवन'।
च - **और** ; अव्यय
तपस्विषु - **तपस्वियों में** ; नाम, स.ब.व. 'तपस्विन्'
तपः - **तप** ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'तपस्'
अस्मि - **हूँ** ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : पृथ्वी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, सब भूतों में जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ! सनातनम्।।
बुद्धिः बुद्धिमताम् अस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। 10।।

अन्वयः
पार्थ - **अर्जुन** ; सम्बोधन।
माम् - **मुझको** ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
सर्वभूतानाम् - **सर्व भूतों का** ; नाम, ष.ब.व. नपु.।
सनातनम् - **शाश्वत** ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'सनातन'
बीजम् - **बीज (कारण)** ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'बीज'
विद्धि - **जान, समझ** ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै
अहम् - **मैं** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
बुद्धिमताम् - **बुद्धिमानों की** ; नाम, ष.ब.व.पु. 'बुद्धिमत्'
बुद्धिः - **बुद्धि** ; नाम,प्र.ए.व. स्त्री. 'बुद्धि'।

च-और ; अव्यय
तेजस्विनाम-तेजस्वियों का ; नाम, ष.ब.व.पु. 'तेजस्विन्'
तेजः - तेज; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'तेजस्'
अस्मि - हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पार्थ! मुझको सब भूतों का सनातन बीज जान। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ।

विवेचन : ऐसा समझ कि प्राणीमात्र का कारणभूत चैतन्य बीज मैं हूँ। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मैं हूँ।

बलं बलवतां चाहं काम-राग-विवर्जितम्।।
धर्माविरूद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!।।11।।

अन्वयः
भरतर्षभ - अर्जुन, भरतश्रेष्ठ ; सम्बोधन।
च - और ; अव्यय।
अहं - मैं ; ।
बलवताम् - बलवान (नों) का ; नाम, ष.ब.व.पु. 'बलवत्'
कामरागविवर्जितम् - आसक्ति और कामना से रहित ; विशेषण, वि. 'बलम्'
बलम् - बल ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'बल'।
भूतेषु - प्राणियों में ; नाम, स.ब.व.नपु. 'भूत'
धर्माविरूद्धः - धर्म के अनुकूल ; विशेषण, वि. 'कामः'।
कामः - काम, नाम, प्र.ए.व.पु. ''काम''
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भरतर्षभ! काम और राग रहित बलवानों का बल मैं हूँ। प्राणियों में धर्म से अविरूद्ध काम मैं हूँ।

विवेचन : मैं बलवानों का क्रियाशक्तिरूप बल हूँ परन्तु मैं प्रवृत्यात्मक नहीं हूँ, यह स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि मैं काम और राग रहित बल हूँ। इसी प्रकार मैं प्राणियों में काम हूँ लेकिन धर्म से अविरूद्ध काम हूँ; धर्म से विरूद्ध काम मैं नहीं हूँ ।

ये चैव सात्विका भावा राजसाः तामसाश्च ये ।।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।। 12।।

अन्वय :
च - और ; अव्यय।
ये - जो ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'
एव - पर, ही ; अव्यय।
सात्त्विकाः - सात्त्विक, सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाले ; विशेषण, वि. 'भावाः'
भावाः - भाव ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'भाव'।
च - और ; अव्यय।
ये - जो ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'।
राजसाः - राजस ; विशेषण, वि. 'भावाः'
च - और ; अव्यय।
तामसाः - तमोगुण से उत्पन्न होने वाले ; विशेषण, वि. 'भावाः'
तान् - उनको, (भावों को) ; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु.।
त्वम् - तू ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
मत्तः - मुझसे ; नाम, पं.ए.व. 'तः' प्रत्यय।
एव - ही, मात्र ; अव्यय।
भवति - होता है ; क्रियापद।
इति - इस प्रकार से ; अव्यय।
विद्धि - जान ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै।
तु - तो भी ; अव्यय

तेषु – उनमे, उन भावों में ; सर्वनाम, स.ब.व.पु. 'तत्'
अहम् – मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।
च – और ; अव्यय।
ते – वे, भाव : सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'।
मयि – मुझ में ; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
न – नहीं ; अव्यय।
सन्ति – हैं ; क्रियापद, वर्त, तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : इसके अतिरिक्त, यह भी जानो (समझो) कि जो सात्त्विक भाव हैं, जो राजस और तामस भाव हैं वे सब मुझ से ही हैं परंतु मैं उनमें नहीं हूँ, बल्कि वे मुझ में हैं।

विवेचन : पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि मुझ से पर कुछ नहीं है। उसी को यहाँ अधिक स्पष्ट करते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस भाव जो प्रकृति से उत्पन्न हुए प्राकृत भाव हैं वे भी मुझ में से ही उत्पन्न हैं- ऐसा समझ, कारण कि वे मेरी उपरिवर्णित प्रकृति से ही उत्पन्न है। यह प्रकृति भी सत् है, असत् नहीं। सात्त्विक आदि भाव प्रकृति के गुणों के कार्य होने से तथा प्रकृति आदि का कारण भी मैं ही होने से इन भावों का मुख्य कर्त्ता भी मैं ही हूँ ; तथापि उनमें मैं नहीं हूँ। अर्थात् जीव की भांति मैं उनके अधीन नहीं होता। परंतु वे मुझ में हैं अर्थात् वे मेरा आश्रय करके स्थित हैं। मेरी आश्रित प्रकृति के वे आश्रित होने से उनका भी परम्परा से मैं ही आश्रय हूँ।

त्रिभिर् गुणमयैर् भावैः एभिः सर्वम् इदं जगत्।।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।। 13।।

अन्वयः
गुणमयैः – गुणों के कार्यरूप से ; विशेषण, वि. 'भावैः'।
एभिः – इनसे, भावों से ; सर्वनाम, तृ.ब.व. 'इदम्'
त्रिभिः – तीनों से ; विशेषण, वि. 'भावैः'।

भावैः – भावों से ; नाम, तृ.ब.व.पु.
इदम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.।
सर्वम् – सम्पूर्ण ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'सर्व'
जगत् – जगत ; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'जगत्'।
मोहितम् – मोह को प्राप्त ; भू.के.विशेषण, वि. 'जगत्'
अस्ति अतः – है ; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. 'अस्'।
एभ्यः – इनसे ; सर्वनाम, पं.ब.व. 'इदम्'
परम् – श्रेष्ठ ; विशेषण, वि. 'माम्'।
अव्ययम् – अविनाशी ; विशेषण, वि. 'माम्' न विद्यते व्ययः यस्मात् इति ब्रहुव्रीहि
माम् – मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
न – नहीं ; अव्यय।
अभिजानाति – जानता है ; क्रि. व.का.तृ.पु.ए.व. 'अभि + ज्ञा' 9 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इन तीन गुणमय भावों से मोह को प्राप्त यह सम्पूर्ण जगत इनसे (गुणों से) पर मुझ अव्यय को नहीं जानता।

विवेचन : इन तीन गुणों से युक्त (सभी) पदार्थ होते हैं। जगत के पदार्थ इन तीन गुणों वाले होते हैं। ऐसे पदार्थों से मोह को प्राप्त जगत इन गुणों से पर मुझ अव्यय अथवा विकाररहित भगवान् को नहीं जानता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते।। 14।।

अन्वयः
हि – निश्चय ; अव्यय।
एषा – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'एतद्'
दैवी – दैवी, अलौकिक ; विशेषण, वि. 'माया'।
गुणमयी – तीन गुणवाली ; विशेषण, वि. 'माया'

मम-मेरी ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
माया-माया ; नाम, प्र.ए.व. माया, स्त्री।
दुरत्यया - दुस्तर ; विशेषण, वि. 'मायाः' ''दुःखेन अत्येतु योग्या इति''
उपपद
अस्ति परन्तु - है, परन्तु।
ये - जो ; सर्वनाम, प्र.ब.ए.व.पु.
माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
एव - ही, मात्र ; अव्यय
प्रपद्यन्ते - शरण में आते हैं, भजते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. प्र + पद् 4 गण, आत्मने
ते-वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'।
एताम् - इस ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'एतद्'
मायाम् - माया को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री 'माया'
तरन्ति - तरते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''तृ (तर्)'' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : यह मेरी गुणमयी दैवी माया दुस्तर है। जो मेरा ही आश्रय करते हैं वे इस माया को तर जाते हैं।

विवेचन : प्रकृति के गुण ही बंधन के कारक हैं। वे ही माया के गुण सम्पूर्ण जगत को मोहित करते हैं और ईश्वर के स्वरूप को जानने नहीं देते। इतना ही नहीं, बल्कि जीव को अविद्या से होते अध्यास को अधिक दृढ़ करते हैं। अतः जीव के लिए बंधनरूप हैं। इसलिए मेरी इस दैवी गुणमयी माया को तरना कठिन है। परंतु जो मेरा ही आश्रय करते हैं वे इस माया को तर जाते हैं। यहाँ ''एव = ही'' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका भावार्थ यह है कि माया को तरने का अन्य कोई उपाय नहीं है। मेरा, श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम का, ही जो आश्रय करते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं। यह दैवी माया है ; आसुरी नहीं। आसुरी माया प्रयास करके अमुक ज्ञान प्राप्त करने से दूर हो सकती है परन्तु इस दैवी

माया को तरने के लिए श्रीकृष्ण का ही आश्रय करने की आवश्यकता है। यह माया मेरी है अर्थात मेरा आश्रय करके रहने वाले भक्तों का हित करने वाली है।

ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/4/27 के संदर्भ में अणुभाष्य में और भागवत् के अध्याय 1/7/6, 1/8/40 तथा 11/3/18 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रितः।। 15।।

अन्वयः
मायया - माया के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'माया'।
अपहृतज्ञानाः - जिनका ज्ञान हरा गया है ; विशेषण, वि. 'नराः' ''अपहृतं ज्ञानं येषां बहुव्रीहि''।
आसुरम् - असुर सम्बन्धी ; विशेषण, वि. 'भावम्'
भावम् - भाव को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.।
आश्रितः- आश्रय किए हुए ; विशेषण, वि. 'नराः'
नराधमाः - मनुष्यों में अधम ; विशेषण, वि. 'नराः' ''नरेषु अधमाः'' तत्पुरुष
च - और ; अव्यय।
दुष्कृतिनः- दुष्कर्म करने वाले ; विशेषण, वि. 'नराः''शब्द''दुष्कृतिन्'
मूढाः - मोह को प्राप्त ; विशेषण, वि. 'नराः'।
नराः - मनुष्य ; नाम, प्र.ब.व.
माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
न - नहीं ; अव्यय।
प्रपद्यन्ते - शरण में आते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'प्र + पद्' 4 गण

श्लोकार्थ : दुष्ट कर्म वाले, मूढ, जिनका ज्ञान माया के द्वारा हर लिया गया है और आसुर भाव का आश्रय करने वाले अधम मनुष्य मेरा आश्रय नहीं करते।

मम-मेरी ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
माया-माया ; नाम, प्र.ए.व. माया, स्त्री।
दुरत्यया - दुस्तर ; विशेषण, वि. 'मायाः' ''दुःखेन अत्येतु योग्या इति''
उपपद
अस्ति परन्तु - है, परन्तु।
ये - जो ; सर्वनाम, प्र.ब.ए.व.पु.
माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
एव - ही, मात्र ; अव्यय
प्रपद्यन्ते - शरण में आते हैं, भजते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. प्र + पद् 4 गण, आत्मने
ते-वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'।
एताम् - इस ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'एतद्'
मायाम् - माया को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री 'माया'
तरन्ति - तरते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''तृ (तर्)'' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : यह मेरी गुणमयी दैवी माया दुस्तर है। जो मेरा ही आश्रय करते हैं वे इस माया को तर जाते हैं।

विवेचन : प्रकृति के गुण ही बंधन के कारक हैं। वे ही माया के गुण सम्पूर्ण जगत को मोहित करते हैं और ईश्वर के स्वरूप को जानने नहीं देते। इतना ही नहीं, बल्कि जीव को अविद्या से होते अध्यास को अधिक दृढ़ करते हैं। अतः जीव के लिए बंधनरूप हैं। इसलिए मेरी इस दैवी गुणमयी माया को तरना कठिन है। परंतु जो मेरा ही आश्रय करते हैं वे इस माया को तर जाते हैं। यहाँ ''एव = ही'' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका भावार्थ यह है कि माया को तरने का अन्य कोई उपाय नहीं है। मेरा, श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम का, ही जो आश्रय करते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं। यह दैवी माया है ; आसुरी नहीं। आसुरी माया प्रयास करके अमुक ज्ञान प्राप्त करने से दूर हो सकती है परन्तु इस दैवी

माया को तरने के लिए श्रीकृष्ण का ही आश्रय करने की आवश्यकता है। यह माया मेरी है अर्थात मेरा आश्रय करके रहने वाले भक्तों का हित करने वाली है।

ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/4/27 के संदर्भ में अणुभाष्य में और भागवत् के अध्याय 1/7/6, 1/8/40 तथा 11/3/18 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रितः।। 15।।

अन्वयः
मायया - माया के द्वारा ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'माया'।
अपहृतज्ञानाः - जिनका ज्ञान हरा गया है ; विशेषण, वि. 'नराः' ''अपहृतं ज्ञानं येषां बहुव्रीहि''।
आसुरम् - असुर सम्बन्धी ; विशेषण, वि. 'भावम्'
भावम् - भाव को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.।
आश्रितः- आश्रय किए हुए ; विशेषण, वि. 'नराः'
नराधमाः - मनुष्यों में अधम ; विशेषण, वि. 'नराः' ''नरेषु अधमाः'' तत्पुरुष
च - और ; अव्यय।
दुष्कृतिनः- दुष्कर्म करने वाले ; विशेषण, वि. 'नराः'' शब्द'' दुष्कृतिन्'
मूढाः - मोह को प्राप्त ; विशेषण, वि. 'नराः'।
नराः - मनुष्य ; नाम, प्र.ब.व.
माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
न - नहीं ; अव्यय।
प्रपद्यन्ते - शरण में आते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'प्र + पद्' 4 गण

श्लोकार्थ : दुष्ट कर्म वाले, मूढ, जिनका ज्ञान माया के द्वारा हर लिया गया है और आसुर भाव का आश्रय करने वाले अधम मनुष्य मेरा आश्रय नहीं करते।

विवेचन : आपका आश्रय करने से माया से तरा जा सकता हो तो सब आपका आश्रय क्यों नहीं करते? इस शंका को दूर करते हुए कहते हैं कि दुष्ट कर्म करने वाले लोग, जिनके दुष्ट कर्म मेरा आश्रय करने में प्रतिबंधक हैं, जो मूढ़ अथवा पशु की भांति विवेकरहित हैं, जिनका गुरु प्रदत्त ज्ञान माया के द्वारा हर लिया गया है और जिन्होंने आसुर भाव का आश्रय किया हुआ है ऐसे अधम लोग मेरा आश्रय नहीं करते। ऐसे अधम लोग मेरा आश्रय नहीं करते, इतना ही नहीं, ऐसे अधम लोग भगवान् से द्वेष करते हैं– ऐसा आगे भगवान् कहेंगे।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुनः।।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।16।।

अन्वयः

भरतर्षभ – भरत में श्रेष्ठ ; सम्बोधन।
अर्जुन – हे अर्जुन ; सम्बोधन।
सुकृतिन :– शुभ कर्म करने वाले ; विशेषण, वि. 'जनाः'।
अर्थार्थी – अर्थ की इच्छा करने वाला, लाभ चाहने वाला ; विशेषण, वि. 'जनः'।
आर्तः – उत्कण्ठा युक्त, उत्कट भाव वाला, दुःखी ; विशेषण, वि. 'जनः'
जिज्ञासु – जानने की इच्छा वाला ; विशेषण, वि. 'जनः'।
च–और ; अव्यय।
ज्ञानी – ज्ञानी ; विशेषण, वि. 'जनः'।
इत्थं – इस प्रकार से ;
चतुर्विधा – चार प्रकार के ; विशेषण, वि. 'जनाः'।
जनाः – मनुष्य ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'जन'
माम् – मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
भजन्ते – भजते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'भज्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! हे भरतर्षभ! सत्कर्म वाले चार प्रकार के पुरुष मुझको भजते हैं – **1. आर्त 2. जिज्ञासु 3. अर्थार्थी 4. ज्ञानी।**

विवेचनः हे अर्जुन !हे भरतर्षभ! जिन्होंने सत्कार्य किए हैं ऐसे चार प्रकार के पुरुष मुझको भजते हैं।

1. गजेन्द्र जैसे आर्त अथवा दुःखी पुरुष अपने सांसारिक क्लेश दूर करने के हेतु से मुझे भजते हैं। पूर्व के सत्कार्य के कारण मेरा भजन करने में उनकी प्रवृत्ति होती है।
2. शौनक जैसे जिज्ञासु अथवा मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाले।
3. अर्थ की इच्छा वाले अर्थार्थी। धनादि प्राप्त करने की इच्छा वाले।
4. शुकदेव जैसे ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से भजन करते हैं।

ये चार प्रकार के भजन करने वाले पूर्व के सुकृत होने से भजन करते हैं। उनको भजन में प्रवृत्त करने वाले उनके पूर्व जन्म के सुकृत होते हैं। जिनको भजन में प्रवृत्त करने वाले पूर्व जन्म के सुकृत नहीं हैं परंतु फिर भी जो भजन करते हैं वे गोपीजन आदि पुष्टिभक्त हैं। ऐसे भक्तों का समावेश यहाँ नहीं है। कोई–कोई 'च = और' शब्द में गोपिकाओं का समावेश करते हैं पर वह उचित नहीं है। कारण यह है कि पूर्व में सुकृतयुक्त भजन करने वालों का ही यहाँ उल्लेख है। श्रीमद्भागवत् में कहा गया है कि गोपियों के पूर्व के सुकृत नहीं थे। दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी भी प्रकार के साधन न होने के उपरांत भी साधनरूप और फलरूप भगवान के स्वरूपानुग्रह के बल से उनका भगवान् में अलौकिक स्नेह होने से इन चार प्रकार के भक्तों में उनका समावेश नहीं हो सकता।

श्रीभागवद के अध्याय 10/84/24 एवं 10/84/30 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः।। 17।।

अन्वयः

तेषाम् – उनमें ; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'तद्'।
नित्ययुक्तः – नित्य मुझ में चित्त रखने वाला ; विशेषण, वि. 'ज्ञानी'

च - **और** ; अव्यय
एकभक्ति :- **मुझ अकेले की भक्ति करने वाला** ; विशेषण, वि. 'ज्ञानी:'
''**एकस्मिन् एव भक्ति:** यस्य इति''''बहुव्रीहि'
ज्ञानी - **ज्ञानी** ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'ज्ञानिन्'।
विशिष्यते - **उत्तम है** ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'वि + शिष्' 7 गण, कर्मणि
हि - **निश्चय** ; अव्यय।
ज्ञानिन: - **ज्ञानी की** ; नाम।ष.ए.व.पु. 'ज्ञानिन्'
अहम् - **मैं** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।
अत्यर्थम् - **अत्यन्त, बहुत ज्यादा** ; अव्यय।
प्रिय: - **प्रिय** ; विशेषण, वि. 'अहम्'।
अस्ति - **हूँ** ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
च - **और** ; अव्यय।
स: - **वह** ; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु. 'तद्'।
मम्- **मेरा** ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
प्रिय: - **प्रिय** ; विशेषण, वि. 'स:'।
अस्ति - **है** ; क्रियापद, वर्त.का. तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : उनमें ज्ञानी नित्ययुक्त और एक (मुझ) में ही भक्ति वाला होने से उत्तम है। क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।

विवेचन: अब यह स्पष्ट करते हैं कि चार प्रकार के भक्तों में मोक्ष की इच्छा वाला ज्ञानी उत्तम है। कारण कि वह (ज्ञानी), पूर्व में जिस योग का वर्णन किया गया है, सदैव उस योग से युक्त रहता है। इसके अतिरिक्त उसको मेरे माहात्म्य का ज्ञान होने से मुझ एकमात्र सर्वव्यापक पुरुषोत्तम परमात्मा में उसकी ऐकान्तिक अथवा निरपेक्ष - अपेक्षारहित भक्ति होती है। अन्य भक्त तो अपनी - अपनी इच्छित वस्तु में प्रीति वाले होते हैं तथा मुझ में तो मात्र उन वस्तुओं के दाता के रूप में ही उनकी प्रीति होती है। जबकि ज्ञानी की मुझ में अत्यन्त प्रीति होती है कारण कि जिन-जिन पदार्थों में ममता होती है उनमें

अपना आत्मा आनंदरूप होने से उसको अधिक प्रिय होते हैं तथा वह आत्मा परमानंद परमात्मा का अंश होने से उसकी परमात्मा अर्थात मुझ में अत्यन्त प्रीति होती है। अत: वह मुझको भी प्रिय होता है।

श्रीभागवत् के अध्याय 10/84/24 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। 18।।

अन्वय:
एते -**वे, ये** ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'एतद्'।
सर्वे -**सब** ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
एव - **मात्र** ; अव्यय।
उदारा :- **उदार, श्रद्धावान्** ; विशेषण, वि. 'सर्वे भक्ता:'
सन्ति - **हैं** ; क्रि. वर्त.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'।
तु - **तो भी, परन्तु** ; अव्यय
ज्ञानी - **ज्ञानी, भक्त** ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'ज्ञानिन्'।
एव - **ही** ; अव्यय।
मे - **मेरा** ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
आत्मा - **आत्मा** ; 'मत्सदृश:, मत्स्वरूप:' नाम, प्र.ए.व.पु. 'आत्मन्'
मतम् - **मत, अभिप्राय** ; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
हि - **निश्चय ही** ; अव्यय।
स: वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'।
युक्तात्मा - **स्थिर बुद्धि वाला, ज्ञानी भक्त** ; विशेषण, वि. 'ज्ञानी'
अनुत्तमाम् - **अति उत्तम** ; विशेषण, वि. 'गतिम्'।
गतिम् - **गति को** ; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'गति'
माम् - **मुझको** ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।

एव - **ही** ; अव्यय।
आस्थितः - **आस्थावान, मुझ में स्थिति करने वाला** ; विशेषण, वि. 'ज्ञानी'
अस्ति - **है** ; क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : ये सभी (ऊपर वर्णित चारों प्रकार के भक्त) उदार हैं परन्तु ज्ञानी भक्त तो आत्मा ही है ; ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह युक्तात्मा और अनुत्तमगतिवाला मेरा ही आश्रय करके रहा हुआ है।

विवेचन : चतुर्थ प्रकार के भक्त-ज्ञानी को उत्तम कहा है। उसको मोक्ष प्राप्त होता है तो अन्य तीन प्रकार के भक्त क्या संसार में ही निमग्न रहते हैं? इस शंका को दूर करते हैं। ये सभी चार प्रकार के भक्त अन्य देवों के भक्तों से उत्तम होते हैं। मात्र उनका भजन व्यावहारिक रीति के अनुसार होने से प्राकृत है जिससे उनको प्रिय नहीं कहा है परन्तु प्राकृत जीवों की भांति वे संसार में निमग्न नहीं रहते बल्कि "हरि में काम,क्रोध, भय, स्नेह,ऐक्य अथवा सौहृद नित्य रखते हुए वे तन्मय रहते हैं।" - ऐसा श्रीमद्भागवत् में कहा गया है; तदनुसार किसी भी रीति से प्रभु से संबंध होने से भी तन्मयता प्राप्त होने से उनको भी फल प्राप्त होना चाहिए। जबकि ज्ञानी भक्त तो आत्मा ही है अर्थात मेरी आत्मा है। उसको मैं आत्मा ही मानता हूँ। अथवा ज्ञानी भक्त आत्मा ही है अर्थात मदात्मक या मुक्त ही है- ऐसा मैं मानता हूँ क्योंकि जिससे कोई भी उत्तम नहीं, ऐसा अनुत्तम गति वाला सदा मेरा ही आश्रय करके रहा करता है।

बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।।
'वासुदेवः सर्वम्' इति स महात्मा सुदुर्लभः ।। 19।।

अन्वयः
बहूनाम् - **अनेक** ;विशेषण, वि. 'जन्मनाम्' ।
जन्मनाम् - **जन्मों का**; नाम, ष.ब.व.नपु.
अन्ते (जन्मनि) - **अंतिम जन्म में**; नाम, स.ए.व.पु.।
ज्ञानवान् - **ज्ञानी**; नाम, प्र.ए.व.पु.

माम् - **मुझको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्' ।
सर्वम् - **सर्वस्व**; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
वासुदेवः -**वासुदेव**, नाम, प्र.ए.व.पु.।
एवास्ति - **ही है**; क्रि.वर्त. तृ.पु.ए.व. 'अस्'
इति - **इस प्रकार**; अव्यय ।
प्रपद्यते - **शरण में आता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'प्र+पद्' 4 गण, आत्मने
सः -**वह**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु 'तद्'।
महात्मा -**महात्मा**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'महात्मन् = महान् च असौ आत्मा च' कर्मधारय
सुदुर्लभः - **अति दुर्लभ**; विशेषण, वि. 'महात्मा' ।
अस्ति - **है**; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. 'अस्' वर्त. का.

श्लोकार्थ : अनेक जन्मों के पश्चात अंतिम जन्म में "सर्वस्व वासुदेव हैं"- ऐसे ज्ञान वाला मेरी शरण आता है। ऐसा महात्मा अत्यंत ही दुर्लभ है।

विवेचन : आत्मज्ञान कदाचित् अल्प समय में अथवा एकाध जन्म में सिद्ध हो जाता है किन्तु भगवान का ज्ञान होना कठिन है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात जिसको भगवत्प्रपत्ति हुई हो ऐसा ज्ञानी महा दुर्लभ है। अनेक जन्मों के पश्चात अंतिम जन्म में भगवान् ने स्वयं संतुष्ट होकर अपने ज्ञान का जिसको दान किया हुआ है ऐसा ज्ञानी दुर्लभ है। ऐसे ज्ञानी में भी जिसको भगवान् की प्रपत्ति हुई हो ऐसा ज्ञानी अति दुर्लभ है।

श्रीभागवत् के अध्याय 2/1/16 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

कामैस्तैस्तैर् हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।।
तं - तं नियममास्थाय प्रकृत्याः नियताः स्वया ।। 20।।

अन्वयः
स्वया - **अपनी**, विशेषण, वि. "प्रकृत्या" ।

प्रकृत्या - प्रकृति के द्वारा; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'प्रकृति'
नियताः - नियंत्रित किए हुए; विशेषण, वि. 'जनाः'
तैः तैः - उन-उन; सर्वनाम, तृ.ब.व.पु.
कामैः - कामनाओं के द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु.
हृतज्ञानाः - जिनका ज्ञान भ्रष्ट हो गया है; विशेषण, वि. 'जनाः'
तम् - तम - उस-उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तत्'।
नियमम् - नियम को, उपासना में जो-जो नियम लोक में प्रसिद्ध हैं, वे; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'नियम'
आस्थाय - धारण करके, पालन करते हुए; विधेय कृदन्त ।
जनाः - लोग; नाम, प्र.ब.व.पु. 'जन'
अन्यदेवताः - अन्य देवताओं को; नाम, द्वि.ब.व.स्त्री. 'अन्य देवता'
प्रपद्यन्ते - शरण में जाते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. प्र+पद् 4गण

श्लोकार्थ : विभिन्न कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है वे अपनी प्रकृति के अधीन होने से अलग-अलग नियमों का पालन करते हुए अन्य देवताओं की शरण में जाते हैं।

विवेचन : अलौकिक महिमा वाले मुझको जो (भक्त) किसी भी प्रकार से भजते हैं वे अन्त में सिद्धि प्राप्त करके संसार से तर जाते हैं- ऐसा कहा गया है। अब यहां से बताते हैं कि जो मेरा भजन नहीं करते हैं और प्राकृत कामों के लिए अन्य देवताओं का भजन करते हैं वे संसार में डूबे रहते हैं। यहाँ से (20 से 22 1/2) साढ़े तीन श्लोक तक इसी का वर्णन करते हैं। अलग-अलग कामनाओं के द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है और जो अपने राजस अथवा तामस स्वभाव के वशीभूत हैं वे भिन्न-भिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए व्रत - उपवास आदि करते हैं और मेरा भजन न करके उन देवताओं का भजन करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुम् इच्छति।।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। 21।।

अन्वय :
यः यः - जो जो : सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।
भक्तः - भक्त, सकाम ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भक्त'
याम् याम्-जिस जिस ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. स्त्री।
तनुम् - शरीर, देवता के स्वरूप को ; द्वि.ए.व.पु. 'तनु'
श्रद्धया - श्रद्धा से ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री 'श्रद्धा'।
अर्चितुम् - पूजन के लिए ; हेत्वर्थ कृदन्त
इच्छति - इच्छा करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'इष्' (इच्छ्) 6 गण परस्मै
तस्य तस्य - उस उस, उस उस भक्त का ; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'तत्'
ताम् - उसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'तत्'।
एव - ही ; अव्यय
श्रद्धाम् - श्रद्धा को ; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'श्रद्धा'।
अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
अचलाम् - अचल ; विशेषण, वि. 'श्रद्धाम्'।
विदधामि - करता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'वि + धा' 3 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जो - जो भक्त जिस - जिस मूर्ति का श्रद्धा से पूजन करना चाहता है उसकी श्रद्धा को मैं उस - उस (देवता) में ही अचल करता हूँ।

विवेचन : देवगण भी मेरा शरीर हैं। श्रुति वचन भी है कि - ''जो आदित्य में विद्यमान है, जिसको आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर है'' इत्यादि। अतः जो अन्य देवताओं का भजन करता है, वे देव भी मेरा शरीर हैं - इस तथ्य को जाने बिना जो श्रद्धा से उनका पूजन करना चाहता है उसकी उन - उन देवताओं में रही हुई श्रद्धा को मैं अचल करता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तः तस्याराधनम् ईहते।।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।। 22।।

अन्वयः

सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्'।

तया – उससे ; सर्वनाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'तत्'।

श्रद्धया – श्रद्धा से ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'श्रद्धा'

युक्तः – युक्त होकर ; जुड़कर ; विशेषण, वि. 'युज्' 7 गण, भूतकालिक कृदन्त।

तस्य – उसका ; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'तत्'

आराधनम् – आराधन को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।

ईहते – करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'इह' 1 गण, आत्मने

च – और ; अव्यय।

ततः – उसकी तरफ से, उस देव की तरफ से ; सर्वनाम, पं.ए.व. 'तः' तद्धित प्रत्यय

मयैव – मेरे ही द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'।

विहितान् – विहित, तय किया हुआ ; विशेषण, वि. 'कामान्'

तान् – उनको ; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु. 'तत्'

कामान् – कामनाओं को, इच्छित भोगों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'काम'

हि – निश्चय ; अव्यय।

लभते – प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'लभ्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : श्रद्धा से युक्त भक्त उस देव का आराधना करता है और उसके पास से मेरे द्वारा ही निर्मित काम्य फलों को प्राप्त करता है।

विवेचन : तदुपरान्त, मेरे अंगभूत जिस देवता की उपासना करता है उसके पास से अपने इच्छित पदार्थ प्राप्त करता है। ये पदार्थ भी मेरे द्वारा ही निर्मित होते हैं। उपासना करते समय भी उस देवता की उपासना करने वाला यह नहीं जानता कि मैं अवयवी हूँ और वह देवता मेरा अंग ही है। अतः उस देवता की उपासना करने के बावजूद, वह देवता वास्तव में मेरा ही अंग होने से, की गई उपासना भी मेरी ही मानी जाएगी और इसीलिए मुझको अभीष्ट फल ही उस उपासक को प्राप्त होता है।

श्रीभागवत् के अध्याय 10/37/9 के संदर्भ में इस श्लोक का अनुसंधान सुबोधिनी में किया गया है।

अंतवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। 23।।

अन्वय :

तु – परन्तु ; अव्यय।

तेषाम् – उनको ; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'तत्'

अल्पमेधसा – अल्पबुद्धि वालों के ; विशेषण, वि. 'पुरुषाणाम्'।

तत् – उस ; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपुः 'तद्'

फलम् – फल ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'फल'।

अन्तवत् – अंतवाला, नाशवान् ; विशेषण, वि. 'फलम्'

भवति – होता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

देवयजा – देवों को पूजने वाले ; विशेषण, वि. 'पुरुषाः'

देवान् – देवों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु.।

यान्ति – प्राप्त करते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2 गण, परस्मै

च – और ; अव्यय।

मद्भक्ताः – मेरे भक्त ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'मम भक्तः इति मद्भक्ता' षष्ठी तत्पुरुष

माम् (अपि) – मुझे ही ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मद्'।

यान्ति – प्राप्त होते हैं ; क्रियापद, तृ.ब.व.

श्लोकार्थ : परन्तु उन अल्पबुद्धि वालों को तत्तत् देवताओं के पास से प्राप्त फल विनाशी होता है। देवों के पूजक देवों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझ देवाधिदेव को प्राप्त होते हैं।

विवेचन : यहाँ यह बताते हैं कि भावभेद से फलभेद हो जाता है। इन्द्रादि देवों का भजन करने वाले अल्पबुद्धि वालों को शाखा अथवा फल अथवा पत्तों का जल से सिंचन करने वाले की भांति अल्प, विनाशी और अंत वाला

(नाशवान्) फल प्राप्त होता है। देवों के पूजक उन - उन देवों को पाते हैं जबकि मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं। अत: अन्य देवों के भक्तों का फल विनाशी होता है। श्रौतयज्ञ में तो भगवान् के अंगरूप देव होते हैं और यही जानकर उनकी आराधना होती है परंतु भक्ति में मात्र अंगी भगवान् की आराधना ही होती हे। जो जिसको श्रद्धा से भजता है वह उसको प्राप्त करता है। तदनुसार मेरे भक्त मुझे प्राप्त कर अक्षय फल प्राप्त करते हैं।

भागवत् के अध्याय 1/18/22 के संदर्भ में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

विशेष : भजन करने वाले तीन प्रकार के होते हैं : 1. अल्पबुद्धि वाला क्षुद्र सांसारिक लाभ के लिए भजन करता है। 2. भजन द्वारा देव को प्राप्त करने की बुद्धि वाला देव का भजन करता है। 3. तीसरे वर्ग के भजन करने वाले कृष्ण का भजन करने में प्रवृत्त होते हैं और उसके द्वारा कृष्ण को ही प्राप्त करते हैं। .... जैसे - जैसे वासनामय विभाव क्षीण होते जाएंगे वैसे - वैसे उत्कृष्ट भावों का ग्रहण होता जाएगा। सर्वोत्कृष्ट भाव जब तक तैयार नहीं होता तब तक कृष्णाश्रय और कृष्णसेवन संभव नहीं होता। इसे प्राप्त करने के लिए भगवत्शास्त्र का अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। भगवत्शास्त्र = गीता, भागवतादि।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धय:।।
परं भावं अजानन्तो ममाव्ययम् अनुत्तमम्।। 24।।

अन्वय:

अबुद्धय : - मूढ, जड़ ; नाम, प्र.ब.व.पु.।
मम - मेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
अनुत्तमम् - जिससे उत्तम अन्य कोई नहीं ; विशेषण, वि. 'भावम्'।
अव्ययम् - अविनाशी ; अव्यय
परम् - परम ; विशेषण, वि. 'भावम्'।

भावम् - भावको, प्रभाव को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'भाव'
अजानन्त: - नहीं जानने वाले मनुष्य ; व.कृ. विशेषण, वि. 'जना:'।
अव्यक्तम् - अव्यक्त, अस्पष्ट मन और इन्द्रियों से ; विशेषण, वि. 'माम्'
माम् - मुझे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
व्यक्तिम् - दृश्य स्वरूप व्यक्ति ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री 'व्यक्ति'
आपन्नम् - प्राप्त हुआ ; विशेषण, वि. 'माम्'।
मन्यन्ते - मानते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'मन' 4 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : बुद्धि रहित लोग मेरे अव्यय, अनुत्तम, पर (परम) भाव को नहीं जानते हैं। इस कारण से मुझ अव्यक्त को व्यक्ति (मनुष्य देह धारण किए हुए) मानते हैं।

विवेचन : मेरा भजन करने वाले को अविनाशी अक्षय फल प्राप्त होता है और अन्य देवों का भजन करने वाले को विनाशी फल प्राप्त होता है। फिर भी मेरा यथार्थ ज्ञान नहीं होने के कारण बुद्धिरहित लोग मेरा भजन न करके अन्य देवताओं का भजन करते हैं- कहने का तात्पर्य यह है। बुद्धि रहित लोग, जिनका ज्ञान विविध कामनाओं के द्वारा हर लिया गया है, वे मेरे उत्तम, अव्यय पर भाव अर्थात अंशांशिभाव से सम्पूर्ण जगत मुझ में स्थित है, इस तथ्य से अनभिज्ञ होने के कारण मुझ अव्यक्त पुरुषोत्तम को साधारण मनुष्य की भांति अथवा देवताओं की भांति इस लोक में व्यक्त अथवा जन्मा हुआ मानते हैं।

नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:।।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोकोमाम् अजम् अव्ययम्।। 25।।

अन्वय:

योगमायासमावृत: - योगमाया से आच्छादित ; विशेषण, वि. 'अहम्'।
सर्वस्य - सबको ; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'सर्व'।
प्रकाश: - प्रकाश, प्रत्यक्ष ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रकाश'।
नाहम् - न + अहम् - मैं नहीं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

अयम् – यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'इदम्'।
मूढः – मूढ ; विशेषण, वि. 'लोकः'
लोक :– लोक ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'लोक'।
माम् – मुझे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
अजम् – अजन्मा, जन्मरहित ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'अज'।
च अव्ययम् न – और अविनाशी नहीं ; अव्यय
अभिजानाति – जानता ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अभि + ज्ञा 9 गण, परस्मै'

श्लोकार्थ : योगमाया से आच्छादित मैं सब को नहीं दिखाई देता। ये मूढ लोग मुझको अज और अव्यय के रूप में नहीं जानते।

विवेचन : सर्वभवनसामर्थ्यरूप मेरी योगमाया से मैं पूर्णतः आच्छादित हूँ। अतः मात्र मेरे भक्त ही मुझे देख सकते हैं। सभी लोग मुझे नहीं देख सकते। इसीलिए इस संसार के मूढ़, भक्तिरहित मनुष्य यह नहीं जान सकते कि मैं अज और अव्यय हूँ।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन!।।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। 26।।

अन्वयः
अर्जुन – अर्जुन ; सम्बोधन।
समतीतानि – पूर्व में हो चुके ; विशेषण, वि. 'भूतानि'
च – और ; अव्यय।
वर्तमानानि – जो वर्तमान (विद्यमान) हैं ; विशेषण, वि. 'भूतानि'
च – और ; अव्यय।
भविष्याणि – भविष्य में होने वाले ; विशेषण, वि. 'भूतानि'
भूतानि – प्राणियों को ; नाम, द्वि.ब.व.नपु.।
अहम् – मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
वेद – जानता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण।

तु – भी, तो भी ; अव्यय
माम् – मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
कश्चन – कोई, श्रद्धा भक्ति वाला कोई ; सर्वनाम, प्र.ए.व. पु.
न – नहीं ; अव्यय
वेद – जानता ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! जो (प्राणी भूतकाल में) हो गए हैं, जो (विद्यमान) हैं और जो (भविष्य में) होने वाले हैं उन सबको मैं जानता हूँ परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

विवेचन : मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सब प्राणियों को जानता हूँ परन्तु इन तीनों काल के प्राणियों में अव्यय, अज तथा अनंत महिमा वाले और सब को मुक्ति का दान करने के लिए अवतरित हुए मुझको, वासुदेव जानकर मेरा ही भजन करने वाला कोई भी दिखाई नहीं देता।

इच्छा – द्वेष – समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत!।।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।। 27।।

अन्वयः
परन्तप! भारत! – अर्जुन – सम्बोधन।
सर्गे – संसार में ; नाम, स.ए.व.पु. 'सर्ग'
इच्छाद्वेषसमुत्थेन – इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले ; विशेषण, वि. 'द्वन्द्वमोहेन'
द्वन्द्वमोहेन – द्वन्द्व के मोह से, सुख दुःख आदि मोह से ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'द्वन्द्वमोह'
सर्वभूतानि – सभी प्राणी ; नाम, प्र.ब.व.नपु.।
सम्मोहम् – सम्मोह ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'सम्मोह'
यान्ति – प्राप्त होते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत ! हे परन्तप ! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होते द्वन्द्व के मोह से सभी प्राणी संसार में मोह को प्राप्त होते हैं।

विवेचन : स्वयं के लिए प्रिय वस्तु की इच्छा से और अप्रिय वस्तु के द्वेष से सुख और दु:ख रूप द्वन्द्व उत्पन्न होता है। उस द्वन्द्व से मोह उत्पन्न होता है। संसार में सभी प्राणी इस मोह के वश में हैं अत: उनको मेरा ज्ञान नहीं होता।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।।
ते द्वन्द्व - मोह - निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रता:।। 28।।

अन्वय:

तु - परन्तु ; अव्यय।
येषाम् - जिनके ; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'यत्'
पुण्यकर्मणाम् - पुण्य कर्मों का ; विशेषण, वि. 'जनानाम्'।
जनानाम् - मनुष्यों का ; नाम, ष.ब.व.पु. 'जन'
पापम् - पाप को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'पाप'।
अन्तगतम् - नष्ट हो गए हैं ; विशेषण, वि. 'पापम्'
द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता:- द्वन्द्व के मोह से पूर्णत: मुक्त हुए ; विशेषण, वि. 'ते'।
दृढ़व्रता: - दृढ़ निश्चय वाले ; विशेषण, वि. 'ते'।
ते - वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तद्'
माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
भजन्ते - भजते हैं ; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. 'भज्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : परन्तु जिन पुण्यकर्मा मनुष्यों के पाप नष्ट हो गए हैं वे द्वन्द्व के मोह से मुक्त हुए दृढ़व्रत होकर मुझको भजते हैं।

विवेचन : परन्तु कुछेक दुर्लभ भाग्यशाली पुण्य कर्म करने वाले मनुष्य, जो मेरे दर्शनादि पुण्य कर्म करते हैं और विनयशील होते हैं, उनके पाप, पुण्यकर्मों से नष्ट हो जाने के कारण और मेरे स्वरूप का ज्ञान होने में प्रतिबंधरूप पापों के

दूर होने से वे सुख - दु:ख आदि द्वन्द्व के मोह से मुक्त हो जाते हैं और तत्पश्चात दृढ़ संकल्प से मुझ को ही भजते हैं।

जरा - मरण - मोक्षाय माम् आश्रित्य यतन्ति ये।।
ते ब्रह्म तद्विदु: कृत्स्नम् अध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। 29।।

अन्वय:

ये - जो ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'।
माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
आश्रित्य - आश्रय और शरण में आकर ; विधेय कृदन्त।
जरामरणमोक्षाय - जरा, मरण और मोक्ष के लिए, जरा मरण से छुटकारा पाने के लिए ; नाम, च.ए.व.पु.।
यतन्ति - यत्न करते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'यत्' 1 गण, परस्मै।
ते - वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'
तत् - उस ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'तत्'।
ब्रह्म - ब्रह्म को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'ब्रह्मन्'
च - और ; अव्यय।
कृत्स्नम् - अखिल ; विशेषण, वि. 'अध्यात्मम्'
अध्यात्मम् - अध्यात्म को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.।
च - और ; अव्यय
अखिलम् - अखिल ; विशेषण, वि. 'कर्म'
कर्म-कर्म को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'कर्मन्'
विदु: - जानते हैं ; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2 गण

श्लोकार्थ: जो मेरा आश्रय करके जरा तथा मरण से मुक्त होने के लिए यत्न करते हैं वे उस सर्व ब्रह्म को, अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं।

विवेचन : पूर्व में चार प्रकार के भक्त कहे गए हैं : 1. आर्त 2. जिज्ञासु 3. अर्थार्थी और 4. ज्ञानी। उनमें ज्ञानी भक्त को सबसे उत्तम बताया गया है। आर्त

और अर्थार्थी भक्त भगवान् से अपना इच्छित फल प्राप्त करके मुमुक्षु बनकर जिज्ञासु हो जाते हैं। अत: जिज्ञासु भक्त और ज्ञानी भक्त दोनों को क्या फल प्राप्त होता है- यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उसको (फल को) प्राप्त कराने वाला साधनरूप प्राप्त करने की अर्जुन में जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए दोनों प्रकार के भक्तों की यहाँ से दो श्लोक (29-30) तक प्रशंसा करते हैं। जरा और मरण से ब्रह्मात्मज्ञान प्राप्त करने से मुक्त होने हेतु मेरा आश्रय करके जो (भक्त) प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्म अर्थात् परब्रह्म का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। 'तत्' अर्थात् अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं और अध्यात्म अर्थात आत्मा को प्राप्त हुए स्वभाव का और सब कर्मों का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदु:।।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर् युक्तचेतस:।। 30।।

अन्वय:

ये - जो ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'।
साधिभूताधिदैवं - अधिभूत और अधिदेव ; विशेषण, वि. 'माम्'
च - और ; अव्यय।
साधियज्ञम् - अधियज्ञ सहित, अध्यात्मा ; विशेषण, वि. 'माम्'
माम् - मुझे ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
विदु: - जानते हैं ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2 गण
ते - वे ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तद्'।
युक्तचेतस: - युक्त चित्त वाले पुरुष ; विशेषण, वि. 'ते'
प्रयाणकाले - अंत समय में ; नाम, स.ए.व.पु.।
अपि - भी ; अव्यय।
माम् - मुझको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।
च - ही ; अव्यय।
विदु: जानते हैं ; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2 गण

श्लोकार्थ : जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझे जानते हैं वे युक्तचित्त वाले होकर प्रयाणकाल में भी मुझे जानते हैं।

विवेचन : 'ये =जो' का यहाँ पुन: कथन किया गया है अत: इस श्लोक में, पूर्व श्लोक में कहे गए ज्ञानी भक्त से अन्य जिज्ञासु भक्त की बात कहते हैं - ऐसा निश्चय होता है। जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझे जानते हैं वे युक्तचित्त वाले होकर प्रयाणकाल में अर्थात प्राणों के प्रयाणकाल में भी मुझे उसी प्रकार से जानते हैं। यहाँ 'युक्तचित्त वाला होकर' कहा गया होने से यह सूचित किया गया है कि अंत में उनको योगसिद्धि भी प्राप्त होती है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुनसंवादे ''ज्ञानविज्ञानयोगो'' नाम
।। सप्तमोऽध्याय:।। 7।।

।। अध्याय 8 ।।

अक्षरब्रह्म योग

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किम् अध्यात्मं किं कर्म पुरूषोत्तम! ।।
अधिभूतं च किं प्रोक्तम् अधिदैवं किम् उच्यते ।। 1 ।।

अन्वय :

पुरूषोत्तम – **पुरूषोत्तम** ;सम्बोधन।
तत् – **वह**; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
ब्रह्म – **ब्रह्म**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ब्रह्मन'।
किम् – **क्या है?**; सर्वनाम, विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
अध्यात्मम् – **अध्यात्म**; नाम, प्र.ए.व. नपु. ।
किम् – **क्या है?**; सर्वनाम, विशेषण, वि. 'अध्यात्मम्'
कर्म – **कर्म**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'कर्मन्'।
किम् – **क्या है?**; सर्वनाम, विशेषण, वि. 'कर्म'
अस्ति – **है**; क्रियापद, वर्त. का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'।
अधिभूतम् – **अधिभूत**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अधिभूत'
किम् – **क्या है?**; विशेषण, वि. 'अधिभूतम्'।
प्रोक्तम् – **कहा गया**; भू.कृ.विशेषण; वि. 'अधिभूतम्'
च – **और**; अव्यय ।
अधिदैवं – **अधिदैव**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अधिदैव'
किम् – **क्या है?**; सर्वनाम, विशेषण, वि. अधिदैवम्' '
उच्यते – **कहा गया है?**; क्रि.व.कर्मणि तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे पुरूषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसको कहा गया है? और अधिदैव किसको कहा जाता है?

विवेचन : सप्तम अध्याय के अंत के दो श्लोक में भगवान ने ब्रह्म, अध्यात्म आदि के बारे में बताया है। इनके स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए अर्जुन दो श्लोक से (1 और 2) प्रश्न करते हैं।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ! ।।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।। 2 ।।

अन्वय :
मधुसूदन – मधुसूदन; सम्बोधन
अत्र – यहाँ इस शरीर में; अव्यय
अधियज्ञः –अधियज्ञ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
कः – कौन; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'किम्'
अस्ति – है; क्रियापद, वर्त.तृ.पु.ए.व. 'अस्'।
च – और; अव्यय
अस्मिन् – इस; सर्वनाम, स.ए.व.पु. 'इदम्'।
देहे – देह में, शरीर में; नाम, स.ए.व.पु. 'देह'
कथम् – किस प्रकार; अव्यय (अस्ति=है)।
नियतात्मभिः –जिसने आत्मा को नियम में रखा हुआ है; विशेषण,वि. 'जनैः'
प्रयाणकाले – अन्त समय में; नाम, स.ए.व.पु.।
त्वम् – आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
कथम् – किस प्रकार से; अव्यय
ज्ञेयः – जाने जा सकते; कृदन्त, विधेय कर्मणि
असि – है; क्रि.व.का. द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे मधुसूदन ! अधियज्ञ कौन है? इस देह में वह किस प्रकार जाना जाता है? आत्मा को नियंत्रण में रखने वालों के द्वारा आप अंत समय में किस प्रकार जाने जा सकते हैं? प्रश्न के अनुक्रम में भगवान यहाँ से तीन श्लोक में (3-5) उत्तर देते हैं।

श्रीभगवान् उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मम् उच्यते ।।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ।। 3 ।।

अन्वयः
हे अर्जुन – हे अर्जुन; सम्बोधन।
परमम् – परम; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
अक्षरम् – अक्षर, जिसका कभी नाश नहीं होता वह ; सत्+चित्+आनन्द; विशेषण, वि.'ब्रह्म'
ब्रह्म – ब्रह्म; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ब्रह्मन्'।
अस्ति च – और; क्रि.वर्त.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
स्वभावः – स्वभाव, अक्षरभाव जीव; नाम,प्र.ए.व.पु.।
अध्यात्मम् – अध्यात्म; नाम, प्र.ए.व.नपु.
उच्यते – कहा जाता है; क्रि.व. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण, आत्मने।
च – और; अव्यय
भूतभावोद्भवकरः – भूतों के भावों को उत्पन्न करने वाला; विशेषण, वि. 'विसर्गः' ''भूतानां भावानां उद्भवस्य करः'' ष. तत्पुरूष
विसर्गः – त्यागशास्त्र; नाम, प्र.ए.व.पु. 'विसर्ग'।
कर्मसंज्ञितः – कर्म की संज्ञा वाला; भू.कृ. विशेषण, वि. ''विसर्गः''
अस्ति – है; क्रियापद, वर्त.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : परम अक्षर ब्रह्म है; स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है। भूतभाव का उद्भव करनेवाला विसर्ग कर्म कहा जाता हैं।

विवेचन : जिसे ब्रह्म कहा गया है वह परम अक्षर हैं। परम – अर्थात प्रधान,उत्कृष्ट,जिसका क्षरण नहीं होता अर्थात जिसमें विकार नहीं होता; वह अक्षर है। इसको भगवान् ब्रह्म – परमात्मा कहते हैं। श्रीमद्भागवत् के श्लोक 1/2/11 में इसका निरूपण किया गया है। वह (ब्रह्म) समष्टि और व्यष्टि का

मूल है। समष्टि का मूल होने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर स्थित है और व्यष्टि का मूल होने से प्राणी मात्र मे स्थित है। वह विकार रहित है और भगवान का गणितानन्द वाला अध्यात्म स्वरूप है। भगवान् से पृथक् न होने पर भी भगवान् का धाम होने से पृथक् हो जाता है। सात्वत तंत्र में कहा गया है कि :''पुरूष'' नाम से जाने जाते भगवान विष्णु के तीन रूप हैं। 1. महत् तत्व को उत्पन्न करने वाला(अक्षर) 2. समष्टिरूप(ब्रह्माण्ड में व्याप्त) और 3. व्यष्टिरूप (प्राणी मात्र में स्थित)।

''अध्यात्म'' - अर्थात सोलह कलायुक्त, आत्मा में प्रकट होता, सूक्ष्म, इंद्रियों सहित मन का रूप अथवा स्वभाव। स्वभाव को 'अध्यात्म' कहा जाता है। जो आत्मा में प्रकटे वह अध्यात्म। स्वभाव की आत्मा में स्थिति होने से उसको अध्यात्म कहा जाता है। पञ्च महाभूतों का भाव अर्थात भौतिक शरीर, उसका उद्भव अथवा उत्पत्ति करनेवाले विसर्ग अथवा आहुति को कर्म कहा जाता है।'' अग्नि में डाली हुई आहुति भली-भांति आदित्य को पहुँचती है।'' ''पञ्चम आहुति में पानी पुरूष रूप होता है।'' -आदि-आदि, श्रुतियों में कहा गया होने से आहुति से उत्पत्ति होती है। इस प्रकार उत्पत्ति करना उसका स्वभाव होने से उसे (आहुति को) कर्म कहा गया है।

अधिभूतं क्षरोभावः पुरूषश्चाधिदैवतम् ।।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।। 4 ।।

अन्वय :

क्षरोभावः - उत्पन्न और नष्ट होने वाले पदार्थ; नाम, प्र.ए.व.पु.
अधिभूतम् - अधिभूत; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
अस्ति, च - है; क्रि.तृ.पु.ए.व.वर्त.का. 'अस्' और
पुरुषः - पुरुष, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, व; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पुरुष'
अधिदैवतम् - अधिदेव, विष्णुरूप; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अधिदैवत'
अस्ति - है; क्रि.तृ.पु.ए.व. वर्त.का. 'अस्'
देहभृताम् - देहधारियों के ; नाम,ष.ब.व.पु. 'देहभृत्'

वर - श्रेष्ठ; नाम, संबोधन।
अत्र - यहाँ; अव्यय
देहे - देह में ; नाम, स.ए.व. 'देह'
अहम् - मैं; वासुदेव; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'अस्मत्'
एव- ही; अव्यय।
अधियज्ञः - अधियज्ञ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अधियज्ञ'
अस्ति - हूँ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : क्षर भाव अधिभूत है और पुरूष अधिदैवत है। हे प्राणियों में श्रेष्ठ ! यहाँ, देह में अधियज्ञ मैं ही हूँ।

विवेचन : क्षर भाव अथवा क्षरण अर्थात नाश को प्राप्त होना या विकारयुक्त होना जिसका स्वभाव है वह भौतिक पदार्थ। तृण से लेकर विराट पर्यंत सभी पदार्थ जिनकी बार-बार उत्पत्ति आदि होती है, वे अधिभूत हैं। तदुपरान्त पुरूष अर्थात जीव - आत्मा, सर्वत्र अधिदैव है। शब्दादि का भोक्ता होने से आत्मा अधिदैव है। 'च - और' शब्द से सूर्यादि अधिदेवों का समावेश होता है। अधियज्ञ कौन? इस प्रकार पूछे जाने पर उत्तर देते हैं कि : अधियज्ञ मैं हूँ। यज्ञों का अधिष्ठाता अवयवी, यज्ञों से आराध्य परमात्मा मैं अधियज्ञ हूँ। सब के देह में 'मैं' अधियज्ञ हूँ। देह में अर्थात सब प्राणियों के शरीर में स्थित अन्तर्यामी मैं हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्रसंशयः ।।5 ।।

अन्वयः

च - और; अव्यय।
यः -जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
अन्तकाले - मृत्यु के समय; नाम, स.ए.व.पु. ।
माम् एव - मुझको ही; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'अस्मत्'

स्मरन् - स्मरण करते हुए; व.कृ.विशेषण,वि. 'यः'।
कलेवरम् - शरीर को (हिलाना); नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'कलेवरम्'
मुक्त्वा - छोड़कर; विधेय कृदन्त 'मुच्'
प्रयाति - जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. प्र+या 2 गण परस्मै
सः -वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्'
मद्भावम् - मेरे स्वरूप को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
याति - प्राप्त करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'या' 2गण, परस्मै ।
अत्र - यहाँ; अव्यय
संशय - संशय; नाम, प्र.ए.व.पु.
न - नहीं; अव्यय
अस्ति - है; क्रि.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण परस्मै

श्लोकार्थ : अंतकाल में मेरा स्मरण करते हुए जो शरीर त्यागता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है। इसमें संशय नहीं।

विवेचन : ''प्रयाण काल(अंतिम समय में)में आप किस प्रकार प्रकट होते हैं?'' इस प्रश्न का अब उत्तर देते हैं। मंत्र उपासना आदि से जिसका स्पर्श भी संभव नहीं है ऐसा पूर्णानन्द लीलापुरूषोत्तम मैं हूँ। ऐसे मुझ को ही जो भक्तिमान् योगी अन्तकाल में स्मरण करते हैं, अन्य किसी में भी चित्त न रखते हुए केवल मेरा स्मरण करते-करते देह त्याग करते हैं, वे मेरे भाव को प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित : ।। 6।।

अन्वयः
कौन्तेय - अर्जुन; सम्बोधन।
अन्ते - प्रयाण काल में, अन्त काल में; नाम, स.ए.व.पु.
यम् - यम्-जो - जो ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'यद्'।

वा.अपि - अथवा, भी; अव्यय
भावम् - भाव का, वृत्ति से उत्पन्न हुआ; नाम,द्वि.ए.व.पु. 'भाव'।
स्मरन् -स्मरण करते हुए; व.कृ.विशेषण, वि. 'जनः'
कलेवरम् - शरीर को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।
त्यजति - छोडता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'त्यज्' 1गण, परस्मै
सदा - हमेशा; अव्यय।
तद्भावभावितः - उस भाव से भावित हुआ, उस भाव को चित्तवत करनेवाला; विशेषण, वि. 'जनः''तेन भावेन भावितः इति''तत्पु.।
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तत्'
तम् - तम् - उस - उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तत्'।
एव - ही; मात्र; अव्यय
एति - प्राप्त होता है, जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'इ' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अथवा हे कौन्तेय ! अन्त में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है वह सदा उसी भाव की भावना वाला होने से उसको ही प्राप्त होता है।

विवेचन : अंतकाल में मेरा ही स्मरण करने वाला मेरे भाव को प्राप्त होता है। इतना ही नियम नहीं है बल्कि जो-जो मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर छोडता है वह सदा उसी भाव की भावना वाला होने से उस भाव को प्राप्त होता है। जैसे भरत ने मृग का स्मरण करते हुए देह त्याग किया था अतः वे मृग हो गए थे। यही सामान्य नियम है। अतः अन्तकाल में अन्य किसी का स्मरण न करते हुए मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोडना उत्तम है। श्री भागवत् के श्लोक 2/1/16के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युद्ध्य च ।।
मय्यर्पित-मनो-बुद्धिः मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।7।।

अन्वयः

तस्मात् - इसलिए; अव्यय।

सर्वेषु - सब में; सर्वनाम, स.ब.व.पु.

कालेषु - काल में, समय में; नाम,स.ब.व.पु.।

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

अनुस्मर - स्मरण कर; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. अनु+स्मृ 1 गण, परस्मै

च - और; अव्यय

युद्ध्य - युद्ध कर; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'युध्' 4 गण

इत्थं - इस प्रकार से;

मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'

अर्पितमनोबुद्धिः - जिसने मन और बुद्धि को अर्पित कर दिया है; **''अर्पितं मनः बुद्धिश्च येन''** बहुव्रीहि, विशेषण, वि. 'त्वम्'।

असंशयम् - संशय बिना; अव्यय।

माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

एव - ही; अव्यय।

एष्यसि - प्राप्त होगा,जाएगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'इ' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अतः सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। मुझ में मन और बुद्धि का अर्पण करके तू मुझे ही प्राप्त करेगा इसमें संशय नहीं है।

विवेचन : इस प्रकार, नियम होने से तू सब समय में ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' के रूप में मेरा ही स्मरण कर। इस प्रकार मेरा स्मरण करते हुए तू अपने स्वकर्म कर यह भी उत्तम है। अतः युद्ध कर। मुझ में मन तथा बुद्धि अर्पण कर अर्थात मुझ में ही संकल्प और व्यवसाय रख कर तू मुझे ही प्राप्त करेगा। इसमें कोई संशय नहीं है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।।
परमं पुरूषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।। 8।।

अन्वयः

पार्थ - हे अर्जुन; सम्बोधन।

अभ्यासयोगयुक्तेन - अभ्यास योग में युक्त होते हुए; विशेषण,वि. 'चेतसाः' ''अभ्यासः एव योगः तेन युक्तेन'' कर्मधारय।

न - नही; अव्यय

अन्यगामिना - अन्य किसी (के चिंतन में) जानेवाला; विशेषण, वि. 'चेतसा' ''अन्यत्र गच्छिति इति'' उपपद

चेतसा - चित्त से; नाम, तृ.ए.व. 'चेतस्'।

अनुचिन्तयन् - चिन्तन करने वाला; व.कृ.विशेषण, वि. 'जनः'

परमम् - परम (श्रेष्ठ); विशेषण, वि. 'पुरूषम्'।

दिव्यम् - दिव्य; 'दिविभवम्' तद्धित, विशेषण,वि. 'पुरूषम्'

पुरूषम् - पुरूष को; सर्वनाम, द्वि.ए.व.।

याति - जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'या' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पार्थ! अन्यत्र नहीं जाने वाला (अन्य किसी का भी चिन्तन नहीं करने वाला) और अभ्यास तथा योग से युक्त चित्त से परम दिव्य पुरूष का चिन्तन करने वाला उसको पाता है।

विवेचन : अन्यत्र अर्थात विषय अथवा अक्षर आदि अन्य किसी का आश्रय न लेने वाला परन्तु अभ्यास से होते योग से स्थिर हुए चित्त से मात्र परम दिव्य पुरूष का चिन्तन करने वाला उसको प्राप्त होता है।

कविं पुराणम् अनुशासितारम् अणोरणीयान् समनुस्मरेद् यः ।।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।9।।

अन्वयः

यः -जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'।

कविम् - कवि; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'कवि'

पुराणम् - पुराण को; नाम, द्वि.ए.व.पु. विशेषण, वि. 'कविम्'।

अनुशासितारम् – **नियन्ता को**; विशेषण, वि. 'कविम्'
अणोः – **सूक्ष्म से**; नाम, पं.ए.व. 'अणु'।
अणीयांसम् – **अति सूक्ष्म को**; विशेषण, वि. 'कविम्'
सर्वस्य – **सबका**; सर्वनाम,ष.ए.व. नपु.' '।
धातारम् – **धारण करने वाला**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'धातृ'
अचिन्त्यरूपम् – **जिस रूप का चिन्तन न हो सके**; नाम, द्वि.ए.व.पु.
आदित्यवर्णम् – **सूर्य के प्रकाश जैसा जिसका वर्ण है**; विशेषण, वि. 'कविम्'
च – **और**; अव्यय
तमसः – **अंधकार से**; नाम, पं.ए.व.नपु. 'तमस्'
परस्तात् – **दूर**; अव्यय
अनुस्मरेत् – **स्मरण करता है**; विध्यर्थे, तृ.पु.ए.व. 'अनु+स्मृ' 1 गण

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।।
भ्रूवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरूषमुपैति दिव्यम् ।।10।।

अन्वयः
सः – **वह**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्'।
भक्त्या – **भक्ति से**; नाम, तृ.ए.व.स्त्री.
युक्तः – **युक्त(भक्ति से)**; विशेषण,वि. 'यः' भू.कृ.।
प्रयाणकाले – **मरण समय में**; नाम, स.ए.व.पु.
योग बलेन – **योग के बल से**; नाम,तृ.ए.व.पु. 'योगबल'।
भ्रूवोः –**दोनों भौहों के**; नाम,ष.द्वि.व.स्त्री. 'भ्रू'
मध्ये – **मध्य भाग में**; नाम, स.ए.व.नपु.।
प्राणम् – **प्राण को**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'प्राण'
सम्यक् – **अच्छी प्रकार से**; अव्यय ।
आवेश्य – **(शरीर) छोड़कर, स्थापन करके**; विधेय कृदंत
च – **और**; अव्यय।

अचलेन – **स्थिर**; विशेषण, वि. 'मनसा'
मनसा – **मन से**; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'मनस्'
स्मरन् – **स्मरण करता है**;
तम् – **उसको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तद्'।
दिव्यम् – **दिव्य**; विशेषण, वि. 'पुरूषम्'
परम् – **परम**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.' '
पुरूषम् – **पुरूष को**; नाम, द्वि.ए.व.पु.
एव – **ही**; अव्यय
उपैति – **प्राप्त होता है, समीप जाता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. उप+इ, 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जो प्रयाणकाल में भक्ति तथा योगबल से युक्त होकर दोनों भौंहों के बीच प्राण को भली-भांति रखकर अचल मन से पुराण कवि, अनुशासनकर्ता, अणु से भी सूक्ष्म, सब को धारण करने वाले, अचिंत्यरूपयुक्त, तमः से पर, आदित्यवर्ण वाले का स्मरण करता है वह, उस ''पर'' दिव्य पुरूष को प्राप्त होता है। वह 'पर' दिव्य पुरूष को प्राप्त होता है अर्थात उसके सामीप्य को प्राप्त करता है। सामीप्यरूप मुक्ति को प्राप्त करता है। (श्लोक 9,10)

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।11।।

अन्वयः
वेदविदः – **वेद को जानने वाले, विद्वान**; नाम, प्र.ब.व.पु. 'वेदविद्'
यत् – **जो(परमपद)**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।
अक्षरम् – **अक्षर को, (ॐको)**; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'अक्षर'
वदन्ति – **कहते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'वद्' 1 गण, परस्मै
वीतरागाः – **आसक्ति रहित**; विशेषण, वि. 'यतयः' ''वीताः रागाः येभ्यः'' बहुव्रीहि

यतयः – **यति लोग, ऋषिगण;** नाम, प्र.ब.व.पु.।
यद् – **जो;** सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
विशन्ति – **प्रवेश करते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विश्' 6गण, परस्मै
च – **और;** अव्यय
यत् – **जो;** सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
इच्छन्तः – **इच्छा करते हुए;** व.कृ. विशेषण, वि. 'पुरूषः'।
ब्रह्मचर्यं – **ब्रह्मचर्य;** नाम, द्वि.ए.व.नपु.
चरन्ति – **आचरण करते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'चर्' 1 गण
तत् – **वह;** सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।
पदम् – **पद को;** नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'पद'
ते – **उसको;** सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मद्'।
संग्रहेण – **संग्रह से, संक्षेप में;** नाम, तृ.ए.व.पु. 'संग्रह'
प्रवक्ष्ये – **भली भांति कहूँगा;** क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. प्र+वच् 2 गण

श्लोकार्थ : वेद को जानने वाले जिसको अक्षर कहते हैं, जिनका राग दूर हो गया है वे यति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी इच्छा रखने वाले ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह पद मैं तुम्हारे लिए संक्षेप में कहूँगा।

विवेचन : पिछले श्लोक के अनुसार योग से अधियज्ञ की प्राप्ति होती है। ज्ञानियों को भी उसी की प्राप्ति होती है ऐसा कहकर उनको उपासक कहा है। उस मेरे अक्षर के स्वरूप को मैं तुम्हें संक्षेप से कहूँगा। उसको वेद जानने वाले ''अक्षर'' कहते हैं। ''हे गार्गी! यह वही अक्षर है'' – इत्यादि श्रुतियों में उसे अक्षर कहा गया है। इससे यह भावार्थ निकलता है कि वेद को जानने वाले अधिक से अधिक अक्षर तक पहुँच सकते हैं। जिनका राग दूर हो गया है वैसे यतिगण उसमें प्रवेश करते हैं अर्थात उस पद को प्राप्त करते हैं। उसकी ही इच्छा से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। मेरे चरण रूप होने से अक्षर को यहाँ 'पद' कहा गया है। ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/3/33 के संदर्भ में अणुभाष्य में इस श्लोक तथा तत्पश्चात 12,13,14 श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरूध्य च ।।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम् आस्थितो योगधारणम् ।। 12 ।।

अन्वय :
सर्वद्वाराणि – **इन्द्रियों के सम्पूर्ण द्वारों को;** नाम, द्वि.ब.व.नपु.।
संयम्य – **रोककर, विषयों से रोककर;** विधेय कृदन्त
मनः – **मन को;** द्वि.ए.व. 'मनस्' नपु.।
हृदि – **हृदय में;** नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'हृद्'
निरूध्य – **निरोध करके;** विधेय कृदन्त।
च – **और;** अव्यय
आत्मनः – **अपने;** नाम, ष.ए.व.पु. 'आत्मन्'।
प्राणम् –**प्राण को;** नाम, द्वि.ए.व.पु.
मूर्ध्नि – **तालू में, मस्तक में;** नाम, स.ए.व.पु. 'मूर्धन्'।
आधाय – **रखकर;** विधेय कृदन्त आ+धा 3 गण
योगधारणम् – **योग धारणा में;** नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'योग धारणा'
आस्थितः –**स्थिर हुआ;** विशेषण, वि. 'योगी' भू. कृ.

ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन् ।।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।। 13 ।।

अन्वयः
यः – **जो;** सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यद्'।
ओम् – **ओम्, अक्षर ब्रह्म, प्रणव;** नाम
इति – **इस प्रकार;** अव्यय।
एकाक्षरम् – **एक अक्षर स्वरूप को;** नाम, द्वि.ए.व.नपु.
ब्रह्म – **ब्रह्म को;** नाम, द्वि.ए.व.नपु.।
व्याहरन् – **उच्चारण करता हुआ;** व.कृ.विशेषण, वि. 'यः'
माम् – **मुझको;** सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।

अनुस्मरन् – चिन्तन करता हुआ; व.कृ.वि. 'यः'
देहम् – शरीर को; नाम। द्वि.ए.व.पु. 'देह'।
त्यजन् – छोडता हुआ; व.कृ.विशेषण, वि. 'यः'
प्रयाति – जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. प्र+या 2 गण ।
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्'
परमाम् – परम; श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'गतिम्'।
गतिम् – गति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'गति'
याति – प्राप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'या' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : (इन्द्रियों के) समस्त द्वारों का संयम कर, मन का हृदय में निरोध करके, अपने प्राण को मस्तक में रखकर, योगधारणा करते हुए, एकाक्षर ब्रह्म 'ॐ' का उच्चारण करते हुए और मेरा स्मरण करते हुए जो देहत्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

विवेचन : 'अक्षर' पद प्राप्त करने का उपाय, अंगसहित, इन दो श्लोक में कहते हैं। इसके अनुसार आचरण करने वाला गत श्लोक में जो ''पद'' बताया गया है, उस उत्तम गति को अर्थात अक्षर को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।।
तस्याहं सुलभः पार्थ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। 14।।

अन्वयः
पार्थ – अर्जुन; सम्बोधन ।
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
अनन्यचेताः – अनन्यचित से मुझ में स्थित; 'न अन्यत् चेतः यस्य इति' – बहुव्रीहि
नित्यशः सततम् – सदा निरन्तर; अव्यय।
माम् – मुझको; सर्वनाम,द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
स्मरति – स्मरण करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'स्मृ' 1गण, परस्मै।

तस्य – उस; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'तद्'
नित्ययुक्तस्य – सदैव मुझ में लगे हुए; विशेषण, वि. 'योगिनः'।
योगिनः – योगी का; नाम, ष.ए.व. 'योगिन्'
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
सुलभः – सुलभता से प्राप्त; विशेषण, वि. 'अहम्'

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! जो अनन्य चित्त वाला रहकर नित्य मेरा सतत स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ हूँ ।

विवेचन : 8,(9,10)11,(12,13) श्लोक से परमात्मा का चिन्तन करनेवाले को अक्षर की प्राप्ति होने के तीन प्रकार बताए। अब बताते हैं कि भक्तों को भगवान् की प्राप्ति किस प्रकार होती है। भगवान् के सिवा अन्य स्त्री-पुत्र आदि लौकिक विषय अथवा अक्षर आदि अलौकिक विषय में भी चित्त न रखते हुए जो मात्र भगवान् में ही अर्थात् मुझ में ही चित्त रखता है और निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है उस नित्ययुक्त अथवा मुझ में नित्य अनुराग रखने वाले योगी को निरूपम महिमा वाला पुरूषोत्तम भगवान् वासुदेव मैं भी सुलभ हूँ। भगवान् वासुदेव की जिसको प्राप्ति हो जाती है उसका पुनर्जन्म नहीं होता – ऐसा सदाचार से दर्शाते हैं।

माम् उपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम् अशाश्वतम् ।।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।15।।

अन्वयः
परमाम् – परम; विशेषण,वि. 'संसिद्धिम्'।
संसिद्धिम् – सिद्धि को; नाम, द्वि.ए.व.व.स्त्री. 'संसिद्धि'
गताः – प्राप्त, गए हुए; विशेषण, वि. 'महात्मानः'।
महात्मानः – महात्मा लोग; नाम, प्र.ब.व.पु. 'महात्मन्'
माम् – मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मद्'।
उपेत्य – प्राप्त करके; विधेय कृदन्त 'उप+इ'

दु:खालयम् - दु:ख का स्थान; द्वि.ए.व.नपु. विशेषण, वि. 'पुनर्जन्म' ''दु:खस्य आलयम्'' तत्पुरूष

अशाश्वतम् - जो सदैव रहने वाला नहीं है; 'न शाश्वतम् इति' नञ् तत्पु. विशेषण

पुनर्जन्म - पुनर्जन्म; नाम,द्वि.ए.व.नपु.।

न - नहीं; अव्यय

आप्नुवन्ति - प्राप्त करते हैं; क्रि.व.का.त्रि.पु.ब.व. 'आप्' 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : परम संसिद्धि को प्राप्त महात्मा लोगों का मुझे प्राप्त कर लेने के पश्चात दु:ख का स्थानरूप (घर रूप) अनित्य पुनर्जन्म नहीं होता ।

विवेचन : भगवान् के भक्तों और अन्य देवताओं के उपासकों में यह मुख्य भेद है। भगवान् के भक्तों को भगवान् की ही प्राप्ति होती है और उसके बाद उनका पुनर्जन्म नहीं होता। अन्य सब का पुनर्जन्म होता है।

आब्रह्मभुवनात् लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! ।।
माम् उपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते ।। 16।।

अन्वय:

अर्जुन - हे अर्जुन; सम्बोधन।

आब्रह्मभुवनात् - ब्रह्मलोक से प्रारम्भ करके; नाम, पं.ए.व.नपु.

लोका: - (सर्व)लोक; नाम, प्र.ब.व.पु. 'लोक'।

पुनरावर्तिन: - पुनरावृत्ति के स्वभाव वाले; विशेषण, वि. 'लोका:'

सन्ति - हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'।

तु - तो भी; अव्यय

कौन्तेय - अर्जुन; सम्बोधन।

माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

उपेत्य - प्राप्त करके; विधेय कृदन्त, 'उप+इ' 2गण, परस्मै

पुनर्जन्म - पुनर्जन्म; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।

न - नहीं; अव्यय

विद्यते - होता है; क्रि.व.कर्मणि तृ.पु.ए.व. 'विद्' 6गण

श्लोकार्थ : हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोकों की पुनरावृत्ति होती है; परन्तु हे कौन्तेय ! मुझे प्राप्त कर लेने के पश्चात पुनर्जन्म नहीं होता।

विवेचन : ब्रह्मभुवन तक सब लोकों का पुनर्जन्म होता है परन्तु जो मुझे प्राप्त करते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। यह बात निश्चित है, इसमें कोई संशय नहीं; ऐसा दर्शाने के लिए पुन: कहते है। ब्रह्मसूत्र के सूत्र 4/1/2 तथा 4/3/1 के संदर्भ में अणुभाष्य मे और श्री भागवत् के अध्याय 1/7/22, 2/2/8, 2/2/31 3/19/15 तथा 10/20/29 के संदर्भ में सुबोधिनी में इस श्लोक का अनुसंधान किया गया है।

सहस्त्रयुगपर्यन्तम् अहर् यद् ब्रह्मणो विदु: ।।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना: ।। 17।।

अन्वय:

ब्रह्मण: - ब्रह्म को; नाम, ष.ए.व.नपु. ।

यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।

अह: -दिवस; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।

सहस्त्रायुगपर्यन्तम् - हजार चतुर्यगों का; विशेषण, वि. 'अह:'

च - और; अव्यय।

युगसहस्त्रान्ताम् - हजार चतुर्युग की अवधि वाली; विशेषण, वि. 'रात्रिम्'

रात्रिम् - रात्रि को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'रात्रि' ।

ये जना: -जो लोग

विदु: - जानते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2गण ।

ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'

अहोरात्रविद: - दिवस और रात्रि को जानने वाले; काल तत्व को समझने वाले; विशेषण, वि. 'जना:'

जनाः - मनुष्य; नाम, प्र.ब.व.पु. 'जन'
सन्ति - हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : जो सहस्त्र महायुग तक के ब्रह्मा के दिवस और सहस्त्र महायुग की रात्रि को जानते हैं वे अहोरात्र को जानने वाले है।

विवेचन : ब्रह्मभुवन तक के लोगों की पुनरावृत्ति कैसे होती है? शंका को दूर करने के लिए ब्रह्मा के दिवस और रात्रि का परिणाम बताते हैं। मनुष्य के 4,32,000 वर्ष का कलियुग होता है। उससे दुगुना द्वापर युग, उससे तिगुना त्रेता युग और चार गुना कृत युग है। अतः चार युग मिलकर मनुष्य के 43,20,000 वर्ष होते हैं। उसको महायुग कहते हैं। इस प्रकार 1000 महायुग का ब्रह्मा का एक दिवस और उतनी ही रात्रि होती है। रात्रि दिवस मिलकर एक दिवस हुआ। इस प्रकार से दिवस गणना करने पर ब्रह्मा की 100 वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर ब्रह्मा का भी लय हो जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म लोक प्राप्त करने वाले का लय हो जाए तो आश्चर्य क्या है? इस श्लोक से लेकर 22वे श्लोक तक, सभी श्लोकों का अनुसंधान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/3/33 के संदर्भ में अणुभाष्य में किया गया है।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ।। 18।।

अन्वयः
सर्वाः -सब; नाम, प्र.ब.व.स्त्री. 'सर्व'।
व्यक्तयः - दृश्य पदार्थ; नाम, प्र.ब.व.स्त्री. 'व्यक्ति'
अहरागमे - ब्रह्मा का दिन होता है तब; नाम, स.ए.व.पु.
अव्यक्तात् - अव्यक्त; ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से; विशेषण, वि. 'ब्रह्मणः'
प्रभवन्ति - उत्पन्न होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. प्र.+भू 1 गण, परस्मै।
च - और; अव्यय
रात्र्यागमे - ब्रह्मा की रात्रि होती है तब; नाम, स.ए.व.पु.
तत्रैव - तब ही; अव्यय

अव्यक्तसञ्ज्ञके - अव्यक्त संज्ञा वाले ब्रह्मा में; नाम, स.ए.व.
प्रलीयन्ते - प्रलय होता है; क्रि.व.कर्मणि तृ.पु.ब.व. प्र+लि 9 गण

श्लोकार्थ : दिन होने पर अव्यक्त में से व्यक्तियों का प्रभव होता है। रात्रि होने पर उसी अव्यक्त में उनका लय हो जाता है।

विवेचन : जब ब्रह्मा का दिन होता है तब भगवान् के चरणरूप अव्यक्त अक्षर में से समष्टि के मूलभूत और उनकी प्रकृति के साथ उत्पन्न हुए परमेष्ठी ब्रह्मा में से देव,मनुष्य,कीट,तृण आदि स्थावर जंगम सभी व्यक्ति प्रकट होते हैं और जब ब्रह्मा की रात्रि होती है तब उसी अव्यक्त अक्षर में वे सब व्यक्ति लीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते ।।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ।। 19।।

अन्वयः
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्'।
एव - ही, मात्र; अव्यय
अयम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'इदम्'।
भूतग्रामः - भूतों का समुदाय; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भूतग्रामः'
भूत्वा - भूत्वा-(उत्पन्न)हो-होकर; विधेय कृदन्त।
अवशः - परवश; विशेषण,वि. 'भूतग्रामः'
राज्यागमे - ब्रह्मा की रात्रि आने पर; नाम, स.ए.व. ।
प्रलीयते - लय होता है; क्रि.व.का. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. प्र+ली, 9 गण।
च - और; अव्यय
अहरागमे - ब्रह्मा का दिन आने पर; नाम, स.ए.व.
प्रभवति - उत्पन्न होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. प्र+भू 1 गण परस्मै
पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! वही इन भूतों का समूह प्रकट होकर रात्रि होने पर परवश होने से लीन हो जाता है और दिवस होने पर प्रकट होता है।

विवेचन : यही भूतों का समूह प्रकृति के गुणों के परवश होने से जब-जब ब्रह्मा का दिवस होता है तब-तब प्रकट होता है और जब-जब ब्रह्मा की रात्रि होती है तब-तब लय को प्राप्त होता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात् सनातनः ।।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।। 20।।

अन्वयः

तु - परन्तु; अव्यय।
तस्मात् - उस; सर्वनाम, पं.ए.व. 'तद्'
व्यक्तात् - व्यक्त से; नाम, पं.ए.व.पु.।
अपि - भी; अव्यय
परः - आगे का, श्रेष्ठ; विशेषण,वि. 'भावः'
अन्यः -दूसरा; विशेषण,वि. 'भावः'
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।
सनातनः अव्यक्तः - शाश्वत अव्यक्त; विशेषण, वि. 'भावः'
भावः - भाव; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भाव'।
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु
सर्वेषु - समस्त; सर्वनाम, स.ब.व.पु.।
भूतेषु - भूतों में; नाम, स.ब.व.पु.
नश्यत्सु - नष्ट होने वालों में; विशेषण, वि. 'भूतेषु'।
अपि न - भी नहीं; अव्यय
विनश्यति - नाश को प्राप्त होता है; क्रि.व.का.त्रि.पु.ए.व. 'वि+नश्' 4 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : परन्तु वह व्यक्त से पर अन्य सनातन अव्यक्त भाव है जो सर्व भूतों के नष्ट होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता।

विवेचन : पुनः-पुनः व्यक्त अथवा प्रकट होते रहने से इसको व्यक्त भाव कहा गया है। उसमें ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोकों का समावेश हो जाता है। यह भाव क्षर है क्योंकि उसका पुनः - पुनः लय होता है। इस व्यक्त क्षर भाव से पर अथवा गुणातीत अन्य सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त भूतों का नाश होने पर भी गुणातीत अव्यक्त भाव का नाश नहीं होता। यह अव्यक्त भाव सनातन होने से अनादिसिद्ध है; 'पर' अर्थात गुणातीत अथवा सर्वोत्तम है। सब भूतों का नाश होने पर भी इस सर्वोत्तम भाव में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

अव्यक्तो 'ऽक्षर' इत्युक्तः तमाहुः परमां गतिम् ।।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। 21।।

अन्वयः

यम् - जिसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'यत्'।
प्राप्य - प्राप्त होने पर; विधेय कृदन्त
जनाः - लोग; ।
न - नही; अव्यय
निवर्तन्ते - लौटकर आते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'नि+वृत्' 1 गण, आत्मने
तत् - वह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।
मम् - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
परमम् - परम; विशेषण, वि. 'धाम'।
धाम - धाम; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'धामन्'
अव्यक्तः - अव्यक्त; विशेषण, वि. 'अक्षरः'।
अक्षरः - अक्षर; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अक्षर'।
इति - इस प्रकार; अव्यय ।
उक्तः - कहा हुआ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'अक्षरः'।

ज्ञानिनः - ज्ञानीजन;
तम् - उसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.
परमाम् - परम; विशेषण,वि. 'गतिम्'।
गतिम् - गति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
आहुः - कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'ब्रू' 2 गण

श्लोकार्थ : अव्यक्त को 'अक्षर' कहा है। उसको परम गति कहा है। उसको प्राप्त करने के पश्चात पुनः लौटते नहीं हैं। वह मेरा परम धाम है।

विवेचन : इस अव्यक्त को 'अक्षर' कहते हैं कारण कि वह मेरा चरणांशरूप होने से उसमें विकार नहीं आते। उसे ही परम गति कहते है; कारण कि उस अक्षर को प्राप्त करने के पश्चात कोई संसार में लौट कर नहीं आता। इस अक्षर का माहात्म्य मेरे संबंध के कारण है- यह बताने के लिए कहते हैं कि वह अक्षर मेरा परम धाम है। मेरे धाम से पुनः संसार में आना नहीं होता। यहाँ ''अव्यक्त'', अक्षर ब्रह्म को कहा गया है; उसका अर्थ जीव अथवा प्रकृति नहीं हो सकता क्योंकि जीव अथवा प्रकृति को 'परम गति' नहीं कहा जा सकता। जीव अथवा प्रकृति को प्राप्त करके पुनः जन्म नहीं होता- ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इस अक्षर की प्राप्ति के लिए ऊपर बताए साधन आवश्यक हैं परंतु मेरी प्राप्ति मात्र अहैतुकी भक्ति से ही होती है- यह कहने का तात्पर्य है।

पुरूषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यः त्वनन्यया ।।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वं इदं ततम् ।।22।।

अन्वयः
पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन।
यस्य - जिसका; सर्वनाम, ष.ए.व. 'यद्'
अंतःस्थानि - अन्दर स्थित (अन्तर् में); विशेषण, वि. 'भूतानि'
भूतानि- भूत; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'भूत'।
च - और; अव्यय

येन- जिसके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु. यत्।
इदम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'इदम्'
सर्वम् - सम्पूर्ण; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'सर्व'।
ततम् - फैला हुआ ,व्याप्त; भू.कृ.विशेषण, वि. 'इदम्' 'तन्' 8 गण
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्' ।
परः - श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'पुरूषः'
पुरूषः - पुरूष; नाम, प्र.ए.व.पु.।
तु - परन्तु; अव्यय
अनन्यया - अनन्य (से , के द्वारा); विशेषण, वि. 'भक्त्या'
भक्त्या - भक्ति से; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'भक्ति'
लभ्यः - मिलने , प्राप्त होने योग्य है; विधेय कर्मणि कृदन्त, विशेषण, वि. 'पुरूषः'

श्लोकार्थ : परन्तु हे पार्थ ! अनन्य भक्ति से लभ्य पुरूष पर (पुरूषोत्तम) है। उसी के अंतःस्थ भूत हैं। उसी से यह संपूर्ण (जगत्) व्याप्त है।

विवेचन : अक्षर जिसका धाम है वह पर पुरूष अनन्य भक्ति से प्राप्य है। अतः ज्ञानियों को मात्र अक्षर की ही प्राप्ति होती है; पर (परम) पुरूष की नहीं। मात्र अनन्य भक्तों को ही पर पुरूष की प्राप्ति होती है। इस परपुरूष के लक्षण बताते हैं कि उसके अंदर सब भूत स्थित हैं। अक्षर सहित सब भूत उसमें स्थित हैं। यह मृदा भक्षण प्रसंग में सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त उस परपुरूष से यह सर्व (जगत्) व्याप्त है। मैं वही परपुरूष हूँ। परिच्छिन्न दिखाई देने के बावजूद सर्वव्यापी रूप से स्थित हूँ। यह दामोदर लीला में सिद्ध हो चुका है।

यत्र काले त्वनावृत्तिम् आवृतिं चैव योगिनः ।।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! ।।23।।

अन्वयः
तु - और; अव्यय।

यत्र – जहां, जिस गतिमार्ग में; अव्यय
काले – वक़्त में, समय में, गति में, मार्ग; नाम, स.ए.व.पु. ।
प्रयाताः – गए हुए; भू.कृ.विशेषण,वि. 'योगिनः'
योगिनः – योगीजन; नाम, प्र.ब.व.पु. 'योगिन्' ।
अनावृत्तिम् – जो लौटकर नहीं आते; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'अनावृत्ति'
च – और; अव्यय।
आवृत्तिम – जो लौटकर आते हैं; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
एव – ही, मात्र; अव्यय ।
यान्ति – जाते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2गण परस्मै
भरतर्षभ – अर्जुन; सम्बोधन ।
तम् – उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'तद्'
कालम् – काल गति को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'काल'
वक्ष्यामि – मैं कहूँगा; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भरतर्षभ ! जिस काल में प्रयाण करने वाले योगीजन अनावृत्ति और आवृत्ति को प्राप्त होते हैं वह काल कहता हूँ।

विवेचन : किस – किस मार्ग से जाने वाले योगियों का पुनर्जन्म नहीं होता और किस – किस मार्ग से जाने वाले योगियों का पुनर्जन्म होता है वह बताते हैं। जिस काल में प्रयाण करने वाले अर्थात प्राण त्याग करने वाले योगी अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं और जिस काल में प्राण त्याग करने वाले योगी आवृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात पुनर्जन्म पाते हैं वह कहता हूँ । यहाँ काल शब्द से – 1. समय और 2. दिवस से प्रारम्भ होने वाले संवत्सर तक काल के अभिमानी देवता जिस मार्ग से जीव को ले जाते हैं उस मार्ग के बारे में समझाते हैं।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।24।।

अन्वयः
ज्योतिः – प्रकाश; नाम, प्र.ए.व.पु. 'ज्योति'
अग्निः – अग्नि; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अग्नि'
च – और; अव्यय ।
अहः – दिवस; ''दिवस का अभिमानी देवता'' नाम, प्र.ए.व.नपु.
अस्ति – है; क्रि.वर्त. का. तृ.पु.ए.व. 'अस्' ।
शुक्लः – शुक्ल पक्ष, सुद; नाम, प्र.ए.व.पु. 'शुक्ल'
अपि अस्ति च – भी है और; अव्यय, क्रियापद।
षण्मासाः – उत्तरायण के छह महीने; नाम.प्र.ब.व.पु. 'षण्मास'
उत्तरायणम् –उत्तरायण; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'उत्तरायण'।
अपि अस्ति – भी है; क्रियापद
तत्र – वहाँ, उस काल मार्ग में; अव्यय ।
प्रयाताः – गए हुए; विशेषण, वि. 'जनाः'
ब्रह्मविदः – ब्रह्म को जानने वाले; विशेषण, वि. 'जनाः'
जनाः – मनुष्य; नाम, प्र.ब.व.पु. 'जन'
ब्रह्म – ब्रह्म को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
गच्छन्ति – जाते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'गम्' 1 गण परस्मै

श्लोकार्थ : अग्नि, ज्योतिः, दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छह मास में प्रयाण करने वाले ब्रह्म को जाननेवाले पुरूष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

विवेचन : उक्त समय में प्रयाण करने वाले, निष्काम कर्म करने वाले, ब्रह्मवेत्ता योगीजन को अक्षरब्रह्म क्रममुक्ति से प्राप्त होता है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर् योगी प्राप्य निवर्तते ।।25।।

अन्वयः
धूमः – धुआँ,धूम – 'देवता'; नाम, प्र.ए.व.पु. 'धूम'।

रात्रिः – **रात्रि 'देवता'** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'रात्रि'
तथा – **और**; अव्यय।
कृष्णः – **कृष्ण पक्ष 'अभिमानी देवता**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'कृष्ण'
षण्मासाः – **दक्षिणायन के छह मास का अभिमानी देवता**; नाम, प्र.ब.व.पु.
दक्षिणायनम् – **दक्षिणायन**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'दक्षिणायन'।
अपि अस्ति – **भी है**; अव्यय, क्रियापद
तत्र – **वहाँ, उस काल गति में**; अव्यय
गतः – **गया हुआ**; भू.कृदन्त
योगी – **योगी**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।
चांद्रमसम् – **चंद्रमा संबंधी**; विशेषण, द्वि.ए.व.वि. 'ज्योतिः'
ज्योतिः – **प्रकाश**; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'ज्योति'।
प्राप्य – **प्राप्त होकर**; विधेय कृदन्त
निवर्तते – **लौटकर आता है**; क्रि.व.का.त्रि.पु.ए.व. नि+वृत् 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छह मास में प्रयाण करने वाला योगी चंद्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर लौट कर आता है।

विवेचन : उक्त समय में प्रयाण करने वाला सकाम कर्म करने वाला योगी चंद्रलोक में सुख भोगकर पुनः जन्म लेता है। अतः भगवान् को अर्पण करके निष्काम भाव से कर्म करने वाले को भगवान् की सात्विक उपासना से सात्विक क्रममुक्ति प्राप्त होती है। काम्य कर्म करने वाले को चंद्रलोक की प्राप्ति होती है। वहाँ सुख भोग लेने पर पुनः उसकी आवृत्ति होती है। निषिद्ध कर्म करने वाले को नरक की प्राप्ति होती है। वहाँ दुख भोगने के पश्चात पुनः उसकी आवृति होती है और क्षुद्र कर्म करने वाले जंतुओं का यहीं पुनः – पुनः जन्म हुआ करता है। ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/1/1 के संदर्भ में अणुभाष्य में इस श्लोक का अनुसंधान हुआ है।

शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।।
एकया यात्यनावृत्तिम् अन्ययाऽऽवर्तते पुनः ।।26।।

अन्वय :
हि – **निश्चय**; अव्यय।
जगतः – **जगत का**; नाम, ष.ए.व.नपु. 'जगत्'
एते – **ये दोनों**; सर्वनाम, प्र.द्वि.व.स्त्री. 'एतद्'
शुक्लकृष्णे – **शुक्ल और कृष्ण, शुक्ल = देवयान, कृष्ण = पितृयान**; नाम, प्र.द्वि.व.स्त्री. 'शुक्लकृष्णा'
''शुक्ला च कृष्णा च इति शुक्लकृष्णे'' द्वंद्व समास
गती – **दो मार्ग**; नाम, प्र.द्वि.व.स्त्री. 'गति'।
शाश्वते – **सनातन**; विशेषण, वि. 'गती'
मते – **माने गए, मानी गई**; भू.कृ.विशेषण, वि. 'गती'।
एकया – **एकगतिसे** ; सर्वनाम,तृ.ए.व. स्त्री.
अनावृत्तिम् – **लौटकर न आने वाली गति को**; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'अनावृत्ति'
याति – **प्राप्त होता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'या' 2 गण,परस्मै
अन्यया – **दूसरी के द्वारा**; सर्वनाम, तृ.ए.व.स्त्री.।
गतः जीवः – **गया हुआ जीव**;
पुनः – **फिर से**; अव्यय
आवर्तते – **लौटकर आता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. आ+वृत् 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : जगत की ये शुक्ल और कृष्ण गतियाँ शाश्वत मानी गई हैं। एक से अनावृत्ति प्राप्त होती है और दूसरी से पुनः आवर्तन (पुनर्जन्म) प्राप्त होता है।

विवेचन : दोनों मार्ग का उपसंहार करते हैं। जगत की ये शुक्ल और कृष्ण गतियाँ नित्य हैं। शुक्ल मार्ग से अनावृत्ति प्राप्त होती है और कृष्ण मार्ग से पुनः आवृत्ति होती है।

विशेष : कुछेक का मानना है कि मृत्यु अपने हाथ में है और तदनुसार साधक काल को सिद्ध कर लेता है। यह एक विचारणीय विषय है। ऐसा सर्वत्र अनुभूत नहीं होता लेकिन यह समझ में आता है कि कोई नियंता होना चाहिए जो जीवों के कर्मों की देख-रेख करता हो और फल भी प्रदान करता हो। इस नियंता को ईश्वर के रूप में पहचाना जाता है। (जीव की) मृत्यु के समय ईश्वर अपना भाव यमस्वरूप बनाता है इस कारण से यम को नियंता के रूप में माना गया। काल की सत्ता भी नियामक मानी गई है। इससे (सुयोग) अनुकूल काल में मृत्यु होने पर काल साधक बन जाता है और विपरीत काल में मृत्यु होने पर जीव को काल बाधक बन जाता है। दैवी काल उत्तरायण से छह माह तक माना जाता है और दक्षिणायन के छह महीने पितृ काल के माने गए हैं। देवकाल में प्रकाश के तत्व अधिक प्रमाण में होते हैं अत: उसको सुयोग माना गया है और दक्षिणायन में प्रकाश के तत्व कम होने से उसको विपरीत काल कहा गया है। अत: उत्तरायण का तात्पर्य देव गति और दक्षिणायन का तात्पर्य पितृ गति से लिया गया है। विशेष में निष्काम कर्म करने वाले की अर्चिदादि (अर्चिष=प्रकाश=देवगति) मार्ग में गति होती है। सकाम कर्म करने वाले की गति सोम अथवा पितृ मार्ग में होती है। पितृ मार्ग में और स्वर्गपर्यन्त सुख भोगने के पश्चात पुन: आना (पुनर्जन्म) पड़ता है। निष्काम कर्म करने वाले को फल की लालसा न होने से वह मोक्ष तक अर्थात ब्रह्मलोक तक जाता है। यद्यपि किसी के भी प्रयाण के बारे में निश्चित रूप से नहीं आँका जा सकता फिर भी एक साधारण समझ प्रदान करने वाला ज्ञान इस श्लोक से मिल जाता है। जिसको किसी भी प्रकार की कामना नहीं होती ऐसा ज्ञानी अथवा भक्त चाहे शुक्ल पक्ष में प्रयाण करे अथवा कृष्ण पक्ष में, उसकी गति तो मात्र भगवदधीन होने से उसकी व्यवस्था भगवान् ही कर लेंगे। इसके अतिरिक्त उसको किसी भी प्रकार का मोह न होने से सदैव उसकी सद्गति ही बनी रहेगी।

काल भगवान् देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र और कर्म इन छह से अपनी योजना करते हैं। तात्पर्य कि काल का असर इन छह पर होता है। जैसा

- जैसा काल वैसे ये छह बन जाते हैं। अनुकूल काल में ये सब अच्छे हो जाते हैं और निर्बल काल में ये सब निर्बल हो जाते हैं।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगभक्तो भवार्जुन ! ।। 27।।

अन्वय:
पार्थ - अर्जुन; सम्बोधन।
एते - इन दोनों; सर्वनाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
सृती - संसार के दो मार्गों को; नाम, द्वि.द्वि.व.स्त्री.।
जानन् - जानने वाला; व.कृ.विशेषण, वि. 'योगी'
कश्चन - कोई भी; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
योगी - योगी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'
न - नहीं; अव्यय
मुह्यति - मोह को प्राप्त होता है; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'मुह्' 4 गण
तस्मात् - इसलिए, इसके लिए; अव्यय।
अर्जुन - अर्जुन; सम्बोधन
त्वम् - तू; सर्वनाम; तृ.पु.ए.व. 'युष्मद्' ।
सर्वेषु - सब; सर्वनाम, विशेषण, वि. 'कालेषु'
कालेषु - समय में; नाम, स.ब.व.पु. ।
योगयुक्त: - योगयुक्त''समत्व बुद्धियुक्त योग वाला''; विशेषण, वि. 'योगी'
भव - हो जाओ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों को जानने वाले किसी भी योगी को मोह नहीं होता। अत: हे अर्जुन ! सभी समय में अर्थात सदैव योगयुक्त रहो।

विवेचन : इन दोनों मार्ग के ज्ञान का फल कहते हुए योग का उपदेश करते हैं। मात्र प्रयाणकाल में ही योग धारण न करके सदैव योगयुक्त होना अपेक्षित है। क्योंकि योग की नित्य अपेक्षा है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।28।।

अन्वयः

योगी – योगी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'।
इदम् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'इदम्'
विदित्वा – जानकर; विधेय कृदन्त ।
वेदेषु – वेदों में, वेदाध्ययन में; नाम, स.ब.व.पु. 'वेद'
च – और; अव्यय
यज्ञेषु – यज्ञ करने में; नाम, स.ब.व.पु. 'यज्ञ'
तपःसु – तप करने में; नाम,स.ब.व.नपु. 'तपस्'
च – और; अव्यय
दानेषु – दान करने में; नाम, स.ब.व.नपु. 'दान'
यत् – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
पुण्यफलम् – पुण्यफल को; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
प्रदिष्टम् - कहे गए हैं; भू.कृ.विशेषण, वि. 'पुण्यफलम्'
तत् – उन; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'तत्'
सर्वम् – सम्पूर्ण; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'सर्व'
एव – ही; अव्यय।
अत्येति – अतिक्रमण कर जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. अति+इ 2 गण
च – और; अव्यय ।
आद्यम् – मूल, प्रथम,मुख्य; विशेषण, वि. 'स्थानम्'
परम – श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'स्थानम्'।
स्थानम् – स्थान को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'स्थान'
उपैति – प्राप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. उप+इ 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : वेदों में, यज्ञों में, तप में और दान में पुण्य के जो फल कहे गए हैं, उन सबको जानकर योगी अतिक्रमण करता है और पर (परम) आद्यस्थान को प्राप्त करता है।

विवेचन : वेदादिक में पुण्य के ऐहिक अथवा पारलौकिक फल कहे गए हैं। उनका योगी इस अध्याय में कहे गए उपदेशों को जान कर अतिक्रमण करता है। अर्थात उस फल से अधिक फल प्राप्त होने की इच्छा वह नहीं करता और इस अध्याय में आठ प्रश्नों का निर्णय करके जो कहा गया है उसका ज्ञान प्राप्त होने से वह आद्य अर्थात जगत के मूलभूत पर (परम) स्थान भगवद्धाम को प्राप्त करता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'अक्षरब्रह्मयोगो' नाम
अष्टमोध्यायः ।।8।।

।। अध्याय 9 ।।

राजविद्याराजगुह्य योग

महापतित को भी पावन करने वाले भगवान् इस नवें अध्याय में, उत्तम भक्ति जिसमें रही हुई है ऐसे अपने अक्षर के ऐश्वर्य का ज्ञान, विज्ञान सहित कहते हैं। आठवें अध्याय में भगवान् ने अपनी महिमा बताकर यह भी सूचित किया है कि वे स्वयं सब से उत्तम हैं और योग निष्पन्न ज्ञानी को भी मात्र भक्ति से ही उनकी प्राप्ति होती है। अब इस नवें अध्याय में भगवान् अपने अक्षर के ऐश्वर्य की महिमा के ज्ञान द्वारा अपनी भक्ति के असाधारण माहात्म्य तथा महापतित को भी पावन करने की शक्ति के बारे में बताते हैं।

श्रीभगवान् उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।।
ज्ञानंविज्ञानसहितंयज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ।।1 ।।

अन्वय :

ते (तुभ्यम्)- तुझे, तेरे लिए; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मद्'

अनसूयवे - ईर्ष्या के बिना; विशेषण, वि. 'ते' ''अनसूयः = न विद्यते असूया यस्मिन् इति'' बहुव्रीहि

इदम् - यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।

गुह्यतमम् - अतिगुह्य; विशेषण, भवि. 'ज्ञानम्'।

ज्ञानम् - ज्ञान को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।

विज्ञानसहितम् - विज्ञानसहित; विशेषण, वि. ''ज्ञानम्''

प्रवक्ष्यामि - कहूँगा; क्रि.वि.प्र.पु.ए.व. प्र+वच् 2 गण, परस्मै।

तु - परंतु; अव्यय

यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.।

ज्ञात्वा - जानकर; विधेय कृदंत

अशुभात् - दुःख रूप संसार से; नाम, पं.ए.व.नपु. ''न शुभं विद्यते यस्मिन् इति'' बहुव्रीहि

मोक्ष्यसे- मुक्त हो जाएगा; क्रि.भ.काल, द्वि.पु.ए.व. 'मुच्' 6 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : परन्तु असूयारहित तुझको, यह अत्यन्त गुह्य ज्ञान, विज्ञान सहित कहूँगा। उसको जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जाएगा।

विवेचन : आठवें अध्याय में जिस ज्ञान का उल्लेख किया गया है उससे यह ज्ञान भिन्न है। यह दर्शाने के लिए 'तु = परन्तु' शब्द संयोजित किया गया है। आठवें अध्याय में उल्लिखित ज्ञान चार प्रकार के उपासकों का भेद बताने वाला था परन्तु यह अत्यन्त गुह्य ज्ञान भजनीय भगवान् की भक्ति का माहात्म्य दर्शाने वाला है। तू(अर्जुन) असूयारहित है इसलिए मेरे अपरिमित गुणों का माहात्म्य सुनकर ''ऐसा ही युक्तियुक्त है'' इस बात को मानता है अतः तुझे मेरे इस माहात्म्य के ज्ञान को विज्ञानसहित अर्थात मेरी भक्ति के विशेष ज्ञान सहित कहता हूँ। उसको सुनकर तू अशुभ अथवा मोह से मुक्त हो जाएगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रम् इदमुत्तमम् ।।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुम् अव्ययम् ।। 2 ।।

अन्वयः

इदम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'इदम्'
ज्ञानम् - ज्ञान
राजविद्या - राजविद्या; विद्याओं में उत्तम;' 'नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'राजविद्या'
राजगुह्यम् - राजगुह्य; गुह्य में उत्तम; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'राजगुह्य'
पवित्रम् उत्तमम् - पवित्र उत्तम; विशेषण, वि. 'राजगुह्यम्'
प्रत्यक्षावगमम् - स्पष्ट समझ में आने वाला; विशेषण, वि. 'राजगुह्यम्'
धर्म्यम् - धारण करने योग्य, धर्मयुक्त; विशेषण, वि. 'राजगुह्यम्'
कर्तुम् - करने में; हेत्वर्थ कृदंत
सुसुखम् - आसानी से भरा हुआ, सुगम; विशेषण, वि. 'राजगुह्यम्'
च - और; अव्यय
अव्ययम् - जिसका नाश न हो; विशेषण, वि. 'राजगुह्यम्'

श्लोकार्थ : यह राजविद्या है, राजगुह्य है, पवित्र, है उत्तम है। विषय को प्रत्यक्ष कराने वाली है, धर्म्य है, सुखसाध्य और अव्यय है।

विवेचन : यह ज्ञान राजविद्या अर्थात विद्याओं का राजा अतएव विद्याओं में उत्तम है। राजगुह्य अर्थात गुह्यों में राजा अतएव गुह्यतम है। अथवा यह ज्ञान विद्याओं का राजा अर्थात उत्तम विद्या और अत्यन्त गोप्य है। पवित्र अर्थात परम पावन करने वाला है। सब से उत्तम है। अपना अवगम (प्रत्यक्षीकरण) अर्थात विषय से प्रत्यक्ष कराने वाला अर्थात उसका विषय भगवान् को प्रत्यक्ष कराने वाला है। साथ ही धर्म्य अथवा धर्म उत्पन्न करने वाला है। सुख-साध्य और अव्यय अर्थात अविनाशी है इसलिए मेरी (भगवान् की)प्राप्ति रूप फल प्राप्त कराने पर भी उसका नाश नहीं होता। इसमें बताए अनुसार उपासना करने वाले को मेरे स्वरूप का दान करने पर भी ''इसके लिए मैंने कुछ नहीं किया'' ऐसा बोध मुझे होता है (रामानुजाचार्य)।

अश्रद्दधानाः पुरूषा धर्मस्यास्य परन्तप!।।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। 3 ।।

अन्वयः

परन्तप - अर्जुन; सम्बोधन ।
अस्य - इसका; सर्वनाम, ष.ए.व. नपु. 'इदम्'
धर्मस्य - धर्म के; नाम, ष.ए.व. नपु. 'धर्म' ।
अश्रद्दधानाः - श्रद्धाहीन; व.कृ.विशेषण, वि. 'पुरूषाः'
पुरूषाः - पुरूष; नाम, प्र.ब.व.पु. 'पुरूष'।
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
अप्राप्य - प्राप्त न होकर; विधेय कृदंत ।
मृत्युसंसारवर्त्मनि - मृत्यु रूप संसार मार्ग में; नाम, स.ए.व.नपु.
निवर्तन्ते - लौटकर आते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'नि+वृत्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे परन्तप! इस धर्म में श्रद्धा नहीं रखने वाले पुरूष मुझे प्राप्त किए बिना मृत्युरूप संसार के मार्ग में निरंतर भटकते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगद् अव्यक्तमूर्तिना ।।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।4 ।।

अन्वयः मया – मेरे; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'।
अव्यक्तमूर्तिना – अव्यक्त है मूर्ति जिनकी; विशेषण, वि. 'मया'
इदम् – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
सर्वम् – सम्पूर्ण; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
जगत् – जगत; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'जगत्' ।
ततम् – व्याप्त; भू.कृ.विशेषण, वि. जगत् तन् 8 गण
अस्ति – है; क्रियापद, वर्त.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' ।
च – और ; अव्यय
सर्वभूतानि – सब प्राणी; नाम, प्र.ब.व.नपु. ।
मत्स्थानि – मुझ में स्थित; नाम, ष.ब.व.नपु.
सन्ति – हैं; क्रि. वर्त. का. तृ.पु.ब.व. 'अस्'।
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मात्'
तेषु – उनमें; सर्वनाम, स.ब.व.पु. 'तद्'
अवस्थितः – स्थित; विशेषण, वि. 'अहम्' भू.कृ.
न – नहीं; अव्यय
अस्मि – हूँ; क्रियापद

श्लोकार्थ : मैं अव्यक्त स्वरूप से इस सम्पूर्ण जगत् को परिवेष्टित किए हुए हूँ। सभी भूत मुझ में स्थित हैं परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

विवेचन : इस प्रकार ज्ञान की स्तुति करके अर्जुन को उसका श्रवण करने के लिए तत्पर कर (भगवान्) अपने माहात्म्य का बोध कराते हैं। 'अव्यक्त' अर्थात अध्यात्मस्वरूप अक्षर। अक्षरमूर्ति से मैं जड़ और चेतनात्मक इस सम्पूर्ण प्राकृत जगत् को व्याप्त किए हुए हूँ। अतः सभी भूत पंचमहाभूत तथा प्राणीमात्र मुझ में स्थित है। इस प्रकार उनका उपादान सब का अंतर्यामी मेरा अक्षरस्वरूप ही है। उस (अक्षर स्वरूप) में वे स्थित हैं अथवा वे मुझ में स्थित

हैं अर्थात उनकी स्थिति मेरे अधीन है परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं अर्थात मेरी स्थिति उनके अधीन नहीं है।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। 5।।

अन्वय :
च – और; अव्यय।
भूतानि – प्राणी; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'भूत'
मत्स्थानि – मुझ में स्थित; नाम, प्र.ब.व. नपु. 'मत्स्थ'
न – नहीं; अव्यय
सन्ति – हैं, क्रि. वर्त.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
योगम् – योग को, योगामाया को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
च – और; अव्यय
ऐश्वरम् – ईश्वरीय सत्तायुक्त, ईश्वर भाव; विशेषण, वि. 'योगम्'
पश्य – देख; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'दृश् (पश्य्)' 1 गण, परस्मै।
यत् – कि
भूतभृत – भूतों को धारण और उनका पोषण करने वाला; व.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
च – और; अव्यय
भूतभावनः – भूतों को उत्पन्न करने वाला; विशेषण, वि. 'अहम्'
मम – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
आत्मा – आत्मा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'आत्मन्'
भूतस्थः – प्राणियों में स्थित; विशेषण, वि. 'अहम्'
न – नहीं; अव्यय
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : तदुपरान्त, भूत मुझ में स्थित नहीं है। मेरे ईश्वर संबंधी योग को देख। मेरा आत्मा भूतों को धारण करता है और भूतों का उद्भव करता है तद्यपि भूतों में स्थित नहीं है।

विवेचन : अखिल धर्मों के आश्रय, मूलभूत, क्षर और अक्षर से भी अतीत भगवान् श्री कृष्ण इस श्लोक में अपनी ऐश्वर्य महिमा कहते हैं। पिछले श्लोक में कहा गया है कि "सभी भूत मुझ में स्थित हैं।" तथापि जैसे घट में विद्यमान जल से घट लिप्त रहता है वैसे उन भूतों से मैं लिप्त नहीं रहता – ऐसा स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि "भूत मुझ में नहीं रहते।" इस प्रकार मैं भूतों से लिप्त नहीं हूँ। अपितु मेरी आधार शक्ति से ही भूतों की स्थिति है। अन्यथा उनकी स्थिति संभव नहीं; यह मेरे ऐश्वर्य अथवा ईश्वरत्व रूप का योगप्रभाव (तू=अर्जुन) देख। मात्र मेरा मनोमय संकल्प ही सब करने में शक्तिमान है। यह मेरा अलौकिक-अचिंत्य प्रभाव है। मेरा आत्मा सब भूतों को धारण करने वाला तथा उनका उद्भव करने वाला है फिर भी वह भूतों में स्थित नहीं है, भूतों का सजातीय नहीं है बल्कि भूमि आदि भूतों के अंदर रहकर उनका पालन करने वाला है और उनका उद्भव भी करने वाला है।

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।।
तथा सर्वाणिक भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।6।।

अन्वय :

यथा – जिस प्रकार; अव्यय
सर्वत्रगः – सभी स्थानों पर जाने वाला; विशेषण, वि. 'वायुः'
महान्–महान्; विशेषण, वि. 'वायुः'
वायुः – वायु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'वायु'
नित्यम् – सदैव; अव्यय
आकाशस्थितः – आकाश में स्थित; विशेषण, वि. 'वायुः'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
तथा – उस प्रकार; अव्यय

सर्वाणि – सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.नपु. 'सर्व'
भूतानि – नाम, प्र.ब.व.नपु.
मत्स्थानि – मुझ में स्थित; विशेषण, वि. 'भूतानि'।
इति – इस प्रकार ; अव्यय
उपधारय – जान; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'उप + धृ' *10* गण

श्लोकार्थ : जैसे सर्वत्र गमन करने वाला महान् वायु नित्य आकाश में स्थित है वैसे ही सभी भूत मुझ में ही स्थित हैं – यह समझ।

विवेचन : संश्लेष (संबंध) के बिना भी आधार और आधेय का होना संभव है– ऐसा दृष्टांत देते हैं। सर्वत्र गमन करने वाला महान् वायु नित्य आकाश में स्थित है। आकाश वायु का आधार है क्योंकि अवकाश बिना वायु कहाँ रहेगा? अतः अवकाश अथवा आकाश वायु का आधार है और वायु आधेय है किन्तु उसमें संश्लेष नहीं, कारण कि आकाश अवयव रहित होने से उसका संश्लेष कैसे संभव है? अतः जैसे वायु आकाश में स्थित है उसी प्रकार सभी भूत मुझ में स्थित हैं। मैं सब भूतों का आश्रय हूँ परंतु संश्लेष न होने से मैं भूतों से लिप्त नहीं होता– ऐसा समझ। आकाशादि सभी महाभूतों का मैं आधार हूँ। मैं ही उनको अपने अक्षर स्वरूप से धारण करता हूँ। श्रुति भी कहती है कि – "हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में आकाश और पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र धारित हैं।"

सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।7।।

अन्वय :

कौन्तेय – अर्जुन! सम्बोधन
कल्पक्षये – कल्प के क्षय भाग में ; नाम, स.ए.व.पु. 'कल्पक्षय'
सर्वभूतानि – सभी प्राणी; नाम, प्र.ब.व. नपु.
मामिकाम् – मेरी; विशेषण, वि. 'प्रकृतिम्'

प्रकृतिम् - प्रकृति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'प्रकृति'
यान्ति - जाता है, प्राप्त करता है, लय को प्राप्त करता है; क्रि.व.का.तृ. पु.ब.व. 'या' 2 गण, परस्मै
कल्पादौ - कल्प के प्रारम्भ में; नाम, स.ए.व.पु.
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
पुनः - फिर से; अव्यय
तानि - उनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व.नपु. 'तत्'
विसृजामि - सृजन करता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'वि + सृज्' 6 गण, परस्म

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय! कल्प के अंत में सभी भूत मेरी प्रकृति में लय को प्राप्त होते हैं। कल्प के आरंभ में मैं पुनः उनका सृजन करता हूँ।

विवेचन : इस प्रकार अब यह बताते हैं कि संग अथवा संश्लेष के बिना ही अपनी योगैश्वर्य शक्ति अथवा माया से भगवान् सभी भूतों का उद्भव करते हैं तथा उनको धारण करते हैं। आगे यह कहते हैं कि सर्ग और प्रलय भी भगवान् स्वयं ही करते हैं। कल्प के अंत में अर्थात ब्रह्मा के *100* वर्ष पूरे होने जाने पर आकाशादि मेरी क्रियाशक्ति के अंशरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति, जिसे श्रुति 'तमः' कहती है, में लय को प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त दूसरे कल्प के आरंभ में मैं अपने अक्षर स्वरूप से प्रकृति तथा पुरूष द्वारा उनका पुनः सृजन करता हूँ।

प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।।
भूतग्राममिमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेर्वशात्।। 8।।

अन्वय :
स्वाम् - मेरी अपनी; विशेषण, वि. 'प्रकृतिम्'
प्रकृतिम् - प्रकृति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'प्रकृति'
अवष्टभ्य - आधार बनाकर; विधेय कृदंत, अव + स्तम्भ् 9 गण
प्रकृतेः - प्रकृति के; नाम, ष.ए.व.स्त्री. 'प्रकृति'
वशात् - अधीनता से; नाम, पं.ए.व.पु. 'वश'

इमम् - यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'इदम्'
कृत्स्नम् - अखिल; विशेषण, वि. 'भूतग्रामम्'
अवशम् - पराधीन; विशेषण, वि. 'भूतग्रामम्'
भूतग्रामम् - भूत समुदाय; नाम, द्वि.ए.व.पु.
पुनः पुनः - बार-बार; अव्यय
विसृजामि - सृजन करता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.वि+सृज् 6 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : प्रकृति के अधीन होने से परवश हुए इन सर्वभूतों के समूह को मेरी प्रकृति का अवलंबन करके मैं इनका पुनः -पुनः सृजन करता हूँ।

विवेचन : प्रकृति मेरा सदंश रूप है। वह अपने गुणों से मोह उत्पन्न करते रहने से 'माया' भी कहलाती है। यह पहले बताया जा चुका है कि वह आठ प्रकार के परिणाम को प्राप्त होती है। उस प्रकृति का अवलंबन करके उसमें लीन हुए इन सर्व भूतों के समूह का पुरुषरूप अक्षरस्वरूप मैं पुनः सृजन करता हूँ। इसलिए यह विभाग मैं स्वयं ही प्रकृति द्वारा करता हूँ। यहाँ यह सूचित किया गया है कि यह विभाग करने वाला अन्य कोई नहीं मैं स्वयं हूँ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!।।
उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु।। 9।।

अन्वय :
धनञ्जय - अर्जुन; सम्बोधन
तेषु - उनमें; सर्वनाम, स.ब.व.नपु. 'तत्'
कर्मसु - कर्मों में; नाम, स.ब.व.नपु.
असक्तम् - आसक्ति बिना; भू.कृ.विशेषण,वि. 'माम्'
च - और; अव्यय
उदासीनवत् - उदासीन की भाँति; अव्यय
आसीनम् - स्थित ; व. कृ. विशेषण, वि. 'माम्'
माम् - मुझको; 'सर्वनाम', द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

तानि – **वे;** सर्वनाम, प्र.ब.व. नपु. 'तत्'
कर्माणि – **कर्म;** नाम, प्र.ब.व.नपु. 'कर्मन्'
न – **नहीं;** अव्यव
निबध्नन्ति – **बाँधते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'नि+बध्' 9 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे धनञ्जय! उन कर्मों में आसक्तिरहित, उदासीन की भांति स्थित, मुझको कर्म बंधन नहीं करते।

विवेचन : मैं भूतों का सृजन करता हूँ और प्राणियों को सुख-दुखादि होते हैं। इससे ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि किसी को सुख और किसी को दुःख होने से मुझे पक्षपात अथा वैषम्य और निर्दयता अथवा नैर्घृण्य दोष लगता है। कारण कि कर्म में मेरी आसक्ति नहीं। यह सृजन कर्म मेरी असाधारण महिमा को दर्शाता है परंतु कर्म में मेरी आसक्ति नहीं होने से वह मुझे बांधता नहीं। जीवों के अपने प्राकृत कर्मों से वे देव-मनुष्य आदि होते हैं और इन प्राकृत कर्मों के प्रति भी मैं उदासीन हूँ अतः मुझे कर्म बाँधते नहीं हैं। इसलिए मुझे कोई दोष नहीं व्यापता।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय! जगद् विपरिवर्तिते।। 10।।

अन्वय :
कौन्तेय – **अर्जुन;** सम्बोधन
मया – **मुझ से;** सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'
अध्यक्षेण – **अध्यक्ष से;** नाम, तृ.ए.व.पु.
प्रकृतिः – **प्रकृति;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
सचराचरम् – **चर और अचर सहित;** विशेषण, वि. 'जगत्'
सूयते – **रचना करती है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'सू' 4 गण, आत्मने
अनेन – **इससे;** सर्वनाम, तृ.ए.व.पु. 'इदम्'
हेतुना – **कारण से;** नाम, तृ.ए.व.पु. 'हेतु'

जगत् – **जगत्;** नाम, प्र.ए.व.नपु. 'जगत्'
विपरिवर्तिते – **आवागमन होता है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.वि. + परि + वृत् 1 गण

श्लेकार्थ : मेरी अध्यक्षता में प्रकृति जड़-चेतन जगत् का सृजन करती है। हे कौन्तेय! इस कारण से जगत् का परिवर्तन होता है।

विवेचन : केवल प्रकृति अकेले कोई कार्य नहीं कर सकती क्योंकि वह अचेतन है। अतः पुरुष रूप मैं अध्यक्ष अथवा अधिष्ठाता होता हूँ तब वह चेतन और जड़ रूप जगत् का सृजन करती है। परंतु उसमें भी चेतन जीवों को पूर्व कर्मों के अनुरूप जन्म प्राप्त होता है और उनके अनुगुण पदार्थों के साथ ही उनका संबंध होता है। इस प्रकार इस कारण से अर्थात मेरे अध्यक्ष होने से प्रकृति के माध्यम से बारंबार जगत् का परिवर्तन हुआ करता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुम् आश्रितम्।।
परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। 11।।

अन्वय :
भूतमहेश्वरम् – **सब भूतों के महान ईश्वर रूप को;** नाम, द्वि.ए.व.पु.
मम – **मेरे;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
परम् – **परम श्रेष्ठ;** विशेषण, वि. 'भावम्'
भावम् – **भाव को;** नाम, द्वि.ए.व.पु. 'भाव'
अजानन्तः – **नहीं जानने वाला;** व.कृ. विशेषण, वि. 'जनाः'
मूढाः – **मूढ, मोह को प्राप्त;** विशेषण, वि. 'जनाः'
माम् – **मुझे;** सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
मानुषीम् – **मनुष्य की;** विशेषण, वि. 'तनुम्'
तनुम् – **शरीर को;** नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
आश्रितम् – **आश्रय किए हुए को;** विशेषण, वि. 'माम्'
अवजानन्ति – **अवज्ञा करते हैं, तुच्छ मानते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.अव + ज्ञा 9 गण

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीम् आसुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। 12।।

अन्वय :

मोघाशाः – जिनकी आशाएँ विफल है; विशेषण वि. 'जनाः'
मोघकर्माणः – जिनके कर्म विफल हैं; विशेषण, वि. 'जनाः'
च – और; अव्यय
मोघज्ञानाः – विफल है ज्ञान जिनका; विशेषण, वि. 'जनाः'
विचेतसः – अज्ञानीजन; विशेषण, वि. 'जनाः'
राक्षसीम् आसुरीम् – राक्षसी आसुरी को; विशेषण, वि. 'प्रकृतिम्'
च – और; अव्यय
मोहिनीम् – मोह प्राप्त कराने वाली; विशेषण, वि. 'प्रकृतिम्'
प्रकृतिम् – प्रकृति को; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'प्रकृति'
एव – ही; अव्यय
श्रिताः – आश्रय वाला; विशेषण.वि. 'जनाः'

श्लोकार्थ : व्यर्थ आशा वाले, व्यर्थ काम वाले, व्यर्थ ज्ञान वाले, राक्षसी तथा आसुरी मोहिनी प्रकृति को प्राप्त, भ्रांत मन वाले मूढ मेरे पर (परम–श्रेष्ठ) भाव को नहीं जानने से मुझ मनुष्य शरीर धारण किए हुए भूतों के महेश्वर की अवज्ञा करते हैं।
(श्लोक 11 और 12)

विवेचन : भगवान् की ऐसी अलौकिक अचिन्त्य महिमा होने पर भी कई लोग भगवान् की अवज्ञा कैसे करते हैं? इस शंका का समाधान करते हैं। समस्त प्राणी मात्र के नियन्ता, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, अचिन्त्य महिमा वाले, सर्व जगत् के एक मात्र कारण मुझ भगवान् की परम कृपा से सभी लोक मेरा आश्रय कर सकें इसलिए (मैंने) यह मनुष्य शरीर धारण किया जिससे मुझ को मूढ लोग साधारण मनुष्य जैसा मानते हैं और मेरे आनन्द मात्र अचिन्त्य महिमायुक्त स्वरूप को जान नहीं पाने से मेरी अवज्ञा करते हैं। क्योंकि वे व्यर्थ आशा वाले

हैं। परमात्मा अर्थात भगवान् के बगैर केवल कर्म ही फल प्रदान करेंगे, उनकी, यह आशा व्यर्थ होती है। वे व्यर्थ कर्म वाले हैं, उनका ज्ञान भी व्यर्थ है। उनका ज्ञान आसुरी होने से व्यर्थ है इसीलिए उनका चित्त भी विक्षिप्त होता है। इसका कारण यह है कि वे राक्षसी तथा आसुरी मोहिनी प्रकृति को प्राप्त हो चुके हैं। राक्षसी प्रकृति उनको केवल अपनी देह का ही पोषण करने में तत्पर रखती है। आसुरी प्रकृति उनको अन्य प्राणियों से उपद्रव के लिए प्रेरित करती है। मोहिनी प्रकृति के कारण वे मोहग्रस्त रहने से मेरा स्मरण नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि मनुष्य देह धारण किए मुझ (भगवान्) को साधारण मनुष्य जानकर वे मेरी अवज्ञा करते हैं।

इस ग्यारहवें श्लोक का अनुसंधान भी भागवत् के श्लेक 3/2/17 के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में किया गया है। (11 व 12)

महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः।।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। 13।।

अन्वय :

तु – परंतु, तो; अव्यय।
पार्थ – अर्जुन; सम्बोधन
दैवीम् – दैवी; विशेषण, वि. 'प्रकृतिम्'
प्रकृतिम् – प्रकृति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
आश्रिताः –आश्रय किए हुए; भू.कृ. विशेषण, वि. 'महात्मानः'
महात्मानः – महान पुरुष, दैवी जीव : नाम, प्र.ब.व.पु. 'महात्मान्'
माम – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
भूतादिम् – सब भूतों के कारण रूप; विशेषण, वि. 'माम्'
अव्ययम् – अविनाशी, अक्षररूप; विशेषण, वि. 'माम्'
ज्ञात्वा – जानकर; विधेय कृदंत
अनन्यमनसः –अनन्या मन वाले; विशेषण, वि. 'महात्मानः'
सन्तः – होकर

भजन्ति – भजते हैं; क्रि.व.का.तृत्पु.ब.व. 'भज्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : परंतु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय किए हुए महात्मागण मुझे भूतों का आदि और अव्यय जानकर अनन्य मन से मुझे भजते हैं।

विवेचन : उनके (मूढजन के) विपरीत, महात्माजन मेरा अनन्य मन से भजन करते हैं। वे इस दैवी प्रकृति अर्थात दैवी स्वभाव रूप प्रकृति का आश्रय किए हुए हैं इसलिए अनेक जन्म-जन्मान्तर में किए हुए पुण्यकर्म के सञ्चय से पाप रहित होकर अन्तिम जन्म में आए होने से उनको यहाँ महात्मा कहा गया है। वे मेरा भजन अनन्य मन से करते हैं, परंतु कदापि मेरी अवज्ञा नहीं करते। वे मुझे सर्व भूतों का 'आदि' अर्थात सब का कारण जानकर तथा 'अव्यय' अर्थात अविकृत-विकार रहित, मात्र आनन्दागार कर-पाद-मुख-उदर युक्त जानकर भगवन्मार्गीय आचार्य के उपदेशानुसार मुझ पुरुषोत्तम का ही भजन करते हैं, अक्षर आदि किसी अन्य स्थान पर मन नहीं रखते।

इन तेरहवें और चौदहवें श्लोकों का अनुसंधान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/4/33 के संदर्भ में अणुभाष्य में किया गया है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। 14।

अन्वय :

ते – वे; सर्वनाम, प्र.ब.व. 'तत्'
दृढ़व्रताः – दृढ़व्रत वाले; विशेषण, वि. 'महात्मानः'
सततम् – हमेशा; अव्यय
कीर्तयन्तः – गुणगान करने वाले; व.कृ. विशेषण, वि. 'महात्मानः'
यतन्तः – प्रयत्न करने वाले; व.कृ.विशेषण, वि. 'महात्मानः'
च – और; अव्यय
माम् – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
नमस्यन्तः – नमस्कार करने वाले; भवि. कृ. विशेषण, वि. 'महात्मानः'

च – और; अव्यय
नित्ययुक्ताः – सदैव (भगवान् से) जुड़े हुए; भू.कृ. विशेषण, वि. 'महात्मानः'
महात्मानः – महान पुरुष
माम् – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
भक्त्या – भक्ति से; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'भक्ति'
उपासते – उपासना करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. उप + आस् 2 गण

श्लोकार्थ : निरंतर मेरा कीर्तन करते हुए, यत्न करते हुए और मुझे नमन करते हुए दृढ़वत वाले नित्य युक्त होकर भक्ति से मेरी सेवा करते हैं।

विवेचन : पिछले श्लोक में बताए गए महात्मा दो प्रकार के हैं। एक भक्त और दूसरे ज्ञानी। उनमें से एक श्लोक में पहले भक्तों के भजन का प्रकार कहते हैं। भक्त महात्मा निरन्तर मेरा कीर्तन किया करते हैं। अर्थात श्रीमद्भागवत में बताई गई रीति से मेरे गुणों का गान करते हैं और सर्वत्र मेरा उत्कर्ष गाते हैं। इसके अलावा वे मेरा कीर्तन करने का यत्न किया करते हैं अथवा इंद्रियों का निग्रह करने का यत्न किया करते हैं अथवा मेरे गुणगान का श्रवण और मेरा अर्चन करने का यत्न किया करते हैं। साथ ही, मोहक शास्त्रों से भी परिभव (तिरस्कार) न पाने वाले उक्त दृढ़ भक्तों का अपना यह लोक और परलोक मुझे समर्पित करने का व्रत है अर्थात इस लोक और परलोक किसी की भी दरकार न रखते हुए मात्र मुझ में चित्त रखने का उनका दृढ़ निश्चय होता है। उनका दैन्य प्रकट हो, उस प्रकार से वे मुझे नमन करते हैं तथा नित्ययुक्त अर्थात मुझ में ही चित्त रखने में वे सदा सावधान रहते हैं। तदुपरान्त वे भक्ति अथवा स्नेह से ही मेरी सेवा करते हैं, अमुक विधि से सेवा अपेक्षित है– ऐसा मानकर सेवा नहीं करते।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो माम् उपासते।।
एक्त्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।15।।

अन्वय :

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मद्'।

विश्वतोमुखम् - विश्व में अर्थात सब ओर मुख वाले को; नाम, द्वि.ए.व.पु.विशेषण,वि. 'माम्'

ज्ञानयज्ञेन - ज्ञान यज्ञ से; नाम, तृ.ए.व.पु.।

यजन्तः - पूजन करते हुए; व. कृदन्त,विशेषण, वि. 'अन्ये'

एकत्वेन - एकत्व भाव से; नाम, तृ.ए.व.नपु.।

उपास्ति - उपासना करते हैं; क्रियापद

अन्ये - दूसरे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'अन्य'।

अपि - और, भी; अव्यय

पृथक्त्वेन - पृथक् भाव से, स्वामी सेवक के भाव से ; नाम,तृ.ए.व.नपु. 'पृथक्त्व'

च - और; अव्यय

बहुधा - बहुत प्रकार से; अव्यय

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मद्'

उपासते - उपासना करते हैं, सेवा करते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'उप+आस्' 2 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : और अन्य ज्ञान यज्ञ से भजन करते एक भाव से, पृथक भाव से अथवा विविध प्रकार से विश्व रूप बने मेरी उपासना करते हैं।

विवेचन : भक्तों के भजन के प्रकार बताकर अब ज्ञानियों के प्रकार बताते हैं। ज्ञानयज्ञ का पीछे अध्याय 4/24 में निरूपण किया गया है। उस प्रकार के ज्ञानयज्ञ से ज्ञानी मेरे अक्षरस्वरूप की उपासना करते हैं। वे भी अलग-अलग प्रकार से मेरी उपासना करते हैं। कई एकत्वभाव से अर्थात अभेदभाव से अर्थात ''वह मैं हूँ'' -इस अभेदत्व से उपासना करते हैं। अन्य पृथकता के भाव से अर्थात भेद की भावना से ''मैं प्रभु का दास हूँ'' इस भाव से उपासना करते हैं। मैं विश्वरूप से स्थित हूँ इसलिए कई अन्य भिन्न-भिन्न प्रकार से

अर्थात शिव,शक्ति,गणेश,सूर्य आदि भिन्न-भिन्न आकारों से जगत् रूप से स्थित रहने के बावजूद 'अविकृत' अर्थात विकार रहित मुझ विश्वरूप से स्थित - जिसके पाणि और पाद का सर्वत्र अंत है, जिसकी आँख, सिर, मुख सर्वत्र हैं- ऐसे मुझ (भगवान) की उपासना करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहम् अहम् औषधम् ।।
मन्त्रोऽहम् अहमेवाज्यम् अहम् अग्निरहं हुतम् ।।16।।

अन्वयः

अहम् - मैं;सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।

क्रतुः - श्रौतयज्ञ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'क्रतु'

अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'।

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

यज्ञः - यज्ञ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'यज्ञ'(अस्मि=हूँ) ।

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

स्वधा - पितृ गण के निमित्त दी जाती आहुति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'स्वधा' (अस्मि=हूँ)

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।

औषधम् - वनस्पति; नाम,प्र.ए.व.नपु. 'औषधि' (अस्मि=हूँ)

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।

मन्त्रः - मन्त्र; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मन्त्र' (अस्मि=हूँ)

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।

आज्यम् - घी; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'आज्य' (अस्मि=हूँ)

च - और; अव्यय ।

अहं - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

एव - मात्र; अव्यय।

अग्निः - अग्नि; नाम,प्र.ए.व.पु. 'अग्नि'

च - और; अव्यय।

हुतम् - किया हुआ होम, यज्ञ क्रिया; भू.कृ.विशेषण,वि. 'द्रव्यम्' (अस्मि=हूँ)

श्लोकार्थ : मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं ही घी हूँ, मैं अग्नि हूँ और हवन रूप क्रिया भी मैं ही हूँ।

विवेचन : ज्ञानियों के प्रकार में जो अंतिम प्रकार कहा है वह ब्रह्मवादियों का उपासना का प्रकार है। इसके निरूपणार्थ चार श्लोक (16 से 19) से बताते हैं कि इससे चार प्रकार की पुरुषार्थ-सिद्धि होती है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सर्वरूप हैं इसलिए केवल इतना ही नहीं कहते कि मैं सब-कुछ हूँ बल्कि अलग-अलग पदार्थों के नाम बताकर कहते हैं कि "अमुक मैं हूँ"। उनका हेतु यह दर्शाना है कि जो मेरा उस रूप से भजन करते हैं उनको उस रूप से फलदान करने वाला मैं ही हूँ।

'क्रतु' अर्थात श्रौतकर्मों में किया जाने वाला संकल्प मैं हूँ। अथवा 'क्रतु' अर्थात यज्ञ का अधिष्ठातृ देवता। यज्ञ का फल देने वाला आधिदैविक देवता मैं हूँ। अग्निहोत्र आदि धर्मरूप यज्ञ मैं हूँ। 'स्वधा' अर्थत पितृगण को दिया जाने वाला अन्न भी मैं हूँ अर्थात पितृयज्ञ रूप भी मैं हूँ। 'औषध' अर्थात सब रोगों को दूर करने वाला दवारूपी अन्न अथवा व्रीहि (धान) आदि अन्न भी मैं हूँ। 'मन्त्र' अर्थात ऋचा। गायत्री आदि मन्त्र भी मैं हूँ। अग्नि में होम करने के लिए घी भी मैं हूँ। आहवनीय भिन्न-भिन्न प्रकार का अग्नि भी मैं हूँ। 'हुत' अर्थात होम करने के लिए अन्न अथवा होम भी मैं हूँ।

पिताऽहम् अस्य जगतो माता धाता पितामहः।।
वेद्यम् पवित्रम् ओङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ।। 17।।

अन्वयः

अस्य - इसका; सर्वनाम, ष.ए.व. नपु. 'इदम्'
जगत - जगत् का; नाम, ष.ए.व.नपु. 'जगत्'
धाता - पोषा करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'धातृ'
माता - माँ; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'मातृ'
पिता - पिता; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पितृ'
पितामह - पितामह; नाम, प्र.ए.व.पु.

च - और; अव्यय
वेद्यम् - जानने योग्य; विधेय कर्माणि कृ. विशेषण, वि. 'ऋक्सामयजुः'
पवित्रम् - पवित्र; विशेषण, वि. 'ऋक् साम यजुः'
ओंकार - ॐकार; नाम, प्र.ए.व.पु. ॐकार
ऋक् - ऋग्वेद; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'ऋज्'
साम - सामवेद; नाम, प्र.ए.व.नपु.
यजुः - यजुर्वेद; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'यजुष्'
अपि - भी; अव्यय
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
एव - मात्र; अव्यय
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : मैं इस जगत् का पिता, माता, धाता तथा पितामह हूँ। मैं वेद्य, पावन करने वाला, ओंकार, ऋक्, साम और यजुः भी हूँ।

विवेचन : (मैं) इस जगत का पिता अथवा उत्पादक हूँ। जगत की माता भी मैं हूँ। धाता अर्थात कर्मफल देने वाला भी मैं ही हूँ। जगत का पिता अथवा ब्रह्मा मैं ही हूँ। वेद्य अर्थात सब प्रकार के ज्ञान में साधनों से जानने योग्य भी मैं ही हूँ और पावन करने वाला भी मैं ही हूँ। मैं 'ॐकार' अर्थात प्रणव हूँ। इसी प्रकार ऋग्वेद, सामदेव तथा यजुर्वेद भी मैं हूँ। 'च = और' शब्द से इसमें अथर्ववेद का भी समावेश हो जाता है। ऋग्वेद के मंत्र पादयुक्त हैं, सामवेद के मंत्र गीतयुक्त (गेय) हैं और यजुर्वेद के मंत्र पादयुक्त भी नहीं है और गेय भी नहीं है। इस प्रकार सभी वेद मैं ही हूँ।

गतिर् भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजम् अव्ययम्।। 18।।

अन्वयः

गतिः -प्राप्त होने याग्य स्थान; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'गति'।

भर्ता – स्वामी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भर्तृ'
प्रभुः – प्रभु; नाम, प्र.ए.व.पु.
साक्षी – साक्षी; शुभ – अशुभ को देखने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'साक्षिन्'
निवासः – सब में निवास करने वाला; नाम प्र.ए.व.पु. 'निवास'
शरणम् – शरण रूप; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'शरण'
सुहृत – मित्र, प्रत्युपकार की आशा न रखने वाला; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
च – और; अव्यय
प्रभवः – उत्पत्ति रूप; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रभव'
प्रलय : – प्रलय रूप; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रलय'
स्थानम् – आधार; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'स्थान'
निधानम् – निधि, जिसमें सभी प्राणी सूक्ष्म रूप से स्थिति करते हैं; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'निधान'
बीजम् – बीज; कारण रूप; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'बीज'
अव्ययम् – अविनाशी; अव्यय
अपि अहमेव अस्मि – भी मैं ही हूँ; अव्यम, सर्वनाम. क्रि.

श्लोकार्थ : गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत, प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान और अव्यय बीज मैं हूँ।

विवेचन : 'गति' अर्थात मोक्ष आदि फलरूप मैं हूँ। 'भर्ता' अर्थात भरण अथवा पोषण करने वाला, 'प्रभुः' अर्थात सब का नियन्ता, 'साक्षी' अर्थात द्रष्टा, 'निवास' अर्थात स्थान अथवा यागभूमि, 'शरण' अर्थात अभय देने वाला, मृत्यु आदि सब भयों से रक्षा करने वाला, 'सुहृत' अर्थात प्रार्थना बिना हित करने वाला, 'प्रभव' अर्थात उत्पत्ति करने वाला – जगत् का सृजन करने वाला, 'प्रलय' अर्थात जगत का लय स्थान, 'स्थान' अर्थात जगत को स्थित रखने वाला, 'निधान' अर्थात रक्षक और 'अव्ययबीज' अर्थात विनाश रहित मूल कारण मैं हूँ।

तपाम्यहम् अहं वर्षं निगृहणाम्युत्सृजामि च।।
अमृतं चैव मृत्युश्च सद् – असच्चाहम् अर्जुन! ।।19।।

अन्वयः
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
एव – ही; अव्यय
तपामि – तपता हूँ, ताप प्रदान करता हूँ; कि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'तप्' 1 गण
अहम् – मैं;सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
एव – ही; अव्यय
वर्षम् – वर्षा को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'वर्ष'
निगृहणामि – आकर्षित करता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'नि + गृह्' 9 गण परस्मै
च – और; अव्यय
उत्सृजामि – छोड़ता हूँ, बरसाता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'उत्' + सृज् 6 गण, परस्मै
अर्जुन – अर्जुन; सम्बोधन
च – और; अव्यय
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
एव – ही; अव्यय
अमृतम् – अमृत; नाम,.प्र.ए.व.नपु. 'अमृत'
च – और; अव्यय
मृत्युः – मृत्यु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मृत्यु'
सत् – सत; नाम, प्र.ए.व.
च – और; अव्यय
असत् – असत्; नाम प्र.ए.व. (अपि, अर्थात् सर्वम् अहम् एव अस्मि – 'भी' अर्थात् सब मैं ही हूँ।)

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! मैं तपता हूँ, वर्ष को आकर्षित करता हूँ और छोड़ता हूँ। मैं अमृत हूँ और उसी तरह मृत्यु हूँ। सत् हूँ और असत् हूँ।

विवेचन : हे अर्जुन! मैं सूर्य रूप से तपता हूँ इसलिए बरसात के लिए जल खींचता हूँ और पुन: उस जल को छोड़कर वृष्टि करता हूँ। इस वर्षा-जल से अन्नादि उत्पन्न होने से मैं सृष्टि का आधार होने से उपास्य हूँ। मैं अमृत अर्थात जीवन अथवा पालन-पोषण करने वाला हूँ। क्योंकि वर्षा से सम्पूर्ण जगत की स्थिति है और वर्षा को रोक कर रखने वाला होने से मैं मृत्यु रूप हूँ। इसी प्रकार सत् अर्थात भाव पदार्थ और असत् अर्थात अभाव भी मैं ही हूँ। इस प्रकार सब मैं ही हूँ अत: ज्ञानीजन मेरी विविध भांति उपासना करते हैं।

इस प्रकार विविध रूप से वर्णित भगवत्स्वरूप को न जानकर मात्र कामनाओं के वशीभूत जो यज्ञादि कर्म करते हैं वे जन्म-मरण रूप इस संसार में भटकते रहते हैं - अगले दो श्लोक (*20-21*) में यही निरूपण करते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपा: पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।।
ते पुण्यम् आसाद्य सुरेंद्रलोकम् अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।20।।

अन्वय :

त्रैविद्या: - तीनों वेदों में कहे गए सकाम कर्मों का आचरण करने वाले; विशेषण, वि. 'सोमपा:'

पूतपापा: - पापों से मुक्त होकर पवित्र हो चुके; विशेषण, वि. 'सोमपा:'

सोमपा: - सोमरस का पान करने वाले; नाम, प्र.ब.व.पु. 'सोमप'

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

यज्ञै: - यज्ञों से; नाम, तृ.ब.व.पु. 'यज्ञ'

इष्ट्वा - यजन करके; विधेय कृदंत

स्वर्गतिम् - स्वर्लोक को, स्वर्गलोक को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.

प्रार्थयन्ते - प्रार्थना करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'प्र + अर्थ' *10* गण, आत्मने

ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तद्'

पुण्यम् - पुण्य फलरूप; विशेषण, वि. 'सुरेन्द्रलोकम्'

सुरेन्द्रलोकम् - सुरेन्द्रलोक, इंद्रलोक; नाम, द्वि.ए.व.पु.

आसाद्य - प्राप्त करके; विधेय कृदन्त; 'आ + सद्'

दिवि - स्वर्ग में; नाम, स.ए.व.

दिव्यान् - देवलोक को; नाम, द्वि.ब.व.पु.

देवभोगान् - देवों के भोगों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.

अश्नन्ति - भोगते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अश्' *9* गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सोमपान करने वाले, निष्पाप हो चुके, तीनों विद्याओं को जानने वाले लोग यज्ञों से मेरा यजन कर स्वर्ग की गति मांगते हैं। वे पुण्यशाली सुरेन्द्रलोक प्राप्त कर स्वर्ग में दिव्य देवों के भोग भोगते हैं।

विवेचन : त्रिगुणात्मक तीनों वेदों में प्रवीण अतएव त्रिगुणात्मक कर्म करनेवाले, सोमपान करने वाले और सोमपान यज्ञकरण आदि से निष्पाप हुए पुरुष यज्ञों में उन-उन देवताओं का यजन करते हैं और स्वर्गादि फल पाने की प्रार्थना करते हैं। यद्यपि यज्ञादि में सर्वत्र मैं ही स्थित हूँ, ऐसा नहीं जानने से वे भिन्न-भिन्न देवों का यजन करते हैं परंतु वस्तुत: वहाँ मेरे विद्यमान होने से वे मेरा ही यजन करते हैं- ऐसा कहा गया है। वे पुण्यशाली सुरेन्द्रलोक प्राप्त कर वहाँ स्वर्ग में दिव्य देवों के भोग भोगते हैं।

श्लोक *20* और 21 का अनुसंधान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 4/1/2 के संदर्भ में अणुभाष्य में किया गया है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।
एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।। 21।।

अन्वय :

ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तद्'

तम् - उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.

विशालम् - विशाल; विशेषण, वि. 'स्वर्गलोकम्'

स्वर्गलोकम् - स्वर्गलोक को; नाम, द्वि.ए.व.पु.

भुक्त्वा - भोग कर; विधेय कृदन्त 'भुज्'

पुण्ये – **पुण्य;** नाम, स.ए.व.
क्षीणे – **क्षीण होने पर;** व.कृ. विशेषण, वि. 'पुण्ये'
मर्त्यलोकम् – **मर्त्यलोक में;** नाम.द्वि.ए.व.पु. 'मर्त्यलोक'
विशन्ति – **प्रवेश करते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विश्' 6 गण, परस्मै
एवम् – **इस प्रकार;** अव्यय
त्रयीधर्मम् – **तीनों वेदों में कहे गए सकाम धर्म-कर्म को;** नाम, द्वि.ए.व.पु. 'त्रयीधर्म'
अनुप्रपन्नाः – **आश्रय करने वाले;** विशेषण, वि. 'जनाः'
कामकामाः – **भोगों की इच्छा वाले;** नाम, प्र.ब.व.पु.
पुरुषाः – **पुरुष;** सर्वनाम, प्र.ब.व.
गतागतम् – **आना और जाना;** नाम, द्वि.ए.व.पु.
लभन्ते – **प्राप्त होते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'लभ्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के धर्म से संलग्न कामनाओं की इच्छा वाले जन्म-मरण को प्राप्त होते रहते हैं।

विवेचन : ऊपर कहे गए काम की इच्छा वाले, त्रयीधर्म का अनुसरण करने वाले लोग स्वर्ग प्राप्त होने पर स्वर्ग के विशाल भोग भोगते हैं। भोग भोगने से उनके पुण्य क्षीण होकर वे पुनः पुनः इस मर्त्यलोक में अवतरित होते हैं। इस प्रकार उनका जन्म-मरण होता ही रहता है। इसको जन्म-मरण रूपी अधम तृतीय गुणप्रवाह मार्ग कहा गया है। इस मार्ग में रहने वाले जीवों को भगवान् किसी भी स्वरूप से अंगीकार नहीं करते। उनको भगवान् का भान न होने से वे सदा माया में ही स्थित रहते हैं।

इस श्लोक का अनुसंधान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/1/1 के संदर्भ में अणुभाष्य में किया गया है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।।
तेषां नित्याभियुक्तानां योग-क्षेमं वहाम्यहम्।। 22।।

अन्वय :
ये – **जो;** सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'
अनन्याः – **अनन्य भाव से मुझ में स्थित;** विशेषण, वि. 'जनाः'
जनाः – **मनुष्य;** नाम, प्र.ब.व.पु. 'जन'
माम् – **मुझको;** सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
चिन्तयन्तः – **चिंतन करने वाले;** व.कृ. विशेषण, वि 'जनाः'
पर्युपासते – **उपासना करते हैं, सेवा करते हैं; 'निष्काम भाव से'** कि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'परि + उप + आस्' 2 गण, आत्मने
तेषां – **उनके;** सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'तत्'
नित्याभियुक्तानाम् – **सदेव ऐक्यभाव से स्थिर हुए;** विशेषण, वि. 'जनानाम्'
योगक्षेमम् – **योग और क्षेम;** द्वि.ए.व.पु. 'योगक्षेम'
अहम् – **मै;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
वहामि – **वहन करता हूँ;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'वह्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जो अनन्य लोग (भक्त) मेरा चिंतन करते हुए मेरा सभी प्रकार से भजन करते हैं उन नित्य अभियुक्त भक्तों का योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ।

विवेचन : इस प्रकार अन्य मार्ग की बात कह कर अब अपने भक्तों का वृत्तान्त कहते हैं। भक्ति के मुख्य दो प्रकार हैं : 1. मर्यादा भक्ति, और 2. पुष्टि भक्ति। जिन देवी जीवों का प्रभु ने मर्यादा मार्ग में अंगीकार किया है उनको क्रमवार साधनों से भगवान् की प्राप्ति होती है। जिन देवी जीवों का भगवान् ने पुष्टिमार्ग में अंगीकार किया है उनको किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं और मात्र भगवान् के अनुग्रह से ही भगवान् की प्राप्ति होती है। यह भगवान् की इच्छा के अधीन है कि किस जीव को किस मार्ग में अंगीकार करना है। भगवान् स्वतन्त्र हैं और किस जीव को किस मार्ग में अंगीकार करना इस विषय में

भगवान् की स्वयं की इच्छा के सिवा कोई नियामक सम्भव है ही नहीं। अतः जहाँ-जहाँ साधन करने के लिए कहा गया है वहाँ मर्यादा मार्ग को लक्ष्य करके बात कही गई है। क्योंकि जिन जीवों का इस मार्ग में अंगीकार हुआ है उनकी वैसी ही प्रवृत्ति होती है और फल भी उनको उसी मार्ग का ही प्राप्त होता है। जिनका पुष्टिमार्ग में अंगीकार हुआ है उनको ज्ञानादि साधन बिना ही भक्ति प्राप्त होती है।

इस श्लोक का अनुसन्धान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/4/27 के संदर्भ में अणुभाष्य में किया गया है।

जो मेरे सिवा अन्य देव की, अन्य फल की अथवा अन्य मार्ग की भावना भी नहीं रखते वे अनन्य लोग (भक्त) मुझ पुरुषोत्तम का ही चिंतन करते हुए मेरे कहे हुए विधान से मेरी सेवा करते हैं। उन नित्य अभियुक्त अर्थात मेरे साथ नित्य संबंध वाले लोगों का योग और क्षेम मैं संभालता हूँ। 'योग अर्थात भगवान् की सेवा में उपयोगी धन-धान्य-वस्त्र आदि पदार्थों की इस लोक में प्राप्ति।'। 'क्षेम' अथात आत्यंतिक श्रेयः अथवा मोक्ष। ऐसे भक्तों को मैं सेवोपयोगी सब पदार्थों की इस लोक में प्राप्ति कराता हूँ और परलोक में मोक्ष प्रदान करता हूँ।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।23।।

अन्वय :

कौन्तेय - हे अर्जुन; सम्बोधन।

अपि - यद्यपि; अव्यय

श्रद्धयान्विताः - श्रद्धायुक्त; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'श्रद्धा'

ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

अन्यदेवताभक्ताः - अन्य देवताओं के भक्त; नाम द्वि.ब.व.स्त्री.

ताः - उनको;

यजन्ते -पूजते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'यज्' 1 गण, आत्मने।

ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

अपि - भी; अव्यय

अविधिपूर्वकम् - विधि विहीन, ज्ञान रहित; अव्यय

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

एव - ही, मात्र; अव्यय

यजन्ति - भजन करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'यज्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इसके अतिरिक्त हे कौन्तेय! जो अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धापूर्वक उनका यजन करते हैं वे भी अविविधपूर्वक मेरा ही यजन करते हैं।

विवेचन : ब्रह्मवाद के अनुसार सब कुछ भगवान ही हैं। अतः जो लोग इन्द्र, रवि आदि देवों का यजन करते हैं वे भी वस्तुतः भगवान् का ही यजन करते हैं फिर भी उनको भगवान् की भक्ति का फल क्यों नहीं प्राप्त होता है? इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि हे कौन्तेय! मेरे अलावा जो रवि आदि अन्य देवों का श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं वे भी वस्तुतः मेरा ही यजन करते हैं परंतु वे मेरा यजन अविधिपूर्वक करते हैं। वेदों में जहाँ-जहाँ अन्य देवों का यजन करने के लिए कहा गया है वहाँ-वहाँ, उनका आत्मा भगवान् अर्थात मैं हूँ - इस ज्ञानपूर्वक उनके द्वारा यजन न किए जाने से वे अविधिपूर्वक अर्थात बिना विधि के मेरा यजन करते हैं। अतः उनको भगवत्प्राप्ति नहीं होती बल्कि उनका जन्म-मरण ही होता रहता है।

इस श्लोक 23 और 24 का अनुसंधान भी भागवत् के श्लोक *10/37/9* के संदर्भ से सुबोधिनी में किया गया है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।।
न तु माम् अभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। 24।।

अन्वय :

हि - निश्चयपूर्वक; अव्यय

सर्वयज्ञानाम् - सभी यज्ञों का; नाम, ष.ब.व.पु.

भोक्ता - भोक्ता; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भोक्तृ'
च - और, अव्यय
प्रभुः - परमेश्वर; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रभु'
च - और; अव्यय
अहम् एव - मैं ही; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
अस्मि - हूँ; क्रि.वर्त.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'
तु - परंतु; अव्यय
माम् - मुझको, अधियज्ञ स्वरूप को; सर्वनाम द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
तत्त्वेन - तत्त्व से; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'तत्त्व'
न - नहीं; अव्यय
अभिजानन्ति - जानते हैं, तत्त्व से जानते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अभि + ज्ञा' 9 गण, परस्मै
अतः - इसलिए; अव्यय।
च्यवन्ति - पतित होते हैं, पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'च्यु' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : कारण कि सभी यज्ञों का भोक्ता और प्रभु मैं ही हूँ। परंतु वे मुझे तत्व से नहीं जानते इसलिए उनका पात होता है।

विवेचन : पिछले श्लोक में कहे गए अर्थ का ही विस्तार से निरूपण करते हैं। सर्वयज्ञों का भोक्ता और प्रभु अर्थात यज्ञफल का दान करने वाला, यज्ञरूप और यज्ञों के साधन रूप अलग-अलग देवों में उनके आत्मा के रूप में मैं ही स्थित हूँ। परंतु उनको मेरा यथार्थ ज्ञान नहीं है अतः वे यह नहीं जानते कि उनका सर्वस्व मैं ही हूँ अथवा उन सब का आत्मा मैं हूँ और वे मात्र मेरे अंगभूत हैं। इस प्रकार मेरे यथार्थ ज्ञान बिना वे अविधिपूर्वक यजन करते होने से (अपने) सुकृत का फल भोग कर पुनः अवतरित होते हैं। अतः वे भी वस्तुतः मेरा ही यजन करते होने पर भी उनका भाव भिन्न प्रकार का होने से उनको मेरे

भक्तों जैसा फल प्राप्त नहीं होता। अर्थात जिनका जैसा भाव उनको वैसा ही फल प्राप्त होता है। भाव में भेद होने से ही फल भी भिन्न प्राप्त होता है।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।। 25।।

अन्वय :
देवव्रताः - देवताओं का पूजन करने वाले; नाम, प्र.ब.व.पु.
देवान् - देवताओं को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'देव'
यान्ति - प्राप्त होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2 गण, परस्मै
पितृव्रताः - पितरों को पूजने वाले; नाम, प्र.ब.व.पु. 'पितृव्रत'
पितॄन् - पितृ लोकों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'पितृ'
यान्ति - प्राप्त होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2 गण, परस्मै
भूतेज्याः - भूतों को पूजने वाले; नाम, प्र.ब.व.
भूतानि - भूतों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.
यान्ति - प्राप्त होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2 गण, परस्मै
च - और; अव्यय
मद्याजिनः - मुझको पूजने वाले; नाम, प्र.ब.व.पु.
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
अपि - ही; अव्यय (यान्ति = प्राप्त करते हैं)

श्लोक : देवों का व्रत करने वाले देवों को प्राप्त होते हैं, पितरों का व्रत करने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों का यजन करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा यजन करने वाले मुझे प्राप्त होते हैं।

विवेचन : व्रत अर्थात संकल्प अथवा मानसिक कर्म, इसी को 'भाव' भी कहते हैं। जो दर्श, पूर्णमास आदि कर्म करते हुए - ''इन्द्र देव का यजन करते हैं'' - ऐसा संकल्प करते हैं वे इन्द्र को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जिस-जिस देव का संकल्प करके कर्म करते हैं उस-उस देव को पाते हैं। पितरों का संकल्प करने वाले को पितरों की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यक्ष-राक्षस-

पिशाच आदि भूतों का संकल्प कर कर्म करने वाले को भूतों की प्राप्ति होती है और मुझ परमात्मा श्रीवासुदेव का संकल्प कर कर्म करने वाले को मेरी प्राप्ति होती है। अत: जैसा भाव वैसा फल प्राप्त होता है। यह उचित ही है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मन:।।26।।

अन्वय :

पत्रमम् - पत्र-पत्ते को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'पत्र'
पुष्पम् - पुष्प को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'पुष्प'
फलम् - फल को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'फल'
तोयम् - जल को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'जल'
य: - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
मे-मह्यम् - मुझे; सर्वनाम, च.ए.व. 'अस्मत्'
भक्त्या - भक्ति से, प्रेम भक्ति से; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'भक्ति'
प्रयच्छति - अर्पण करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'प्र +दा' (यच्छ्) 1 गण
प्रयतात्मन: - शुद्ध बुद्धि वाले, निष्काम प्रेमी भक्त के; नाम,.ष.ए.व.पु. ''प्रयत: आत्मा यस्य इति'' बहुव्रीहि
तत् - उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.न.पु.
भक्त्युपहृतम् - भक्तिपूर्वक अर्पण किए गए; विशेषण, वि. 'तत्'''भक्त्या उपहृतम् इति'' उपपद
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
अश्नामि - खाता हूँ, भोगता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अश्' 9 गण, परस्मै

श्लोक : जो (भक्त) मुझे भक्ति से पत्र, पुष्प, फल और जल अर्पित करता है उस प्रयतात्मा द्वारा भक्ति से अर्पित (उपहार) को मैं आरोग लेता हूँ।

विवेचन : भक्तों को भगवान् की भक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है इसका निरूपण कर अब यह कहते हैं कि यह (यथोक्त) भगवान् की भक्ति सबसे उत्तम है और इसमें श्रम भी नहीं होता। क्षुद्र देवताओं की भांति अनेक उपचार

और महा आडम्बरपूर्वक पूजा करने से मुझे संतोष नहीं होता, पर प्रयतात्मा अर्थात मेरे साथ संबंध वाले अथवा मुझे जिन्होंने सर्वस्व निवेदन कर दिया है वैसे भक्त पत्र, पुष्प, जल-जो कुछ भी मुझे अर्पित करते हैं, उनके भक्तिपूर्वक अर्पित उस उपहार को मैं आरोगता हूँ। जैसे विदुर के यहाँ मैंने शाक आरोगा था वैसे ही पत्र, पुष्प आदि भक्ति के साथ मुझे अर्पित किए जाते हैं तो मैं प्रसन्न होता हूँ।

इस श्लोक का अनुसंधान श्रीभागवत् के श्लोक *10/8/35* के संदर्भ मे सुबोधिनी में किया गया है।

यत् करोषि यद् अश्नासि यज् जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय! तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।।27।।

अन्वय :

कौन्तेय - अर्जुन; संबोधन
यत् - जो ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
करोषि - करता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण, परस्मै
यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.
अश्नासि - खाता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अश्' 9 गण, परस्मै
यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.
जुहोषि - यज्ञ करता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'हु' 3 गण, परस्मै
यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.
ददासि - दान करता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'दा' 3 गण, परस्मै
यत् - जो;
तपस्यसि - तप करेगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'तप्' 1 गण, परस्मै
तत् - वह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
सर्व - समस्त;
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
मदर्पणम् - मुझे अर्पण; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

कुरुष्व - कर; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय! तू जो कुछ भी करता है- भोग करता है, होम करता है, दान करता है और जो तप करता है उस सबको मुझे अर्पण कर।

विवेचन : लौकिक, वैदिक, नित्य, नैमित्तिक जो कोई कर्म तू करता है उनको मुझे अर्पण करने से कर्म बंधन से मुक्त हो कर तू मुझे प्राप्त करेगा - ऐसा दो श्लोक से (27-28) निरूपण करते हैं। हे कौन्तेय! तू जो धनसंचय आदि करता है, तू अन्न इत्यादि का जो भोग करता है, जो होम, दान अथवा तप करता है वे सब कर्म मुझे अर्पण कर। ऐसा करने से तू सब दोषों से मुक्त हो जाएगा। 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रंथ में श्री मदाचार्यचरण ने इस भक्तिमार्ग के सिद्धान्त का उपदेश किया है।

इस श्लोक का अनुसंधान श्रीभागवत के अध्याय 11/2/36 के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है। उसी तरह इस श्लोक तथा श्लोक 28 का अनुसंधान श्री भागवत के अध्याय 11/2/34 के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है।

शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो माम् उपैष्यसि।।28।।

अन्वय :

एवम् - इस प्रकार; अव्यय

सन्न्यासयोगयुक्तात्मा - संन्यास और योग से युक्त हो गया है आत्मा जिनका; विशेषण, वि। 'त्वम्' ''सन्न्यासः एव योगः तेन युक्तः आत्मा यस्य'' बहुव्रीहि

त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'।

शुभाशुभफलैः - शुभ और अशुभ फलों से; विशेषण, वि. 'कर्मबंधनैः'

कर्मबंधनैः - कर्मों के बंधनों से; नाम, तृ.ब.व.नपु.

मोक्ष्यसे - मोक्ष को प्राप्त करेगा; क्रि,भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'मुच्' 6 गण, आत्मने

च तेभ्य - और, उनसे; अव्यय, सर्वनाम, पं.ब.व. 'तत्'

विमुक्तः - मुक्त हुआ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'त्वम्'

त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

उपैष्यसि - प्राप्त होगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'उप + इ '2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इस प्रकार सन्न्यास तथा योग से युक्त अन्तःकरण वाला होकर कर्मबंधन के शुभ और अशुभ फल से तू मुक्त हो जाएगा और मुक्त होकर मुझे प्राप्त करेगा।

विवेचन : इस प्रकार सभी कर्म मुझको अर्पण करने से तुझको सन्न्यास और योग प्राप्त होगा। भगवान का भजन समर्पण पूर्वक हो सके, इसके लिए भजन के विरोधी सभी प्रकार के पदार्थों का त्याग करना ही सन्न्यास है। अथवा सभी कर्म भगवान को समर्पण करने से तात्पर्य सन्न्यास है - अर्थात् भक्तिरूपयोग। इस सन्न्यास और योग से युक्त अन्तःकरण वाला होकर कर्म के बन्धन, शुभ वा अशुभ कर्म के फल से मुक्त हो जाएगा। इस प्रकार कर्मबन्धन से मुक्त हुआ तू संसार के बन्धन से लिप्त न होकर मुझ पुरुषोत्तम को प्राप्त करेगा अर्थात सेवोपयोगी देह धारण कर व्यापि वैकुंठ में मेरे सान्निध्य में रहेगा।

इस श्लोक का अनुसन्धान श्रीभागवत के अध्याय 11/2/36 के संदर्भ में श्रीसुबोधिनी में किया गया है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः।।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या ते तेषु चाप्यहम्।।29।।

अन्वय :

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

सर्वभूतेषु - सब प्राणियों में; नाम, स.ब.व.नपु.

समः - समान रूप से, समभाव से व्यापक; विशेषण, वि. 'अहम्'

अस्मि - हूँ; क्रि. वर्त. का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
न – नहीं; अव्यय
द्वेष्यः – द्वेष्य; विशेषण, वि. 'कश्चित्'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
च न – और न ही; अव्यय
प्रियः – प्रिय; विशेषण, वि. 'कश्चित्'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
तु – परन्तु; 'अव्यय'
ये – जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'
भक्त्या – भक्ति से; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'भक्ति'
माम् – मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
भजन्ति – भजता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'भज्' 1 गण, परस्मै
ते – वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तद्'
मयि – मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
च – और, अव्यय
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
अपि – भी; अव्यय
तेषु – उनमें; सर्वनाम, स.ब.व.पु. 'तद्'
असमी – हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : मैं सभी भूतों में समान हूँ, मेरा कोई द्वेष्य नहीं है। परंतु जो मुझे भक्ति से भजते हैं वे मुझ में हैं और मैं उनमें हूँ।

विवेचन : अपने भक्तों को ही आप मुक्ति का दान करते हैं, अन्य को मुक्ति का दान नहीं करते तो आप में भी वैषम्य दोष अर्थात पक्षपात रूप दोष होता है– इस शंका को दूर करते हैं। नीच–उच्च अथवा सभी भूत मेरे लिए समान हैं। मेरे लिए कोई द्वेष्य नहीं है और कोई मुझे प्रिय नहीं है। फिर भी जो भक्ति से

मेरा भजन करते हैं वे मुझ में हैं अर्थात मैं उनका आधार हूँ और मैं भी उनमें हूँ अर्थात मैं भी उनके अधीन हूँ। यह भक्ति का विशेष माहात्म्य है जो मुझ सर्वनियन्ता परमेश्वर को भी अस्वतंत्र जैसा बना देता है। भगवान् स्वयं श्रीमद्भागवत में कहते हैं कि ''हे द्विज! मैं अस्वतंत्र की भांति उन भक्तों के पराधीन हूँ। उत्तम स्त्रियाँ जिस प्रकार उत्तम पति को वश में कर लेती हैं वैसे ही भक्त मुझे भक्ति से वश में कर लेते हैं।'' मैं भक्तों के वश होकर उनको मुक्ति का दान करता हूँ उसमें वैषम्य दोष नहीं है। जैसे कल्पतरू उसका आश्रय करने वाले प्राणीमात्र को उसके इच्छित पदार्थ का दान करता है और उसका आश्रय न करने वाले को कुछ भी नहीं देता तो उसमें कोई वैषम्य दोष नहीं है। उसी प्रकार जो मेरा आश्रय कर मेरी भक्ति करते हैं उनको मुक्ति का दान करता हूँ और जो मेरी भक्ति नहीं करते उनको मुक्ति का दान नहीं करता तो उसमें कोई वैषम्य नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् और सब भूत मैंने अपनी क्रीड़ा के लिए रचे हैं। जो मेरे क्रीड़ा रूप प्रयोजन को नहीं जानते, पापकर्म करते हैं और मुझ में वैषम्य आदि दोष देखते हैं वे मेरे सर्व प्राणियों में समान रूप से विद्यमान होने पर भी अपने ही दोष से बंधन को प्राप्त होते हैं और जो मेरे क्रीड़ा रूप प्रयोजन को जानकर भक्ति अथवा स्नेह से मेरा भजन करते हैं उनका मैं सदैव रक्षण करता हूँ। उसमें मुझे कोई वैषम्य दोष नहीं।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ।।30।।

अन्वय :
चेत् – जब : अव्यय।
सुदुराचारः – अति दुराचारी : नाम,प्र.ए.व.पु.
अपि – भी; अव्यय
माम् – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
अनन्यभाक् – अनन्य भाव से मेरा भक्त; विशेषण, वि. 'साधुः'

भूत्वा - होकर;
भजते - भजता है; क्रि.व.का.तृ.ए.व.पु. 'भज्' 1 गण
सः - वह; सर्वनाम; प्र.ए.व.पु. 'तत्'
साधुः - साधु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'साधु'
एव - ही, मात्र; अव्यय
मन्तव्यः - मानने योग्य; विधेय कर्माणि, कृ. विशेषण, वि. 'साधुः'
हि - निश्चय; अव्यय
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'
सम्यक् - यथार्थ; अव्यय
व्यवसितः - निश्चय वाला; भू.कृ. विशेषण, वि. 'साधुः'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोक : अत्यन्त दुष्ट आचरण वाला भी यदि मुझे अनन्यतापूर्वक भजता है तो उसे उत्तम ही मानना चाहिए क्योंकि वह उत्तम निश्चय वाला है।

विवेचन : मेरी भक्ति की प्राप्ति के लिए अमुक अधिकार होना ही चाहिए, ऐसा नहीं है अर्थात महापातित को भी मेरी भक्ति पावन करती है। अत्यन्त दुष्ट आचरण वाला मनुष्य भी जो मुझे अनन्यता से भजता है अर्थात एक मात्र मुझे ही भजता है और मेरे सिवा अन्य किसी देव का भजन अथवा सेवा अथवा आश्रय नहीं करता तो उसको उत्तम वैष्णवों में अग्रणी ही मानना चाहिए। श्रीमद् भागवत में भी भगवान् कहते हैं कि "बारह सद्गुण युक्त ब्राह्मण भगवान् की भक्ति से विमुख हो और उसके बजाए भगवान् को मन, वचन, कर्म, अर्थ, प्राण जिसने अर्पण कर दिए हैं तो वह चाण्डाल भी उत्तम है।" ऐसा होने में प्रयोजन यह है कि दुराचारी होने के उपरांत भी उत्तम निश्चय वाला है। उसका मेरी अनन्य भक्ति करने का निश्चय उत्तम है।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि विषय-सेवन आदि महापाप निरंतर करते रहने वाला जो मनुष्य उन पापों की निवृत्ति के लिए अन्य देव का भजन अथवा प्रायश्चित आदि उपाय उपयुक्त नहीं है- ऐसा जानता है, अन्य किसी

देव का भजन नहीं करता और विषय-सेवन आदि पापाचरण का त्याग करने में समर्थ नहीं है परंतु त्याग करने की इच्छा रखता है और इस प्रकार अपने दैन्य का आविर्भाव करके मेरी ही अनन्य भक्ति करता है वह साधु है क्योंकि उसका निश्चय उत्तम है। यहाँ यह कहने से कि दुराचारी होकर भी भक्त होने से वह उत्तम है अतः उसको दुष्ट आचरण (भक्ति में) बाधक नहीं है अतः भक्तों को दुष्ट आचरण करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए- ऐसा तात्पर्य नहीं माना जाए।

इस विषय पर तत्त्वदीप निबंध के दूसरे सर्वनिर्णय प्रकरण में श्लोक 236 की टीका में विस्तार से विवेचन किया गया है अतः यहाँ विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिं निगच्छति।।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।31।।

अन्वय :
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'
क्षिप्रम् - जल्दी से; अव्यय
धर्मात्मा - धर्मात्मा; नाम, प्र.ए.व.पु.
भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण
च - और; अव्यय
शश्वत शान्तिम् - नित्या स्थाई शान्ति;नाम, द्वि.ए.व. स्त्री.
निगच्छति - प्राप्त करता है;क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'नि+गम्' 1गण, परस्मै
कौन्तेय - अर्जुन;सम्बोधन ।
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
प्रतिजानीहि - निश्चित जानो; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. प्रति+ज्ञा 9 गण।
यत् - कि;अव्यय
मे - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्' ।
भक्तः - भक्त; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भक्त'

न-नही;अव्यय ।

प्रणश्यति - नाश को प्राप्त होता है;क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. प्र+नश् 4 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : वह तत्काल ही धर्मात्मा हो जाता है और स्थाई शांति को प्राप्त होता है। हे कौन्तेय! मेरी यह प्रतिज्ञा जान कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता।

विवेचन : ऐसा अत्यन्त दुराचारी मात्र उत्तम निश्चय से उत्तम कैसे हो सकता है? इस शंका के समाधान स्वरूप कहते हैं कि उसके दुराचार का तत्काल नाश हो जाता है। तत्काल धर्मात्मा हो जाता है, पाप करना छोड़ देता है और उत्तम आचरण करता है। उसके पाप निर्मूल हो जाते हैं। उसको स्थाई शान्ति प्राप्त होती है। हे कौन्तेय! तू मेरी प्रतिज्ञा जान कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता अथवा तू सबके समक्ष प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता। अत: अति तामस, राजस और महापतित लोगों का भी भगवत संबंध हो जाने पर भगवान् उनको पावन करते हैं और उनका अपनी कृपा से निरोध करते हैं। इस श्लोक का अनुसधांन भागवत के श्लोक *10/2/26* के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः तेपि यान्ति परां गतिम् ।।32।।

अन्वयः

हि-निश्चय;अव्यय ।

पार्थ - अर्जुन;सम्बोधन

माम् - मुझको;सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

व्यपाश्रित्य - शरणागत होकर; विधेय कृदन्त 'वि+अप+आ+श्रि ' 1गण उभय

स्त्रियः - स्त्रियाँ: नाम, प्र.ब.व.स्त्री. ।

वैश्याः - वैश्यः नाम, प्र.ब.व.पु. 'वैश्य'

शूद्राः - शूद्र; नाम, प्र.ब.व.पु. 'शूद्र'

तथा - और ,इसके अलावा; अव्यय

पापयोनयः - पापयोनि में जन्मवाले;विशेषण, वि. 'स्त्रियः वैश्याः शूद्राः'

अपि - भी; अव्यय

ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'

स्युः - हों; क्रियापद, विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तद्'

अपि - भी; अव्यय

पराम् - श्रेष्ठ ,परम; विशेषण, वि. 'गतिम्' ।

गतिम् - गतिम को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'गति'

यान्ति - प्राप्त हो जाते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : (कारण कि) हे पार्थ! जो कोई पापी, स्त्रियाँ,वैश्य तथा शूद्र हों तो भी मेरा आश्रय करके परम गति को प्राप्त होते हैं।

विवेचन: पिछले श्लोक में उल्लिखित प्रतिज्ञा करने का कारण यह है कि मेरा आश्रय जिसने कर लिया है वह फिर चाहे जैसा - पूतना जैसा पापी हो, गोपियों की भांति मात्र, अनपढ़, शास्त्र की अनधिकारिणी स्त्रियाँ हों, तुलाधार अथवा नन्द जैसे वैश्य हों अथवा विदुर जैसे शूद्र हों - सभी परम गति को प्राप्त होते हैं।

किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।।
अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम् ।।33।।

अन्वयः

किम् पुनः(वक्तव्यम्) - अधिक क्या कहना; अव्यय विध्यर्थ, कृद. 'वच्' 2गण

ब्राह्मणाः - ब्राह्मण; नाम ,प्र.ब.व.पु. 'ब्राह्मणा' ।

पुण्याः ,भक्ताः - पवित्र लोग, भक्त; नाम, प्र.ब.व.पु. ।

तथा - उसी प्रकार ,और;अव्यय ।

राजर्षय : - क्षत्रिय, राजर्षि;नाम,प्र.ब.व.पु. 'राजर्षि' (पराम् गतिम् यान्ति=परा गति को प्राप्त करते हैं)

(अतः त्वम्= इसलिए तू); अव्यय, सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
इमम् -यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'इदम्'
अनित्यम् - क्षणिक;विशेषण, वि. 'लोकम्'
असुखम् - दुःखमय; विशेषण, वि. 'लोकम्'
लोकम् - लोक को, मनुष्य शरीर को;नाम, द्वि.ए.व.पु. 'लोक'
प्राप्य - प्राप्त करके;विधेय कृदन्त
माम् - मुझको;सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
भजस्व - भज; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'भज्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : तो फिर पुण्यवान् ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तों का तो कहना ही क्या? अनित्य सुखरहित यह लोक प्राप्त कर मेरा भजन कर।

विवेचन : जब इस प्रकार के अनाधिकारियों को भी मेरा आश्रय करने से परम गति की प्राप्ति होती है फिर वेदाध्ययन के अधिकारी पवित्र ब्राह्मणों और प्रजापालन आदि शुभ आचरण करने वाले राजर्षि भक्तों को उत्तम गति प्राप्त हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या? परंतु ऐसे उत्तम साधनों वाले होने पर भी जो ब्राह्मण यज्ञ करने बैठें और भगवान् श्रीकृष्ण की गोपों द्वारा की गई अन्न की याचना की अवज्ञा करने वाले विप्रों की भांति मेरी भक्ति से विमुख होते हैं तो वे मेरी भक्ति नहीं करते। ऐसे उत्तम साधनों वाले मेरी भक्ति करने वाले नारद, श्रुतदेव,सुदास और बहुलाश्व जैसे कोई विरले ही होते हैं। अतः हे पार्थ! अनित्य और सुखरहित इस लोक को प्राप्त हुआ तू भी मेरा भजन कर।

इस श्लोक का अनुसंधान श्री भागवत के श्लोक 2/1/5 के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में किया गया है। मेरा (भगवान् का) भजन कैसे करना चाहिए- अब यह बताते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू ।।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायणः ।। 34।।

अन्वयः
त्वम् -तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्' ।
मन्मनाः - मुझ में मनवाला; विशेषण, वि. 'त्वम्'
मद्भक्तः - मेरा भक्त; विशेषण, वि. 'त्वम्' ।
च- और;अव्यय
मद्याजी - मेरा यजन करने वाला; विशेषण, वि. 'त्वम्'।
भव - हो;क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'भू' 1गण, परस्मै
माम् - मुझको;सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्' ।
नमस्कुरू - नमस्कार कर;क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'नमस्+कृ' 8 गण परस्मै
एवम् - इस प्रकार;अव्यय
मत्परायणः - मुझ में परायण हुआ;विशेषण, वि. 'त्वम्'
आत्मानम् - आत्मा को; नाम,द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्' ।
युक्त्वा - जोड़कर;विधेय कृदन्त 'युज्'
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्' ।
एव - ही, मात्र;अव्यय
एष्यसि - प्राप्त होगा;क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'इ' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मुझ में मन वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा यजन करने वाला हो, मुझे नमन कर। मेरे परायण रह कर आत्मा को इस प्रकार युक्त करने से तू मुझे ही प्राप्त करेगा।

विवेचन : नीलव्योम जैसी मूर्ति वाले , सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, मात्र परम आनंदमय कर-पाद-मुख-उदर आदि जिनके हैं उन सर्व अलौकिक गुणों के भंडार, अचिंत्य, सर्व वेदांतों से वेद्य, अपनी इच्छा से ही अपने अशेष सौन्दर्य का आविर्भाव कर भूतल पर प्रकट हुए भगवान श्री पुरूषोत्तम ने 'तू मुझ में ही मन रखने वाला हो' आदि ऊपर बताई गई सांख्य और योग के तात्पर्य रूप स्मरण रूप भक्ति कही। अतः इस प्रकार ज्ञानकाण्ड के अर्थ की सिद्धि होती है। 'मेरा भक्त हो' अर्थात मेरे पुरूषोत्तमस्वरूप की ही सेवा कर। इससे

उपासना काण्ड की सिद्धि होती है। 'मेरा ही यजन करने वाला हो' – इससे कर्मकाण्ड के अर्थ की सिद्धि होती है। मुझे ही नमस्कार कर। 'मैं आपका दास हूँ' इस अनन्य भाव से साष्टांग दंडवत कर तेरे अहंकारादि समस्त दोषों का त्याग कर मेरी शरण में आ। मेरे परायण रहकर आत्मा को इस प्रकार मुझ से युक्त करने से तू मुझे ही प्राप्त करेगा। यहाँ अंत मे ''एव=ही'' जोड़ा गया है जिसका संपूर्ण वाक्य से संबंध है। अत: मेरा ही भजन आदि कर अर्थात अन्य देव का भजन, अन्य देव को नमस्कार आदि नहीं कर– ऐसा बोध होता है। भगवान् के अनुग्रहात्मक पुष्टिमार्ग का यह मुख्य सिद्धांत है। इस मार्ग में भगवान् का आश्रय ही मुख्य है तथा भक्तों के लिए फलरूप और सर्वसाधनरूप स्वयं भगवान् ही हैं। इसीलिए भगवान् – ''मुझे ही प्राप्त करेगा'' इस प्रकार कहते हैं। मेरी भक्ति से प्राप्य फल मैं ही हूँ। इस संबंध में श्रीमदाचार्य चरण विरचित सेवाफल ग्रंथ का अवलोकन करना अभीष्ट है। इस श्लोक का अनुसंधान श्री भागवत् के श्लोक 3/9/17 के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ''राजविद्याराजगुह्ययोगो'' नाम नवमोध्याय: ।।9।।

।। अध्याय 10 ।।

विभूतियोग

नवम् अध्याय में भक्ति का स्वरूप कहकर भगवान् को सर्व कर्म समर्पण करने और भक्ति करने का बोध कराया गया है ; परंतु भगवान् का स्वरूप जाने बिना भक्ति संभव नहीं है अत: भगवत्स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के लिए भगवान् अपने स्वरूप तथा अपनी विभूतियों का इस अध्याय में निरूपण करते हैं।

श्री भगवान् उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वच:।।
यत् तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।1।।

अन्वय:

महाबाहो – अर्जुन ; सम्बोधन।
भूय: एव – फिर से, मात्र, ही ; अव्यय।
मे – मेरे ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
परमम् – श्रेष्ठ, रहस्ययुक्त ; विशेषण, वि. 'वच:'।
वच:– वाणी, वचन : नाम; प्र.ए.व. नपु. 'वचस्'।
शृणु – सुन ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि. पु.ए.व. 'शृ' 5 गण
यत् – जो ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु. 'यत्'।
अहम् – मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
प्रीयमाणाय – प्रेम रखने के लिए ; विशेषण, वि. 'ते' व.कृ.
ते (तुभ्यम्) – तुमको ; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मद्'
हितकाम्यया – हित की इच्छा से ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'हितकाम्या'
वक्ष्यामि – कहूँगा ; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'वच्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे महाबहो! मैं प्रसन्न होकर तुम्हारे हित की इच्छा से जो परम वचन कह रहा हूँ उनको फिर से सुन।

विवेचन : वासुदेव भगवान् ने अर्जुन को उपदेश तो दिया और उसके हित के बारे में भी बहुत बार बताया ; लेकिन भगवान् अर्जुन पर प्रीति रखते हैं यह किसी भी श्लोक से पता नहीं चलता। इस श्लोक से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान् की अर्जुन पर प्रीति है। जीवभाव से अर्जुन भगवदंश तो है ही ; परंतु वह व्यामोह दशा में पड़ा होने से उसकी प्रीति सामान्य लोक (संसार) में प्रवृत्त है। नौवें अध्याय तक प्रभु के वचनों से उसका व्यामोह कम हुआ जानकर प्रभु भी उसके प्रति प्रीतिमय वचन के साथ कुछ अधिक रहस्यमय उपदेश करते हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।।
अहम् आदिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।2।।

अन्वयः

मे - मेरे; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्' ।
प्रभवम् - प्रभाव को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'प्रभव'
सुरगणाः - देवगण; नाम, प्र.ब.व.पु.'सुरगण'।
न - नही; अव्यय
विदुः - जानते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'विद्' 2गण, परस्मै।
च - और; अव्यय
महर्षयः - महर्षिगण; नाम, प्र.ब.व.पु. 'महर्षि' ।
अपि - भी; अव्यय
न हि - नहीं ही; अव्यय ।
विदुः - जानते हैं; क्रियापद
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
महर्षीणाम् - महर्षियों का; नाम, ष.ब.व.पु.
च - और; अव्यय ।
देवानाम् - देवों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'देव'
सर्वशः - सभी प्रकार से; अव्यय।

आदिः - आदि; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : देवों के गण अथवा महर्षिगण मेरा प्रभव नहीं जानते क्योंकि देवों और महर्षियों का मैं सभी प्रकार से आदि कारण हूँ।

विवेचन : मेरे स्वरूप और विभूति के संबंध में जो परम वचन मैं तुम्हें कहने वाला हूँ वे बहुत गूढ़ हैं। देव अथवा महर्षि भी मेरे प्रभव अर्थात प्रादुर्भाव को नहीं जानते। देव और महर्षि होने से वे यह जानते हैं कि मैंने भूमि के भार के हरण के लिए धर्म का और उनका रक्षण करने के लिए अवतार धारण किया है। परंतु वे यह नहीं जानते कि मैं पूर्णरूप साक्षात पुरूषोत्तम अवतरित हुआ हूँ और भक्ति का प्रचार करना मेरे अवतार का मुख्य प्रयोजन है; वे यह भी नहीं जानते। मेरी कृपा के बिना कोई मेरे अवतार का प्रयोजन अथवा मेरा स्वरूप नहीं जान सकता। देवों और महर्षियों का सभी प्रकार से आदि कारण मैं हूँ अतः वे मेरे आविर्भाव का प्रयोजन तथा मेरे स्वरूप को कैसे जान सकते हैं।

यो माम् अजम् अनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः समर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। 3।।

अन्वयः

यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्' ।
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
अजम् - अजन्म; विशेषण, वि. 'माम्' ।
अनादिम् - अनादि; विशेषण, वि.'माम'
च - और; अव्यय
लोकमहेश्वरम् - लोक का महेश्वर; विशेषण, वि. 'माम्'
वेत्ति - जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै
असम्मूढः - सम्मोह बिना, ज्ञानवान्; विशेषण, वि. 'सः'
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्' ।

मर्त्येषु - मृत्युलोक में ; नाम, स.ब.व.पु.'मर्त्य'
सर्वपापैः - सब पापों से ; नाम, तृ.ब.व.नपु.
प्रमुच्यते - मुक्त हो जाता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'प्र+मुच्' 6गण, कर्मणि

श्लोकार्थ : मर्त्यों में जो मोह रहित पुरूष मुझे अज, अनादि और लोकों का महेश्वर जानता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन : मंत्रद्रष्टा ऋषि भी मेरे आविर्भाव को नहीं जानते। इसलिए ही मैं अज हूँ। अन्य सब अर्थात गुण, प्रकृति, आकाश आदि का जन्म होता है परंतु मैं अज हूँ। मैं अनादि हूँ। मुक्त जीवों का भी जन्म न होने से वे भी 'अज' अर्थात जन्मरहित हैं परंतु उनके जन्मराहित्य का आदि(आरंभ) होने से वे 'अनादि' नहीं हैं। अतः उनसे स्वयं (भगवान्) 'पर' हैं - यह बोध कराने के लिए 'अनादि' शब्द योजित किया है। अतः 'अज' और 'अनादि' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक नहीं हैं। सर्वलोकों का मैं नियंता हूँ, मरणधर्मा लोगों में असम्मूढ अर्थात प्रमादरहित जो कोई मुझे इस प्रकार से जानता है वह संसारहेतुभूत भक्ति विरोधी सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानम् असम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।। 4।।

अहिंसा समता तुष्टिः तपो दानं यशोऽयशः।।
भवन्ति भावा भूतानां मत्तएव पृथग्विधाः।। 5।।

अन्वयः
बुद्धिः - बुद्धि ; नाम, प्र.ए.व.।
ज्ञानम् - ज्ञान ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
असम्मोह :- अमूढ़ता ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
क्षमा - क्षमा ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री।
सत्यम् - सत्य ; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
दमः- इंद्रियों का निग्रह ; नाम, प्र.ए.व.पु.

शमः - मन की शान्ति ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
सुखं दुःखम् - सुख और दुःख ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
भवः अभावः - उत्पत्ति और लय ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
भयम् - भय ; नाम, प्र.ए.व.पु.
च - और ; अव्यय।
अभयम् - अभय ; नाम, प्र.ए.व.नपु.
च - और ; अव्यय
अहिंसा - अहिंसा ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.।
एव - ही ; अव्यय
तुष्टिः - सन्तोष ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री।
तपः - तप ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'तपस्'
दानम् - दान ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'दान'।
यशः - यश ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'यशस्'
च - और ; अव्यय
अयशः - हानि, अकीर्ति, अपकीर्ति ; नाम, प्र.ए.व.नपु.
एवम् - इस प्रकार से ;।
भूतानाम् - प्राणियों के ; नाम, ष.ब.व.नपु. 'भूत'
पृथग्विधाः - अलग प्रकार के ; विशेषण, वि. 'भावाः'।
भावाः - भाव ; नाम, प्र.बहु.पु. 'भाव'
मत्तः - मेरी तरफ से ; सर्वनाम, पं.ए.व. 'अस्मत्' तद्धित प्रत्यय 'तः'
एव - मात्र ; अव्यय
भवन्ति - होते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'भूत' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय और अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश, ये सब भिन्न-भिन्न प्राणियों के भाव मुझ से ही होते हैं।

विवेचन : प्राणियों के सब भाव मुझ से ही होते हैं। अब भावों का विस्तार से वर्णन करते हैं।

अध्यवसाय अथवा 'निश्चयरूप बुद्धि', उपदेश से उत्पन्न होता 'ज्ञान', 'असम्मोह' अर्थात माया की चमक से मोहित न होना, 'क्षमा' अथवा सहनशीलता, 'सत्य' अर्थात प्रमाण से जैसा अर्थ निर्णीत हो वैसा ही भाषण, बाह्य इंद्रियों को उनके विषयों से दूर रखने का तात्पर्य है 'दम', 'शम' अर्थात अन्त:करण की शांति, आत्मा के अनुकूल अनुभव का अर्थ है 'सुख' और आत्मा के प्रतिकूल का अर्थ है 'दु:ख'। सुख और दु:ख भी मुझ से ही होते हैं। कारण कि मैं तीनों मार्ग का अधिष्ठाता हूँ और जीव अपने-अपने अधिकार के अनुसार तीनों मार्ग में से जिस मार्ग का अनुसरण करता है उसी के अनुसार मैं उसको सुख अथवा दु:ख प्रदान करता हूँ। 'भव' अर्थात उत्पत्ति और 'अभाव' का अर्थ है नाश, 'भय' अर्थात मृत्यु , काल आदि का भय, 'अभय' अर्थात मेरे चरणों की प्राप्ति हो जाने से काल, मृत्यु आदि के भय का अभाव, 'अहिंसा' का अर्थ है दया और 'समता' अर्थात सर्वत्र भगवद्बुद्धि। 'तुष्टि' अर्थात संतोष। उसी प्रकार तप, दान, यश और अपयश आदि सभी प्राणीमात्र के भाव मुझ से ही होते हैं। अत: मुख्य कर्ता और सब का कारण मैं हूँ। प्रकृति आदि मात्र करण हैं; कारण नहीं अत: मेरी महिमा महान है ।

इन दोनों श्लोक का अनुसंधान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/2/39 के संदर्भ में अणुभाष्य तथा श्री भागवत 10/13/59 के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है।

महर्षय: सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा: प्रजा: ।। 6।।

अन्वय:

पूर्वे - पहले; सर्व. सा.वि.ए.व.।
सप्त - सात; विशेषण, वि. 'महर्षय:'

महर्षय: - महर्षि गण; नाम, प्र.ब.व.पु.'महर्षि'।
चत्वार: - चार 'सनकादिक'; विशेषण, वि. 'महर्षय:'
तथा - और; अव्यय
मनव: - चौदह मनु; नाम, प्र.ब.व.पु. 'मनु'
मद्भावा: मानसा: - मुझ में भाव वाले, मेरे संकल्प वाले; विशेषण, वि. 'मनव:''महर्षय: सनकादय:'
जाता: - उत्पन्न हुए; भू.कृ.विशेषण, वि. 'महर्षय:'।
येषाम् - जिनकी; सर्वनाम, ष.ब.व.पु.
लोके - लोक में, संसार में; नाम, स.ए.व.पु. ।
इमा: - यह सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.स्त्री.'इदम्'
प्रजा: - प्रजा; नाम, प्र.ब.व.स्त्री. 'प्रजा'।
सन्ति - हैं; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : सप्त महर्षि और पहले के चार मनु मेरे प्रभाव वाले मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं। लोक में यह प्रजा उन्हीं की है।

विवेचन : भगवान्, महर्षियों और देवों के आदि कारण किस प्रकार से हैं - यह बताते हैं। सात महर्षि और चौदह मनु में से पहले चार मनु मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं और उनमें मेरा प्रभाव है। महर्षि और मनु भगवान के मन से उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि भगवान् मन से ही सृष्टि की रचना करते हैं।'' उसने इच्छा की - मैं अनेक हो जाऊँ, प्रजा उत्पन्न करूँ'' आदि वाक्यों से श्रुति भी मन से ही सृष्टि की रचना का बोध कराती है। इन महर्षियों और मनुओं की ही इस लोक में समस्त प्रजा है। अत: समस्त प्रजा के कारण रूप महर्षि और मनुओं के भी कारण होने से भगवान् अनादि हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वत: ।।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय: ।। 7।।

अन्वयः

यः - **जो**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'

एताम् - **इस**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'एतद्'

मम - **मेरी**; सर्वनाम, ष.ए.व.'अस्मत्' ।

विभूतिम् - **विभूति को**; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'विभूति'

च - **और**; अव्यय

योगम् - **योग को, योगशक्ति**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योग'

तत्त्वतः - **तत्व से**; नाम, पं.ए.व.

वेत्ति - **जानता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै

सः - **वह**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तद्'

अविकम्पेन - **निश्चल, स्थिर**; विशेषण, वि. 'योगेन'

योगेन - **योग से**; नाम, तृ.ए.व.पु.'योग' ।

युज्यते - **जुडता है, युक्त होता है, ऐक्य भाव को प्राप्त होता है**; क्रि.व.का. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'युज्' 7गण

अत्र - **यहाँ, इसमें**; अव्यय ।

संशयः - **संशय**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संशय'

न - **नहीं**; अव्यय

अस्ति - **है**; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : जो मेरी इस विभूति और योग को तत्व से जानता है वह निश्चल योग से युक्त होता है इसमें संदेह नहीं है।

विवेचन : जो मेरी इस महर्षि और मनुरूप विभूति को तथा मेरे ऊपर बताए गए योग अथवा प्रभाव को तत्व से जानता है वह निश्चल भक्तिरूप योग को प्राप्त होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।। 8।।

अन्वयः

अहम् - **मैं**; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्' ।

सर्वस्य - **सबका**; सर्वनाम, ष.ए.व.'सर्व'

प्रभवः - **उत्पत्ति का कारण**; नाम, प्र.ए.व.पु.'प्रभव' ।

अस्मि च - **हूँ, और**; क्रि.व.का.'अस्'

सर्वम् - **समस्त**; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

मत्तः - **मुझ से**; सर्वनाम, पं.ए.व.

प्रवर्तते - **प्रवृत्त होता है**; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. प्र+वृत् 1गण, आत्मने ।

इति - **इस प्रकार**; अव्यय

मत्वा - **मानकर, समझ कर**; विधेय कृदन्त, 'मन्' 4 गण, आत्मने ।

भावसमन्विताः - **भावयुक्त**; विशेषण, वि. 'बुधाः' ।

बुधाः - **बुद्धिमान भक्त**; नाम, प्र.ब.व.पु. 'बुध'

माम् - **मुझको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

भजन्ते - **भजते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'भज्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थ : मैं सबका प्रभव अर्थात मूल कारण हूँ। सब मुझ से ही प्रवृत्त होते हैं - ऐसा जानकर भावयुक्त बुद्धिमान मुझे भजते हैं ।

विवेचन : यहाँ से चार श्लोक (8-11) तक निरूपण करते हैं कि भगवान की विभूति तथा योग के ज्ञान से प्राप्त हुई भक्ति किस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होती है। मैं समस्त जगत का प्रभव तथा उत्पत्ति स्थान हूँ। जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है कि सर्व जगत मुझ से ही प्रवृत्त होता है- यह जानते हुए मेरे माहात्म्य का ज्ञान हो जाने से मुझ में भाव युक्त बुद्धिमान लोग मुझे भजते हैं ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। 9।।

अन्वयः

मच्चित्ताः - **मुझ में चित्त वाले**; विशेषण, वि. 'बुधाः'।

च – **और**; अव्यय
मद्गतप्राणाः – **मुझ में प्राणों को अपर्ण किया है (जिन भक्तों ने)**; विशेषण, वि. 'बुधाः'
परस्परम् – **एक दूसरे को**; अव्यय ।
माम् – **मुझको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
च नित्यम् – **ही हमेशा**; अव्यय ।
बोधयन्तः –**समझाते हुए, जानते हुए**; व.कृ.विशेषण,वि. 'बुधाः'
च – **और**; अव्यय ।
कथयन्तः – **कहते हुए, गुणों का वर्णन करते हुए**; व.कृ.विशेषण, वि. 'बुधाः'
तुष्यन्ति – **संतोष प्राप्त करते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'तुष्' 4गण, परस्मै
रमन्ति – **आनंद करते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'रम्' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मुझ में चित्त वाले, मुझ में प्राण वाले, मेरा परस्पर बोध कराते हुए तथा नित्य मेरी कथा करते हुए संतोष पाते हैं और आनंद करते हैं ।

विवेचन : मुझ में चित्त वाले अर्थात जिन्होंने मुझको चित्त अर्पण कर दिया है तथा मुझ में प्राण वाले अर्थात जिन्होंने अपने प्राण और इंद्रियाँ मुझे अर्पण कर दिए हैं वे परस्पर मेरा बोध कराते हैं और नित्य मेरी कथा करते हैं। इस प्रकार नित्य सेवा मार्ग की रीति से मेरा भजन करते हैं तथा मेरी कथा करते हैं और उसी में संतोष पाकर आनंद करते हैं। मुझे चित्त, प्राण तथा इंद्रियाँ अर्पण की हुई होने से उनका मुझसे संबंध हो गया है। यही ब्रह्मसम्बन्ध है। भगवान् श्री कृष्ण को आत्मा के साथ देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और उनके धर्मों का अर्पण करना ही ब्रह्मसंबंध है।

इस प्रकार वे देह, इन्द्रिय, प्राण आदि का मुझे अर्पण करके मेरे दास होकर मेरी सेवा करते हैं तथा मेरी कथा करके आनंद पाते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते ।।10।।

अन्वयः
तेषां – **उन(को)**; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'तत्' ।
सततयुक्तानां – **निरंतर मुझ में लगे हुए**; भू.कृ. विशेषण, वि. 'बुधानाम्' ।
प्रीतिपूर्वकम् – **प्रीतिपूर्वक**; अव्यय।
भजताम् – **भजन करने वालों को**; व.कृ.विशेषणा, 'बुधानाम्'
अहम् – **मैं**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'।
तम् – **वह**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तत्'
बुद्धियोगम् – **बुद्धियोग**; नाम, द्वि.ए.व.पु.
ददामि – **देता हूँ**; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'दा' 3गण, परस्मै।
येन – **जिसके द्वारा**; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.'यत्' ।
ते – **वे**; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'
माम् – **मुझको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
उपयान्ति – **समीप जाते हैं, मुझे प्राप्त होते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'उप+या' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : उन निरन्तर युक्त और प्रीतिपूर्वक भजन करनेवाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूं जिससे वे मेरे समीप आते हैं।

विवेचन : उन निरन्तर मेरे साथ युक्त अर्थात जिन्होंने देह भी मुझे अर्पण की है उनको, अथवा जो निरन्तर मेरी कृपा से युक्त हैं उनको और प्रीति से अर्थात स्नेहपूर्वक मेरा भजन करने वालों को मैं अपनी स्वरूपात्मक भक्ति का उपायरूप बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे समीप आते हैं अर्थात इस योग से उनको निर्गुण मुक्ति प्राप्त होती है।

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमः ।।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।11।।

अन्वयः

तेषाम् – **उन पर**; सर्वनाम, ष.ब.व.पु.

एव – **ही, मात्र**; अव्यय

अनुकम्पार्थम् – **अनुग्रह करने के लिए**; नाम, च.ए.व ।

आत्मभावस्थः – **आत्म भाव में स्थित**; विशेषण, वि. 'अहम्'

अहम् – **मैं**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।

भास्वता – **प्रकाशमय**; व.कृ.विशेषण, वि. 'ज्ञानदीपेन'

ज्ञानदीपेन – **ज्ञानरूप दीपके से**; नाम, तृ.ए.व.पु. 'ज्ञानदीप'

अज्ञानजम् – **अज्ञान से उत्पन्न हुआ**; विशेषण, वि. 'तमः' ।

तमः – **अंधकार**; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'तमस्'

नाशयामि – **नाश कर देता हूँ**; क्रि.प्रेरक, व.का. द्वि.पु.ए. 'नश्' 4 गण, परस्मै ।

श्लोकार्थ : उनके ऊपर ही कृपा करने के लिए उनके आत्मभाव में रहकर प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपक से मैं उनके अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को दूर करता हूँ।

विवेचन : (अब यह स्पष्ट करते हैं कि) उनको आत्मज्ञान का दान भी मैं ही करता हूँ । उनके आत्मभाव में स्थित रहकर अर्थात उनके अंतरात्मत्व का अंगीकार कर मैं रहता हूँ और, इस प्रकार ज्ञानरूपी प्रकाशमान दीपक से उनके देहाध्यास आदि अज्ञानरूपी अंधकार का मैं नाश करता हूँ अर्थात मेरे भगवदीयों के योग और क्षेम को मैं ही संभालता हूँ।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।।
पुरूषं शाश्वतं दिव्यम् आदिदेवम् अजं विभुम् ।। 12 ।।
आहुस्त्वाम् ऋषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।। 13 ।।

अन्वयः

भवान् – **आप**; सर्वनाम, 'भवत्' प्र.पु.ए.व. ।

परम् – **परम**; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'

ब्रह्म – **ब्रह्म**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ब्रह्मन्' ।

परम् – **परम**; विशेषण, वि. 'धाम'

धाम – **धाम, तेजोमय स्थान**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'धामन्' ।

च – **और**; अव्यय

परमम् – **परम**; विशेषण, वि. 'धामन्' ।

पवित्रम् – **पवित्र हैं**; विशेषण, वि. 'धाम'

त्वाम् – **आपको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मद्' ।

सर्वे – **सब** ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु

ऋषयः – **ऋषिगण**; नाम, प्र.ब.व.पु.'ऋषि' ।

शाश्वतम् – **शाश्वत, सनातन**; विशेषण, वि. 'पुरूषम्'

दिव्यम् – **दिव्य**; विशेषण, वि. 'पुरूषम्'

आदिदेवम् – **मुख्य देव**; नाम, द्वि.ए.व.पु.'आदिदेव'

अजम् – **अजन्म**; विशेषण, वि. 'पुरूषम्'।

च – **और**; अव्यय

विभुम् – **व्यापक**; विशेषण, वि.'पुरूषम्' ।

पुरूषम् – **पुरूष को**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'पुरूष'

आहुः – **कहते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'ब्रू' 2गण, परस्मै ।

तथा – **और, उसी प्रकार से**; अव्यय

देवर्षि – **देवर्षि; देव से संबंधित ऋषि**; विशेषण, वि. 'नारदः'

नारदः – **नारद**; नाम, प्र.ए.व.पु.

असितः – **असित नामक ऋषि**; नाम,प्र.ए.व.पु. 'असित'

देवलः व्यासः – **देवल और व्यास**; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

च, एव –**और, इसके अतिरिक्त** ; अव्यय

स्वयम् – **स्वयं** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अव्यय'।

त्वम् - आप ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
मे (मह्यम्) - मुझको ; नाम, च.ए.व. 'अस्मत्'।
ब्रवीषि - कहते हैं ; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'ब्रू' 2 गण

श्लोकार्थ : आप परब्रह्म हैं, परधाम हैं और परम पवित्र हैं। सभी ऋषि - देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको शाश्वत दिव्य पुरुष, आदिदेव, अज और विभु कहते हैं और आप भी मुझे ऐसा ही कहते हैं।

विवेचन : सबसे विलक्षण भगवान् के उत्तम योगप्रभाव और अपने अर्थात अनन्य भक्त के अंतरात्मा में रहने के लिए (भगवान् को) विभूतिरूप जानकर विस्तार से इस संबंध में सुनने की इच्छा से अर्जुन सात श्लोक (12-18) से भगवान् की स्तुति करते हुए प्रश्न करते हैं। आप परब्रह्म अर्थात व्यापक पुरुषोत्तम हैं, परधाम अर्थात पुरुषोत्तमात्मक तेजोरूप हैं, परम पवित्र अर्थात सबसे उत्तम पावन करने वाले हैं। ऐसा आपका स्वरूप है और इसमें कोई संदेह नहीं ; कारण यह है कि भृगु आदि ऋषिगण, परम भागवत देवर्षि नारद, भगवद्धर्मरूप असित, देवल और ज्ञानावतार व्यासजी भी आपको शाश्वत अर्थात नित्य दिव्य पुरुष अर्थात पुरुषोत्तम, 'आदिदेव' अर्थात मूलरूप अवतारी, 'अज' अर्थात जन्मरहित और 'विभु' अर्थात सर्वशक्तिमान कहते हैं। इसके अतिरिक्त, आप भी मुझको - "मैं देवों और महर्षियों का आदि कारण हूँ" - ऐसा बताते हैं अत: आप परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; इसमें कोई संदेह नहीं है।

सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये यन् मां वदसि केशव: ।।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवा: ।। 14 ।।

अन्वय:
केशव - कृष्ण; सम्बोधन।
यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्' ।

त्वम् - आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
वदसि - बोलते हैं; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'वद्' 1 गण, परस्मै
एतद् सर्वम् - यह सब ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
ऋतम् - सत्य ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
मन्ये - मानता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'मन्' 4 गण, आत्मने।
भगवन् - हे भगवान ; सम्बोधन
ते - आपके ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मद्'।
व्यक्तिम् - लीलामय स्वरूप को ; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'व्यक्ति'
न - नहीं ; अव्यय
दानवा:- दानव ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'दानव'
विदु:- जानते हैं ; क्रि.व.का.तृ. पु.ब.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै
च न हि - और न ही ; अव्यय।
देवा: - देव ; नाम, प्र.ब.व.पु.
विदु: - जानते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे केशव ! आप मुझे जो कुछ कह रहे हैं वह सब मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि हे भगवन् ! आपके स्वरूप को देव अथवा दानव कोई नहीं जानते।

विवेचन: हे भगवन् ! समस्त ज्ञान भी आपका ही है। गुण भी आपके द्वारा प्रदत्त होने से ही दूसरे हो जाते हैं। इसलिए देव और दानव भी आपके अनन्य असाधारण योगप्रभाव को अथवा आपके भिन्न-भिन्न विभूतिरूप लीलामय स्वरूप को नहीं जानते।

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम!।।
भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते!।। 15 ।।

अन्वय
देवदेव - देवों के देव ; सम्बोधन।

जगत्पते – जगत के अधिपति ; सम्बोधन
भूतेश – भूतों के ईश्वर ; सम्बोधन, ''भूतानाम् ईशः'' तत्पुरुष
भूतभावन – भूतों को उत्पन्न करने वाले ; ''भूतानि भावयति इति'' उपपद, सम्बोधन
पुरुषोत्तम – हे पुरुषोत्तम ; सम्बोधन।
त्वम् – आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
स्वयमेव – स्वयं ही; अव्यय
आत्मना – आत्मा के द्वारा, अपने–आप से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'आत्मन्'
आत्मानम् – अपने को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'
वेत्थ – आप जानते हैं; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पुरूषोत्तम ! हे भूतभावन ! हे भूतों के ईश ! देवों के देव ! जगतपति ! आप स्वयं ही अपने आप से अपने आप को जानते हैं।

विवेचन : अन्य कोई देव अथवा दानव आपके स्वरूप को नहीं जानते हैं। मात्र आप स्वयं ही अपने आप से अपने यथार्थ स्वरूप को जानते हैं। दूसरा कोई नहीं जान सकता क्योंकि आप पुरूषोत्तम हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में भी कहा गया है कि – ''यह पुरूषोत्तम किसी से भी नहीं जाना जा सकता'' तथा बाद में – '' जो मुझे अज, अनादि, भूतों का ईश जानता है'' आदि कहा गया होने से यहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं है, क्योंकि जो आपको इस प्रकार जानते हैं उनको आपने स्वयं ज्ञानशक्ति का दान किया होने से ही वे ऐसा जानते हैं। अतः जैसी आपने पूर्व में आज्ञा की है कि – ''मैं उनको बुद्धि योग का दान करता हूँ'' – आप उसी के अनुरूप बुद्धियोग प्रदान करते हैं क्यों कि आप 'भूतभावन' हैं। जो भूतों अथवा प्राणियों को अपने भाव से युक्त करता है वह भूतभावन । भूतों में आप अपना भाव स्थापित करते हैं क्योंकि आप भूतेश अथवा भूतों के स्वामी हैं। इसके अतिरिक्त देवों के भी देव हैं अर्थात पूज्यों के भी पूज्य हैं अर्थात उनकी पूजा से संतुष्ट होकर वैसा करते हैं। मात्र देवों के ही पूज्य नहीं है बल्कि जगत के पति अर्थात रक्षक भी हैं। अतः देवों की भांति जगत के अन्य भूतों को भी ऐसा बुद्धियोग देते हैं।

वक्तुम् अर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।।
याभिर् विभूतिभिर् लोकान् इमान् त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।।16।।

अन्वयः
त्वम् – आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
याभिः – जिन के द्वारा; सर्वनाम, तृ.ब.व.स्त्री.
विभूतिभिः – विभूतियों द्वारा; नाम, तृ.ब.व.स्त्री. 'विभूति'।
इमान् – इन; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु. 'इदम्'
लोकान् – लोकों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. ।
व्याप्य – व्याप्त करके; विधेय कृदन्त वि+आप्
तिष्ठिसि – स्थित हैं; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'स्था.' 1गण, परस्मै
हि – निश्चित; अव्यय ।
ताः – उन; ।
दिव्याः – दिव्य; विशेषण, वि. 'आत्मविभूतयः'
आत्मविभूतयः – अपनी विभूतियों, वैभव का; नाम, प्र.ब.व.स्त्री.
अशेषेण – संपूर्णता से; नाम, तृ.ए.व.पु.
वक्तुम् – बोलने, कहने में; हेत्वर्थ कृदन्त
अर्हसि – योग्य हैं, समर्थ हैं; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व.'अर्ह्'1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : आप अपनी जिन विभूतियों से इन सभी लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं, आपकी वे विभूतियाँ दिव्य हैं अतः उन सब का कथन करने के लिए आप ही योग्य(समर्थ) हैं।

विवेचन : देवों आदि को भी आप की विभूतियों का ज्ञान नहीं है इसलिए आप ही (उन विभूतियों के बारे में) जानते होने से कहने के योग्य (वर्णन करने में समर्थ) हैं। इस प्रकार, आपके अंशरूप, सब को वश में रखने वाली विभूतियों से इन तीनों लोको को व्याप्त कर आप स्थित हैं। अतः आप अपनी उन असाधारण दिव्य विभूतियों को मुझे बताएं।

कथं विद्याम् अहं योगिन् त्वां सदा परिचिन्तयन्।।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्! मया।। 17।।

अन्वयः

योगिन् – **हे योगी** ; सम्बोधन।
अहम् – **मैं** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
कथम् सदा– **किस प्रकार सदैव** ; अव्यय।
परिचिन्तयन् – **सांगोपांग चिंतन करता हुआ** ; व.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
त्वाम् – **आपको** ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मद्'।
विद्याम् – **जानूँ, जान सकता हूँ** ; क्रि. विध्यर्थ, प्र.पु.ए.व. विद् 2 गण।
च – **और** ; अव्यय
भगवन् – **हे भगवान्** ; सम्बोधन
त्वम् – **आप** ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद'
केषु– **केषु** – **किन-किन** ; सर्वनाम, स.ब.व.पु. 'किम्'।
भावेषु – **भावों में** ; नाम, स.ब.व.पु. 'भाव'
मया – **मेरे द्वारा** ; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मद्'।
चिन्त्यः – **चिन्तन करने योग्य**; विधेय कर्मणि कृदन्त, विशेषण,वि. 'त्वम्'।
असि – **है**; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे योगिन् ! आपका सदैव चिन्तन करता हुआ मैं आपको किस प्रकार जान सकता हूँ? हे भगवन् ! मुझे आपका किन-किन भावों में चिन्तन करना चाहिए?

विवेचन : विभूतियों के बारे में (अर्जुन) किसलिए जानना चाहते हैं इसका कारण बताते हैं कि किन-किन पदार्थों में मुझे आपका चिन्तन करना चाहिए जिससे उन विभूतियों का ज्ञान हो।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ! ।।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।। 18।।

अन्वयः

जनार्दन – **कृष्ण**; सम्बोधन ।
त्वम् – **आप**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
विस्तरेण – **विस्तार से**; नाम, तृ.ए.व.पु. 'विस्तर'।
आत्मनः – **स्वयं के, अपने**; नाम,ष.ए.व.पु. 'आत्मन्'
योगम् – **योग को**; नाम, द्वि.ए.व.पु.
च – **और**; अव्यय
विभूतिम् – **विभूति को, वैभव को**; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'विभूति' ।
कथय – **कहिए**; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'कथ्' 10 गण, परस्मै ।
भूयः हि – **पुनः, निश्चय**; अव्यय ।
ते – **आपका**
अमृतम् – **अमृत, वचनामृत**; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'अमृत' ।
वचनम् – **वचन को**; द्वि.ए.व.
शृण्वतः – **सुनकर**; व.कृ.विशेषण, वि. 'मे' ।
मे – **मेरा**; सर्वनाम, ष.ए.व.' अस्मत्'
तृप्तिः – **तृप्ति**; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'तृप्ति'।
न– **नहीं**; अव्यय
अस्ति – **है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : हे जनार्दन ! आप अपने योग और विभूतियों के बारे में पुनः विस्तार से कहिए । क्योंकि अमृत (वचन) का श्रवण करते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है।

विवेचन : पहले आपने संक्षेप में विभूति और योग का वर्णन किया परंतु अब पुनः विस्तार से कहिए, क्योंकि आपके वचन रूपी अमृत का श्रवण करते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है।

श्रीभगवान् उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।।
प्राधान्यतः कुरूश्रेष्ठ ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।। 19।।

अन्वयः

हन्त - **ठीक, अभी, अब;** अव्यय।

कुरूश्रेष्ठ - **अर्जुन;** सम्बोधन

हि- **निश्चय;** अव्यय ।

ते (तुभ्यम्) - **तुझे, तुमको;** सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मद्'

दिव्याः - **दिव्य;** विशेषण, वि. 'आत्मविभूतयः'।

आत्मविभूतयः - **मेरी स्वयं की विभूतियाँ;** नाम, प्र.ब.व.स्त्री.

प्राधान्यतः - **प्रधानता से , मुख्यता से;** नाम, पं.ए.व.

कथयिष्यामि - **कहूँगा;** क्रि.भ.का. प्र.पु.ए.व. 'कथ्' 10 गण, परस्मै।

यतः - **क्योंकि**

मे - **मेरा;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।

विस्तरस्य - **विस्तार का;** नाम, ष.ए.व.पु.

अन्तः - **छोर;** नाम, प्र.ए.व.पु. ।

न - **नहीं;** अव्यय

अस्ति - **है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : हन्त ! हे कुरूश्रेष्ठ ! मेरी दिव्य विभूतियाँ मुख्यता से तुम्हें कहता हूँ; क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अंत नहीं है।

विवेचन - अनुकम्पा दर्शाने के लिए हन्त ! (अनुकम्पा सूचक शब्द) कहते हैं। हे कुरूश्रेष्ठ ! मेरी दिव्य विभूतियाँ मुख्यता से कहता हूँ; क्योंकि उनके विस्तार का अंत नहीं है। भगवान के अपने अंश से प्रकृति में आविर्भूत विविध रूपों का तात्पर्य है- विभूतियाँ । अर्थात सर्वत्र किसी न किसी अंश में मेरा आविर्भाव है ही; क्योंकि मैं सबका नियामक हूँ। इस प्रकार सर्वत्र मेरी विभूतियाँ होने से उनके विस्तार का कोई अंत नहीं है। अतः मैं मुख्य-मुख्य विभूतियाँ कहता हूँ।

अहम् आत्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।।
अहम् आदिश्च मध्यं च भूतानाम् अन्त एव च ।। 20।।

अन्वयः

गुडाकेश - **अर्जुन;** सम्बोधन ।

अहम् - **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

सर्वभूताशयस्थितः - **सभी भूतों के अन्तः करण में स्थित;** विशेषण, वि. 'अहम्'

आत्मा - **आत्मा;** नाम, प्र.ए.व.पु.'आत्मन्'।

अस्मि - **हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

च - **और;** अव्यय ।

अहम् - **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

भूतानाम् - **प्राणियों का;** नाम, ष.ब.व.नपु. ।

आदिः - **आदि, उत्पत्ति;** नाम, प्र.ए.व.पु.

च - **और;** अव्यय

मध्यम् - **मध्य 'पोषक विभाव';** नाम, प्र.ए.व.नपु.

एव, च - **और, इसके अतिरिक्त, मात्र;** अव्यय ।

अन्तः - **अन्त;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'अन्त'

अस्मि - **हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : हे गुडाकेश ! सब भूतों के अन्तःकरण में स्थित मैं आत्मा हूँ। मैं भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ।

विवेचन : प्रारम्भ में भगवान स्वयं का योग कहते हैं ।'हे गुडाकेश' सम्बोधन से सूचित करते हैं कि 'गुडाका' अर्थात निद्रा का 'ईश' होकर अर्थात आलस्य को त्याग कर चिन्तन कर। प्राणीमात्र के अन्तःकरण में स्थित आत्मा मैं हूँ । शरीरभूत पृथ्वी आदि भूतों का भी आत्मा मैं हूँ। सभी भूतों का आदि, मध्य और अंत भी मैं हूँ । अतः सब के आत्मा के रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए। अंश और अंशी में अभेद के अभिप्राय से अर्थात वे अलग नहीं हैं - इस अभिप्राय से यह कहा गया है ।

इस श्लोक का अनुसंधान श्री भागवत् के अध्याय 2/2/16 तथा 2/6/39 के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है। इसी प्रकार 10 क्षेपक अध्याय 3/14 के संदर्भ में भी उक्त श्लोक का अनुसधान किया गया है ।

आदित्यानाम् अहं विष्णुर् ज्योतिषां रविरंशुमान् ।।
मरीचिर् मरूताम् अस्मि नक्षत्राणाम् अहं शशी ।। 21।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
आदित्यानाम् - आदित्यों में; नाम, ष.ब.व.पु. 'आदित्य'
विष्णुः - विष्णु(वामन); नाम, प्र.ए.व.पु. ।
ज्योतिषाम् - ज्योतियों का; नाम, स.ब.व.स्त्री.
अंशुमान् - किरणों वाला; विशेषण, वि. 'रविः' ।
रविः - रवि; नाम, प्र.ए.व.पु.
मरूताम् - वायुओं में; नाम, ष.ब.व.पु. 'मरूत्'
मरीचिः - मरीचि, वायु देवता; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मरीचि' ।
च - और; अव्यय
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
नक्षत्राणाम् - नक्षत्रों में; नाम, ष.ब.व.पु. 'नक्षत्र'
शशी - चन्द्र; नाम, प्र.ए.व.पु. 'शशिन्' ।
अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : आदित्यों में मैं विष्णु हूँ। ज्योतियों में मैं अंशुमान रवि हूँ। मरूतों में मैं मरीचि हूँ और नक्षत्रों में मैं चंद्रमा हूँ।

विवेचन : बारह आदित्यों में मैं आदित्य हूँ, अथवा 'आदित्य' अर्थात देवों में मैं विष्णु अर्थात वामन हूँ - कुछेक ऐसा भी अर्थ करते हैं। ज्योतियों में मैं किरणोंवाला सूर्य हूँ। मरूतों में मैं मरीचि हूँ और नक्षत्रों में मैं चंद्र हूँ।

इस श्लोक के आरंभ से भगवान आपनी विभूतियाँ कहते हैं। इस अध्याय की समाप्ति तक विभूतियों का निरूपण है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानाम् अस्मि वासवः ।।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानाम् अस्मि चेतना ।। 22।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्' ।
वेदानाम् - वेदों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'वेद'
सामवेदः - सामवेद; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै।
देवानाम् - देवों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'देव' ।
वासवः - इन्द्र; नाम, प्र.ए.व.पु. 'वासव'
अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.' अस्' 2गण, परस्मै।
इन्द्रियाणाम् - इन्द्रियों के; नाम, ष.ब.व.नपु.
मनः - मन; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'मनस्' ।
च - और; अव्यय
भूतानाम् - प्राणियों की; नाम, ष.ब.व.नपु.' भूतम्' ।
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'चेतना'
चेतना - चैतन्य शक्ति; नाम, प्र.ए.ब. स्त्री. 'चेतना'
अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.प.ए.व.' अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : वेदों में मैं सामवेद हूँ। देवों में मैं इन्द्र हूँ। इन्द्रियों में मैं मन हूँ और प्राणियों में मैं चेतना हूँ।

विवेचन : वेदों में मैं मधुर रसयुक्त गेय सामवेद हूँ। देवों में मैं सौ यज्ञ करने वाला, सभी क्रियाओं का भोक्ता तथा राज्यभोक्ता इंद्र हूँ। एकादश इंद्रियों के मध्य मैं अन्य इंद्रियों का प्रेरक मन हूँ। प्राणियों में मैं चेतना अथवा ज्ञानशक्ति हूँ।

रूद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरूः शिखरिणाम् अहम् ।। 23 ।।

अन्वयः

अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्' ।
रूद्राणाम् – रूद्रों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'रूद्र'
शंकरः – शंकर; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्मि – मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै
यक्षरक्षसाम् – यक्ष और राक्षसों का; नाम, ष.ब.व.नपु. ।
वित्तेश – कुबेर; नाम, प्र.ए.व.पु.
च – और; अव्यय ।
वसूनाम् – वसुओं का; नाम, ष.ब.व.पु. 'वसु'
पावकः – अग्नि; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पावक'
च – और; अव्यय
शिखरिणाम् – पर्वतों का; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
मेरूः – मेरू पर्वत; नाम, ष.ब.ए.व.पु.
अस्मि – मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : रूद्रों में मैं शंकर हूँ। यक्ष और राक्षसों में मैं कुबेर हूँ। वसुओं में मैं अग्नि हूँ और पर्वतो में मैं मेरू हूँ।

विवेचन : एकादश रूद्र में मैं सब को सुख देने वाला और भक्ति तथा ज्ञान का उपदेश करने वाला शंकर हूँ। यक्ष और राक्षसों में मैं वित्तेश कुबेर हूँ। वसुओं में मैं भगवान् का मुखारविंदरूप अग्नि हूँ। पर्वतों में मैं सुवर्णमय मेरू हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ ! बृहस्पतिम् ।।
सेनानीनाम् अहं स्कन्दः सरसाम् अस्मि सागरः ।। 24 ।।

अन्वयः

पुरोधसाम् – पुरोहितों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'पुरोधस्' ।
मुख्यम् – मुख्य; विशेषण,वि. 'माम्'
बृहस्पतिम् – बृहस्पति को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'बृहस्पति' ।
माम् – मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
विद्धि – जानो, समझो; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै
च – और; अव्यय ।
पार्थ – अर्जुन; सम्बोधन
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
सेनानीनाम् – सेनापतियों का; नाम, ष.ब.व.पु.'सेनानी'
स्कन्दः – कार्तिक स्वामी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'स्कन्द' ।
च – और; अव्यय
सरसाम् – जलाशयों में; नाम, ष.ब.व.नपु. 'सरस्' ।
सागरः – सागर; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्मि – मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझे समझो। सेनाधिपतियों में मैं स्कन्द हूँ और जलाशयों में मैं सागर हूँ।

विवेचन : हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य देवों का पुरोहित बृहस्पति मैं हूँ। सेनापतियों में मैं देवों का सेनाधिपति स्कन्द हूँ और स्थिर जलाशयों में मैं रत्नाकर सागर हूँ ।

महर्षीणां भृगुरहं गिराम् अस्यमेकम् अक्षरम् ।।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। 25 ।।

अन्वयः

अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'अस्मत्' ।
महर्षीणाम् – महर्षियों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'महर्षि'

भृगु - भृगु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भृगु'
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै
एवमेव - इसी प्रकार;
गिराम् - वाणियों का; नाम, ष.ब.व.स्त्री.
एकमक्षरम् - एक अक्षर; नाम, प्र.ए.व.नपु.
यज्ञानाम् - यज्ञों का; नाम,ष.ब.व.पु.
जपयज्ञः - जप से किया गया यज्ञ; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
च - और; अव्यय
स्थावराणाम् - स्थावर वस्तुओं का; नाम,ष.ब.व.पु. ।
हिमालयः - हिमालय; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्मि - मैं हूँ; व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : महर्षियों में मैं भृगु हूँ। वचनों में मैं एकाक्षर हूँ। यज्ञों मे मैं जपयज्ञ हूँ। स्थावरों में मैं हिमालय हूँ।

विवेचन : महर्षियों में मैं भृगु हूँ जो यह निर्धारित करते हैं कि किस देव की भक्ति करनी चाहिए। वचन अथवा अक्षरों में मैं सब अक्षरों का बीजरूप प्रणवरूप ॐकार हूँ । यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ और स्थावरों में मैं हिमालय पर्वत हूँ।

अश्वत्थः सर्व वृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। 26।।

अन्वयः
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मद्' ।
सर्ववृक्षाणाम् - सब वृक्षों में; नाम, ष.ब.व.पु.
अश्वत्थः - पीपल; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
देवर्षीणाम् - देवर्षियों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'देवर्षि'
नारदः - नारद; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

गन्धर्वाणाम् - गन्धर्वों का; नाम,ष.ब.व.पु.
चित्ररथः - चित्ररथ ; नाम, प्र.ए.व.पु.
च - और ; अव्यय
सिद्धानाम् - सिद्ध पुरूषों का ; नाम, ष.ब.व.पु. 'सिद्ध' ।
कपिलः - कपिल ; नाम, प्र.ए.व.पु.
मुनिः - मुनि ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मुनि' ।
अस्मि - हूँ ; क्रि.व.का.प्र.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : सब वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ । देवर्षियों में मैं नारद हूँ। गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ। सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।

विवेचन : सब वृक्षों में मैं वैष्णव स्वरूप पूज्य अश्वत्थ अथवा पीपल हूँ। देवर्षियों में मैं महाभागवत् नारद हूँ। गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ और सिद्धों में मैं भगवदवतार और सांख्यतत्त्व का वक्ता कपिल मुनि हूँ।

उच्चैःश्रवसम् अश्वानां विद्धि माम् अमृतोद्भवम्।।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।। 27।।

अन्वयः
हे अर्जुन - हे अर्जुन ; सम्बोधन।
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
अश्वानाम्- घोड़े, घोड़ों का; नाम,ष.ब.व.पु. ।
अमृतोद्भवम् - अमृतमन्थन के समय उत्पन्न; विशेषण, वि. 'उच्चैःश्रवसम्'
उच्चैःश्रवसम् - घोड़े का नाम, इन्द्र का घोड़ा; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'उच्चैःश्रवस्'
त्वम् - तू, तुम; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्' ।
गजेन्द्राणाम् - हाथियों में; नाम, ष.ब.व.पु. 'गजेन्द्र'
ऐरावतम् - हाथी का नाम; नाम, द्वि.ए.व.पु. ।
च - और; अव्यय

नराणाम् - मनुष्यों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'नर' ।
नराधिपम् - राजा; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'नराधिप'
विद्धि - समझ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण

श्लोकार्थ : अश्वों में मुझे अमृत के साथ उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा, गजेन्द्रों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा समझ ।

विवेचन : अश्वों में मैं अमृत के साथ उत्पन्न हुआ सात मुख वाला अग्निस्वरूप उच्चैःश्रवा हूँ। उत्तम हाथियों में मैं ऐरावत हूँ और मनुष्यों में मैं राजा हूँ।

आयुधानाम् अहं वज्रम् धेनूनाम अस्मि कामधुक् ।।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः ।।28।।

अन्वयः
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।
आयुधानाम् - आयुधों का, शस्त्रों का; नाम, ष.ब.व.पु.'आयुध'
वज्रम् - वज्र; नाम, प्र.ए.व.नपु.
धेनूनाम् - गायों का; नाम, ष.ब.व.स्त्री. 'धेनू'
कामधुक् - कामधेनु; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'कामधुक्'
प्रजनः - संतान की उत्पत्ति का कारणरूप; नाम, प्र.ए.व.पु.'प्रजन'
कन्दर्पः - कामदेव; नाम, प्र.ए.व.पु. 'कन्दर्पः' ।
च - और; अव्यय
सर्पाणाम् - सर्पों में; नाम, ष.ब.व.पु. 'सर्पः' ।
वासुकिः - वासुकि; नाम, प्र.ए.व.पु. 'वासुकि'
अहमेव - मैं ही; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्' ।
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण

श्लोकार्थ : आयुधों में मैं वज्र हूँ, धेनुओं में मैं कामधेनु हूँ, कामों में मैं प्रजा उत्पन्न करने वाला काम हूँ, सर्पों में मैं वासुकि हूँ।

विवेचन : शस्त्रों में मैं वज्र हूँ, गायों में मैं कामधेनु हूँ, भगवदीय प्रजा की उत्पत्ति का हेतुरूप काम मैं हूँ। सर्पों में मैं वासुकि हूँ। सर्प एकमुख वाले होते हैं (रामानुज) ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरूणो यादसाम् अहम् ।।
पितृणाम् अर्यमा चास्मि यमः संयमताम् अहम् ।।29।।

अन्वयः
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
नागानाम् - नागों का; नाम, ष.ब.व.पु.
अनन्तः - अनन्त; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अनन्त' ।
च - और; अव्यय
यादसाम् - जल में रहने वालों का; नाम, प्र.ब.व.पु. 'यादस्' ।
वरूणः - वरूण; नाम, प्र.ए.व.पु.'वरूण'
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.ए.व.पु. 'अस्' 2गण, ।
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
पितृणाम् - पितृगण का; नाम,ष.ब.व.पु. 'पितृ' ।
अर्यमा - पितृदेव; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अर्यमन्'
च - और; अव्यय ।
संयमताम् - संयम करने वालों का; वर्त. कृ.ष.ब.व. 'संयमत्'
यमः - यम; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण

श्लोकार्थ : नागों में मैं अनन्त हूँ, जलचरों में मैं वरूण हूँ, पितरों में मैं अर्यमा हूँ और संयम करने वालों में मैं यम हूँ।

विवेचन : अनेक मुख वाले नागों में मैं अनन्त अर्थात शेष हूँ, जलचरों में मैं उनका अधिष्ठाता वरूण हूँ। पितृगण में मैं श्राद्धान्न का भोग करने वाला अर्यमा हूँ और संयम करने वालों में मैं यम हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयताम् अहम् ।।
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।। 30।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
दैत्यानाम् - दैत्यों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'दैत्य'
प्रह्लादः - प्रह्लाद; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
च - और; अव्यय
कलयताम् - कलन करने वालों का, संख्या की गणना करने वालों का; नाम,ष.ब.व.पु.व.कृ. 'कलयत्'
कालः - काल, क्षण, घड़ी, दिवस, पक्ष, मास, वर्ष इत्यादि में जो काल भाव है वह मैं हूँ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'काल'
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै।
तथैव च - वैसे ही; अव्यय
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
मृगाणाम् - पशुओं का; नाम, ष.ब.व.पु. 'मृग' ।
मृगेन्द्रः - सिंह; नाम, प्र.ए.व.पु.
च - और; अव्यय
पक्षिणाम् - पक्षियों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'पक्षिन्'
वैनतेय - गरूड; नाम, प्र.ए.व.
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ। गणना करने वालों में मैं काल हूँ। पशुओं में मैं सिंह हूँ और पक्षियों में मैं गरूड हूँ।

विवेचन : दैत्यों में मैं महाभागवत , दैत्यकुल का उद्धार करने वाला प्रह्लाद हूँ। प्राणियों की आयुष्य आदि की गणना करने वाले संवत्सर आदि में मैं काल हूँ। पशुओं में मैं उनका राजा सिंह हूँ और पक्षियों में मैं उनका राजा गरूड हूँ।

पवनः पवताम् अस्मि रामः शस्त्रभृताम् अहम् ।।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसाम् अस्मि जाह्नवी ।। 31।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
पवताम् - पावन करने वालों में; वर्त. कृ.ष.ब.व.पु. 'पवत्'
पवनः - पवन; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पवन'
अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए. 'अस्' 2गण
शस्त्रभृताम् - शस्त्रधारियों में; नाम, ष.ब.व.पु. 'शस्त्रभृत्'।
रामः - राम; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण परस्मै
तथैव - वैसे ही;
झषाणाम् - मछलियों में; नाम, ष.ब.व.पु. ।
मकरः - मगर; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मकर'
च - और; अव्यय ।
स्रोतसाम् - जल के प्रवाहों में; नाम, ष.ब.व.नपु. 'स्रोतस्'
जाह्नवी - गंगा; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. ।
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण

श्लोकार्थ : शुद्धि करने वालों में मैं पवन हूँ, शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ। मत्स्यों में मैं मकर हूँ और बहने वाले जल में मैं गंगा हूँ।

विवेचन : शुद्धि करने वाले पदार्थों में मैं पवन हूँ, शस्त्र धारण करने वालों में मैं दशरथ का पुत्र राम हूँ, अथवा शस्त्र धारण करने वालों में मैं जमदग्नि का पुत्र परशुराम हूँ। मत्स्यों में मैं मकर हूँ। बहते जल में मैं भगवत्पादोदक गंगा हूँ।

सर्गाणाम् आदिरन्तश्च मध्यं चैवाहम् अर्जुन!।।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवादताम् अहम् ।। 32।।

अन्वयः

अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।

एव – ही, मात्र; अव्यय

सर्गाणाम् – सृष्टियों का; नाम, ष.ब.व.पु. ।

आदिः – प्रारंभ; नाम, प्र.ए.व.

अन्तः – अन्त; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

च – और; अव्यय

मध्यम् – मध्य; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।

अस्मि – हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

च – और; अव्यय

अर्जुन – अर्जुन; सम्बोधन

अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

एव – ही; अव्यय

विद्यानाम् – विद्याओं में; ष.ब.व.स्त्री. 'विद्या' ।

अध्यात्मविद्या – ब्रह्मविद्या; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'अध्यात्मविद्या'

च – और; अव्यय ।

प्रवदताम् – आपस में शास्त्रार्थ करने वालों का; व.कृ.नाम, ष.ब.व.

वादः – तत्वनिर्णय करने के लिए की गई चर्चा; नाम, प्र.ए.व.पु.'वाद'।

अस्मि – हूँ; क्रि.व.का.

श्लोकार्थ : हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, मध्य और अंत भी मैं हूँ। विद्याओं में अध्यात्मविद्या और वाद करने वालों का वाद मैं ही हूँ।

विवेचन : पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा तीनों सृष्टियों का आदि, अंत और मध्य मैं हूँ। विद्याओं में तत्व निर्धारण करने वाली अध्यात्मविद्या और वाद करने वालों के तत्व के स्वरूप का निर्णयात्मक वाद मैं हूँ।

अक्षराणाम् अकारोस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ।। 33।।

अन्वयः

अहम् –मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।

एव – ही, मात्र; अव्यय

अक्षराणाम् – अक्षरों में; नाम, ष.ब.व.नपु. 'अक्षर'।

अकारः – 'अ' अक्षर; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अकार'

सामासिकस्य – समासों का; नाम, ष.ए.व.पु.

द्वन्द्वः – द्वन्द्व; नाम, प्र.ए.व.पु. 'द्वन्द्व'

अक्षयः – अक्षय, जिसका नाश नहीं होता; विशेषण, वि. 'कालः'

कालः – काल, महाकाल; 'कालाधिपति' नाम, प्र.ए.व.पु. 'काल' ।

च – और; अव्यय

अस्मि – मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै

विश्वतोमुखः – सब ओर मुख वाला; विशेषण, प्र.ए.व.पु. 'विश्वतोमुख'

धाता – पोषण करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'धातृ' ।

अपि – भी; अव्यय

अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।

एवास्मि – ही हूँ; क्रियापद

श्लोकार्थ : अक्षरों में मैं अकार हूँ, समासों में मैं द्वन्द्व हूँ। मैं ही अक्षय काल हूँ। सर्वत्र मुखवाला धाता मैं हूँ।

विवेचन : अक्षरों में मैं वासुदेववाचक 'अ' हूँ। श्रुति भी कहती है कि ''अकार सर्ववाणी है।'' समासों में उभय पद का जिसमें प्राधान्य है वह द्वन्द्व समास मैं हूँ। द्वन्द्व के अतिरिक्त अन्य समासों में एक पद का ही प्राधान्य होता है परंतु द्वन्द्व समास में उभय पद का प्राधान्य होता है। प्रवाहरूप अक्षय काल भी मैं ही हूँ। सर्वत्र मुख वाला सृष्टि उत्पन्न करने वाला धाता अर्थात ब्रह्म भी मैं हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहम् उद्भवश्च भविष्यताम् ।।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर् मेधा धृतिः क्षमा ।। 34।।

अन्वयः

अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।

सर्वहरः – **सबका नाश करने वाला;** विशेषण, वि. 'मृत्युः'

मृत्युः – **मृत्यु;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'मृत्यु'

च– **और;** अव्यय

भविष्यताम् – **(उत्पन्न) होनेवालों का;** भवि. का.ष.ब.व., व.कृ. 'भविष्यत्'

उद्भवः – **उत्पत्ति का कारण;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'उद्भव'

अस्मि – **हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

च – **और;** अव्यय

नारीणाम् – **नारी जाति का;** नाम, ष.ब.व.स्त्री. 'नारी'

कीर्तिः – **कीर्ति;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'कीर्ति' ।

श्रीः – **श्री;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'श्री'

वाक् – **वाणी;** नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'वाच्'

स्मृतिः – **स्मृति, याददाश्त;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'स्मृति'

मेधा – **मेधा, बुद्धि;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'मेधा'।

धृतिः – **धारणा, धैर्य;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'धृति'

च – **और;** अव्यय

क्षमा – **क्षमा;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'क्षमा'

श्लोकार्थ : सब का हरण करने वाला मृत्यु और भविष्य में होने वाले पदार्थों का उद्भव मैं हूँ। स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

विवेचन : सबका संहार करने वाला मृत्यु मैं हूँ। भविष्य में होने वाले पदार्थों का उद्भव अर्थात उत्पत्ति मैं हूँ। नारियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा– ये सात मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसाम् अहम् ।।
मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकरः ।। 35।।

अन्वयः

अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।

साम्नाम् – **गेय श्रुतियों में;** नाम, ष.ब.व.नपु.

बृहत्सामः – **बृहत्साम;** नाम, प्र.ए.व.नपु. ।

तथा – **और;** अव्यय

छन्दसाम् – **छन्दों की;** नाम,ष.ब.व.पु. 'छन्दस्' ।

गायत्री – **गायत्री नामक छन्द;** नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'गायत्री'

अस्मि – **हूँ;** ।

तथैव – **उसी प्रकार;** ।

अहम् – **मैं ;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

मासानाम् – **महीनों में;** नाम, ष.ब.व.पु.'मास'।

मार्गशीर्षः – **मार्गशीर्ष, अगहन;** नाम, प्र.ए.व.पु.'मार्गशीर्ष'

च – **और;** अव्यय ।

ऋतूनाम् – **ऋतुओं का;** नाम, ष.ब.व.'ऋतु'

कुसुमाकरः –**वसन्त ऋतु;** नाम,प्र.ए.व.पु. 'कुसुमाकर'।

अस्मि – **हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : सामों में (गाई जाने वाली श्रुतियों में) मैं बृहत्साम हूँ। छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ। मासों में मैं मार्गशीर्ष हूँ। ऋतुओं में मैं वसन्त हूँ।

विवेचन : सामों(गेय मंत्रों) में मैं वृहत्साम हूँ। इन साम(गेय मंत्रों)से मेरी सर्वेश्वर के रूप में स्तुति की जाती होने से ये(साम)उत्तम हैं। वेद के छन्दों में मैं भगवत्स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला गायत्री (छन्द)हूँ। मासों में मैं मार्गशीर्ष मास हूँ और ऋतुओं में मैं जड़ पदार्थों में भी आनंद उत्पन्न करने वाली और वृन्दावन में नित्य विद्यमान वसन्त ऋतु हूँ।

इस श्लोक का अनुसंधान श्री भागवत् के अध्याय 10/19/1 के संदर्भ में सुबोधिनी में किया गया है।

द्यूतं छलयातम् अस्मि तेजस्तेजस्विनाम् अहम् ।।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वम् सत्ववताम् अहम् ।। 36 ।।

अन्वयः

अहम् - **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्'।
छलयताम् - **छल करने वालों में;** नाम, ष.ब.व.पु.'छलयत्'
द्यूतम् - **द्यूत;** नाम, प्र.ए.व.नपु. 'द्यूत'।
अस्मि -**मैं हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै
च - **और;** अव्यय
तेजस्विनाम् - **तेजस्वियों का;** नाम, ष. बहु.व.पु.'तेजस्विन्'
तेजः - **तेज;** नाम, प्र.ए.व.नपु. 'तेजस्'
अस्मि - **मैं हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै
अहम् - **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।
जेतृणाम् - **जीतने वालों की;**
जयः - **जय;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'जय'।
व्यवसायिनाम् - **व्यवसायियों में;** स.ए.व.
व्यवसायः - **व्यवसाय निश्चय;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'व्यवसाय' ।
च - **और;** अव्यय
सत्ववताम् - **सात्विक पुरूषों का;** नाम, ष.ब.व.पु. 'सत्त्ववत्'
सत्त्वम् - **सत्त्व;** नाम, प्र.ए.व.नपु. 'सत्त्व'
अस्मि - **मैं हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : छलने वालों में मैं द्यूत हूँ, तेजस्वियों का मैं तेज हूँ। मैं जय हूँ, मैं व्यवसाय हूँ, सत्त्व वालों में मैं सत्त्व हूँ।

विवेचन : व्यवसाय अर्थात उद्यम अथवा निश्चय मैं हूँ। सत्त्व वालों में अर्थात धैर्य वालों में मैं सत्त्व अर्थात धैर्य हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनाम् उशनाकविः ।। 37 ।।

अन्वयः

अहम् - **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।
वृष्णीनां - **यादवों के वंश में;** नाम, ष.ब.व.पु.'वृष्णी'
वासुदेवः - **कृष्ण, वासुदेव;** नाम,प्र.ए.व.पु. 'वासुदेव'।
पाण्डवानाम् - **पांडवों का;** नाम, ष.ब.व.पु. 'पाण्डव'
धनञ्जयः - **धनञ्जय, अर्जुन;** नाम, प्र.ए.व.पु.
मुनीनाम् - **मुनियों में;** नाम, ष.ब.व.पु. 'मुनि'
व्यासः - **व्यास;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'व्यास' ।
च -**और;** अव्यय
कवीनाम् - **कवियों में;** नाम, ष.ब.व.पु. 'कवि' ।
उशना - **नाम है; नाम;** प्र.ए.व.पु. 'उशनस्'
कविः - **कवि;** नाम, प्र.पु.ए.व. 'कवि'
अपि - **भी, तथा;** अव्यय
अस्मि - **मैं हूँ;** क्रि.व.का.प्र.ए.व.पु.'अस् 2 गण'

श्लोकार्थ : वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ। पांडवों में मैं धनञ्जय हूँ। मुनियों में मैं व्यास हूँ और कवियों में मैं शुक्राचार्य कवि हूँ।

विवेचन : वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ। वसुदेव के घर धर्ममय भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ और वे अन्यत्र केवल पूर्ण पुरूषोत्तम हैं। अतः वासुदेव की विभूतियों में गणना की गई है। अथवा वृष्णियों में वसुदेव के पुत्र बलभद्र मेरी विभूति है। पाँच पांडवों में नारायण का अंश नररूप धनञ्जय अर्थात तुम मेरी विभूति हो। मनन करने वाले मुनियों में मैं कृष्णद्वैपायन हूँ और कवियों में मैं उत्तम कवि शुक्राचार्य हूँ ।

दण्डो दमयताम् अस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ।। 38 ।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्' ।

दमयताम् - दमन करने वालों को; वर्त. कृ.ष.ब.व.पु. 'दमयत्'

दण्डः - दमन करने की शक्ति; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै

जिगीषीताम् - जीतने की इच्छा वालों की, इच्छादर्शक; वर्त. कृ. नाम, ष.ब.व.पु.

नीतिः - नीति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'नीति' ।

अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण

गुह्यानाम् - गुप्त रखने योग्य भावों का; नाम, ष.ब.व.नपु. 'गुह्य' ।

मौनम् - मौन; नाम,प्र.ए.व.नपु. 'मौन'

च, एव - और, इसके अतिरिक्त; अव्यय ।

ज्ञानवताम् - ज्ञानवालों का; विशेषण,ष.ब.व.पु. 'ज्ञानवत्'

ज्ञानम् - ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ज्ञान' ।

अस्मि - मैं हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2गण, परस्मै ।

श्लोकार्थ : दमन करने वालों में दण्ड मैं हूँ। विजय की इच्छा वालों की नीति मैं हूँ। गुह्य पदार्थों में मैं मौन हूँ और ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ।

विवेचन : दमन करने वालों के सब के दोषों को हरने वाला दण्ड मैं हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तद् अहम् अर्जुन ! ।।
न तदस्ति विना यत् स्यात् मया भूतं चराचरम् ।। 39।।

अन्वयः

च, अपि - और, भी; अव्यय ।

अर्जुन - अर्जुन; अव्यय ।

यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

सर्वभूतानाम् - सब प्राणियों का; नाम, ष.ब.व.नपु.

बीजम् - बीज; नाम, प्र.ए.व.नपु.'बीज' ।

तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

अपि - भी; अव्यय

अहम् -मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्'

एवम अस्मि - ही हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' ।

अत्रकोऽपि - यहाँ कोई भी;

तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

चराचरम् - चर और अचर, जड़ और चेतन; विशेषण, वि. 'भूतम्'

भूतम् - प्राणी; नाम, प्र.ए.व.नपु.

न - नहीं; अव्यय

अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै।

यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

मया - मेरे द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्' ।

विना - बिना; अव्यय

स्यात् - हो; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2गण

श्लोकार्थ : हे अर्जुन ! सब भूतों का यदि कोई बीज है तो वह मैं हूँ। ऐसा कोई चर अथवा अचर भूत नहीं जो मेरे बिना हो।

विवेचन : चर अथवा अचर भूतमात्र मेरी, ऊपर कही गई दो प्रकृति के ही कार्य होने से मेरे बिना कुछ भी होना संभव नहीं है। अतः मैं सर्वत्र हूँ ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप !।।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर् विस्तरो मया ।। 40।।

अन्वयः

परन्तप - शत्रुतापन ; सम्बोधन।

मम - मेरी ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'

दिव्यानाम् - **दिव्य ; विशेषण, वि. 'विभूतीनाम्'।**
विभूतीनाम् - **विभूतियों का ; नाम, ष.ब.व.स्त्री. 'विभूति'**
अन्तः - **अन्त ; नाम, प्र.ए.व.पु.।**
न - **नहीं ; अव्यय**
अस्ति - **है ;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै।
एषः - **वह ;** सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'एतद्'
तु - **तो भी ;** अव्यय।
मया - **मेरे द्वारा ;** सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'
स्वस्य - **अपनी ;** ष.ए.व.।
विभूतेः - **विभूति का ;** नाम, ष.ए.व. स्त्री. 'विभूति'
विस्तरः- **विस्तार ;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'विस्तर'।
उद्देशतः - **उद्देश से, संक्षेप से ;** नाम, पं.ए.व.
प्रोक्तः - **कहा हुआ ;** कृ. विशेषण, वि. 'विस्तरः'

श्लोकार्थः हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो विभूतियों का विस्तार मैंने संक्षेप में बताया है।

विवेचन : उद्देश (संक्षेप में) से अर्थात नाम मात्र ही या संक्षेप में विभूतियों का विस्तार कहा है। मेरी दिव्य विभूतियाँ अनन्त होने से उनका कोई पार ही नहीं है।

यद्-यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। 41।।

अन्वयः
यत् यत् - **जो - जो ;** सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.।
विभूतिमत् - **ऐश्वर्ययुक्त, विभूतिवाले ;** विशेषण, वि. 'सत्त्वम्'
श्रीमत् - **कान्तियुक्त ;** विशेषण, वि. 'सत्त्वम्'।
वा - **अथवा ;** अव्यय

ऊर्जितम् - **शक्तियुक्त ;** विशेषण, वि. 'सत्त्वम्'
एव - **मात्र, अथवा ;** अव्यय
सत्त्वम् - **वस्तु ;** नाम, प्र.ए.व.नपु. 'सत्त्वम्'
अस्ति - **है ;** क्रियापद
तत् तत् - **उस उस ;** सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.।
त्वम् - **तू, तुम ;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
मम - **मेरा ;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मद्'।
तेजोंऽशसम्भवम् - **तेज के अंश से उत्पन्न हुए ;** विशेषण, वि. 'तत् तत्'
एव - **ही ;** अव्यय।
अवगच्छ - **समझो ;** क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'अव + गम्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जो - जो विभूतियुक्त, शोभावाले अथवा उत्कर्षयुक्त सत्त्व (पदार्थ) हैं उन सबको तुम मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ ही समझो।

विवेचन : जो - जो सत्त्व अथवा पदार्थ विभूतियुक्त अर्थात ऐश्वर्ययुक्त, शोभा अथवा सौंदर्य वाले और उत्कर्षयुक्त हैं उन सबको तुम मेरे तेज से उत्पन्न समझो। जड़, जीव और अंतर्यामी - तीनों में मेरे सत्, चित्त और आनन्द के अंशों का क्रमशः आविर्भाव होने के कारण जिन-जिन पदार्थों में ऐश्वर्य, सौंदर्य अथवा उत्कर्ष हैं वे मेरे उक्त तीन में से किसी एक अंश से उत्पन्न हुए हैं। मेरी विभूतियों का अंत नहीं है। अतः मेरी विभूतियों को जानने के ये सामान्य लक्षण कहे हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ! ।।
विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ।।42।।

अन्वयः
अथवा - **अथवा;** अव्यय ।
अर्जुन - **अर्जुन;** सम्बोधन ।
एतेन - **इससे, इस प्रकार से;** सर्वनाम, तृ.ए.व.नपु. 'एतद्' ।
बहुना - **बहुत से, विविध प्रकार से;** विशेषण,वि.'एतेन'

ज्ञातेन – **ज्ञान से, जानने से;** भू.कृ.विशेषण, वि.'एतेन'
तव – **तुम्हारे, तेरे;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
किम् – **क्या;** सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'।
इदम् – **यह;** सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
कृत्स्नम् – **अखिल;** विशेषण, वि. 'जगत्'।
जगत् – **जगत् को;** नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'जगत्'
एकांशेन – **एक अंश से;** नाम, तृ.ए.व.पु. 'एकअंश'
विष्टभ्य – **रोककर, घेरकर, धारण करके;** विधेय कृदन्त वि+स्तम्भ् 9 गण
स्थितः – **रहा हुआ;** विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि – **हूँ;** क्रियापद

श्लोकार्थ : अथवा हे अर्जुन ! इस अनेकविध ज्ञान से तुम्हें क्या लाभ है? मैं अपने एक अंश से इस संपूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित हूँ।

विवेचन : ऊपर भगवान् ने अपनी जो विभूतियाँ बताई हैं उनका (इस विभूति) योग में उपसंहार करते हैं । हेअर्जुन ! इस सम्पूर्ण ज्ञान से तुम्हें क्या लाभ होने वाला है? (तुम बस इतना समझ लो कि) मैं पुरूषोत्तम अपने एक अंश से अर्थात अक्षर की महिमा से, मेरे अध्यात्म रूप से इस समग्र स्थूल और सूक्ष्म, चेतन और अचेतन जगत को व्याप्त करके अथवा धारण करके रहता हूँ। इसको मेरे योग का ऐश्वर्य समझो। ऐसा मेरा माहात्म्य है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्री कृष्णार्जुनसंवादे 'विभूतियोगो' नाम
दशमोऽध्यायः ।।10।।

।। अध्याय 11 ।।

विश्वरूपदर्शन योग

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यम् अध्यात्मसञ्ज्ञितम् ।।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।। 1।।

अन्वयः
मदनुग्रहाय – **मुझ पर अनुग्रह करने के लिए;** नाम, च.ए.व.पु.
त्वया – **आप से;** सर्वनाम, तृ.ए.व. 'युष्मत्'
परमम् – **परम;** विशेषण, वि.'वचः'
गुह्यम् – **गूढ़, गोपनीय, रक्षणीय;** विशेषण, वि.' वचः' विधेय, कर्म कृ.
यत् – **जो;** सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
अध्यात्मसञ्ज्ञितम् – **अध्यात्मविषयक;** विशेषण, वि. 'वचः'
वचः – **वचन;** नाम, प्र.ए.व.नपु.।
उक्तम् – **कहे गए;** भू.कृ.विशेषण, वि. 'वचस्'
अस्ति – **है;** क्रियापद
तेन –**उसके द्वारा;** सर्वनाम, तृ.ए.व.नपु. ।
मम – **मेरा;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
अयम् – **यह;** सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'इदम्' ।
मोहः – **मोह;** अज्ञान; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मोह'
विगतः – **नष्ट हो गया;** भू.कृ. विशेषण, वि. 'मोहः' ।
अस्ति – **है;** क्रियापद ।

श्लोकार्थ : मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने जो परम गुह्य आध्यात्मिक वचन कहे उनसे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है।

विवेचन : गत अध्याय के अंत में भगवान ने अपना परम असाधारण योग कहा और यह भी कहा कि ''मैं अपने एक अंश से संपूर्ण जगत में व्याप्त हूँ''।

भगवान के ऐसे रूप के बारे में सुनकर दर्शन करने की इच्छा होने से चार श्लोक (1 से 4) से अर्जुन उस रूप के दर्शन के लिए प्रार्थना करते हैं (कि) आपने मुझ पर अनुग्रह करने के लिए परम गुह्य आध्यात्मिक वचनों से मुझे बोध दिया। जिससे मेरा आपके ऐश्वर्य के प्रति अज्ञान रूप मोह नष्ट हो गया अर्थात आपके माहात्म्य का भान कराने वाली आपकी वाणी का तो मैंने श्रवण किया परंतु आपके उस रूप के दर्शन नहीं हुए।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।। 2।।

अन्वयः

हि - क्योंकि; अव्यय।
कमलपत्राक्ष - कमल-पत्र जैसी आँखें है जिनकी; सम्बोधन
मया - मेरे द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'
भूतानाम् - प्राणियों के; नाम, ष.ब.व.नपु. 'भूत'
भवाप्ययौ - उत्पत्ति और नाश; नाम, प्र.द्वि.व. 'भव अप्ययश्च' द्वंद्व
विस्तरशः - विस्तार से, विस्तार पूर्वक; अव्यय
त्वत्तः - आप से, आपके पास से; सर्वनाम, पं.ए.व. ।
श्रुतौ - सुने हैं; भू.कृ. विशेषण, वि. 'भवाप्ययौ'
स्तः - है; क्रियापद
च - और; अव्यय
अव्ययम् - अविनाशी; विशेषण, वि. 'माहात्म्यम्' ।
माहात्म्यम् - माहात्म्य; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'माहात्म्य'
अपि - भी; अव्यय
श्रुतम् अस्ति - सुना है; क्रियापद

श्लोकार्थ : हे कमल - पत्र जैसे नेत्रों वाले ! आप से भूतों की उत्पत्ति और लय तथा आपका अव्यय माहात्म्य भी मैंने विस्तार से सुना है।

एवम् एतद् यथाऽऽत्थत्वम् आत्मानं परमेश्वर ! ।।
द्रष्टुम इच्छामि ते रूपम् ऐश्वरं पुरूषोत्तम ! ।। 3।।

अन्वयः

परमेश्वर - परमेश्वर ; सम्बोधन ।
त्वम् - तू (आप) ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
यथा - जिस प्रकार; अव्यय।
आत्मानम् - आत्मा को, अपने-आप को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'आत्मन्'
आत्थ - कहते हैं; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'ब्रू' 2गण, परस्मै
एतद् - यह, ये; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
एवम् - इस प्रकार ही; अव्यय
अस्ति - है; क्रियापद
पुरूषोत्तम - हे पुरूषोत्तम; सम्बोधन
ते - तेरा(आपका); सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्' ।
ऐश्वरम् - ईश्वर भाव वाला; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
द्रष्टुम - देखने को; हेत्वर्थ कृदन्त
इच्छामि - मैं इच्छा रखता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'इष्' (इच्छ्)6गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : हे परमेश्वर ! आपका स्वरूप, आपने जैसा कहा वैसा ही है। हे पुरूषोत्तम ! मैं आपके उस ऐश्वर रूप के दर्शन करने का इच्छुक हूँ।

विवेचन : आपके वचन में मुझे अविश्वास नहीं है। आपका स्वरूप, आपने जैसा वर्णित किया वैसा ही है, मुझे उसमें अविश्वास नहीं है। इससे यही दिखाई देता है कि मेरा मोह दूर हो गया है। हे पुरूषोत्तम ! आपके उस ऐश्वर रूप अर्थात आपके ऐश्वर्ययुक्त रूप के दर्शन करने की मेरी इच्छा है।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम् इति प्रभो ! ।।
योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयात्मानम् अव्ययम् ।। 4।।

अन्वयः

प्रभो – हे प्रभु; सम्बोधन ।

मया – मेरे द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'

तत् – वह (आपका ऐश्वर रूप); सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. (तव रूपम् = आपका रूप)

द्रष्टुम – देखने के लिए; हेत्वर्थ कृदन्त ।

शक्यम् – शक्य, संभव; विधेय कर्मणि, कृदंत, विशेषण, वि. 'तत्'

इति यदि – ऐसा यदि; अव्यय ।

मन्यसे – आप मानते है; कृ.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'मन्' 4 गण, आत्मने

ततः – इससे; अव्यय

योगेश्वर – हे योगेश्वर ; सम्बोधन ।

त्वम् – तू (आप) ; सर्वनाम,प्र.ए.व. 'युष्मत्' ।

अव्ययम् – अविनाशी; विशेषण, वि. 'आत्मानम्' ।

आत्मानम् – स्वरूप को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'आत्मन्' ।

मे – मुझे ; सर्वनाम, च.ए.व. 'अस्मत्'

दर्शय – दिखाइए ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.कारक 'दृश्' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे प्रभो! हेयोगेश्वर! यदि आप यह मानते हैं कि आपका वह (ऐश्वर) रूप मुझ से देखा जा सकता है तो आप मुझे अपने अव्यय स्वरूप के दर्शन कराइए।

विवेचेन : इस (अव्यय) रूप के दर्शन जीव की कृति से प्राप्त नहीं हो सकते बल्कि ईश्वर की इच्छा हो तो ही हो सकते हैं। इस कारण से कहते हैं कि हे प्रभो! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मुझ से आपका वह (ऐश्वर) रूप देखा जा सकता है तो मुझको आपके उस अव्यय स्वरूप के दर्शन कराइए।

श्रीभगवान् उवाच

पश्य मे पार्थ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।5।।

अन्वय :

पार्थ – हे अर्जुन; सम्बोधन

मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'

शतशः अथ सहस्रशः – सैकड़ों तथा हजारों; अव्यय।

नानाविधानि – अलग-अलग वर्ग और प्रकार के; विशेषण, वि. 'रूपाणि'

च – और; अव्यय

नानावर्णाकृतीनि – अलग-अलग रंग और आकृतियों वाले; विशेषण, वि. 'रूपाणि'

दिव्यानि – दिव्य; विशेषण, वि. 'रूपाणि'

रूपाणि – स्वरूपों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'रूप'

पश्य – देख; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'दृश्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पार्थ! नाना प्रकार के, विविध वर्ण और आकृति वाले मेरे सैकड़ों और हजारों दिव्य रूप तू देख।

विवेचन : अर्जुन ने इस प्रकार प्रार्थना की। अतः अपने अद्भुत अक्षर स्वरूप को दर्शाने के लिए भगवान प्रथम चार श्लोक (5 से 8) से उसके(अक्षर स्वरूप के) दर्शन करने के लिए अर्जुन को सावधान करते हैं। (कि) हे पार्थ! मेरे सैकड़ों और हजारों अर्थात जितने तुझे अभिलषित हैं उतने दिव्य रूपों को तू देख।

पश्यादित्यान् वसून् रूद्रान् अश्विनौ मरुतस् तथा।।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत!।।6।।

अन्वय :

भारत – अर्जुन, भरतवंशोत्पन्न; सम्बोधन

आदित्यान् – धाता, मित्र, अर्यमा, रूद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान, पूषा, सविता, त्वष्ट और विष्णु इन बारह आदित्यों को; द्वि.ब.व.पु. 'आदित्य'

वसून् - **धर, ध्रुव, सोम, अहः (आप), अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास इन आठ वसुओं को;** द्वि.पु.ब.व. 'वसु'

रूद्रान् - (मूल प्रति में एकादश रूद्र के विवरण में ये दस नाम हैं- अजैकपात, अहिर्बुध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयंत, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, सावित्र और हर। श्रीभागवत (3/3/12) के अनुसार एकादश रूद्र के नाम हैं - मन्यु, मनु, महीनस्, महान, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत।

उक्त एकादश रूद्रों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.

अश्विनौ - दो अश्विनीकुमार (देवताओं के वैद्य, सूर्य एवं उनकी घोड़ी बनी पत्नी संजना से जिनकी उत्पत्ति हुई है) नाम, द्वि.द्वि.व.पु.

तथा - और; अव्यय

मरूतः - उनचास मरूत (दिति के पुत्र); नाम, द्वि.व.पु.ब. 'मरूत्'

पश्य - देख; कृ. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1 गण, परस्मै

च - और; अव्यय

बहूनि - (ऐसे) बहुत से; विशेषण, वि. 'रूपाणि'

अदृष्ट पूर्वाणि - पहले नहीं देखे ऐसे; विशेषण, वि. 'रूपाणि'

आश्चर्याणि - आश्चर्यकारक; विशेषण, वि. 'रूपाणि'

पश्य - देख; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत! द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, एकादश रूद्र, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरूत तथा जो पहले नहीं देखे ऐसे अन्यान्य आश्चर्यजनक (मेरे) रूपों को तू देख।

विवेचन : एक ही स्थान में परस्पर विरूद्ध धर्म जिस रूप (अव्यय स्वरूप) में रहे हुए हैं यह आश्चर्यरूप है। ऐसे अनेक आश्चर्यजनक रूपों को देख। बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रूद्र, दो अश्विनी कुमार और उनचास मरूत को तू देख।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।।
मम देहे गुडाकेश! यच्चान्यद् द्रष्टुम् इच्छसि।।7।।

अन्वय :

गुडाकेश - अर्जुन; सम्बोधन

अद्य - अभी; अव्यय

इह - यहाँ; अव्यय

मम - मेरे; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'

देहे - देह में; नाम, स.ए.पु. 'देह'

एकस्थम् - एकत्रित; एक स्थान पर रहा हुआ; विशेषण, वि. 'जगत्'

सचराचरम् - चर और अचर, जड़ और चेतन; विशेषण, वि. 'जगत्'

कृत्स्नम् - अखिल; विशेषण, वि. 'जगत्'

जगत् - जगत को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'जगत्'

च - और; अव्यय

यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.

अन्यत् - दूसरा; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.

द्रष्टुम् - देखना; हेत्वर्थ कृदंत

इच्छसि - चाहता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'इष्' (इच्छ्) '6 गण, परस्मै'

तत् - वह; सर्वनाम

पश्य - देख; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'दृश्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे गुडाकेश! मेरी इस देह में स्थावर-जंगम सहित सम्पूर्ण जगत् को एक ही स्थान पर देख तथा अन्य जो भी देखने की इच्छा हो तो वह (भी) देख ले।

विवेचन : यहाँ अर्थात इस अक्षर स्वरूप मेरी देह में स्थावर - जंगम सहित सम्पूर्ण जगत् एक ही स्थान पर है। तू उसको देख। यहाँ जगत् का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिए कहा गया होने से सिद्ध होता है कि जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य जो भी देखने की इच्छा हो तो वह भी तू देख।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा।।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य में योगमैश्वरम्।।8।।

अन्वय :

तु – परंतु; अव्यय
माम् – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
अनेन – इसके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'इदम्'
एव – ही; अव्यय
स्वचक्षुषा – तुम्हारी स्वयं की आँख से; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'स्वचक्षुष्'
द्रष्टुम – देखने के लिए; हेत्वर्थ कृदंत
न – नहीं; अव्यय
अतः अहम् – इसालिए मैं; अव्यय; सर्वनाम
शक्यसे – हो सकता है, समर्थ; कृ.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'शक्' 5 गण, आर्ष कर्मणि, आत्मने
ते – तुझे; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मद्'
दिव्यम् – दिव्य; विशेषण, वि. 'चक्षुः'
चक्षुः – आँख; नाम, द्वि.ए.व. नपु.
ददामि –देता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए. 'दा' 3 गण, परस्मै
तेन त्वम् – इसलिए तू; सर्वनाम
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
ऐश्वरम् – ईश्वर भाव वाला; विशेषण, वि. 'योगम्'
योगम् – योग को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'योग'
पश्य – देख; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'दृश' 1 गण

श्लोकार्थ : परंतु तेरी इन आँखों (चर्म चक्षुओं) से मेरे दर्शन की सामर्थ्य तुझ में नहीं है अतः तुझे दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ। जिनसे मेरे ऐश्वर योग को तू देख।

विवेचन : तेरे ये प्राकृत चक्षु जो मात्र परिमित वस्तुओं को ही ग्रहण कर सकते हैं, उनसे मेरे अलौकिक अक्षर स्वरूप के दर्शन नहीं हो सकते। इसलिए मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ। अतः तू मेरे ऐश्वर योग अर्थात जिसमें सर्व विरूद्ध धर्म आश्रय करके रहे हुए हैं, उस रूप को देख।

सञ्जय उवाच

एवम् उक्त्वा ततो राजन्! महायोगेश्वरो हरिः।।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपम् ऐश्वरम्।।9।।

अन्वय :

राजन् – हे राजन; सम्बोधन
महायोगेश्वरः – महायोगेश्वर; विशेषण, वि. 'हरिः'
हरिः – हरि, सर्व पापों का नाश करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.
एवम् – इस प्रकार से; अव्यय
उक्तवा – कहकर; विधेय कृदंत
ततः – इससे, इसके पश्चात; अव्यय
पार्थाय – पार्थ को; नाम, च.ए.व.पु. 'पार्थ'
परमम् – परम; विशेषण, वि. 'रूपम्'
ऐश्वरम् – ईश्वर भाव वाला; विशेषण, वि. 'रूपम्'
रूपम् – स्वरूप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'रूप'
दर्शयामास – दिखाया; क्रि.पूर्ण.भू.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे राजन्! महायोगेश्वर हरि ने इस प्रकार कहकर तत्पश्चात पार्थ को अपना परम ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखाया।

अनेक-वक्त्र-नयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम्।।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।10।।

अन्वय :

अनेकवक्त्रनयनम् – अनेक मुख तथा नेत्रों से युक्त; विशेषण, वि. 'रूपम्' ''अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्य इति'' बहुव्रीहि

अनेक अद्भुतदर्शनम् - अनेक अद्भुत दर्शन वाला; विशेषण, वि. 'रूपम्'
अनेक दिव्याभरणम् - अनेक दिव्य आभरण वाला; विशेषण, वि. 'रूपम्' अनेकानि दिव्यानि आभराणि यस्य इति
च - और; अव्यय
दिव्यानेकोद्यतायुधम् - दिव्य अनेक शस्त्रों को उठाए हुए हैं ऐसे; विशेषण, वि. 'रूपम्' ''दिव्यानि अनेकानि उद्यतानि आयुधानि यस्य इति'' बहुव्रीहि

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम्।।
सर्वाश्चर्यमयं देवम् अनन्तं विश्वतोमुखम्।।11।।

अन्वय :
दिव्यमाल्याम्बरधरम् - दिव्य माला और अंबर धारण करने वाले को; विशेषण, वि. 'रूपम्' ''दिव्यानि माल्यानि अंबराणि धरति इति'' उपपद
दिव्यगंधानुलेपनम् - दिव्य गंध के लेपयुक्त; विशेषण, वि. 'रूपम्' ''गंधस्य अनुलेपनं दिव्यं च गंधानुलेपनम् यस्मिन् इति'' बहु.
सर्वाश्चर्यमयं - सर्वाश्चर्य युक्त; विशेषण वि. ''रूपम्'' ''सर्वं आश्चर्यं यस्मिन् विद्यते'' बहुव्रीहि
दिव्यविश्वतोमुखम् - सम्पूर्ण विश्व में मुख हैं जिनके; विशेषण, वि. 'देवम्' ''विश्वत: मुखम् यस्य इति'' बहु.
अनन्तम् - अनन्त; विशेषण, वि. 'देवम्'
देवम् - देव को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'देव'
अपश्यत् - देखा; क्रियापद, भू.का. तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : अनेक मुख और नेत्र वाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभरण वाला, दिव्य अनेक आयुध धारण किए हुए, दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण किए हुए, दिव्य गंध के लेपयुक्त, सर्व आश्चर्य युक्त, प्रकाशमान, अनंत, सर्वत्र मुख वाला (अपना परम ऐश्वर रूप अर्जुन को दिखाया)।।*10-11*

विवेचन : हे राजन्! सर्वकरणसमर्थ हरि ने इस प्रकार कहकर अर्जुन को अपना परम ऐश्वर रूप दिखाया। इस रूप को अनेक मुख और नेत्र थे, उसमें

अनेक अद्भुत दृश्य रूप थे। (वे) किरीट आदि अनेक दिव्य आभरण धारण किए हुए थे, भक्तों के ताप को दूर करने वाले गदा आदि अनेक दिव्य आयुध, दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण किए हुए थे, दिव्य गंध का लेप किए हुए थे। यह (ऐश्वर रूप) सर्व आश्चर्य से परिपूर्ण था, अर्थात उसमें सर्व परस्पर विरूद्ध धर्म विद्यमान थे। वह प्रकाशमान, अनंत और सर्वत्र मुख वाला था।

दशम श्लोक की व्याख्या श्री भागवत के श्लोक 1/3/4 के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।।
यदि भा: सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मन:।।12।।

अन्वय :
दिवि - आकाश में; नाम, स.ए.व. स्त्री. 'द्यु'
सूर्यसहस्रस्य - हजारों सूर्य की; नाम, ष.ए.व.पु.
युगपत् - एकदम, एकाएक; अव्यय
उत्थिता - जागृत; भू.कृ. विशेषण, वि. 'भा:'
भा: - प्रकाश, कान्ति; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'भास्'
भवेत् - हो जाए; क्रि. विध्यर्थ तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण
यदि - जो; अव्यय
स्यात् - हो; क्रियापद
सा - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.
तस्य - उसके, उसकी; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'तत्'
महात्मन: - महात्मा की; नाम, ष.ए.व.पु. 'महात्मन्'
भास: - प्रकाश की; नाम, ष.ए.व.स्त्री. 'भास्'
सदृशी - जैसा, जैसी; विशेषण, वि. 'भा:'
कदाचिदेव - कदाचित् ही; अव्यय
स्यात् - हो; क्रि. विध्यर्थ तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : यदि आकाश में एक साथ उदित एक हजार सूर्यों से प्रकाश उत्पन्न हो तो वह उन महात्मा (विराट रूप) के प्रकाश जैसा हो।

विवेचन : इस अलौकिक रूप के प्रकाश का अद्भुत उपमा से वर्णन करते हैं। आकाश में यदि एक हजार सूर्य एक साथ उदित हों तो उनसे उत्पन्न प्रकाश इन महात्मा के प्रकाश के समान कदाचित् हो! अर्थात उन महात्मा के प्रकाश जैसा तो न हो पर उससे उन महात्मा के प्रकाश का भान कदाचित् हो सके।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तम् अनेकधा ।।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। 13।।

अन्वयः

पाण्डव – अर्जुन; नाम, प्र.ए.व.पु.।
तदा – तब; अव्यय ।
अनेकधा – अनेक प्रकार से , विविध प्रकार से; अव्यय ।
प्रविभक्तम् – बंटा हुआ, विभागों में विभक्त; विशेषण, वि. 'जगत्'
कृत्स्नम् – सम्पूर्ण; विशेषण, वि. 'जगत्'
जगत् – जगत को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
तत्र – वहाँ; अव्यय ।
देवदेवस्य – देवाधिदेव के; नाम,ष.ए.व.पु.।
शरीरे – शरीर में; नाम, स.ए.व.नपु.'शरीर'
एकस्थम् – एक स्थान पर स्थित; विशेषण,वि. 'जगत्'
अपश्यत् – देखा; क्रि.भू.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' 1गण

श्लोकार्थ : उस समय पाण्डव (अर्जुन) ने देवों के देव भगवान के शरीर में एक ही स्थान पर स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए संपूर्ण जगत को देखा।

विवेचन : अपने (भगवान के) माहात्म्य – ज्ञान के बिना भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती इसलिए भगवान ने जब कृपा करके अर्जुन को अपने अक्षर स्वरूप के दर्शन कराए तब अर्जुन ने चेतन और अचेतन, चौदह लोक सहित अनेक प्रकार

से विभक्त संपूर्ण जगत देवों के भी देव श्री पुरूषोत्तम के शरीर में एक स्थान पर विद्यमान देखा। इसी प्रकार श्री यशोदा जी ने मृत्स्ना भक्षण के प्रसंग में भगवान के मुखारविंद में संपूर्ण जगत को देखा था परंतु श्री यशोदा जी का प्रेम अपने में दृढ़ रखने के लिए भगवान ने अपने माहात्म्य ज्ञान को अपनी वैष्णवी माया से तत्काल तिरोहित कर दिया था। यही शुद्ध पुष्टि का माहात्म्य है। अर्जुन का शुद्ध पुष्टि में अधिकार नहीं था बल्कि मर्यादा पुष्टि में अधिकार था अतः भगवान ने कृपापूर्वक उसको अक्षर स्वरूप के दर्शन कराए और अपने माहात्म्य का भान कराया लेकिन श्री यशोदा जी की भांति अपने में अर्जुन का प्रेम दृढ़ करने के लिए उसके माहात्म्य ज्ञान का अपनी वैष्णवी माया से तिरोधान नहीं किया।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।। 14।।

अन्वय :

ततः – तत्पश्चात; अव्यय।
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'तत्'
विस्मयाविष्टः – आश्चर्यचकित; भू.कृ.विशेषण, वि.'धनञ्जयः'
हृष्टरोमा – प्रफुल्लित हो गए हैं रोम जिनके; विशेषण, वि. 'धनञ्जय' ''हृष्टानि रोमाणि यस्य'' बहु.
धनञ्जयः – धनञ्जय; इंद्रियों पर जय करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.
देवम् – देव को; विराट स्वरूप को; नाम,द्वि.ए.व.पु. 'देव'
शिरसा – मस्तक से; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'शिरस्' ।
प्रणम्य – नमन करके; विधेय कृदन्त
कृतांजलिः – जिसने हाथ जोड़े हुए हैं; विशेषण, वि.'धनञ्जयः'
अभाषत् – बोला; क्रि.भू.का.तृ.पु.ए.व.'भाष्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थ : तत्पश्चात विस्मित और रोमांचित हुए अर्जुन ने मस्तक नवाकर देव (भगवान) को प्रणाम कर, हाथ जोड़कर निम्नवत कहा।

विवेचन : दिव्य दृष्टि प्राप्त होने से भगवान के स्वरूप के दर्शन होने से विस्मित हुए अर्थात आश्चर्य रस में निमग्न और रोमांचित हुए अर्जुन ने (विराट स्वरूप) देव को मस्तक से प्रणाम कर हाथ जोड़ कर निम्नवत विज्ञप्ति की।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवान् तव देव ! देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंघान् ।।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् ऋषीन्श्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।। 15 ।।

अन्वयः

देव - हे देव; सम्बोधन ।
तव - आपका (तेरा); सर्वनाम, ष.ए.व.'युष्मत्' ।
देहे - शरीर में; नाम, स.ए.व.पु.'देह'
सर्वान् - सब को; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु.
देवान् - देवों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'देव' ।
तथा - इस प्रकार, और; अव्यय
भूतविशेषसङ्घान् - भूतों के समुदाय; नाम, द्वि.ब.व.पु.
कमलासनस्थम् - कमल के आसन पर विराजमान; भू.कृ.विशेषण, वि. 'ब्रह्माणाम्'
ब्रह्माणाम् - ब्रह्मा को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'ब्रह्मन्' ।
ईशम् - महादेव को; नाम,द्वि.ए.व.पु.
च - और; अव्यय
सर्वान् - सब को; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु.
ऋषीन् - ऋषियों को; नाम,द्वि.ब.व.पु.'ऋषि' ।
च - और; अव्यय
दिव्यान् - दिव्य; विशेषण, वि. 'उरसान्' ।
उरगान् - सर्पों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'उरसा गच्छति इति' उपपद
पश्यामि - देखता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'दृश्' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे देव! आपके देह में सब देवों को तथा भूतों के समूहों को, कमलासन पर बैठे ब्रह्मा, ईश, सर्व ऋषियों और दिव्य सर्पों को मैं देख रहा हूँ ।

विवेचन : यहाँ से सत्रह श्लोक (15-31) तक अर्जुन भगवान की स्तुति करते हैं। भगवान की सोलह कलाओं से संबंधित सोलह श्लोक और एक श्लोक प्रार्थना का मिलाकर कुल सत्रह श्लोक से विज्ञप्ति करते हैं।

अनेक-बाहूदर-वक्त्र-नेत्रम् पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर ! विश्वरूपम् ।। 16 ।।

अन्वयः

विश्वेश्वर - हे विश्वेश्वर; सम्बोधन ।
त्वाम् - आपको (तुम्हें); सर्वनाम, द्वि.ए.व.'युष्मत्'
अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रम् - अनेक बाहू, उदर, मुख और नेत्र हैं जिनके; विशेषण, वि. 'त्वाम्' ''अनेका बाहवः उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्य इति''बहु.
सर्वतः - सभी तरफ से; सर्वनाम, पं. अव्ययान्त ।
अनन्तरूपम् - अनन्त रूप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
पश्यामि - देखता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'दृश्' 1गण, परस्मै
विश्वरूप - हे विश्वरूप; सम्बोधन ।
तव - आपका (तेरा); सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
न - नहीं; अव्यय ।
अन्तम् - अन्तिम छोर, अन्त; नाम, द्वि.ए.व.पु.
न -नहीं; अव्यय
मध्यम् - मध्य को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'मध्य'
न पुनः - फिर से नहीं; अव्यय
आदिम् - आदि; नाम,द्वि.ए.व.पु.
पश्यामि - देखता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'दृश्' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मैं आपको अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्र वाला और सर्वतः अनन्त रूप वाला देखता हूँ। हे विश्वेश्वर ! आपका अन्त, मध्य अथवा आदि मुझे दिखाई नहीं देता और मैं विश्वरूप देखता हूँ।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के श्लोक 3/2/24 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।। 17 ।।

अन्वयः

त्वाम् - आपको (तुमको); सर्वनाम, द्वि.ए.व.'युष्मत्'
किरीटिनम् - मुकुट धारण करने वाले को; विशेषण,वि.'त्वाम्'
गदिनम् - गदा धारण करने वाले को; विशेषण, वि. 'त्वाम्'
च - और; अव्यय
चक्रिणम् - चक्र धारण करने वाले को; विशेषण,वि. 'त्वाम्'
सर्वतः - सब ओर से; सर्वनाम, पं.ए.व.
दीप्तिमानम् - प्रकाशमान को; व.कृ.विशेषण,वि. 'त्वाम्'
तेजोराशिम् - तेज का अंबार, तेज का पुंज; विशेषण, वि. 'त्वाम्'
दीप्तानलार्कद्युतिम् - प्रकाशित अग्नि और सूर्य की कान्ति जैसा; विशेषण, वि. 'त्वाम्'
दुर्निरीक्ष्यम् - कठिनाई से दिखने योग्य; विशेषण,वि. 'त्वाम्' विधेय कर्मणि कृदंत विशेषण
अप्रमेयम् - जिसको मापा न जा सके; विशेषण,वि. 'त्वाम्'
समन्तात् - सब ओर से; अव्यय
पश्यामि - देखता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'दृश्' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : किरीट, गदा और चक्र युक्त तेज के समूह रूप, सर्वतः प्रकाशमान, जिनके सामने देखा न जा सके, सब ओर से प्रदीप्त अग्नि और सूर्य जैसी कान्ति वाले तथा प्रमाण (प्रमा) से अतीत आपको मैं देखता हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस् त्वं पुरूषोमतो मे ।। 18 ।।

अन्वयः

त्वं - आप(तू); सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मत्'
वेदितव्यम् - जानने योग्य; नाम, विधेय कृदन्त, प्र.ए.व.नपु.
परमम् - श्रेष्ठ; विशेषण,वि. 'अक्षरम्'
अक्षरम् - अक्षर; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अक्षर'
असि - हैं; क्रियापद, द्वि.पु.ए.व. 'अस्'
त्वम् - आप (तू); सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मत्'
अस्य - यह; सर्वनाम,ष.ए.व.पु.नपु.'इदम्'
विश्वस्य - विश्व का; नाम, ष.ए.व.पु.नपु.
परम् - श्रेष्ठ; विशेषण,वि. 'निधान'
निधानम् - स्थान; नाम, प्र.ए.व.नपु.'निधान'
असि च - हैं और
त्वम् - आप (तू); सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मत्'
शाश्वतधर्मगोप्ता - अनादि धर्म के रक्षक; विशेषण,वि.'त्वम्'
असि च - हैं और;
त्वम् - आप (तू); सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'युष्मत्'
एव - ही; अव्यय
अव्ययः - अविनाशी; विशेषण,वि. 'त्वम्'
सनातनः - शाश्वत, अनादि; विशेषण,वि. 'त्वम्'
पुरूषः - पुरूष; नाम, प्र.ए.व.पु.
मे - मेरे से; सर्वनाम, ष.ए.व.'अस्मत्'
मतः - माने गए; भू.कृ.विशेषण,वि.'पुरूषः'
असि - हैं ; क्रियापद

श्लोकार्थ : आप अक्षर हैं, परम जानने योग्य हैं,आप इस विश्व के परम निधान हैं, शाश्वत धर्म का रक्षण करने वाले अव्यय हैं। मैं आपको सनातन पुरूष मानता हूँ।

विवेचन : आप अक्षर स्वरूप परब्रह्म हैं। अतः ज्ञानियों और भक्तों के लिए जानने योग्य हैं। यहाँ भगवान को अक्षर कहा गया अतः सब की उत्पत्ति उनसे हुई, ऐसा संकेतित है। अब लय स्वरूप कहते हैं। आप इस विश्व के परम निधान अथवा लय स्थान हैं। अब (भगवान के) पालकत्व के बारे में कहते हैं। आप शाश्वत धर्म का रक्षण करने वाले हैं। गुणात्मक न होकर अव्यय अर्थात अविनाशी अथवा नित्य हैं। मैं आपको सनातन पुरूष अथवा पुरूषोत्तम मानता हूँ। आप पुरूषोत्तम हैं- ऐसा मेरा निश्चय है ।

अनादि - मध्यान्तम् अनन्तवीर्यम् अनंतबाहुं शशि-सूर्य-नेत्रम् ।।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम् स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।। 19।।

अन्वयः

त्वाम् - आपको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'

अनादिमध्यान्तम् - जिसका आदि, मध्य और अंत नहीं है; विशेषण,वि. 'त्वम्' ''न आदिः मध्यः अन्तः यस्य'' बहु.

अनन्तवीर्यम् - जिनका पराक्रम अनंत है; विशेषण, वि. 'त्वाम्' ''न अन्तः वीर्य यस्य इति''

अनन्तबाहुम् - अनंत हैं बाहु जिनके; ''अनन्ताः बाहवः यस्य इति'' बहु. विशेषण, वि. 'त्वम्'

शशिसूर्यनेत्रम् - शशि और सूर्य रूप नेत्र वाले को; विशेषण, वि. 'त्वाम्' ''शशि च सूर्यश्च नेत्रे यस्य'' बहु.

दीप्तहुताशवक्त्रम् - प्रकाशित अग्नि के रूप जैसे मुखवाले को; विशेषण,वि. 'त्वाम्' ''दीप्तहुताशस्य वक्त्रं इव यस्य इति'' बहु. ।

च - और; अव्यय

स्वतेजसा - अपने तेज से; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'स्वतेजस्' ।

इदम् - यह; सर्वनाम,द्वि.ए.व.नपु.

विश्वम् - विश्व को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'विश्व' ।

तपन्तम् - तपाते; व.कृ.विशेषण,वि.'त्वाम्'

पश्यामि - देखता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'दृश्' (पश्य्) 1 गण

श्लोकार्थ : आदि, मध्य तथा अन्त रहित, अनन्त वीर्य वाले, अनन्त बाहु वाले, चन्द्र और सूर्य रूपी नेत्र वाले, प्रदीप्त अग्नि जिनके मुख में है वैसे आपको अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए मैं देखता हूँ।

द्यावा- पृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपम् उग्रं तवेदम् लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।20।।

अन्वयः

महात्मन् - हे महात्मन्; सम्बोधन

इदम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

द्यावा- पृथिव्यो -स्वर्ग और पृथ्वी के; नाम,ष.द्वि.व. ''द्यौः पृथिवी च'' द्वंद्व समास

अन्तरम् - मध्य भाग; नाम, प्र.ए.व.नपु.'अन्तर' ।

च - और; अव्यय

सर्वाः - सम्पूर्ण; प्र.ब.व.स्त्री.

दिशः - दिशाएँ; नाम,प्र.ब.व.स्त्री.'दिश्'

हि - निश्चय; अव्यय

त्वया - आपके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.'युष्मत्'

एकेन - एक से; विशेषण, वि. 'त्वया'

व्याप्तम् - व्याप्त; विशेषण, वि.'अन्तरम्'

अस्ति - है; क्रियापद

तव - आपका; सर्वनाम, ष.ए.व.

इदम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

च - और; अव्यय

उग्रम् - उग्र; विशेषण, वि. 'रूपम्'

अद्भुतम् - अद्भुत; विशेषण, वि. 'रूपम्'

रूपम् - रूप को; नाम,द्वि.ए.व.नपु. 'रूप'

दृष्ट्वा - देखकर; विधेय कृदन्त

लोकत्रयम् - तीन लोक; नाम, प्र.ए.व.नपु.

प्रव्यथितम् - घबराए हुए,व्यथा को प्राप्त; विशेषण , वि.'लोकत्रयम्'
अस्ति - है; क्रियापद, तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अंतर और सब दिशाओं में मात्र आप ही व्याप्त हैं। हे महात्मन् ! आपके इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर तीनों लोक बहुत व्यथित दिखाई दे रहे हैं।

विवेचन : युद्ध देखने की इच्छा से ब्रह्मा आदि देवगण, असुर, पितृगण, सिद्ध, गंधर्व, यक्ष, राक्षस आए। उनमें पाण्डवों के अनुकूल, उनसे प्रतिकूल और तटस्थ भी थे। ये तीनों लोक भगवान के इस विश्वरूप को देखकर व्यथित थे। भगवान ने अपना ऐश्वर्य अर्जुन को दिखाने के लिए उनको भी दिव्य दृष्टि प्रदान की थी ।(रामानुज)

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।।
''स्वस्ती'' त्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।।21।।
अन्वयः
हि - निश्चय; अव्य
अमी - वे; सर्वनाम,प्र.ब.व.पु.'अदस्'
सुरसङ्घाः - देवों का समूह; नाम, प्र.ब.व.पु.
त्वाम् - आपको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'
विशन्ति - प्रवेश करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'विश्' 6गण, परस्मै।
च - और; अव्यय
केचिद् - (उनमें से)कई ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
भीताः - भयभीत होकर; विशेषण, वि.'सुरसङ्घाः'
प्राञ्जलयः - नमस्कार करके; नाम, प्र.ब.व.पु.'प्राञ्जलि'
गृणन्ति - बोलते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'गृ'9गण, परस्मै
च - और; अव्यय ।
महर्षि सिद्धसङ्घाः - महर्षियों और सिद्धों के समूह; नाम, प्र.ब.व.पु.

स्वस्ति - स्वस्ति (मंगल हो); नाम ।
इति - ऐसा; अव्यय
उक्त्वा - कहकर; विधेय कृदन्त ।
त्वाम् - आपको; सर्वनाम, सर्वनाम, द्वि.ए.व.'युष्मत्'
पुष्पकलाभिः - पुष्कल,पर्याप्त; विशेषण,वि. 'स्तुतिभिः'
स्तुतिभिः - स्तुतियों के द्वारा; नाम,तृ.ब.व.स्त्री.'स्तुति'
स्तुवन्ति - स्तुति करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'स्तु' 2गण,परस्मै

श्लोकार्थ : वे देवों के समूह आप में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कई भयभीत होकर हाथ जोड़ कर स्तुति कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'स्वस्ति' कहकर पुष्कल स्तुति से आपका स्तवन कर रहे हैं।

रूद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरूतश्चोष्मपाश्च ।।
गन्धर्व - यक्षासुर - सिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।22।।
अन्वयः
ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
रूद्रादित्या - रूद्र और आदित्य; नाम, प्र.ब.व.पु. ।
च - और; अव्यय
वसवः - वसुगण; नाम, प्र.ब.व.पु. 'वसु'
च - और; अव्यय
साध्याः - साध्यगण; नाम, प्र.ब.व.पु. 'साध्य'
विश्वे - विश्वे नाम के दो देव; नाम, प्र.द्वि.व.स्त्री.
अश्विनौ - अश्विनी कुमार; नाम, प्र.द्वि.व.पु.
च -और; अव्यय
मरूतः - मरूत्गण; नाम, प्र.ब.व.पु.'मरूत्'
ऊष्मपाः - पितृगण; नाम, प्र.ब.व.पु.'ऊष्मप'
च,एव - और, मात्र; अव्यय
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः - गंधर्व, यक्ष,असुर और सिद्धों के समूह; नाम, प्र.ब.व.पु.''गंधर्वाः यक्षाःअसुराः सिद्धसङ्घाश्च'' द्वंद्व

सर्वे – सभी; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
त्वाम् –आपको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'युष्मत्'
विस्मिताः – विस्मय को प्राप्त; विशेषण,वि. 'सर्वे' भ.कृ. ।
सन्तः – होकर;
वीक्षन्ते – देख रहे हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'वि+ईक्ष्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थ : रूद्र, आदित्य, वसुगण और सभी साध्यगण, दोनों अश्विनी कुमार, मरूत्गण, पितृगण, गंधर्व , यक्ष, असुर और सिद्धगण के समूह सभी विस्मित होकर आपके दर्शन कर रहे हैं।

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रम् महाबाहो ! बहुबाहूरूपादम् ।।
बाहूदरं बहुदंष्ट्राकरालम् दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ।। 23।।
अन्वयः
महाबाहो – हे महाबाहो, कृष्ण; सम्बोधन ।
ते – आपके; सर्वनाम, ष.ए.व.'युष्मत्'
बहुवक्त्रनेत्रम् – बहुत मुखों तथा नेत्रों वाले; विशेषण, वि.'रूपम्''बहूनि वक्त्राणि नेत्रे यस्य''बहु.
बहुबाहूरुपादम् – बहुत बाहु, जांघ और चरण वाले; विशेषण, वि. 'रूपम्''बहवः बाहवः उरवः पादाश्च यस्य इति'बहु.
बहूदरम् – बहुत उदर वाले; विशेषण, वि. 'रूपम्''बहूनि उदराणि यस्य इति''बहु.
च – और; अव्यय
बहुदंष्ट्राकरालम् – अनेक विकराल दाढों वाले; विशेषण, वि. 'रूपम्' ''बहवाः दंष्ट्राः कराला: यस्य इति''बहु.
महत् – महान; विशेषण, वि. 'रूपम्'
रूपम् – रूप; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
दृष्ट्वा – देखकर; विधेय कृदन्त
लोकाः – सभी लोक; नाम, प्र.ब.व.पु. 'लोक'

प्रव्यथिताः – अत्यधिक व्यथित; विशेषण, वि. 'लोकाः'
सन्ति– हो रहे हैं; क्रियापद तृ.पु.ए.व. 'अस्'
तथा – और, अव्यय
अहम् – मैं, अर्जुन; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
अपि व्यथितः अस्मि – मैं भी व्यथित हो रहा हूँ।

श्लोकार्थ : हे महाबाहो! अनेक मुख और नेत्र वाले, अनेक बाहु, जंघाओं और चरण वाले अनेक उदर वाले और अनेक विकराल दाढ़ों सहित आपके विराट रूप को देखकर सभी लोक व्यथित हो रहे हैं तथा उसी प्रकार मैं भी व्यथित हो रहा हूँ।

नभः स्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।24।।
अन्वयः
हि – निश्चय; अव्यय
विष्णो – हे विष्णु! सम्बोधन
नभः स्पृशम् – आकाश को स्पर्श करते हुए; नाम, द्वि.ए.व. ''नभः स्पृशति इति''उपपद
दीप्तम् – प्रकाशित; विशेषण, वि. 'अनेकवर्णम्'
अनेकवर्णम् – अनेक रंगों वाले; विशेषण, वि. 'त्वाम्''अनेकानि वर्णानि यस्य इति''बहु.
व्यात्ताननम् – फैले हुए मुख वाले; विशेषण, वि. 'त्वाम्' ''व्यात्तम् आननम्''कर्मधारय
च – और; अव्यय
दीप्तविशालनेत्रम् – प्रकाशित विशाल नेत्र वाले; विशेषण, वि. 'त्वाम्' ''दीप्त च विशाले च नेत्रे यस्य इति''बहु.
त्वाम् – आपको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'
दृष्ट्वा – देखकर; विधेय कृदंत

प्रव्यथितान्तरात्मा – दुखित है अन्तरात्मा जिनका; ''प्रव्यथित: अन्तरात्मा यस्य इति'' बहु.
अहम् – मै; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्'
धृतिम् – धीरज; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री. 'धृति'
च – और; अव्यय
शमम् – शान्ति को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
न – नहीं; अव्यय
विन्दामि – प्राप्त हो रहा हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.; 'विन्द्' 6 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे विष्णो ! आकाश को स्पर्श करते, प्रकाशमान, अनेक रंग वाले, फैले हुए मुख वाले, प्रदीप्त और विशाल नेत्रों वाले आपको देख कर जिसका अन्तरात्मा बहुत व्यथित हो रहा है ऐसा मैं धैर्य और शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश! जगन्निवास!।।25।।
अन्वय:
ते – आपका (तुम्हारा); सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
दंष्ट्राकरालानि – विकराल दाढ़ों वाले; विशेषण, वि. 'मुखानि'
च – और; अव्यय
कालानलसन्निभानि – कालाग्नि के तेज जैसा; ''कालानलस्य सन्निभा येषु इति'' बहु. विशेषण, वि. 'मुखानि'
मुखानि – मुख; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'मुख'
दृष्ट्वा – देखकर; विधेय कृदंत
दिश: – दिशाओं को; नाम, द्वि.ब.व. स्त्री. 'दिश्'
न – नहीं; अव्यय
जाने – जानता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'ज्ञा' 9 गण, आत्मने
च – और, अव्यय

शर्म – सुख; नाम, द्वि.ए.व. नपु. 'शर्मन्'
एव न – भी नहीं; अव्यय
लभे – मिल रहा है; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'लभ्' 1 गण, आत्मने
अत: – इसलिए; अव्यय
देवेश – हे देवों के ईश्वर! सम्बोधन
जगन्निवास – हे जगन्निवास! सम्बोधन
त्वम् – आप(तू); सर्वनाम,प्र.ए.व.'युष्मद्'
प्रसीद – प्रसन्न हों; क्रि.आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व.'प्र+सद्' (सीद्) 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : आपकी विकराल दाढ़ों और कालाग्नि जैसे आपके मुखों को देख कर ही मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं हो रहा है और मुझे शांति नहीं मिल रही है। अत: हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइए ।

विवेचन : आपके विकराल और कालाग्नि जैसे मुखों को देखकर मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं हो रहा है अर्थात किस दिशा में पीछे हटना है, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है, किस दिशा में पीछे हटने से मेरा भय दूर होगा, मैं नहीं जान सक रहा हूँ।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा: सर्वे सहैवावनिपालसङ्घै: ।।
भीष्मो द्रोण: सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योद्धमुख्यै: ।। 26।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्रकरालानि भयानकानि ।।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितेरूत्तमाङ्गै: ।। 27।।
अन्वय :
अमी – वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'अदस्'
सर्वे – सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
एव – ही, मात्र; अव्यय
धृतराष्ट्रस्य – धृतराष्ट्र के; नाम, ष.ए.व.पु.
पुत्रा: – पुत्र; नाम, प्र.ब.व.पु. ।
अवनिपालसङ्घै: – राजाओं के समुदायों के; नाम, तृ.ब.व. ''अवने: पालानाम् सङ्घै:'' तत्पुरूष ।

सह - के साथ; अव्यय ।
त्वाम् - आप में; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'
विशन्ति - प्रवेश कर रहे हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विश्' 6गण, परस्मै
च - और; अव्यय
भीष्मः - भीष्म; नाम, प्र.ए.व.पु.
द्रोणः - द्रोण; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
तथा - उसी प्रकार; अव्यय
असौ - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'अदस्'
सूतपुत्रः - कर्ण; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्मदीयैः - हमारे(पक्ष के); विशेषण, वि. ''योधमुख्यैः''।
अपि - भी; अव्यय
योधमुख्यैः - योद्धाओं में मुख्य; नाम,तृ.ब.व.पु. ।
सह - सहित; अव्यय
त्वरमाणाः - तेज गति से; विशेषण, वि.'पुत्राः'
ते - आपके; सर्वनाम, ष.ए.व.'युष्मत्'
दंष्ट्राकरालानि - विशाल दाढ़ों वाले; विशेषण, वि.''वक्त्राणि कराला: दंष्ट्राः येषु ''बहुव्रीहि
भयानकानि - भयानक; विशेषण,वि. ''वक्त्राणि''
वक्त्राणि - मुख ; नाम, द्वि.ब.व.नपु.'वक्त्र'
विशन्ति - प्रवेश कर रहे हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'विश्' 6गण, परस्मै
च - और; अव्यय
केचिद् - (उनमें से)कई ; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'किम्+चित्'
चूर्णितैः - चूर्ण हुए, चूर-चूर हुए; विशेषण, वि.'उत्तमाङ्गैः'
उत्तमाङ्गैः - मस्तकों सहित; नाम, तृ.ब.व.नपु. ।
दशनान्तरेषु - दांतों के बीच में; नाम, स.ब.व.पु.
विलग्नाः - चिमटे हुए; विशेषण, वि.'केचिद्'
संदृश्यन्ते - अच्छी तरह दिखाई दे रहे हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.1 गण, कर्मणि, 'सम् + दृश्'

श्लोकार्थ : और धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों के साथ भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र तथा राजाओं के समुदाय और हमारे पक्ष के मुख्य योद्धा - ये सभी दाढ़ों के कारण विकराल और भयानक आपके मुखों की ओर दौड़ कर आप में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कई चूर - चूर मस्तकों वाले आपके दांतों के बीच चिमटे हुए दिखाई दे रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।28।।

अन्वयः
यथा - जिस प्रकार से; अव्यय
नदीनाम् - नदियों के; नाम, ष.ब.व.स्त्री.'नदी'
बहवः - बहुत सारा; विशेषण,वि. 'अम्बुवेगाः'
अम्बुवेगाः - जलप्रवाह
समुद्रम - समुद्र की तरफ; नाम, द्वि.ए.व.पु.'समुद्र'
एव - मात्र , ही; अव्यय
अभिमुखाः - सन्मुख; विशेषण, वि. 'अम्बुवेगाः'
द्रवन्ति - वेग से बढ़ते हैं ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''द्रु'' (द्रव्) 1गण, परस्मै
तथा - उसी प्रकार; अव्यय
अमी - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.'अदस्'
नरलोकवीराः - नरलोक के वीर; नाम,प्र.ब.व.पु. तत्पुरूष ।
तव - आपके (तेरे); सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मद्'
अभिविज्वलन्ति - सब ओर से अग्नि से देदीप्यमान; व.कृ.विशेषण,वि.'वक्त्राणि'
वक्त्राणि - मुख; नाम, द्वि.ब.व.नपु.
विशन्ति - प्रवेश कर रहे हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'विश्' 6गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जैसे नदियों के जल के अनेक प्रवाह (स्वाभाविक रूप से) समुद्र की ही तरफ बहते हैं वैसे ही नरलोक के वीरपुरूष आपके सब ओर से प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

विवेचन : नदियों का प्रवाह अपने लयस्थान रूप समुद्र की ओर बहकर समुद्र में लय प्राप्त करता है। उसी प्रकार ये वीर पुरूष आपके ज्वलित मुखों में प्रवेश कर लय पा रहे हैं।

ऊपर बताए गए लय अथवा नाश के दृष्टांत में नाश प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं होने से नाश का प्रकार विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए दूसरा दृष्टांत कहते हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।। 29।।

अन्वयः

यथा - जैसे; अव्यय
पतङ्गाः - पतंगे; नाम, प्र.ब.व.'पतङ्ग'
नाशाय - नाश के लिए; नाम, च.ए.व.पु.
प्रदीप्तम् - प्रज्वलित; कृ.विशेषण,'प्र+दीप्'धातु
ज्वलनम् - अग्नि; कृ.नाम,द्वि.ए.व.नपु.'ज्वल्' धातु
समृद्धवेगाः - तीव्र वेग से; विशेषण, वि. 'पतङ्गा' ''समृद्धः वेगः एषाम्''बहु.
विशन्ति - प्रवेश करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विश्' 6 गण, परस्मै
तथैव - उसी प्रकार से; अव्यय, तथा + एव
लोकाः - सभी लोक; नाम, प्र.ए.व.पु. 'लोक'
अपि - के अतिरिक्त; अव्यय
नाशाय - नाश के लिए; नाम, च.ए.व.पु. 'नाश'
समृद्धवेगाः - तीव्र वेग से; विशेषण, वि. 'लोकाः''समृद्धः वेगः येषाम्''बहु.
तव - आपका (तुम्हारा); ष.ए.व. 'युष्मद्'
वक्त्राणि - मुखों में; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'वक्त्र'
विशन्ति - प्रवेश कर रहे हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विश्' 6 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जैसे तीव्र वेग से पतंगे प्रज्वलित अग्नि में अपने नाश के लिए प्रवेश करते हैं वैसे ही ये सभी लोक तीव्र वेग से आपके मुखों में अपने नाश के लिए प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्यजगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।30।।

अन्वयः

समग्रान् - सम्पूर्ण; विशेषण, वि. 'लोकान्'
लोकान् - लोकों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'लोक'
ज्वलद्भिः - प्रज्वलित; व.कृ. विशेषण, वि. 'वदनैः'
वदनैः - मुखों द्वारा; नाम, तृ.ब.व.नपु. 'वदन'
ग्रसमानः - ग्रसने की क्रिया करते हुए; विशेषण, वि. 'त्वम्'
समन्तात् - सब ओर से; अव्यय
लेलिह्यसे - चाटने की इच्छा कर रहे हैं; इच्छा दर्शक क्रि. व.का.द्वि.पु.ए.व. 'लिह्' 4 गण
विष्णो - हे विष्णु; सम्बोधन
तव - आपका (तेरा); सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
उग्राः - उग्र; विशेषण, वि. 'भासः'
भासः -प्रकाश की छटाएँ; नाम, प्र.ब.व.स्त्री. 'भास्'
समग्रम्- अखिल; विशेषण, वि. 'जगत्'
जगत् - जगत को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'जगत्'
तेजोभिः - तेज से, प्रकाश से; नाम, तृ.ब.व.नपु. 'तेजस्'
आपूर्य - परिपूर्ण करके, घेर कर; विधेय कृ.
प्रतपन्ति - भली-भांति तपा रहा है, खूब तपा रहा है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'प्र +तप्' 1 गण परस्मै

श्लोकार्थ : आप अपने प्रज्वलित मुखों से चारों तरफ से सब लोकों को ग्रस कर चाट रहे हैं। हे विष्णु! आपका उग्र तेज सम्पूर्ण जगत को अपनी कांति से परिपूर्ण कर प्रकाशित कर रहा है।

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर! प्रसीद।।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।31।।

अन्वयः

मे - मुझको; सर्वनाम, च.ए.व. 'अस्मत्'

आख्याहि - कहिए; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'आ + ख्या' 2 गण, परस्मै

भवान् - आप; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भवन्'

उग्ररूपः - विकराल रूप; नाम, प्र.ए.व.पु.'उग्ररूप'

कः - कौन; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'किम्'

असि - हो; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्'

देववर - देवाधिपति, देवों में श्रेष्ठ; सम्बोधन

ते - आपको (तुमको); सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'

नमः - नमस्कार

अस्तु - हो; क्रि. आज्ञार्थ तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

प्रसीद - प्रसन्न हो; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'प्र + सद्' (सीद्) 1 गण, परस्मै

आद्यम् - मूल स्वरूप को; विशेषण, वि. 'भवन्तम्'

भवन्तम् - आपको; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'भवत्'

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'

विज्ञातुम् - जानने को; हेत्वर्थ कृदंत

इच्छामि - चाहता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'इष्' (इच्छ्) 6 गण, परस्मै

हि - क्योंकि; अव्यय

तव - आपकी; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्' ।

प्रवृत्तिम - प्रवृत्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'प्रवृत्ति'

न - अव्यय

प्रजानामि - भली - भांति जानता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'प्र+ज्ञा' 9गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मुझे कहिए कि उग्र रूप वाले आप कौन हैं। हे देववर ! आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न हों । आद्य पुरूष आपको जानना चाहता हूँ; क्योंकि आपकी प्रवृत्ति मैं जानता नहीं हूँ।

श्रीभगवान् उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुम् सह प्रवृत्तः ।।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।32।।

अन्वयः

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मद्' ।

लोकक्षयकृत् - लोकों का नाश करने वाला; विशेषण,वि. 'कालः'

प्रवृद्धः - बढा हुआ; विशेषण,वि.'कालः'

कालः - काल, महाकाल; नाम,प्र.ए.व.पु.'काल'

अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'अस्'2गण,परस्मै

इह - यहाँ ; अव्यय

लोकान् - लोकों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'लोक'

समाहर्तुम - निगलने के लिए, पूर्णरूपेण संहार करने के लिए; हेत्वर्थ कृदंत, 'सम् + आ+हृ'

प्रवृत्तः - प्रवृत्त हुआ; भू.कृ.विशेषण,वि.'कालः' ।

अस्मि अतः - हूँ, अर्थात; क्रियापद

ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्' ।

प्रत्यनीकेषु - प्रतिपक्ष की सेनाओं में; नाम,स.ब.व.नपु.

अवस्थिताः - स्थिर रहे हुए; भू.कृ.विशेषण, वि.'योधा'

योद्धाः - योधागण; नाम, प्र.ब.व.पु.'योध'

सन्ति ते - हैं; वे; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ब.व.'अस्'

सर्वे - सभी; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.'सर्व'

त्वाम् - आपको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'युष्मत्'

ऋते अपि न - बिना भी नहीं; अव्यय

भविष्यन्ति - रहेंगे ; क्रि.भ.का.तृ.पु.ब.व.पु.'भू'1गण

श्लोकार्थ : श्रीभगवान कहते हैं : मैं लोकों का क्षय करने के लिए वृद्धि को प्राप्त काल हूँ। लोकों का संहार करने के लिए यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रत्येक सेना में जो योद्धा खड़े हैं वे सब तेरे (युद्ध किए)बिना भी रहने वाले नहीं है।

विवेचन : इस प्रकार अर्जुन ने प्रार्थना की तब भगवान उसको यहाँ से तीन श्लोक से उत्तर देते हैं। मैं अक्षर,काल,कर्म और स्वभाव ऐसे चार प्रकार के भेद से काल रूप में प्रकट हुआ हूँ। मैं अक्षर भी हूँ। चाटना आदि गुणयुक्त चिह्न से कालरूप भी मुझे ही जान । मैं कालरूप होने से असुरावेश वाले जीवों का संहार करने वाला हूँ। अत: असुरावेशवाले जीवों का संहार करने के लिए यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। यह ही संकर्षण भाव है। संकर्षण व्यूह संहार करने वाला है। तेरे बिना भी अर्थात तू किसी को नहीं मारेगा तब भी काल रूप मैं उनको निगल जाऊंगा और उनका तिरोभाव हो जाएगा।

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।। 33।।

अन्वयः

तस्मात् - इसलिए ; अव्यय

त्वम् - तूम (तू); सर्वनाम,प्र.ए.व.'युष्मत्'

उत्तिष्ठ - तैयार हो, खड़ा हो; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'उत्+स्था' 1गण,परस्मै

च - और; अव्यय

यशः - यश को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'यशस्'

लभस्व - प्राप्त करो; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'लभ्' 1गण, आत्मने

शत्रून् - शत्रुओं को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'शत्रु'

जित्वा - जीतकर; विधेय कृदन्त

समृद्धम् - धन-धान्य से सम्पन्न; विशेषण, वि.'राज्यम्'

राज्यम् - राज्य को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'राज्य'

भुङ्क्ष्व - भोगो; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.प.ए.व. 'भुज्' 7 गण, आत्मने

सव्यसाचिन् - बाएँ हाथ से काम करने वाले, हे अर्जुन; सम्बोधन

एते - ये सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'एतद्'

पूर्वम्, एव - पहले से ही; अव्यय

मया एव - मेरे ही द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'

निहता : मारे हुए हैं; भू.कृ. विशेषण, वि. 'एते'

त्वम् - तुम (तू); सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'

निमित्तमात्रम् - मात्र निमित्त रूप; अव्यय, नाम, प्र.ए.व.नपु ''निमित्ते एव इति'' अव्ययी भाव

भव - हो; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अत: तुम उठो। यश प्राप्त करो। शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य को भोगो। मैंने इनको पहले से ही मारा हुआ है। हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्त मात्र बनो।

विवेचन : हे सव्यसाचिन्! अर्थात बाएँ हाथ से बाण फेंकने वाले! इन सभी योद्धाओं को कालरूप मैंने ही मारा है। तुम मात्र निमित्त बनकर यश प्राप्त करो। अत: उठो और शत्रुओं को मार कर समृद्धिशाली राज्य का भोग करो।

इस श्लोक की व्याख्या श्री भागवत के श्लोक 1/15/13 के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्!।।
मया हतान्स्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्वजेतासि रणे सपत्नान्।।34।।

अन्वयः

द्रोणम् - द्रोण को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'द्रोण'

च - और; अव्यय

भीष्मम् - भीष्म को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'भीष्म'

च - और; अव्यय

जयद्रथम् - जयद्रथ को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'जयद्रथ'

च - और; अव्यय

कर्णं - कर्ण को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'कर्ण'

तथा - और; अव्यय

अन्यान् - दूसरों को; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.

अपि – **भी**; अव्यय
मया – **मेरे द्वारा**; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'युष्मत्'
हतान् – **मारे हुए को**; भू.कृ. विशेषण, वि. 'योधवीरान्'
योधवीरान् – **वीर योद्धाओं को**; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'योधवीर'
त्वम् – **तू**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
जहि – **मारो**; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'हन्' 2 गण, परस्मै
च मा – **और नहीं**; अव्यय
व्यथिष्ठाः – **व्यथा पाओ**; क्रि. भूतकाल, द्वि.पु.ए.व. 'व्यथ्' 1 गण, आत्मने
रणे – **रण में**; नाम, स.ए.व.नपु. 'रण'
सपत्नान् – **शत्रुओं को**; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'सपत्न'
जेतासि – **तुम जीतोगे**; क्रि.प्र.भवि. का.प्र.पु.ए.व.जि (जय्) 1 गण, परस्मै
अतः त्वम् – **अर्थात तुम**
युद्ध्यस्व – **लड़ो**; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'युद्ध' 4 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और मेरे द्वारा मारे हुए अन्य वीर योद्धाओं को तुम मारो। व्यथा मत करो। युद्ध करो। संग्राम में तुम शत्रुओं को जीतोगे।

विवेचन : भीष्म, द्रोण आदि को मैं कैसे मारूँ? ऐसी शंका मत करो। ये सभी योद्धा मेरे द्वारा मारे हुए ही हैं। वे काल – दृष्टि से अथवा प्रारब्ध कर्म के कारण ही जी रहे हैं। उनको मारो। तुम दुखी न होकर युद्ध करो। तुम संग्राम में शत्रुओं को जीतोगे।

सञ्जय उवाच

एतत् श्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूयः एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।35।।

अन्वयः
केशवस्य – **केशव के**; नाम, ष.ए.व.पु. 'केशव'

एतत् – **यह**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
वचनम् – **वचन को**; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'वचन'
श्रुत्वा – **सुनकर**; विधेय कृदंत
किरीटी – **किरीटमुकुटधारी अर्जुन**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'किरीटिन्'
कृताञ्जलिः – **हाथ जोड़े हुए हैं जिसने**; विशेषण, वि. 'किरीटी' ''कृतः अञ्जलिः येन इति'' बहु.
वेपमानः – **काँपते हुए**; व.कृ. विशेषण, वि. 'किरीटी'
नमस्कृत्वा – **नमस्कार करके**; विधेय कृदंत
भूयः एव – **फिर से, ही**; अव्यय
भीतभीतः – **भयभीत होते हुए**; विशेषण, वि. 'किरीटी'
प्रणम्य – **नमस्कार करके**; विधेय कृदंत
कृष्णम् – **कृष्ण को**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'कृष्ण'
सगद्गदम् – **गद्गद वाणी से**; अव्यय
आह – **कहा**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'ब्रू' 2 गण

श्लोकर्थ : सञ्जय बोले : केशव के यह वचन सुनकर अत्यंत भयभीत हुए कंपायमान अर्जुन ने हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण को नमस्कार कर तथा प्रणाम करके गदगद कंठ से पुनः निम्नानुसार कहा।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषिकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।36।।

अन्वयः
हृषिकेश – **हे कृष्ण, हे इंद्रियों के अधिपति**; सम्बोधन।
तव – **आपकी (तेरी)**; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
प्रकीर्त्या – **कीर्तन से**; तृ.ए.व. स्त्री. कीर्ति
जगत् – **जगत्**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'जगत्'
प्रहृष्यति – **अति हर्षित हो रहा है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. प्र+हृष् 4 गण, परस्मै।

च – **और**; अव्यय
अनुरज्यते – **अनुराग हो रहा है, प्रेम हो रहा है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अनु+रज्' 4 गण, आत्मने
एतत् – **यह**;
स्थाने – **उचित स्थान**; नाम, स.ए.व.नपु. 'स्थान'
एवास्ति – **ही है**; अव्यय, क्रियापद
भीतानि – **डरे हुए**; विशेषण, वि. 'रक्षांसि' भू.कृ.
रक्षांसि – **राक्षस गण**; नाम, प्र.ब.व. 'रक्षस्'
दिशः – **सभी दिशाओं में**; नाम, द्वि.ब.व.स्त्री. 'दिश्'
द्रवन्ति – **दौड़ रहे हैं**; क्रियापद. व.का.तृ.पु.ब.व. 'द्रु' 1 गण, परस्मै
च – **और**; अव्यय
सर्वे – **सम्पूर्ण**; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
सिद्धसंघाः – **सिद्धगण**; नाम, प्र.ब.व.पु.
नमस्यन्ति – **नमस्कार कर रहे हैं**; क्रि.भ.का.तृ.पु.ब.व. 'नमस्' नामधातु, परस्मै
एतदपि योग्यमेव – यह उचित ही है; क्रियापद।

श्लोकार्थ : अर्जुन कहते हैं : हे हृषिकेश! आपकी कीर्ति (को गाकर) यह जगत् हर्षित और प्रसन्न हो रहा है। राक्षस गण भयभीत होकर सभी दिशाओं में दौड़ रहे हैं और सभी सिद्धगण नमन कर रहे हैं यह उचित ही है।

विवेचन : यहाँ से (36 से 46) ग्यारह श्लोक तक अर्जुन भगवान की प्रार्थना करते हैं। यह 36वाँ श्लोक रक्षोघ्न मंत्र अर्थात राक्षसों को मारने का मारण मंत्र है। यह रक्षोघ्न मंत्र शास्त्र में प्रसिद्ध है।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।।
अनन्त देवेश जगन्निवास! त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।37।।
अन्वयः
महात्मन् – **हे महात्मा**; सम्बोधन

ब्रह्मणः – **ब्रह्मा के**; नाम, ष.ए.व.पु. 'ब्रह्मन्'
अपि – **भी**; अव्यय
आदिकर्त्रे – **आदिकर्ता को**; नाम च.ए.व.पु. 'आदिकर्तृ'
च – **और**; अव्यय
गरीयसे – **विशेष महान (बड़े)**; विशेषण, वि. 'आदिकर्त्रे'
ते – **वे**; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
कस्मात् – **किसलिए**; सर्वनाम, पं.ए.व.नपु. 'किम्'
न – **नहीं**; अव्यय
नमेरन् – **नमस्कार करें**; विध्यर्थ, तृ.पु.ब.व. 'नम्' 1 गण, आत्मने
यतः – **क्योंकि**; अव्यय
अनन्त देवेश – **हे अनन्त, हे देवों के ईश**; सम्बोधन
जगन्निवास – **हे जगत में निवास करने वाले**; सम्बोधन
यत् – **जो**; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'यत्'
सत् – **सत्**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'सत्'
असत् – **असत्**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'आसत्'
तत्परम् – **उनसे (सत् – असत् से) पर**; विशेषण, प्र.ए.व.नपु. 'तत्पर'
अक्षरम् – **अक्षर**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अक्षर'
त्वम् – **आप (तुम)**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
एवास्ति – **ही हैं**; क्रियापद

श्लोकार्थ : हे महात्मन्! ब्रह्मा से भी बड़े आदिकर्ता आपको (वे) नमस्कार क्यों नहीं करेंगे? हे अनन्त! हे देवों के ईश! हे जगन्निवास! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और जो 'पर' है वे हैं।

विवेचन : आप सभी विरूद्ध धर्मों के आश्रय होने से सत् हैं और असत् भीं। जो 'पर' कारण अर्थात पुरूषोत्तम हैं वे भी आप हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्त रूपम्।। 38।।

अन्वयः

त्वम् - आप (तू); सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
आदिदेवः - आदिदेव; नाम, प्र.ए.व.पु. 'आदिदेव'
च - और; अव्यय
पुराणः - पुराण, सनातन; विशेषण, वि. 'पुरुषः'
पुरुषः - पुरुष; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पुरुष'
असि - है; क्रियापद, द्वि.ए.व. 'अस्'
त्वम् - आप (तू); सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
अस्य - इस; सर्वनाम, ष.ए.व.नपु. 'इदम्'
विश्वस्य - जगत के; नाम, ष.ए.व.नपु. 'विश्व'
परम् - परम; विशेषण, वि. 'निधानम्'
निधानम् - स्थान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'निधान'
च - और; अव्यय
वेद्यम् - जानने योग्य; विधेय कर्मणि कृदंत, विशेषण, वि. 'त्वम्'
च - और; अव्यय
वेत्ता - जानने वाले; व.कृ. नाम, प्र.ए.व.पु. 'वेत्तृ'
च - और; अव्यय
परम् - परम; श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'धाम'
धाम - धाम, स्थान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'धामन्'
असि - है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
अनंतरूप - अनंतरूप; सम्बोधन, ''अनन्तानि रूपाणि यास्मिन् विद्यन्ते इति'' बहुब्रीहि
त्वया - आपके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'युष्मत्'
विश्वम् - विश्व; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'विश्व'
ततम् - व्याप्त; भू. कृ. विशेषण, वि. 'विश्वम्'
अस्ति - है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : आप आदि देव हैं, पुराण पुरुष हैं। आप इस विश्व के परम निधान हैं। आप वेत्ता हैं, वेद्य हैं और परम धाम हैं। हे अनंतरूप! विश्व आप से व्याप्त है।

विवेचन : आप आदि देव हैं अथव देवों के आदि हैं। आप पुराण पुरुष अथवा पुरूषोत्तम हैं। इस विश्व के परम निधान अथवा लय स्थान भी आप ही हैं। 'वेत्ता' अर्थात जानने वाले तथा 'वेद्य' अर्थात जाने योग्य पदार्थ भी आप ही हैं, पर धाम अर्थात पुरुषोत्तम के पर धाम अक्षर भी आप ही हैं और आपके अनंत रूप से यह विश्व व्याप्त है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरूणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।39।।

अन्वयः

त्वम् - आप (तू); सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
वायुः - वायु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'वायु'
यमः - यम; नाम, प्र.ए.व.पु. 'यम'
अग्निः - अग्नि; नाम, प्र.ए.व.पु.
वरुणः - वरुण; नाम, प्र.ए.व.पु. 'वरुण'
शशाङ्कः - चद्रं; नाम, प्र.ए.व.पु. 'शशाङ्क'
प्रजापतिः - प्रजापति, ब्रह्मा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रजापति'
च - और; अव्यय
प्रपितामहः - दादा के पिता; नाम, प्र.ए.व.पु. 'प्रपितामह'
असि - है; क्रियापद, द्वि.पु.ए.व. 'अस्'
नमः नमः ते - आपको नमस्कार; 'ते' सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'
ते - आपको; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'
पुनः च भूयः - बारंबार; अव्यय
सहस्रकृत्वः - हजारों बार; अव्यय
अपि - भी; अव्यय
नमःनमः - नमस्कार; अव्यय
अस्तु - हो; क्रि. आज्ञार्थ तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : आप वायु हैं, यम हैं, अग्नि हैं, वरुण हैं, चंद्र हैं, प्रजापति हैं और प्रपितामह हैं। आपको पुनः हजारों बार नमस्कार हो; बारंबार नमस्कार हो।

विवेचन : 'वायु' अर्थात सबको गति देने वाले, सब के प्राणरूप आप हैं। उसी तरह 'यम' अर्थात सब को नियम में रखने वाले, 'अग्नि' अर्थात सब के आधार, 'वरुण' अर्थात जल के अधिपति, सब रसों के पूरक, 'चंद्र' अर्थात सब को आनन्द देने वाले, 'प्रजापति' अर्थात शर्व को (शंकर को) उत्पन्न करने वाले और 'प्रपितामह' अर्थात ब्रह्मा के भी स्रष्टा आप हैं। अत: सर्वरूप आधिदैविक स्वरूप होने से आपको हजारों बार पुन:- पुन: नमस्कार हो।

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।40।।

अन्वय:

अनन्तवीर्य - हे अनन्तवीर्य; सम्बोधन
ते - आपको; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'
पुरस्तात् नमः - आगे से नमस्कार; अव्यय
अथ पृष्ठतः - पीछे से नमस्कार; अव्यय
नमः च - नमस्कार और; अव्यय
सर्वतः एव - चारों ओर से, सब तरफ से, मात्र; अव्यय
नमः - नमस्कार; अव्यय
अस्तु - हो; क्रि. आज्ञार्थ, तृ.पु.ब.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
सर्व - हे सर्वात्मन्! सम्बोधन
अमितविक्रमः - अनन्त पराक्रमशील; ''अमितः विक्रमः यस्य इति'' बहु. विशेषण, वि. 'त्वम्'
त्वम् - आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
सर्व - सर्वरूप; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'सर्व'
असि - आप हैं; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
ततः - इसलिए; अव्यय
समाप्नोषि - समेटे हुए हैं, व्याप रहे हैं; क्रि.व.का.द्वि.पू.ए.व. 'सम् + आप्' 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे सर्व (सर्वस्वरूप)! आपको आगे से, पीछे से और सब ओर से (सभी दिशाओं में) नमस्कार हो। हे अनन्त वीर्यवान्! आप अपरिमित पराक्रम वाले हैं। आप सबको व्याप्त किए हुए हैं अत: सर्वस्वरूप हैं।

विवेचन : हे सर्व! हे सर्वरूप! आपको सभी ओर से (सब दिशाओं में) नमस्कार हो। आप को नमस्कार करने के अलावा अन्य कुछ किया जाना संभव नहीं। आप एक होने पर भी सर्वरूप होने से अनन्त वीर्यवान् हैं। आपका पराक्रम अपरिमित अथवा नि:सीम है। आप सबको व्याप्त किए हुए हैं अर्थात अलग-अलग रूप से पदार्थ मात्र में विद्यमान रहकर सर्वरूप हो जाते हैं। अत: आप सर्वरूप हैं।

इस श्लोक की व्याख्या श्रीमद् भागवत के श्लोक *10/10/30* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि।।41।।

यच्चावहासार्थम् असत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वाम् अहमप्रमेयम्।।42।।

अन्वय:

सखा - सखा; नाम, प्र.ए.व. 'सखि'
इति - इस प्रकार; अव्यय
मत्वा - मानकर; विधेय कृदंत
तव - आपकी, आपके; स्सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
इदम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
महिमानम् - महिमा को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'महिमन्'
अजानता - नहीं जानते हुए; व.कृ. विशेषण, वि. 'मया'
मया - मेरे द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'

प्रणयेन – प्रेम से, सद्भाव से; ' नाम, तृ.ए.व.पु. 'प्रणय'
वाऽपि – अथवा, भी; अव्यय
प्रमादात् –प्रमाद से; नाम, पं.ए.व.पु. 'प्रमाद'
हे कृष्ण हे यादव हे सखे – हे कृष्ण हे यादव हे सखा; सम्बोधन
इति – इस प्रकार; अव्यय
यत् – जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु. 'यत्'
प्रसभम् – मूर्खता भरा, हठपूर्वक; विशेषण, वि. 'यत्'
उक्तम् – कहा गया; भू.कृ. विशेषण, वि. 'यत्'
अस्ति – है; क्रियापद, तृ.पु.ए.व. 'अस्'
च – और; अव्यय
अच्युत – हे अच्युत; सम्बोधन
यत् – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
त्वम् – आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
अवहासार्थम् – हँसी – दिल्लगी के लिए; नाम, च.ए.व.
विहारशय्यासनभोजनेषु – विहार शय्यासन भोजन के समय; नाम, स.ब.व.पु.
एकः – अकेले; विशेषण, वि. 'त्वम्'
अथवा तत्समक्षं अपि – अथवा उनकी (सखाओं, कुटुम्बियों की) उपस्थिति में; अव्यय
असत्कृतः – अपमानित हुए; भू.कृ. विशेषण, वि. 'त्वम्'
असि – है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्'2 गण, परस्मै
तत् – वह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
त्वाम् – आप से; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'
अप्रमेयम् – चिन्त्य प्रभाव वाले; विशेषण, वि. 'त्वाम्'
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
क्षामये – क्षमा कराता हूँ; क्रि.व.कारक, प्र.पु.ए.व. 'क्षम्' 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे अच्युत! आपकी यह महिमा न जानने से मैंने आपको केवल सखा जानकर, प्रमाद के कारण अथवा स्नेह से, बिना विचार किए हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! आदि के रूप में संबोधित किया है; तथा विहार, शय्या, आसन और भोजन के समय एकान्त में अथवा सखाओं के समक्ष विनोद के लिए आपका अनादर किया है उसे अप्रमेय! मैं आपसे क्षमा करवाता हूँ।

विवेचन : आपके अलौकिक माहात्म्य आदि को नहीं जानने के कारण मैंने आपको सामान्य पुरुष समझकर जो कुछ भी कहा है तथा विहार – शय्या आदि के समय आपका जो अनादर किया है उसके लिए मैं क्षमा मांगता हूँ।

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।।
न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव!।।43।।

अन्वयः

त्वम् – आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
अस्य – इसके; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'इदम्'
चराचरस्य – जड़ और चेतन के; विशेषण, वि. 'लोकस्य'
लोकस्य – लोक के, विश्व के; नाम, ष.ए.व.पु.
पिता – पिता; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पितृ'
गरीयान् – विशेष महान; विशेषण, वि. 'त्वम्'
गुरुः – गुरु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'गुरु'
च – और; अव्यय
पूज्यः – पूजनीय; विशेषण, वि. 'त्वम्'
असि – है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
अप्रतिमप्रभाव – हे अतुल प्रभाव वाले; सम्बोधन
लोकत्रये – तीन लोक में; नाम, स.ए.व. नपु.
त्वत्समः – आपके जैसा; विशेषण, वि. 'अन्यः'
अपि – भी; अव्यय
अन्यः – दूसरा; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.

न – **नहीं**; अव्यय
अस्ति – **है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
तर्हि – **तो फिर**; अव्यय
अभ्यधिकः – **(आप से) अधिक बढ़कर**; विशेषण, वि. 'अन्यः
कुतः – **कैसे**; अव्यय (स्यात्?= हो सकता है?

श्लोकार्थ : हे अप्रतिम प्रभाव वाले ! आप इस स्थिर और जंगम लोक के पिता हैं और महान पूज्य गुरु हैं। तीनों लोक में आपके समान अन्य कोई नहीं है तो आप से अधिक तो हो ही कैसे सकता है?

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वाम् अहमीशमीड्यम्।।
पित्रेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।44।।

अन्वयः
तस्मात् – **इसलिए**; अव्यय
देव – **हे देव**; सम्बोधन
अहम् – **मैं**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
कायम् – **शरीर को**; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'काय'
प्रणिधाय – **त्याग करके**; विधेय कृदंत
प्रणम्य – **नमस्कार करके**; विधेय कृदंत
त्वाम् – **आपको**; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'
ईड्यम् – **स्तुति करने योग्य**; विशेषण, वि. 'ईशम्'
ईशम् – **ईश को**; नाम, द्वि.ए.व.पु.
प्रसादये – **प्रसन्न करता हूँ**; क्रि.व.कारक, प्र.पु.ए.व. 'प्र + सद्' 1 गण, परस्मै
पिता – **पिता**; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पितृ'
इव – **जैसे**; अव्यय
पुत्रस्य –**पुत्र के**; नाम, ष.ए.व.पु. 'पुत्र'
सखा – **सखा**; नाम, प्र.ए.व.पु.

इव – **जैसे**; अव्यय
सख्युः – **मित्र के**; नाम, ष.ए.व.पु.
प्रियः – **प्रिय**; नाम, प्र.ए.व.पु.
इव – **जैसे**; अव्यय
प्रियायाः – **प्रिया के**; नाम, ष.ए.व.स्त्री. (हे प्रभो ! त्वम् ममापराधम् = हे प्रभो ! आप मेरे अपराध को)
सोढुम् – **सहन करने में, क्षमा करने में**; हेत्वर्थ कृदंत
अर्हसि – **आप समर्थ हैं**; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अर्ह्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अतः प्रणाम करके, शरीर से दंडवत प्रणाम करके आप स्तुत्य ईश्वर की प्रसन्नता की मैं याचना करता हूँ।

हे देव ! जैसे पिता पुत्र के, मित्र – मित्र के अपराध सहन करता है वैसे ही आप मेरे प्रिय, मेरा प्रिय करने के लिए (मेरे अपराध) सहन करने के योग्य हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश! जगन्निवास!।।45।।

अन्वयः
अदृष्टपूर्वम् – **पहले नहीं देखा (वैसा रूप)**; विशेषण, वि. 'रूपम्'
तव रूपम् – **आपके रूप को**; द्वि.ए.व.
दृष्ट्वा – **देख कर**; विधेय कृदंत
हृषितः – **हर्षित**; भू.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि – **हूँ**; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
च – **और**; अव्यय
मे – **मेरा**; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
मनः – **मन**; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'मनस्'
भयेन – **भय से**; नाम, तृ.ए.व.पु. 'भय'
प्रव्यथितम् – **व्यथित**; भू.कृ. विशेषण, वि. 'मनः'

अपि भवति अतः – भी होता है अतः
देवेश – हे देवेश; सम्बोधन
जगन्निवास – हे जगन्निवास; सम्बोधन
प्रसीद – प्रसन्न हों; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व.पु. + सद् (सीद्) 1 गण, परस्मै
च – और; अव्यय
देव – हे देव; सम्बोधन
मे – मुझको; सर्वनाम, च.ए.व. 'अस्मत्'
तदेव – वही; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
चतुर्भुजम् – चार भुजा वाला
रूपम् – रूप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
दर्शय – दिखाइए; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. कारक 'दृश्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : पूर्व में कभी नहीं देखे हुए (आपके इस) रूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ। साथ ही मेरा मन भय से व्यथित हो रहा है। हे देव! मुझे आपका वही (शान्त) रूप दिखाइए। हे देवेश! हे जगन्नाथ! आप प्रसन्न हों।

विवेचन : इस प्रकार क्षमा मांग कर अब गुणातीत प्रभु की प्रार्थना करते हैं। आपका यह पूर्व में नहीं देखा हुआ रूप देख कर हर्ष हो रहा है परन्तु वह सभी लोकों को ग्रस रहा है, यह देख कर मन भय से व्यथित भी है। वस्तुतः आप गुणातीत हैं, अतः मुझ भक्त को आपके उसी गुणातीत चतुर्भुज रूप के दर्शन कराइए क्योंकि आपका चतुर्भुज रूप शान्त होने से मेरे लिए वही उत्तम (अभीष्ट) है। यहाँ विश्वरूप की तुलना में मर्यादामय शुद्ध सत्त्वात्मक चतुर्भुज रूप उत्तम कहा गया होने से अक्षर ब्रह्म के उपासकों की तुलना में शुद्ध सत्त्वमय चतुर्भुज रूप के उपासक उत्तम हैं।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम् इचछामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।46।।

अन्वयः
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

तथा, एव – उसी प्रकार, और, ही मात्र; अव्यय
एव – इस प्रकार; अव्यय
त्वाम् – आपको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'
किरीटिनम् – किरीट धारण करने वाले को; विशेषण, वि. 'त्वाम्'
गदिनम् – गदा धारण करने वाले को; विशेषण, वि. 'त्वाम्'
चक्रहस्तम् – हाथ में चक्र धारण करने वाले को; विशेषण, वि. 'त्वाम्'
द्रष्टुम् – देखने को; हेत्वर्थ कृदंत
इच्छामि – इच्छुक हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. इष् (इच्छ्) 6 गण, परस्मै।
अतः – इसलिए
विश्वमूर्ते – हे विश्वरूप; नाम, सम्बोधन
सहस्रबाहो – हे हजार हाथ वाले; सम्बोधन
तेन – उसी के द्वारा; सर्वनाम; तृ.ए.व.नपु. 'तत्'
चतुर्भुजेन – चार हाथ वाले; विशेषण, वि. 'रूपेण'
रूपेण – रूप से; नाम, तृ.ए.व.नपु.
त्वम् – आप; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
भव – हो; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.प.ए.वु. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : वैसे ही मुकुट सहित, गदा युक्त, हाथ में चक्र के साथ आप के ऐसे रूप के दर्शन करने का मैं इच्छुक हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! (आप) वैसे ही चतुर्भुज रूप वाले हो जाएँ।

विवेचन : उस (चतुर्भुज) रूप का वर्णन करते हैं। वैसे ही अर्थात पूर्व में मुझे जैस दर्शन होते रहते थे उसी प्रकार मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रपाणि रूप के आपके दर्शन करने की मेरी इच्छा है। अतः आप वैसा ही चतुर्भुज रूप धारण करें। इस श्लोक से यह इंगित करते हैं कि अर्जुन को भगवान के निरंतर षड्गुण से अलंकृत चतुर्भुज रूप के दर्शन होते हैं।

श्री भगवान् उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितात्मयोगात्।।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यनमे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।47।।

अन्वयः

अर्जुन – हे अर्जुन! सम्बोधन
प्रसन्ननेन – प्रसन्नता से, अनुग्रहयुक्त; विशेषण, वि 'मया'
मया – मेरे द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'
आत्मयोगात् – मेरी योग शक्ति से; नाम, पं.ए.व.पु.
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
इदम् – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
परम् तेजोमयम् – श्रेष्ठ प्रकाशित; विशेषण, वि. 'रूपम्'
आद्यम् अनन्तम् – मूल अनन्त; विशेषण, वि. 'रूपम्'
विश्वम् – व्याप्त, विराट; विशेषण, वि. 'रूपम्'
रूपम्– रूप; नाम, प्र.ए.व. 'नपु.'
तव – आपका; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत्'
यत् – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
दर्शितम् – दिखाया है; भू.कृ. विशेषण, वि. 'रूपम्'
त्वत् अन्येन – आपके अतिरिक्त दूसरे से; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.
दृष्टपूर्वम् – पूर्व में देखा हुआ; भूत कृ. विशेषण, वि. 'रूपं'
न – नहीं; अव्यय
अस्ति – है; क्रियापद; व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपने आत्मयोग से यह तेजोमय अनन्त, आद्य विश्वरूप जो तेरे अतिरिक्त पूर्व में किसी ने नहीं देखा उस मेरे 'पर' रूप के तुम्हें दर्शन कराए।

विवेचन : स्वतः प्रवृत्ति उत्पन्न कराने वाले अक्षर स्वरूप के मात्र दर्शन से पुष्टिमिश्र भक्त को उसमें भयरहित रुचि उत्पन्न नहीं होती। क्षर और अक्षर से

अतीत आनन्दरस के समुद्ररूपी हरि के स्वरूपामृत में निमग्न भक्तों को हरि के स्वरूप के अलावा अन्यत्र कहीं रुचि नहीं होती – यह जानकर भगवान अर्जुन को सांत्वना देते हुए निम्नवत आज्ञा करते हैं :

सब के मूलरूप, उपनिषदों में जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है वैसे द्विभुज, लावण्यसमुद्र, महामनोरम, गुणातीत, सर्ववेदांत से वेद्य, परतत्व, अपने आश्रित भक्तों के प्रति वात्सल्य और करुणा के समुद्ररूप, अचिंत्य ऐश्वर्य और योग वाले मैंने, अंशी भगवान कृष्ण ने, तुझ पर प्रसन्न होकर मेरे ऐश्वर्य योग से इस तेजोमय विश्वरूप अनन्त आद्यरूप का तुझे दर्शन कराया। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्य स्वरूप के दर्शन कराने का सामर्थ्य द्विभुज रूप सदानंद श्री कृष्ण में ही है। श्रीकृष्ण मूलरूप और अवतारी होने से अन्य रूपों के दर्शन करा सकते हैं। इसीलिए कहा गया है कि "श्रीकृष्ण के स्वरूप के दर्शन कराने की सामर्थ्य अन्य अवतार में नहीं"। परंतु अन्य रूपों के दर्शन कराने की सामर्थ्य श्रीकृष्ण में ही है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर न च क्रियाभिर्न तपोभिरूग्रैः।।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरूप्रवीर!।। 48।।

अन्वयः

कुरूप्रवीर – कुरुओं मे श्रेष्ठ; सम्बोधन
नृलोके – मनुष्य लोक में, संसार में; नाम, स.ए.व.पु.
एवम् रूपः – इस प्रकार के रूपवाला; विशेषण वि. 'अहम्'
अहम् – मैं; सर्वनाम; प्र.ए.व. 'अस्मत्'
न – नहीं; अव्यय
वेदयज्ञाध्ययनैः – वेद तथा यज्ञों के अध्ययन से; पं.ए.व.
न – नहीं; अव्यय
दानैः – दान से; नाम, तृ.ब.व.नपु.
न – नहीं; अव्यय
क्रियाभिः – क्रियाओं से; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'क्रिया'

च न – **और नहीं**; अव्यय
उग्रैः – **उग्र**; विशेषण, वि. 'तपोभिः'
तपोभिः – **तपों के द्वारा**; नाम, तृ.ब.व.नपु. 'तपस्'
एव – **ही**; अव्यय
त्वदन्येन – **तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे से**; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.
द्रष्टुम् – **देखने को**; हेत्वर्थ कृदन्त
शक्यः – **योग्य (साध्य)**; विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि – **हूँ**; क्रियापद, व.का.प्र.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : हे कुरूप्रवीर! वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान और क्रिया (कर्म) से अथवा उग्र तप से नृलोक में तेरे बिना अन्य को मेरे इस रूप के दर्शन होना संभव नहीं है।

विवेचन : मेरे अनुग्रह से प्राप्य भक्ति के बिना अन्य किसी भी साधन से मेरे इस रूप के दर्शन संभव नहीं है। केवल अक्षर आदि रूप के उपासकों को वेद-अध्ययन आदि साधनों से दर्शन होते हैं परंतु मैं पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मात्र अनन्य भक्ति से ही प्राप्य होने से वेद आदि साधनों से मेरे दर्शन होना संभव नहीं है। तुझ पर मेरा अनुग्रह होने से तुझे मेरे दर्शन हुए परंतु अन्य को वैसे (उस रूप के) दर्शन होना संभव नहीं है। भगवान का अनुग्रह ही ''पुष्टि'' है – ऐसा श्रीमद् भागवत् में भी कहा गया है। भाष्यकार श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि ''कृति से साध्य ज्ञान-भक्ति आदि साधनों का शास्त्र बोध कराता है, उन शास्त्रों में कहे गए साधनों से जो मुक्ति होती है वह मर्यादा (मार्ग) है; परन्तु साधन-रहित को भी भगवान अपने स्वरूप बल से ही अपनी प्राप्ति कराते हैं उसे पुष्टि कहते हैं।'' इस प्रमेय मार्ग का श्रीमद् भागवत के छठे स्कन्ध में अजामिलाख्यान में धर्म और विष्णु-दूतों के संवाद में निरूपण किया गया है और उसकी उपपत्ति 'भक्तिहेतुनिर्णय' आदि ग्रन्थों में दर्शाई गई है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो द्रष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।49।।

अन्वयः
ईदृक् – **इस प्रकार का**; विशेषण, वि. 'रूपम्' ''इदम् + ऋक् = ईदृक्''
मम – **मेरा**; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
इदम् – **यह**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
घोरम् – **घोर, भयंकर**; विशेषण, वि. 'रूपम्'
रूपम् – **रूप को**; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
दृष्ट्वा – **देख कर**; विधेय कृदन्त
ते – **तुझे**; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'
व्यथा – **दुःख**; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
मा – **नहीं**; अव्य
भवेत् – **होना चाहिए**; क्रियापद
च – **और**; अव्यय
विमूढभावः – **मोहभाव**; नाम, प्र.ए.व.पु.
अपि मा – **भी नहीं**; अव्यय
भवेत् – **होना चाहिए**; क्रियापद
च – **और**; अव्यय
व्यपेतभीः – **जिसका भय चला गया है**; विशेषण, वि. 'त्वम्' ''व्यपेतः भीः यस्य'' बहु.
प्रीतमनाः – **जिसका मन प्रसन्न हुआ है वह**; विशेषण, वि. 'त्वम्' ''प्रीतिं मनः यस्य इति'' बहु.
त्वम् – **तू**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्'
तत् – **वह, पूर्व का अनुभूत रूप**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
एव – **मात्र, ही**; अव्यय
मे – **मेरा**; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
इदम् – **इस**; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
रूपम् – **रूप को**; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

पुनः - फिर से; अव्यय
प्रपश्य - देख; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु..ए.व.प्र +दृश 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मेरा ऐसा घोर रूप देख कर तुझे व्यथा अथवा विमूढता नहीं होनी चाहिए। तू भयरहित और प्रसन्न मनहोकर मेरे उसी (पहले वाले) रूप के पुनः दर्शन कर।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।।
आश्वासमायास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।50।।

अन्वयः
वासुदेवः - वासुदेव; नाम, प्र.ए.व.पु.
अर्जुनम् - अर्जुन को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
इति - इस प्रकार; अव्यय
उक्त्वा - कहकर; विधेय कृदन्त
भूयः तथा - फिर उसी प्रकार; अव्यय
स्वकम् - अपना; विशेषण, वि. 'रूपम्'
रूपम् - रूप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'रूप'
दर्शयामास - दिखाया; क्रि. पूर्णभूतकाल तृ.पु.ए.व. 'दृश्' 1 गण, परस्मै
च पुनः - और पुनः; अव्यय
महात्मा - महात्मा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'महात्मन्'
सौम्यवपुः - शान्त स्वरूप; नाम, प्र.ए.व.पु.
भूत्वा - होकर, बनकर; विधेय कृदन्त
एनम् - इस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'एतद्'
भीतम् - भयभीत; विशेषण, वि. 'एनम्'
आश्वासयामास - आश्वसन दिया; क्रि.पूर्णभूतकाल तृ.पु.ए.व. 'आ+श्वस्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : भगवान वासुदेव ने अर्जुन को इस प्रकार कहकर पुनः अपना पूर्व (पहले का) रूप दिखाया; और उन महात्मा (श्रीकृष्ण) ने पुनः सौम्य वपु धारण कर भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।

विवेचन : भगवान ने अर्जुन को इस प्रकार कहकर अपना चतुर्भुज रूप दिखाया; परंतु भगवान के इस रूप के साथ उनसे अपना सारथित्व करवाना उचित नहीं है - ऐसा मानकर अर्जुन (रथ से) नीचे उतर कर स्तुति के लिए तत्पर हुए। यह देखकर महात्मा भगवान ने पुनः सौम्य रूप धारण कर अर्जुन को आश्वासन दिया।

''सर्वेश्वर, परमपुरुष, परब्रह्म, जगत पर उपकार करने के लिए मनुष्य देह धारण करने वाले, वसुदेव के पुत्र का रूप चतुर्भुज ही था। कंस से भयभीत वसुदेव की प्रार्थना पर उन्होंने अपनी दो भुजाओं का उपसंहार किया तथा कंस के वध के बाद प्रकट की थी। द्वेषी शिशुपाल भी भगवान वासुदेव के चतुर्भुज रूप का ही सदा चिन्तन किया करता था''

(रामानुज)

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन!।।
इदानीम् अस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।51।।

अन्वयः
जनार्दन - हे जनार्दन : सम्बोधन
इदम् - इस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
तव - आपका; सर्वनाम, ष.ए.व. 'युष्मत'
सौम्यम् - शान्त; विशेषण, वि. 'रूपम्'
रूपम् - रूप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
मानुषम् - मनुष्य के; विशेषण, वि. 'रूपम्'
दृष्ट्वा - देखकर; विधेय कृदन्त

इदानीम् – इस समय; अव्यय
अहम् – मै; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
सचेताः – स्थिरचित्त; भू.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
संवृत्तः – हो गया; भू.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
च – और; अव्यय
प्रकृतिम् – प्रकृति को, स्वभाव को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'प्रकृति'
गतः – प्राप्त हो गया; भू.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि – हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे जनार्दन! आपका यह सौम्य मनुष्य रूप देख कर मैं अब स्थिरचित्त हो गया हूँ और प्रकृतिस्थ (क्षोभ रहित) हूँ।

विवेचन : आपका यह सौम्य अर्थात सुन्दर मनुष्य रूप देख कर मेरा चित्त और प्रकृति स्वस्थ हो गए हैं।

भगवान् उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन् मम।।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।।52।।

अन्वयः
यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
रूपम् त्वम् – रूप को, तुमने; द्वि.ए.व.स्सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
दृष्टवान् – देखने वाला; भू.कृ. + वत् कर्तरि के अर्थ में नाम, प्र.ए.व.पु.
असि – तुम हो; क्रि.व.का.द्वि.पु. 'अस्' 2 गण, परस्मै
मम – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
इदम् – इस; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.
रूपम् – रूप को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
सुदुर्दर्शम् – देखना अति दुर्लभ; विशेषण, वि. 'रूपम्'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

देवाः – देवगण; नाम, प्र.ब.व.पु. 'देव'
अपि – भी; अव्यय
अस्य – इसका; सर्वनाम, ष.ए.व.नपु. 'इदम्'
रूपस्य – स्वरूप के; नाम, ष.ए.व.नपु. 'रूप'
नित्यम् – सदैव; अव्यय
दर्शनाकांक्षिणिः – दर्शन की इच्छा वाले; विशेषण, वि. 'देवाः'
भवन्ति –होते हैं; क्रियापद; व.का.तृ.पु.ब.व.

श्लोकार्थ : श्रीभगवान कहते हैं: मेरे जिस (विश्व) रूप का तुमने दर्शन किया है उसके दर्शन होना अत्यंत कठिन है, देवगण भी उस रूप के दर्शन की नित्य आकांक्षा रखते हैं।

विवेचन : मेरे जिस अकल (अखंड, 'नास्ति कला अवयवो यस्य') विश्वरूप के दर्शन तुमने किए हैं उसके दर्शन होना बहुत दुर्लभ है, क्योंकि देवगण भी उस रूप के दर्शन की निरंतर आकांक्षा रखते हैं परंतु उनमें अनुग्रह का बीज न होने से उनको भी दर्शन नहीं होते।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।53।।

अन्वयः
वेदैः – वेदों से; नाम, तृ.ब.व.पु. 'वेद'
न – नहीं; अव्यय
दानेन – दान से; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'दान'
न – नहीं; अव्यय
तपसा– तप से; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'तपस्'
न – न हीं; अव्यय
च न – और नहीं; अव्यय
इज्यया – यज्ञ क्रिया के द्वारा; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'इज्या'

अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
एवंविधः – **इस प्रकार का;** विशेषण, वि. 'अहम्'
द्रष्टुम् – **देखना;** हेत्वर्थ कृदन्त
शक्यः – **संभव;** विधेय कर्मणि कृदन्त वि. 'अहम्'
अस्मि – **हूँ;** क्रियापद, व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'
यथा – **जिस प्रकार;** अव्यय
त्वम् – **तू;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
माम् – **मुझको;** सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
दृष्टवान् – **देखने वाला;** भू.कृ. + वत् कर्तरि के अर्थ में विशेषण, वि. 'अहम्'
असि – **तुम हो;** क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जैसे मेरे दर्शन तुझे हुए हैं वैसे दर्शन वेद से, तप से, दान से तथा यज्ञ से भी संभव नहीं हैं।

विवेचन : 'जिसका वे (भगवान) वरण करते हैं उनको ही वे प्राप्य हैं' – आदि वाक्यों से भगवान मात्र अनुग्रह से ही लभ्य होने से अनुग्रह बिना वेद, यज्ञ, तप आदि साधनों से भगवान की प्राप्ति नहीं होती; अतः मेरे द्वारा वरण किए जाने से तुझे मेरे जिस प्रकार के दर्शन हुए वैसे किसी को वेदादि साधनों से हो जाएँ; यह सम्भव नहीं है।

इस श्लोक की व्याख्या भागवत के श्लोक 2/1/5 तथा *10/55/21* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है तथा ब्रह्मसूत्र के 1/1/11 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है ।

भक्त्या त्वनन्या शक्य अहम् एवंविधोऽर्जुन!।।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!।।54।।

अन्वयः
परन्तप – **हे अर्जुन!** सम्बोधन
अर्जुन – **अर्जुन;** सम्बोधन

अनन्यया – **अनन्यतापूर्वक;** विशेषण, वि. 'भक्त्या'
भक्त्या – **भक्ति से;** नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'भक्ति'
तु – **परन्तु;** अव्यय
अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
एवंविधः – **इस प्रकार को;** विशेषण, वि. 'अहम्'
द्रष्टुम् – **देखने में;** हेत्वर्थ कृदन्त
च – **और;** अव्यय
तत्त्वेन – **तत्त्व से;** नाम, तृ.ए.व.नप. 'तत्त्व'
ज्ञातुम् – **जानने में;** हेत्वर्थ कृदन्त
च – **और;** अव्यय
प्रवेष्टुम् – **प्रविष्ट होने में, ऐक्य भाव से प्राप्त होने में;** हेत्वर्थ कृदन्त।
शक्य – **संभव;** विधेय कर्म, कृदन्त, विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि – **हूँ;** क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : परन्तु हे अर्जुन! हे परन्तप! अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार का मैं जानने में, देखने में (साकार रूप से) और तत्त्व से प्रवेश (प्राप्त होने) करने में शक्य हूँ।

विवेचन : भगवान जिन जीवों का वरण करते हैं वे अनन्य भक्ति से ही भगवान को प्राप्त कर सकते हैं – ऐसा कह रहे हैं।

हे अर्जुन! हे परन्तप! मैंने सबका निरोध करने के लिए अवतार धारण किया है फिर भी सभी लोगों को मेरे यथार्थ दर्शन नहीं होते। आसुर आवेश वाले जीव मुझे साधारण मनुष्य मानते हैं परन्तु उनको मेरे तत्त्वतः दर्शन नहीं होते। जिन पर मेरा अनुग्रह है, जिनका मैंने वरण किया है वे मेरी अनन्य भक्ति से ही मेरा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनको मेरे तत्त्वतः दर्शन होते हैं और उनका मुझ में प्रवेश हो जाता है। यहाँ मुख्य साधन अनन्य भक्ति कही गई है।

अन्य अर्थात ऐहिक अथवा पारलौकिक फल के लिए जिसमें यत्न नहीं किए जाते वह अनन्य भक्ति है।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के श्लोक 3/2/24 तथा 1/1/11 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

मत्कर्मकृन् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव!।।55।।

अन्वयः

पाण्डव - हे पाण्डव! सम्बोधन

यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.

मत्कर्मकृत् - मुझ से सम्बन्धित कर्म करने वाला; विशेषण, वि. 'यः'

मत्परमः - मुझे परम जानने वाला; विशेषण, वि. 'यः'

मद्भक्तः - मुझ में भक्ति रखने वाला; विशेषण, वि. 'यः'

सङ्गवर्जितः - लोक के सङ्ग को त्यागने वाला; भू.कृ. विशेषण, वि. 'यः'

च - और; अव्यय

सर्वभूतेषु - सभी प्राणियों की तरफ; नाम, स.ब.व.नपु.

निर्वैरः - बिना वैर-भाव के; विशेषण, वि. 'यः'

सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

एति - जाता है, प्राप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'इ' गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे पाण्डव! मेरे लिए कर्म करने वाला, मेरे परायण, सङ्गरहित, सभी प्राणियों के प्रति निर्वैर जो मेरा भक्त होता है वही मुझे प्राप्त करता है।

विवेचन : हे पाण्डव! जो मेरे लिए कर्म करता है, अर्थात जो फल की कामना से कर्म न करके "मैं प्रभु का सहज दास हूँ" - इस भावना से प्रभु की सेवा आदि कार्य प्रभु के लिए ही करता है, जो मेरे परायण है अर्थात जिसका मैं ही

परम अथवा सर्वस्व हूँ, जो पुत्र-स्त्री आदि लौकिक अवैष्णव के संग से रहित है, जो सभी प्राणियों के प्रति निर्वैर अथवा द्वेष रहित है, ऐसा मेरा भक्त मुझको प्राप्त करता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे "विश्वरूपदर्शनं" नाम एकादशोऽध्याये।।11।।

।। अध्याय 12 ।।

भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सतत युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।1।।

अन्वय :

ये -जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

भक्ताः - भक्त, अनन्या भक्त; नाम, प्र.ब.व.पु.

एवम् - इस प्रकार; अव्यय

सतत युक्ताः - सदा भजन-ध्यानयुक्त; भू.कृ. विशेषण, वि. 'भक्ताः'

त्वाम् - आपकी; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'युष्मत्'

पर्युपासते - भावपूर्वक सेवा करते हैं, उपासना करते हैं; क्रि.व.का. तृ.पु.ब.व. परि+उप+आस् 2 गण

च - और; अव्यय

ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

अक्षरम् - अक्षर को, अक्षर ब्रह्म को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'अक्षर'

अव्यक्तम् - अदृश्य, निराकार; विशेषण, वि. 'अक्षरम्'

अपि - भी; अव्यय

पर्युपासते - सेवा करते है; क्रि.प.

तेषाम् - उनमें से; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'तत्'

योगवित्तमाः - योग जानने वालों में उत्तम; विशेषण, वि. 'के'

के - कौन; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'किम्' ।

सन्ति - हैं;

श्लोकार्थ : इस प्रकार निरन्तर युक्त होकर जो भक्त आपकी सब प्रकार से सेवा करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं उनमें योगवित्तम कौन है? अर्थात दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

विवेचन : आठवें अध्याय के श्लोक 11 से 13 तक अक्षर की उपासना कही गई है; विश्वरूप का भी अक्षर के रूप में निरूपण किया गया है। साथ ही 'अक्षर' भगवद् धाम है अतः भगवान से कुछ भिन्न है - ऐसा संकेतित है। अतः अर्जुन जिज्ञासावश प्रश्न करते हैं कि भगवान् और भगवद् धाम रूप अक्षर इन दोनों की उपासना करने वालों में श्रेष्ठ कौन है। अध्याय 11 के श्लोक 55 में भगवान् ने अपनी सेवा का जो प्रकार बताया उसके अनुसार नित्यभगवत्सेवा में युक्त रहने वाले भक्त आपके सौम्यरूप, भक्तों के लिए शरीर धारण करने वाले, सब विभूतियों के मूल रूप, निरवधि निरतिशय सौन्दर्य सौशील्य सर्वज्ञत्व सत्यसंकल्पत्व आदि अनंत गुणों के निधि रूप, केवल आनन्दमय कर पाद मुख उदर आदि अंगों वाले, अपनी माया से मनुष्य विग्रह धारण किए हुए परिपूर्ण पुरुषोत्तम आपकी ही सेवा करते हैं; अन्य देवों की उपासना नहीं करते और जो भक्त अव्यक्त अक्षर की उपासन करते हैं उन दोनों में विशेष योग जानने वाले कौन हैं? यह आप बताइए।

इस अध्याय के पहले तीन श्लोकों की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के श्लोक 4/3/17 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

श्रीभगवान् उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते में युक्ततमा मताः।। 2।।

अन्वय :

मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
मनः - मन; नाम, द्वि.ए.व. नपु.
आवेश्य - प्रविष्ट करके, एकाग्र करके; विधेय कृदन्त
नित्ययुक्ताः - निरन्तर मुझ में लगे हुए; भू.कृ. विशेषण, वि. 'ये'
ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'
परया - श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'श्रद्धा'

श्रद्धया - श्रद्धा से; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'श्रद्धा'
उपेताः - युक्त हुए; भू.कृ.वि. 'ये' उप+इ
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
उपासते - उपासना करते हैं, भावनापूर्वक सेवा करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''परि+उप+आस्'' 2 गण
ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'
मे - मेरे; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
युक्ततमाः - योगियों में उत्तम; विशेषण, वि. 'ते'
मताः - माने गए; भू.कृ. विशेषण, वि. 'ते'
सन्ति - हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : जो मुझ में मन रखकर, नित्ययुक्त रहकर, उत्तम श्रद्धा रखकर मेरे सेवा परायण रहते हैं उनको मैं युक्ततम मानता हूँ।

विवेचन : श्रीभगवान् अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं। सब के नियन्ता, सकल अलौकिक गुणोंयुक्त, साक्षात मन्मथ के भी मन्मथ, परमानन्द, रसात्मक, सब के मूलभूत, साक्षात पूर्ण पुरुषोत्तम मुझ में जो मन रखकर मात्र प्रेम से अथवा अन्य किसी भी संबंध से नित्ययुक्त रहकर - ''मेरे भजनीय प्रभु ये ही हैं, अन्य कोई नहीं'' ऐसी श्रद्धा रखकर जो मेरी नित्य सेवा करते हैं, वे दोनों में अपेक्षाकृत विशेष योग जानने वाले हैं।

ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते।।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम्।।3।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः।।4।।

अन्वय :

तु - परंतु; अव्यय
ये - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'

इन्द्रियग्रामम् - इन्द्रियों के समुदाय को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'इन्द्रियग्राम'
सन्नियम्य - भली-भाँति वश में रखकर; विधेय कृदन्त, सम्+नि+यम् 1 गण
अचिन्त्यम् - अचिन्त्य, बुद्धि और मन से भी जिसके बारे में विचार न किया जा सके; विशेषण, वि. 'अक्षरम्'
सर्वत्रगम् - सर्वव्यापी, सब स्थानों पर जा सकने वाला; विशेषण, वि. 'अक्षरम्'
अनिर्देश्यम् - अकथनीय, जिसके बारे में समझाया न जा सके; विशेषण, वि. 'अक्षरम्'
च - और; अव्यय
कूटस्थम् - विश्व में रहने वाला रसरूप; विशेषण, वि. 'अक्षरम्'
अचलम् - अचल; विशेषण, वि. 'अक्षरम्'
ध्रुवम् - नित्य; विशेषण वि. 'अक्षरम्'
अव्यक्तम् - अव्यक्त, निराकार; विशेषण, वि. 'अक्षरम्'
अक्षरम् - अक्षर की; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'अक्षर'
पर्युपासते - उपासना करते हैं, अनन्य भाव से सेवा करते हैं; क्रि. व.का.तृ.पु.ब.व.परि+उप+आस. 2 गण, आत्मने
ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
सर्वभूतहिते - सभी प्राणियों के हित में; नाम, स.ए.व.
रताः - लगे हुए, रोके हुए, क्रीड़ारत; भू.कृ. विशेषण, वि. 'ते'
सर्वत्र - सभी स्थानों पर; अव्यय
समबुद्धयः -समबुद्धि वाले, समान भाव वाले; विशेषण, वि. 'ते'
माम - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
एव - ही, मात्र; अव्यय
प्राप्नुवन्ति - प्राप्त करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.प्र. +आप् 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : परंतु जो इंद्रियों को नियम में रखकर, सर्वत्र समान बुद्धि वाले होकर, सभी भूतों के हित में प्रीतियुक्त होकर, अनिर्देश्य अव्यक्त सर्वव्यापक

अचिन्त्य कूटस्थ अचल और नित्य अक्षर की उपासना करते हैं वे मुझे ही प्राप्त करते हैं।

विवेचन : 'तु = परन्तु' शब्द भेद दर्शाता है। अर्थात भगवान की उपासना करने वालों में भेद है। अक्षर में और भगवान में तो भेद स्पष्ट ही है। अक्षर अनिर्देश्य है अर्थात वाणी से नाम न दिया जा सके वैसा है जबकि भगवान के अपनी इच्छा से अलौकिक नाम होते हैं। अक्षर अव्यक्त है जबकि भगवान व्यक्त हैं। अक्षर सर्वत्र व्याप्त है जबकि भगवान भक्तों को ही प्राप्य हैं। अक्षर अचिन्त्य है जबकि भगवान का भक्त चिंतन कर सकते हैं। अक्षर कूटस्थ होने से सब के लिए सम अथवा साधारण है, भगवान असाधारण है। अक्षर अचल अर्थात स्थिर है, भगवान विहार करते हैं। अक्षर ध्रुव अर्थात स्थिररूप है, भगवान उस धाम में रहने वाले ईश्वर हैं। अतः जो अक्षर की उपासना करते हैं उनको ब्रह्मानन्द की अथवा मेरे स्थिर स्वरूप की ही प्राप्ति होती है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्।।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।5।।

किन्तु - परन्तु; अव्यय
तेषाम् - उन (उपासकों) को; सर्वनाम, ष.ब.व.पु. 'तद्'
अव्यक्तासक्तचेतसाम् - अव्यक्त में आसक्त चित्त वाले; नाम, ष.ब.व.पु.
क्लेशः - क्लेश; नाम, प्र.ए.व.पु
अधिकतरः - अधिक से ज्यादा; विशेषण, वि. 'क्लेशः' तर तम रूप से तुलना
हि - क्योंकि; अव्यय
देहवद्भिः - देहाभिमानियों के द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु. 'देहवत्'
अव्यक्ता - अव्यक्त; प्र.ए.व. 'न व्यक्ता इति अव्यक्ता' नञ् तत्पुरुष
गतिः - गति, ब्रह्म; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'गति'।
दुःखम् - दुख से; अव्यय
अवाप्यते - प्राप्त होती है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अव + आप् 5 गण, कर्मणि'

श्लोकार्थ : अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों को अधिक क्लेश होता है क्योंकि देहियों (देहाभिमानियों) को अव्यक्त गति दुख से प्राप्त होती है।

विवेचन : अक्षर के उपासकों को भी मेरी प्राप्ति होती है परंतु उनको अव्यक्त रीति से प्राप्त होती है और प्राप्ति होने के बाद भी सुख का अनुभव नहीं होता- ऐसा बता रहे हैं। अक्षर के उपासकों को अधिक क्लेश होता है और दुख से अव्यक्त गति प्राप्त होती है। सर्व भूत-हित प्रीति रखने वाले अक्षर के उपासकों को ही इस फल की प्राप्ति होती है। मेरे अव्यक्त देहरूप अक्षर में जिनका चित्त आसक्त है उनको अव्यक्त गति की ही प्राप्ति होती है; उनको देह में व्याप्त (रहे हुए) साक्षात रसस्वरूप आनंदरूप परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। अव्यक्त गति की प्राप्ति होने का तात्पर्य है कि उनको स्वरूप की हानि होती है। जैसे पानी में नमक डालने से पानी में नमक का लय हो जाता है और पानी के साथ उसका लय रूप ऐक्य हो जाता है वैसे ही अक्षर के उपासकों का अक्षर के साथ लय रूप ऐक्य हो जाता है। साथ ही अक्षर की उपासना करते समय अर्थात साधन दशा में भी उनको (अक्षर के उपासकों को) अधिक क्लेश होता है क्योंकि निर्विशेष अक्षर के साथ अभेद की भावना क्लेश के बिना नहीं हो पाती। अक्षर की उपासना में क्लेश बहुत है और फल भी अव्यक्त गति ही है, वह भी दुख से प्राप्त होता है। इसके विपरीत, भगवान की सेवा करने में आरम्भ से अन्त तक आनन्द ही प्राप्त होता है।

इस श्लोक की व्याख्या श्री भागवत् के श्लोक 1/5/18 के सन्दर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्नयस्य मत्पराः ।।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।6।।

तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।।
भवामि न चिरात् पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्।।7।।

अन्वय :

तु - तो, भी; अव्यय
ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'
मत्पराः - मेरे परायण; विशेषण, वि. 'ये'
सर्वाणि - सब; सर्वनाम, विशेषण, वि. ''कर्माणि''
कर्माणि - कर्मों को; द्वि.ए.व.
मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
सन्न्यस्य - अर्पण करके; विधेय कृदन्त, सम्+न्यस् 1 गण, आत्मने
माम् एव - मुझे ही; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
अनन्येन - अनन्य; विशेषण, वि. 'योगेन'
योगेन - योग से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'योग'
ध्यायन्तः - ध्यान करते हुए; व.कृ. विशेषण, वि. 'ये'
उपासते - उपासना करते हैं, भजते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'उप + आस्' 2 गण, आत्मने
पार्थ- हे अर्जुन; सम्बोधन
तेषाम् - उनका; सर्वनाम, ष.ब.व.पु.
मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
आवेशितचेतसाम् - जिनका चित्त (मुझ में) प्रविष्ठ हो गया है; विशेषण, वि. 'तेषाम्' ''आवेशितम् चेतःयेषाम् इति'' बहुब्रीहि
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
न, चिरात् - नहीं, विलंब से; अव्यय
मृत्सुयंसारसागरात् - मृत्यु रूप संसार सागर में; नाम, पं.ए.व.पु. ''संसारस्य सागरः संसार सागर; मृत्युरेव संसार सागरः इति'' कर्मधारय
समुद्धर्ता - उद्धार करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'सम् + उद् + धर्तृ'
भवामि - बन जाता हूँ; क्रि.व.का. प्र.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : परंतु हे पार्थ! जो सभी कर्मों का मुझे अर्पण करके, मेरे परायण रहकर, अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए मुझे ही भजते हैं ऐसे मुझ में चित्त-

प्रवण (भक्तों) का मैं अल्प समय में ही मृत्युयुक्त संसार सागर से उद्धार करने वाला बन जाता हूँ।

विवेचन : इस प्रकार अक्षर की उपासना करने वालों का फल कह कर अब भगवान की भक्ति करने वालों के विषय में बताते हैं। यहाँ तु = परंतु शब्द (अक्षर की उपासना करने वालों और भगवान की भक्ति करने वालों में) भेद दर्शाता है। हे पार्थ! जो मुझ स्वामी को सभी लौकिक और वैदिक कर्म अर्पण करके, अन्य किसी का जिसमें चिन्तन न किया जाता हो ऐसे अनन्य भक्ति योग से मेरा ध्यान और भजन करते हैं और जिनका चित्त नित्यप्रिय मुझ परमात्मा में प्रसक्त है उनका मैं मृत्युयुक्त संसार सागर से अल्प समय में ही उद्धार करता हूँ। यहाँ भगवान् ''तेषाम् अहम्'' - ऐसा कह रहे हैं। अत: उन (भक्तों) के संबंध वाले भगवान् ही हैं। अर्थात ऐसे भक्तों से भगवान का नित्य संबंध है- ऐसा सिद्ध होता है। संसार में रहे हुए जीव केवल इसी प्रकार भगवान का भजन करते हैं अत: उनका उद्धार कैसे होगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनका चित्त भगवान में प्रसक्त रहने से उनको संसार का कोई बंधन नहीं रहता। ''मुझ में जिनकी बुद्धि रही हुई है उनका काम, कामतुल्य नहीं रह जाता (उनको कर्म नहीं व्यापते)। भुने हुए अथवा उबले हुए दानों से बीज नहीं बन सकते।'' - भगवान ने श्रीमद् भागवत् के श्लोक *10/19/26* में ऐसा ही कहा है।

अत: जैसे भुने हुए अथवा उबले हुए दाने बीज के रूप में प्रयुक्त करके नया वृक्ष या पौधा उत्पन्न नहीं किया जा सकता वैसे ही जिनका चित्त भगवान में युक्त है उनमें कामादि दोष साधारण मनुष्यों के काम की भांति काम की वृद्धि नहीं करते। अत: उनका संसार से संबंध अल्प समय में ही छूटकर उद्धार हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय:।।8।।

अन्वय :

मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
मन: - मन को; नाम, द्वि.ए.व. नपु. 'मनस्'
आधत्स्व - युक्त करके, आधान (स्थापित) करके; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.आ + धा 3 गण
च - और; अव्यय
मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
एव - ही, मात्र; अव्यय
बुद्धिम् - बुद्धि को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'बुद्धि'
निवेशय - लगाकर, युक्त कर; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.नि+विश् 6 गण, परस्मै
अत: ऊर्ध्वम् - इसके उपरांत; अव्यय
मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
एव - ही, मात्र; अव्यय
निवसिष्यसि - निवास करेगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'नि + वस्' 1 गण, परस्मै
अत्र - इसमें;
संशय: - संशय; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संशय'
न - नहीं; अव्यय
अस्ति - है; क्रि.प.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : मुझ में ही मन रख। मुझ में बुद्धि को प्रविष्ट कर। इसके उपरांत तू मुझ में ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है।

विवेचन : इस प्रकार मेरे भक्तों का मैं अल्प समय में ही संसार-सागर से उद्धार करता हूँ, अत: किसी भी संबंध से मुझ में ही मन लगाए रखने वाले को निर्गुण बनाने वाले मुझ, प्रकट स्वरूप पुरुषोत्तम परमात्मा, में ही मन रख। इसी प्रकार संकल्प - विकल्प रूप बुद्धि को भी मुझ में ही प्रविष्ट कर। इस प्रकार

करने से तू मुझ में ही रहेगा परंतु अक्षर आदि धाम में तेरा लय नहीं होगा। अथवा तू मुझ में ही रहेगा का तात्पर्य है कि तू मेरी सेवा के लिए सदा मेरे समीप ही रहेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।।
अभ्यासयोगेन ततो माम् इच्छाप्तुं धनञ्जय!।।9।।

अन्वय : अथ – यदि; अव्यय
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
चित्तम् – चित्त को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'चित्त'
मयि – मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
स्थिरम् – स्थिर; विशेषण, वि. 'चित्तम्'
समाधातुम् – स्थापन के लिए, रखने के लिए; हेत्वर्थ कृदन्त
न – नहीं; अव्यय
शक्नोषि – समर्थ है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'शक्' 5 गण, परस्मै
ततः – तब;अव्यय
धनञ्जय – हे धनञ्जय; सम्बोधन
अभ्यासयोगेन – अभ्यास योग से; नाम, तृ.ए.व.पु.
माम् – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
आप्तुम् – प्राप्त करने के लिए; हेत्वर्थ कृदन्त
इच्छ – इच्छा कर; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'इष्' (इच्छ्) 6 गण

श्लोकार्थ : हे धनञ्जय! यदि तू मुझ में स्थिर चित्त रखने में समर्थ नहीं है तो अभ्यासयोग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा रख।

विवेचन : यदि इस प्रकार मुझ में चित्त स्थिर रखने में समर्थ नहीं है तो अन्य उपाय कहता हूँ। चित्त स्थिर रखने का अभ्यास कर अथवा अभ्यास से उसको स्थिर कर मुझे प्राप्त करने की इच्छा रख।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि।।10।।

अन्वय :
अर्थ – यदि त्वम् – यदि तू; सर्वनाम
अभ्यासे – अभ्यास में; नाम, स.ए.व.पु. 'अभ्यास'
अपि – भी; अव्यय
असमर्थः – असमर्थ; विशेषण, वि. 'त्वम्'
असि – है (तू); क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
तर्हि – तो; अव्यय
मत्कर्मपरमः – मेरे लिए कर्म में तत्पर, परायण; विशेषण, वि. 'त्वम्'
भव – हो; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै
इत्थं – इस प्रकार
मदर्थम् – मेरे लिए; सर्वनाम, च.ए.व. 'अस्मत्'
कर्माणि – कर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'कर्मन्'
कुर्वन् – करते हुए; व.कृ. विशेषण, वि. 'त्वम्'
अपि – भी; अव्यय
सिद्धिम् – सिद्धि को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'सिद्धि'
अवाप्स्यसि –प्राप्त करेगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. अव + आप् 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म करने वाला बन। मेरे लिए कर्म करते रहने (मात्र से) पर भी तुझे (मेरी प्राप्ति रूपी) सिद्धि प्राप्त होगी।

विवेचन : चित्त स्थिर रखने के लिए अभ्यास करने की भी तुझ में सामर्थ्य न हो तो मेरी सेवा आदि कर्म, फल की कामना से रहित होकर, मात्र मेरी प्रीति के लिए कर। इस प्रकार फल की कामना से रहित केवल मेरे लिए ही कर्म करते रहने से भी तुझे (मेरी प्राप्ति रूपी) सिद्धि प्राप्त होगी।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगम् आश्रितः।।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।11।।

अन्वय :

अर्थ - यदि; अव्यय

एतद् - इस(को); 'मत्कर्मपरत्वम्' सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.

अपि - भी; अव्यय

कर्तुम् - करने में; हेत्वर्थ कृदन्त

अशक्तः - अशक्त; विशेषण, वि. 'त्वम्' भू.कृ.

असि - तू है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

ततः - तो फिर; अव्यय

यतात्मवान् - जिसने अन्तःकरण को जीत लिया है ऐसा; विशेषण, वि. 'त्वम्' ''यतः आत्मा यस्य इति'' बहुब्रीहि

च - और; अव्यय

मद्योगम् - मेरे साथ जुड कर, मेरी प्राप्ति रूप योग का; नाम, द्वि.ए.व.पु.

आश्रितः - आश्रय वाला; भू.क. विशेषण, वि. 'त्वम्'

सर्वकर्मफलत्यागम् - सभी कर्मों के फल के त्याग को; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''सर्वेषाम् कर्मणाम् फलानाम् त्यागः''

कुरु - कर; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : यदि ऐसा करने में भी तू असमर्थ है तो मेरे योग का आश्रय करके, मन को वश में कर सभी कर्मों के फल का त्याग कर।

विवेचन : मेरी प्रीति के लिए कर्म करने में भी तू असमर्थ हो तो मेरे योग का अर्थात मेरे और तेरे सेव्य-सेवक संबंध का आश्रय कर अर्थात सेव्य-सेवक भाव को स्मरण रखते हुए चित्त को वश में कर सभी कर्मों के फल का त्याग कर। ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचार्य द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण कर फल की कामना न रखते हुए, यथाशक्ति स्वधर्म का आचरण करने से भी अन्त में सुख प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय कर प्रभु की शरण रखने से भी (जीव) कृतार्थ होता है। इससे संबंधित विशेष विस्तारपूर्वक निरूपण अगले अध्याय में 18/46 से 18/54 तक (रामानुज) किया जाएगा।

श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासाज् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागात् शान्तिरनन्तरम्।।12।।

अन्वय :

हि - निश्चित; अव्यय

अभ्यासात् - अभ्यास से (की तुलना में); नाम, पं.ए.व.पु. 'अभ्यास'

ज्ञानम् - ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ज्ञान'

श्रेयः - कल्याण; नाम, प्र.ए.व.नपु. ;'श्रेयस्'

ज्ञानात् - ज्ञान से (ज्ञान की तुलना में); नाम पं.ए.व. नपु. 'ज्ञान'

ध्यानम् - ध्यान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ध्यान'

विशिष्यते - विशेष है, अधिक है; क्रि.व.कर्मणि तृ.पु.ए.व. वि + शिष् 7 गण, आत्मने

च - और; अव्यय

ध्यानात् - ध्यान से (ध्यान की तुलना में); नाम, पं.ए.व.नपु. 'ध्यान'

कर्मफलत्यागः - कर्मफल का त्याग; प्र.ए.व.पु.

च - और; अव्यय

त्यागात् - त्याग से; नाम, पं.ए.व.पु. 'त्याग'

अनन्तरम् - तुरंत ही, जहाँ अंतर न हो, तत्काल; अव्यय

शान्तिः - शान्ति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'शान्ति'

भवति - होती है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भव'

श्लोकार्थ : कारण कि अभ्यास से ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान उत्तम है और ध्यान से कर्म के फल का त्याग उत्तम है। त्याग से तत्काल ही शान्ति प्राप्त होती है।

विवेचन : अभ्यास की अपेक्षा उपदेश से सब का युक्तिसहित ज्ञान प्राप्त होना श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान उत्तम है और ध्यान से भी सभी कर्मों का त्याग उत्तम है। सब कर्मों का त्याग करने से तत्काल ही शान्ति प्राप्त होती है। लाभ अथवा हानि में, जय अथवा पराजय में चित्त की प्रसन्नता अथवा शान्ति ही यथार्थ

शान्ति है। शान्ति प्राप्त होने से कृतार्थता होती है। अथवा शान्ति का तात्पर्य है - भगवान् की की भक्ति में स्थिति होना अर्थात् भगवद् भक्ति। इस भक्ति के स्वरूप का श्लोक 13 से 19 तक निरूपण किया गया है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करूण एव च।।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।13।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।।
मय्यर्पित-मनो-बुद्धिर् यो मद् भक्तः स मे प्रियः।।14।।

अन्वय :

सर्वभूतानाम् - सब प्राणियों को; नाम, ष.ब.व.नपु. 'सर्वभूत'
अद्वेष्टा - जिसमें द्वेषभाव न हो ; विशेषण, वि. 'योगी'
मैत्रः - स्वार्थ रहित, प्रेमी; विशेषण, वि. 'योगी'
करूण - करूण, हेतु रहित दयालु; विशेषण, वि. 'योगी'
एव - ही; समुच्चयवान् ; ''अद्वेष्टा मैत्रः करूण एव'' विशेषण, वि. 'योगी'
निर्ममः - ममता रहित; विशेषण, वि. 'योगी'
निरहङ्कारः - अहङ्कार रहित; विशेषण, वि. 'योगी'
समदुःखसुखः - सुख और दुःख की प्राप्ति में समता रखने वाला; विशेषण, वि. 'योगी'
च - और; अव्यय
क्षमी - क्षमावान, अपराध करने वाले को भी अभयदान देने वाला; विशेषण, वि. 'योगी'
अस्ति तथा - है और; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' अव्यय
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
योगी - योगी; नाम, प्र.ए.व.पु. 'योगिन्'
सततम् - निरन्तर; अव्यय
सन्तुष्टः - लाभ-हानि में संतोष अनुभव करने वाला; विशेषण, वि. 'योगी'
अस्ति तथा - है और; क्रि.तृ.पु.ए.व. ''अस्'' अव्यय

यतात्मा - इंद्रियनिग्रही; विशेषण, वि. ''योगी''
च - और; अव्यय
दृढ़निश्चयः - दृढ़ निश्चयी; विशेषण, वि. 'योगी'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
अर्पितमनोबुद्धिः - मन और बुद्धि (मुझे) अर्पित करने वाला; ''अर्पितं मनःबुद्धिः येन इति'' बहुब्रीहि
मद्भक्तः - मेरा भक्त; नाम, प्र.ए.व.पु. 'मद्भक्त'
मे - मुझे; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
प्रियः - प्रिय; विशेषण, वि. 'सः'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : सभी प्राणियों का अद्वेषी, मित्र, करुणामय, ममतारहित, निरहंकारी, सुख और दुःख में समान, क्षमावान, नित्यसन्तुष्ट, योग का आचरण करने वाला, इंद्रियों को नियम में रखने वाला, दृढ़ निश्चय वाला, जिसका मन और बुद्धि मुझ में संलग्न है- इस प्रकार से जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

विवेचन : यहाँ से सात श्लोक तक (13 से 19) भक्त के 32 लक्षण कहते हैं जो भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि को सूचित करते हैं।

1. प्राणी मात्र से द्वेष न करना।
2. प्राणी मात्र का मित्र अथवा भक्तों का मित्र।
3. प्राणी मात्र के प्रति करुणायुक्त अथवा जो भक्त नहीं हैं उनके प्रति भी उनके संसार संबंधी दुःखों को देखकर करुणा भाव रखना।
4. ममता रहित।
5. इस अहंकार से रहित कि मैं श्रेष्ठ हूँ।
6. सुख - दुःख में जो समान है।

7. दुष्टजन से हुए अपमान को भी सहन करना और उनको क्षमा करना।
8. निरंतर संतुष्ट रहना, भगवान की सेवा में उपयोगी जो द्रव्य जिस भाँति प्राप्त हो उसी में संतोष रखना।
9. योग को आचरण में उतारने वाला अर्थात सदा मेरा चिंतन करना।
10. इन्द्रियों को नियम में रखना।
11. भगवान् की सेवा में ही जिसका दृढ़ निश्चय है।
12. उक्त दृढ़ निश्चय केवल बाहर से नहीं अपितु जिसका मन और बुद्धि भी मुझ में ही संलग्न है ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

''जो मेरा भक्त'' - यहाँ भगवान् ने 'मेरा भक्त' कह कर पुष्टि भक्त के ही गुण कहे हैं। क्यों कि भगवान् का प्रिय कोई अपने प्रयत्न से नहीं बन सकता। भगवान् जिसका वरण करते हैं वही भगवान् का प्रिय हो सकता है। यह पुष्टिमार्ग, प्रवाह मार्ग से बहुत भिन्न है। प्रवाह मार्ग साधारण है, सर्वसामान्य जीव प्रवाह मार्ग में हैं परंतु भक्ति मात्र भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्य होने से पुष्टिमार्ग उससे बहुत ही विलक्षण है। ''मैं न तो वेद से और न तप से'' - इन श्लोकों में (अध्याय 11/53-54) भगवान् की आज्ञा के अनुसार वेद मार्ग अथवा मर्यादा मार्ग से भी यह मार्ग उत्तम है। इसकी विस्तृत व्याख्या 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद' ग्रंथ में देखिए।

यस्मात् नोद्विजते लोको लोकात् नोद्विजते च यः।।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर् मुक्तो यः स च मे प्रियः।।15।।

अन्वय :

यस्मात् - जिससे; सर्वनाम, पं.ए.व.पु.
लोकः - लोक (प्राणी मात्र); नाम, प्र.ए.व.पु.
न - नहीं; अव्यय
उद्विजते - उद्विग्न होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.उद् + विज् 1 गण, आत्मने
च - और; अव्यय
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ''यत्''

लोकात् - लोक से (किसी भी प्राणी से); नाम, पं.ए.व.पु. 'लोक'
न - नहीं; अव्यय
उद्विजते - उद्विग्न होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.उद् + विज् 1 गण, आत्मने
च - और; अव्यय
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ''यत्''
हर्षामर्षभयोद्वेगैः - हर्ष, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से; नाम, तृ.ब.व.पु. ''हर्षश्च अमर्षश्च भयं च उद्वेगश्च इति'' द्वंद्व
मुक्तः - रहित; भू.कृ. विशेषण, वि. 'यः'
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'
मे- मुझे; सर्वनाम,ष.ए.व. 'अस्मत्'
प्रियः - प्रिय है; विशेषण, वि. 'यः'

श्लोकार्थ : जिससे कोई भी प्राणी उद्विग्न नहीं होता और जो किसी भी प्राणी से उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, क्रोध, भय और खेद से रहित है वह मुझे प्रिय है।

विवेचन : (13)जिसके सदा सेवा में परायण रहने और प्राणीमात्र का मित्र एवं करुणायुक्त रहने से लोक उद्विग्न नहीं होते और जो लोकों को संसार में रत देखकर उनसे स्वयं उद्विग्न नहीं होता अपितु (भगवद्) सेवा आदि से अपने धर्म में निष्ठा रखता है; (14) और जिसको अपनी इष्ट वस्तु प्राप्त होने से हर्ष नहीं होता, इष्ट वस्तु प्राप्त न होने से क्रोध नहीं आता, किसी भी स्थान पर प्रह्लाद की भांति भय अथवा चिंता नहीं होती, वैसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।16।।

अन्वय :

यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
अनपेक्षः - अपेक्षा रहित; विशेषण, वि. 'भक्तः'
शुचिः - पवित्र; विशेषण, वि. 'भक्तः'
दक्षः - चतुर, काम को सफल बनाने वाला; विशेषण, वि. 'भक्तः'

उदासीनः – उदासीन, पक्षपात रहित; विशेषण, वि. 'भक्तः'
च – और; अव्यय
गतव्यथः – दुःखों से मुक्त; विशेषण, वि. 'भक्तः'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
सर्वारम्भपरित्यागी – सभी कर्मों के आरम्भ का त्याग करने वाला, कर्म में अभिमान और आसक्ति को छोड़ने वाला; विशेषण, वि. 'भक्तः' ''सर्वेषाम् कर्मणाम् आरम्भानाम् परित्यागः येन'' बहु.
मद्भक्तः – मेरा भक्त; नाम, प्र.ए.व.पु.
मे – मुझे; सर्वनाम,ष.ए.व.पु. 'अस्मत्'
प्रियः – प्रिय; विशेषण, वि. 'भक्तः'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : अपेक्षा रहित, पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथारहित और सभी आरम्भों का जिसने परित्याग कर दिया है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

विवेचन : (15) मेरी सेवा करते हुए जिसे सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य अथवा सायुज्य मुक्ति की भी अपेक्षा नहीं रहती।
(16) पवित्र आचरण वाला।
(17) भगवान् की सेवा और शृङ्गार करने में चतुर
(18) सेवा से भिन्न भार्या-गृह आदि में उदासीन।
(19) व्यथा रहित अर्थात भार्या तथा असत् पुरुष कोई आक्षेप करे तो बिना व्यथित हुए उसको सहन करने वाला। (''भार्यादीनां तथाऽन्येषामसतश्चाक्रमं सहेत्'' विवेकधैर्याश्रय – 7) और

(*20*) सभी प्रकार के आरम्भों का जिसने परित्याग कर दिया है अर्थात आरब्ध (आरम्भ किए गए) कर्म के फल की अपेक्षा न रख कर जिसने फल का त्याग कर दिया है वैसा मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।17।।

अन्वय :
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
न – नहीं; अव्यय
हृष्यति – हर्षित होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'हृष्' 4 गण, परस्मै
न – नहीं; अव्यय
द्वेष्टि – द्वेष करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'द्विष्' 2 गण, परस्मै
न – नहीं; अव्यय
शोचति – शोक करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.
च न – और न ही; अव्यय
काङ्क्षति – आशा रखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'काङ्क्ष' 1 गण
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
शुभाशुभपरित्यागी – शुभ और अशुभ फल का त्याग करने वाला; विशेषण, वि. 'यः'
च – और; अव्यय
भक्तिमान्–भक्तिमान्, भक्तियुक्त; विशेषण, वि. 'यः'
सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'
मम – मुझे; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
प्रियः – प्रिय; विशेषण, वि. 'यः'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : जो हर्षित नहीं होता, द्वेष नहीं करता, शोक नहीं करता और आकांक्षा नहीं रखता तथा जिसने शुभ और अशुभ का परित्याग कर दिया है वैसा भक्तिमान् मुझे प्रिय है।

विवेचन : (21) लौकिक पदार्थों की प्राप्ति होने से जिसे हर्ष नहीं होता, उसी तरह (22) अप्रिय प्रसंग से जिसे द्वेष नहीं होता,

(23) धन आदि का व्यय होने पर भी जिसे शोक नहीं होता,
(24) उसकी (धन आदि की) आकांक्षा अथवा इच्छा नहीं रखता और
(25) जिसने शुभ और अशुभ सभी कर्मों के फल का त्याग कर दिया है वैसी मेरी भक्ति करने वाला मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।।
शीतोष्ण - सुखदुःखेषु समः सङ्ग विवर्जितः।।18।।

अन्वय :

यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
शत्रौ - शत्रु में; नाम, स.ए.व.पु. 'शत्रु'
मित्रे - मित्र में; नाम, स.ए.व.नपु. 'मित्र'
च - और; अव्यय
मानापमानयोः - मान और अपमान में; नाम, स.द्वि.व.नपु. ''माने अपमाने च'' द्वंद्व
समः - समान; विशेषण, वि. 'भक्तः'
तथा - इसके अतिरिक्त, अथवा; अव्यय
शीतोष्णसुखदुःखेषु - शीत, उष्ण, सुख और दुःख में; नाम, स.ब.व. ''शीतम् च उष्णम् च सुखम् च दुःखम् च'' ''द्वंद्व''
समः - समान; विशेषण, वि. 'भक्तः'
च - और; अव्यय
सङ्गविवर्जितः - सङ्ग रहित; विशेषण, वि. 'भक्तः' ''सङ्गेनविवर्जितः इति तत्पु. उपपद''

श्लोकार्थ : शत्रु और मित्र के प्रति, मान और अपमान में, शीत और उष्ण में तथा सुख और दुःख में जो समान है और जो संग से रहित है।

विवेचन : (26) जो शत्रु और मित्र के प्रति समान है, जो मान और अपमान, शीत और ताप तथा सुख और दुख में समान है।
(27) जो अभक्त के संग से रहित है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन-केनचित्।।
अनिकेतः स्थिरमतिर् भक्तिमान् मे प्रियो नरः।।19।।

अन्वय :

तुल्यनिन्दास्तुतिः - जो निन्दा और स्तुति में समान है; विशेषण, वि. 'नरः' ''तुल्या निन्दा च स्तुतिः यस्य इति'' बहु.
मौनी - मननशील; ''मुनेर्भावः यस्मिन् इति'' बहु. विशेषण, वि. 'नरः'
येनकेनचित् - जिस किसी प्रकार से; सर्वनाम, तृ.ए.व.नपु. 'यत्किञ्चित्'
सन्तुष्टः - सन्तुष्ट; भू.कृ. विशेषण, वि. 'नरः'
च - और; अव्यय
अनिकेत : - रहने के स्थान में ममता रहित; विशेषण, वि. 'नरः' ''न निकेतम् यस्य इति'' बहु.
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''तत्''
स्थिर मतिः - स्थिर बुद्धि वाला; विशेषण, वि. 'नरः' ''स्थिरा मतिः यस्य इति'' बहुव्रीहि।
भक्तिमान् - भक्तिमान्; विशेषण, वि. 'नरः'
नरः - मनुष्य; नाम, प्र.ए.व.पु. 'नरः'
मे - मुझे; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
प्रियः - प्रिय; विशेषण, वि. 'नरः'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : जो निन्दा और स्तुति में समान है, जिसने वाणी को नियम (नियन्त्रण) में रखा हुआ है, जो कुछ भी प्राप्त हो, उससे सन्तुष्ट रहता है, जो स्थान - रहित और स्थिर - मति है, वह भक्तियुक्त (नर) मुझे प्रिय है।

विवेचन : (28) जो अपनी निन्दा अथवा स्तुति में समान है अर्थात जिसको अपनी निन्दा सुनने से दुःख नहीं होता और स्तुति सुनने से हर्ष नहीं होता।
(29) जिसने वाणी को नियम में रखा हुआ है।
(*30*) जो कुछ प्राप्त हो उसमें संतोष मान कर उस से भगवान् की सेवा करता है।

(31) जिसे (रहने के लिए) स्थान अथवा घर-बार की अपेक्षा नहीं है अथवा जिसकी घर में आसक्ति नहीं है और

(32) जो मुझ में ही स्थितर-मति वाला है, ऐसा भक्तिमान् मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियः।।20।।

अन्वय :

तु - और; अव्यय

ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

मत्परमाः - मेरे परायण; विशेषण, वि. 'भक्ताः'

श्रद्दधानः - श्रद्धायुक्त, श्रद्धावाला; विशेषण, वि. 'भक्ताः'

इदम् - इस; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.

यथा - जिस प्रकार; अव्यय

उक्तम्-कहा गया; विशेषण, वि. 'धर्म्यामृतम्'

धर्म्यामृतम् - धर्ममय अमृत को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

पर्युपासते - निष्काम भाव से सेवा करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. परि+उप+आस् 2गण, आत्मने

ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

भक्ताः - भक्त; नाम, प्र.ब.व.पु. 'भक्त'

मे - मुझको; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'

अतीव - बहुत ही; अव्यय

प्रियः - प्रिय है; विशेषण, वि. 'भक्ताः'

श्लोकार्थ : इसके अतिरिक्त जो भक्त श्रद्धा रखकर मुझे ''परम'' जानकर इस धर्ममय अमृत का कथनानुसार सेवन करते हैं वे मुझे बहुत प्रिय हैं।

विवेचन : इसके अतिरिक्त जो दैवी जीव श्रद्धा रखकर मुझे परम जानते हैं अर्थात् मेरी भक्ति में ही निष्ठा रखते हैं और इस धर्म्य अर्थात सेवाधर्म रूपी

अमृत का तुम्हें बताई गई रीति से सेवन करते हैं, वे मुझे अत्यंत प्रिय है। यहाँ ''सेवन करते हैं'' - ऐसा सामान्यरूप से कहा गया होने से उसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल त्रैवर्णिक ही भक्ति कर सकते हैं अपितु सभी वर्ण वाले भक्ति कर सकते हैं।

इस प्रकार इस अध्याय में यह उपदेश किया गया है कि अव्यक्त की उपासना के मार्ग में दुःख हैं, मर्यादा में भी दुःख है परंतु श्रीकृष्ण की भक्ति के मार्ग में पुष्टि अथवा भगवान् के अनुग्रह से सुख ही है। लोकों का उद्धार करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में सर्व संदेहों का निवारण हो जाए- ऐसी रीति से-अर्जुन को भक्तियोग रूपी अमृत वचन कहे हैं।

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ''भक्तियोगो'' नाम
द्वादशोध्यायः।।12।।

।। अध्याय 13 ।।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग

श्रीभगवान् उवाच

इदम् शरीरं कौन्तेय! 'क्षेत्रम्' इत्यभिधीयते।।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः 'क्षेत्रज्ञः' इति तद्विदः।।1।।

अन्वय :

कौन्तेय - हे कौन्तेय; सम्बोधन।

इदम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.

शरीरम् - शरीर; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'शरीर'

क्षेत्रम् - क्षेत्र, नाम; प्र.ए.व. नपु. 'क्षेत्र'

इति - इस; अव्यय

अभिधीयते - कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.अभि +धा 3 गण, आत्मने

एतद् - इसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.

यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.

वेत्ति- जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै

तम् - उसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.

तद्विदः - (तत्) = तत्त्व, तत्त्व को जानने वाला; नाम, प्र.ब.व.पु.

क्षेत्रज्ञः - क्षेत्र को जानने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.

इति - इस प्रकार; अव्यय

प्राहुः - कहते हैं; क्रि.तृ.पु.ब.व.

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय! यह शरीर 'क्षेत्र' कहा जाता है। इस क्षेत्र को जो जानता है उसको जानने वाले (ज्ञानीजन) 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।

विवेचन : श्रीमद्भगवद्गीता में अठारह अध्याय हैं। इनमें से पहले छः अध्याय सूत्र रूप हैं। अध्याय सात से बारह तक छः अध्याय इस सूत्र की वृत्ति रूप हैं

और अध्याय तेरह से अठारह तक छः अध्याय भाष्य रूप हैं। वृत्ति रूप सातवें अध्याय के आरंभ में 'परा' और 'अपरा' दो प्रकार की प्रकृति कही गई है। यहाँ प्रकृति-पुरुष आदि का भगवान् विस्तार से बोध कराते हैं।

यहाँ अर्जुन ने प्रश्न नहीं किया है अपितु यह अध्याय भाष्य रूप होने से प्रश्न बिना ही भगवान् उपदेश करते हैं। अर्जुन के प्रश्न के रूप में कुछेक ने एक प्रक्षिप्त श्लोक जोड़ दिया है परंतु वह उचित नहीं है क्योंकि यह अध्याय भाष्य रूप होने से यहाँ प्रश्न संभाव्य नहीं है। अतः भगतद्गीता की अधिकांश प्रतियों में यह श्लोक नहीं है।

"जैसे पिण्ड में वैसे ब्रह्माण्ड में" - इस नियम के अनुसार पूर्व (सातवें अध्याय) में जो जड़ अनात्मरूप प्रकृति कही गई है उसका परिणाम रूप यह शरीर पुरुष (जीवात्मा) का निवास स्थान होने से "क्षेत्र" कहा जाता है। पुरुष ऐसे क्षेत्र रूप शरीर को अपने से भिन्न मानकर न जानता हो तो वह मात्र क्षेत्री ही है; क्षेत्रज्ञ नहीं। ऐसा जीव संसारी होता है। लेकिन जो पुरुष अपने से भिन्न मानकर क्षेत्र को जानता है वह "क्षेत्रज्ञ" कहा जाता है। वह इस शरीर को अपने से भिन्न, क्षेत्र रूप में जानता है और अपने को द्रष्टा जानता है। यद्यपि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान संसार दशा में भी होता है परन्तु उस दशा में (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का) भिन्न रूप से ज्ञान नहीं होता बल्कि एक मानकर ज्ञान होता है। यहाँ, फिर भी, क्षेत्र भोग्य है और भोक्ता पुरुष से अलग ही है; यह शव (निष्प्राण देह) को ध्यान में रखने से ज्ञान होता है; कारण कि क्षेत्र और पुरुष एक ही हैं-यह ज्ञान जब दोनों का संबंध हो तब ही संभव हो सकता है; परन्तु क्षेत्र अथवा पुरुष दोनों में से किसी एक ही के रहने पर संभव नहीं है। वेद्य-शरीर अथवा क्षेत्र, वेत्ता - पुरुष से भिन्न है, कारण कि घट और घट को देखने वाला भिन्न होते हैं; ऐसा देखने में आता है। "मैं देह हूँ" - ऐसी प्रतीति अतिमंद पुरुषों को ही होती है। क्षेत्र और पुरुष एक दूसरे से भिन्न हैं- ऐसा ज्ञान अपने आत्म रूप क्षेत्रज्ञ को भिन्न रूप से जानने वाले विद्वान को ही होता है। सब को नहीं होता।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत!।।
क्षेत्र - क्षेत्रज्ञयोर् ज्ञानं यत् तज् ज्ञानं मतं मम।।2।।

अन्वय :

भारत - हे भारत, हे अर्जुन; सम्बोधन
सर्वक्षेत्रेषु - सभी क्षेत्रों में, शरीरों में; नाम, स.ब.व.नपु.
क्षेत्रज्ञम् - क्षेतज्ञ को, जीवात्मा को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'क्षेत्रज्ञ'
च-अपि - और, भी; अव्यय
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
विद्धि - जान; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः -क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का; नाम, ष.द्वि.व.पु.
ज्ञानम् - ज्ञान; नाम, प्र.ए.व. नपु.
तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नु.
ज्ञानम् - ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु.
मम - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
मतम् - मत, स्वीकृत; भू.कृ. विशेषण, वि. 'ज्ञानम्'

श्लोकार्थ : इसके अतिरिक्त हे भारत! सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, मेरे मत में वही ज्ञान है।

विवेचन : क्षेत्र पुरुष से भिन्न है - यह जानने वाला क्षेत्रज्ञ भी सभी क्षेत्रों में मैं ही हूँ। कारण कि क्षेत्री के रूप में संसार निमग्न जीव क्षेत्र को अपने से अलग रूप में नहीं जानता। यदि कोई उसको अपने से अलग जानता है तो वह मेरा अंश और मेरा रूप है अतः वह मैं ही हूँ - ऐसा जान; क्योंकि उसमें मेरे गुण आविर्भूत हैं। जीव में ब्रह्म के गुण विशेषता से होने से उसे "ब्रह्म" भी कहते हैं। यह ब्रह्मसूत्र (2/3/29) से भी ज्ञात होता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान मुझे सम्मत (मान्य) है - यह कह कर भगवान् उपदेश करते हैं कि यह ज्ञान उत्तम है।

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद् विकारि यतश्चयत्।।
स च यो यत् प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु।।3।।

अन्वय :

तत् - वह - सर्वनाम; प्र.ए.व.नपु.
क्षेत्रम् - शरीर, क्षेत्र; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'क्षेत्र'
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
च - और; अव्यय
यादृक् - जैसा है वैसा; विशेषण, वि. 'क्षेत्रम्'
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
विकारि - विकारी; विशेषण, वि. 'क्षेत्रम्'
च - और; अव्यय
यतः - जिस कारण से, और; अव्यय
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
अभूत् - हुआ है; क्रियापद
च - और; अव्यय
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. अथवा विशेषण, वि. 'सः'
च - और; अव्यय
यत्प्रभावः - जिस प्रभाव वाला, स्वभाव वाला; विशेषण, वि. 'सः'
अस्ति - है; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'अस्'
तत् - वह, वह सब; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.
समासेन - संक्षेप में; नाम, तृ.ए.व.पु.
मे - मुझ से; ष.ए.व. 'अस्मत्'
शृणु - सुन; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'शृ' 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : वह क्षेत्र जो (द्रव्य) है, जैसा है, जिन विकारों वाला है, जिससे (उत्पन्न) है और जिस स्वभाव वाला है तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो है और जिस प्रभाव वाला है, वह संक्षेप में मुझ से सुन।

विवेचन : क्षेत्र जो द्रव्य है, जैसा है अर्थात जिसका आश्रय है, जिन विकारों वाला है अर्थात उसमें जो विकार हैं, जिससे है अर्थात जिस प्रयोजन से उसका उद्भव हुआ है और जैसे स्वभाव वाला है वह मुझ से संक्षेप में सुन। इसी प्रकार वह क्षेत्रज्ञ जो है अर्थात क्षेत्रज्ञ का स्वरूप और उसका जो प्रभाव है वह मुझ से संक्षेप में सुन।

ऋषिभिर् बहुधा गीतं छंदोभिर् विविधैः पृथक्।।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर् विनिश्चितैः।।4।।

अन्वय :

ऋषिभिः - ऋषियों के द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु. 'ऋषि'
बहुधा - अनेक प्रकार से; अव्यय
गीतम् - समझाया गया है; भू.कृ. विशेषण, वि. 'एतद् ज्ञानम्'
च - और; अव्यय
विविधैः - विविध प्रकार से; विशेषण, वि. 'छंदोभिः'
छंदोभिः - छंदों से, वेद मंत्रों से; नाम, तृ.ब.व.नपु.
पृथक् - भिन्न-भिन्न प्रकार से; अव्यय
गीतम् - गाया गया है; क्रियापद
च - और; अव्यय
विनिश्चितैः - भली-भांति निश्चित किया हुआ; विशेषण, वि. 'ब्रह्मसूत्रपदैः'
हेतुमद्भिः - हेतुवालों के द्वारा, युक्ति से सिद्ध किया हुआ; विशेषण, वि. 'ब्रह्मसूत्रपदैः'
ब्रह्मसूत्रपदैः - ब्रह्मसूत्र के पदों से; नाम, तृ.ब.व. नपु.
एव - और, मात्र; अव्यय
तथैव गीतम् - वैसे ही गाया गया है।

श्लोकार्थ : ऋषियों के द्वारा इसके बारे में (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बारे में) अनेकविध विस्तार से गाया गया है तथा वेदवाक्यों (ऋचाओं में) द्वारा भी

अलग से गाया गया है और युक्तिसहित निश्चित किए हुए ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी गाया गया है।

विवेचन : इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को ऋषियों द्वारा कई प्रकार से गाया गया है तथा वेद के अलग-अलग छंदों में उनका अलग-अलग वर्णन किया गया है। किसी छंद में उनको ध्यान करने योग्य, किसी में धारणा करने योग्य और किसी में वैराज (ब्रह्मा संबंधी) रूप कहा गया है। वेदव्यास द्वारा रचित युक्तियुक्त तथा पूर्ण निश्चय सहित वर्णित ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों में भी अनेकविध गाया गया है। इन सबका साररूप उनका (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का) यथार्थ स्वरूप मैं तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ। वह सुनो।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।5।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारम् उदाहृतम्।।6।।

अन्वय :

महाभूतानि - महाभूत; नाम, प्र.ब.व.नपु.
अहङ्कारः - अहङ्कार; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अहङ्कार'
बुद्धिः - बुद्धि; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'बुद्धि'
च - और; अव्यय
अव्यक्तम् - अव्यक्त; मूल प्रकृति; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अव्यक्त'
एव - ही; अव्यय
च - और; अव्यय
दश - पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय; विशेषण, वि. 'इन्द्रियाणि'
इन्द्रियाणि - इन्द्रियाँ; नाम, प्र.ब.व.नपु.
एकम् - एक (मन); विशेषण, वि. 'मनः'
च - और; अव्यय
पञ्च -पाँच; विशेषण, वि. 'इन्द्रियगोचराः'

इन्द्रियगोचराः - इन्द्रियों से समझने योग्य विषय; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; नाम, प्र.ब.व.पु.
इच्छा - इच्छा; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'इच्छा'
द्वेषः - द्वेष; नाम, प्र.ए.व.पु.
सुखम् - सुख; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'सुख'
दुःखम् - दुःख; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'दुःख'
सङ्घातः - समूह, स्थूल देह का पिण्ड; नाम, प्र.ए.व.पु.
चेतना - चेतना; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
च - और; अव्यय
धृतिः - धारणा शक्ति, धैर्य; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'धृति'
एतद् - यह; विशेषण, वि. 'क्षेत्रम्'
क्षेत्रम् - क्षेत्र; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'क्षेत्र'
सविकारम् - विकारी; विशेषण, वि. 'क्षेत्रम्'
समासेन - एकत्रित समूह द्वारा, संक्षेप में; तृ.ए.व.पु. 'समास'
उदाहृतम् - कहा गया है; भू. कृ. विशेषण, वि. 'क्षेत्रम्'

श्लोकार्थ : (पाँच) महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि तथा अव्यक्त (मूल प्रकृति), तथा दस (पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय) और एक (मन) ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, सङ्घात, चेतना और धृति-इन विकारों सहित 'क्षेत्र' के संबंध में संक्षेप में बताया।

विवेचन : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश -ये पाँच महाभूत 'क्षेत्र' के हैं। क्षेत्र इन पाँच महाभूत रूपी द्रव्य है। अब क्षेत्र जैसा है अर्थात जिनका आश्रय है उनके संबंध में बताते हैं। अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त अर्थात महत्तत्व, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा एक मन मिलाकर ग्यारह इन्द्रियां और पाँच इन्द्रियों के विषय, क्षेत्र का आश्रय कर स्थित हैं।

अब उसके (क्षेत्र के) विकार कहते हैं। इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख संघात अर्थात इन सब का समूह, चेतना अर्थात विवेक आदि रूपी प्राणों की वृत्ति और

धृति अथवा धैर्य – ये सब उसके विकार हैं। इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख – ये चार यद्यपि आत्मा के धर्म हैं तथापि चिदंशरूप आत्मा में क्षेत्र के संबंध से ही ये धर्म विद्यमान रहने से उनका आश्रय भी क्षेत्र ही है और वे क्षेत्र के ही विकार हैं– यह समझाया गया है। सुख और दुःख का भोग करने वाला, भोग अथवा मोक्ष को साधने वाला, चिदंशभूत वस्तुतः अव्यक्त पुरुष के आधार के रूप में उत्पन्न हुआ पंचमहाभूतमय शरीर अहंकार आदि का आश्रय है। इच्छा आदि उसके विकार हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार अर्थ को यह प्राप्त कराने वाला है। मेरी भक्ति हो सके इसलिए मैंने तेरी इच्छा से उसका उद्भव कराया है और उसका नश्वर स्वभाव है। वह क्षेत्र स्थूल और सूक्ष्म देह रूप है। इस प्रकार विकार सहित क्षेत्र के संबंध में तुझे संक्षेप में बताया।

इस श्लोक की व्याख्या श्री भागवत् के श्लोक *10/35/18* के संदर्भ से सुबोधिनी में की गई है।

अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसाक्षांतिरार्जवम्।।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः।।7।।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहङ्कार एव च।।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्।।8।।

असक्तिर् अनभिष्वङ्गः पुत्र - दार - गृहादिषु।।
नित्यं च समचित्तत्वम् इष्टानिष्टोपपत्तिषु।।9।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।।
विविक्त-देशसेवित्वम् अरतिर् जनसंसदि।।10।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।।
एतज् ज्ञानम् इति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा।।11।।

अन्वय :

अमानित्वम् – अमानित्व, श्रेष्ठता का अभिमान न रखना; नाम, प्र.ए.व.नपु.

अदम्भित्वम् – अदम्भित्व, पाखण्ड रहित; नाम, प्र.ए.व.पु. नपु.
अहिंसा – अहिंसा; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'अहिंसा'
क्षांतिः – क्षमा भाव; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'क्षांति'
आर्जवम् – मन और वाणी की सरलता; ना, प्र.ए.व.नपु. 'आर्जव'
आचार्योपासनम् – गुरु की सेवा; नाम, प्र.ए.व. नपु.
शौचम् – बाहरी और आन्तरिक शुद्धि; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'शौच'
स्थैर्यम् – अन्तःकरण की स्थिरता; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'स्थैर्य'
आत्मविनिग्रहः – मन और इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह; नाम, प्र.ए.व.पु.
इन्द्रियार्थेषु – इन्द्रियों के भागों में; नाम, स.ब.व.पु.
वैराग्यम् – वैराग्य; आसक्ति का अभाव; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'वैराग्य'
अनहङ्कारः – अहङ्कार का अभाव; नाम, प्र.ए.व.नपु.
एव – और; अव्यय
जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् – जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख दोषों का बार-बार विचार करना; नाम, प्र.ए.व.नपु.
च – और; अव्यय
पुत्रदारगृहादिषु – पुत्र, स्त्री, घर इत्यादि में; नाम, स.ए.व.पु.
असक्तिः – आसक्ति का न होना; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
अनभिष्वंगः – ममता का नाश; नाम, प्र.ए.व.पु.।
च – और; अव्यय
नित्यम् –हमेशा; अव्यय
इष्टानिष्टोपपत्तिषु – प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में; नाम, स.ब.व.स्त्री. 'इष्टम् च अनिष्टम् च इति तयोः उपपत्तिषु.' तत्पु.
समचित्तत्वम् – चित्त की समानता; नाम, प्र.ए.व.नपु.
मयि – मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व. 'अस्मत्'
अनन्ययोगेन – अन्याश्रयरहित योग के द्वारा; नाम, तृ.ए.व.पु. 'अनन्ययोग'
अव्यभिचारिणी – अन्य किसी में चित्त का न लगना (एकनिष्ठ); विशेषण, वि. 'भक्तिः'।

भक्तिः - भक्ति; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'भक्ति'

च - और; अव्यय

विविक्तदेशसेवित्वम् - एकान्त और शुद्ध देश में रहना; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'विविक्तः देशः, तस्य सेवित्वम्' तत्पु.

जनसंसदि - विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में;नाम, स.ए.व. 'जनानां संसत् जन संसत्' तत्पु.

अरतिः - रति (अनुराग) का न होना; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.

अध्यात्मज्ञान नित्यत्वम् - अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति; नाम, प्र.ए.नपु. ''आत्मनः इति अध्यात्म (तत्पु.) अध्यात्मम् च ज्ञानम् इति तस्य नित्यत्वम्।''

च - और; अव्यय

तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् - तत्त्व ज्ञान के अर्थ का विचार; नाम, प्र.ए.व. नपु.

एतद् - यः;' सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

ज्ञानम् - ज्ञान; नाम, प्र.ए.व. नपु.

इति - ऐसे; अव्यय

प्रोक्तम् - कहा गया; भू.कृ. विशेषण, वि. ''ज्ञानम्''

अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

अतः - इसलिए; अव्यय

अन्यथा - उल्टा, विपरीत; अव्यय

यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

अस्ति तत् - है, वह; क्रियापद

अज्ञानम् - अज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु. ''अज्ञान''

अस्ति - है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. ''अस्''

श्लोकार्थ : अमानित्व, अदम्भ, अहिंसा, क्षमा, ऋजुता, आचार्य की सेवा, पवित्रता, स्थैर्य, चित्त का निग्रह, इन्द्रियों का विषयों के प्रति वैराग्य और इसके अलावा अहंकार का अभाव; जन्म मरण जरा और व्याधि में दुःख तथा दोष का विचार; पुत्र पत्नी गृह आदि में आसक्ति और संग का अभाव, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में नित्य समचित्त रहना तथा मुझ में अनन्य योग से अव्यभिचारिणी

भक्ति, एकान्त प्रदेश का सेवन, लोक में अरति, नित्य अध्यात्म ज्ञान और तत्तवज्ञान के अर्थ का विचार - इसको ज्ञान कहते हैं। इससे अन्यथा अज्ञान है।

विवेचन : अब उस क्षेत्र में अपने आत्मा के ज्ञान के गुण कहते हैं। यहाँ से साढ़े चार श्लोक तक (7 से $10^1/_2$) ज्ञान के गुण कहे गए हैं अर्थात पाँच श्लोक (7 से $11^1/_2$) से ज्ञान का बोध कराया गया है।

'अमानित्व' अर्थात अपने गुणों की उत्तमता के वर्णन में आनंद न मानना।

'अदंभ' अर्थात केवल लोक - प्रदर्शन के लिए धर्म आदि का आचरण न करना।

'अहिंसा' अर्थात दूसरों को पीड़ा न पहुँचाना।

'क्षमा' अर्थात दुष्ट आदि के द्वारा किए गए अपमान को सहना।

'ऋजुता' अर्थात निष्कपटता से आचार्य सेवा।

पवित्रता, बाह्य और अभ्यंतर दो प्रकार की है। मिट्टी, जल आदि से बाह्य पवित्रता सिद्ध होती है और भगवान् के स्मरण से अभ्यंतर पवित्रता सिद्ध होती है।

क्लेश आदि में भी भगवत्परायण रहना ही स्थैर्य है।

'आत्मा' अर्थात चित्त का निग्रह अथवा 'आत्मविनिग्रह' अर्थात शीत, क्षुधा आदि को सह कर देह का संयम।

इन्द्रियों का विषयों के प्रति वैराग्य।

अहंकार का अभाव। मूल में 'एव' शब्द है जिससे इस गुण की अनिवार्यता का बोध होता है।

जन्म-मरण आदि में दुःख और दोष का विचार; कारण कि जन्मरहित ब्रह्म के अंश (जीव) का योनि और मल के साथ संबंध होना जन्म है और उसको भगवान् का विस्मरण होना मरण है। जरा अर्थात वृद्धावस्था से शक्ति क्षीण होती है और व्याधि में क्लेश होता है अतः उनमें दुःख और दोष का विचार करना उचित है।

पुत्र, पत्नी, गृह आदि में आसक्ति का अभाव; और उनके सुख-दुःख से अपने सुख-दुःख मानकर तन्मय न होना ही संग का अभाव है।

इष्ट अथवा अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति को भगवदिच्छा से प्राप्त जानना तथा वह उत्तम ही है ऐसा ज्ञान रखकर चित्त को सम रखना चित्त की समता है, और सब गुणों के हृदयरूप, उत्तम गुण मुझ (भगवान्) में अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति।

भगवतसेवा में अप्रतिबंधक विविक्त (एकाकी) एकांत स्थान का सेवन।

लोकों की सभा में अर्थात लौकिक सभा-सम्मेलनों में प्रीति का अभाव।

नित्य अध्यात्म ज्ञान अर्थात आत्मा के स्वरूप का नित्य ज्ञान। 'तत्त्वज्ञान' अर्थात भगवान् अथवा मोक्ष, उसका दर्शन अथवा विचार।

उक्त सभी गुण 'ज्ञान' कहे जाते हैं अर्थात ये गुण विद्या के कार्य हैं। इनसे विरूद्ध अज्ञान कहा जाता है अर्थात (वे) अविद्या के कार्य हैं।

इस प्रकार ज्ञान का उपदेश करके अब छह श्लोक से 'ज्ञेय' का बोध कराते हैं। (12 से 17 तक)

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन् नासदुच्यते।।12।।

अन्वय :

यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
ज्ञेयं - जानने योग्य; विधेय कर्म कृ. विशेषण, वि. 'यत्'
च - और; अव्यय
यत् - जिसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
ज्ञात्वा - जानकर; विधेय कृदंत
मनुष्यः - मानव
अमृतम् - अमृत को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
अश्नुते - भोगता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अश्' 5 गण, आत्मने
तत् - उसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.

प्रवक्ष्यामि - कहूँगा; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व.प्र. + वच् 2 गण, परस्मै
तत् - उस; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.
अनादिमत् - जिसका आदि नहीं; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
परम् - श्रेष्ठ; पर; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
ब्रह्म - ब्रह्म को; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ब्रह्मन्'
न - नहीं; अव्यय
सत् - सत्; व.कृ. विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
च न - और न ही; वि. 'तत्'
असत् - असत्; विशेषण, वि. 'तत्'
एव - मात्र; अव्यय
उच्यते - कहा जाता है; क्रि.व. कर्मणि वच् 2 गण, तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : जो ज्ञेय है उसके संबंध में कहता हूँ। ज्ञेय का स्वरूप जानने से मोक्ष प्राप्त होता है। वह अनादि मत्पर ब्रह्म है, उसको सत् अथवा असत् नहीं कहा जाता।

विवेचन : अब ज्ञेय के संबंध में विचार करते हैं। ज्ञेय का स्वरूप जानने से मोक्ष प्राप्त होता है। ज्ञानीजन शास्त्र ज्ञान से यही फल प्राप्त करते हैं। ज्ञेय, अनादि मत्पर ब्रह्म है। 'अनादिमत्' अर्थात आदिरहित, पर ब्रह्म ज्ञेय है। अथवा यह भी अर्थ घटित होता है कि 'अनादि' अर्थात आदिरहित और 'मत्पर' अर्थात मैं जिससे पर हूँ वैसा मेरा धामरूप अक्षरब्रह्म। श्री भागवत् के श्लोक 6/9/36 (4) के अनुसार सर्व विरूद्ध धर्मों का आश्रय होने से वह (ज्ञेय-ब्रह्म) सत् या असत् नहीं कहा जा सकता। वह सत् है या असत् है ऐसा निश्चय नहीं हो सकता अर्थात वह अत्यंत दुर्ज्ञेय है।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति।।13।।

अन्वय :

तत् – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

ब्रह्म – ब्रह्म; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.

सर्वतः पाणिपादम् – सब ओर से हाथ और पैर वाला; विशेषण, प्र.ए.व.नपु. ''सर्वतः पाणयः पादाः च यस्य इति'' बहु.

सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् – सब ओर से नेत्र, सिर और मुख वाला; नाम, प्र.ए.व.नपु.

च – और; अव्यय

सर्वतः श्रुतिमत् – सब ओर से कान वाला; नाम, प्र.ए.व.नपु.

अस्ति – है; क्रियापद

लोके – लोक में, संसार में; नाम, स.ए.व. 'लोक'

सर्वम् – सब को, सब का; द्वि.ए.व.नपु.

आवृत्य – घेरकर, व्याप्त करके; विधेय कृदंत

तिष्ठति – रहता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'स्था (तिष्ठ)' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : वह ब्रह्म सर्वतः पाणि और पाद वाला है, सर्वतः नेत्र, शिरः और मुखवाला है, सर्वतः श्रुति वाला है और लोक में सब को व्याप्त करके स्थित है।

विवेचन : वह ब्रह्म साकार है अथवा निराकार ऐसी शंका के बारे में कहते हैं कि उसको सर्वत्र हाथ और पैर हैं। ''सर्वतः पाणि पादान्तम्'' – ऐसा पाठ भी प्राप्त होता है। उसका अर्थ है कि ''उसके पाणि और पाद सर्वत्रांत हैं।'' अतः सर्वत्र गति और क्रिया में वह समर्थ है। उसके सर्वत्र चक्षुः, शिर और मुख हैं जिससे उसे सर्वत्र ज्ञान और भोग संभव है और वह सर्वत्र प्रधान है। वह सर्वत्र श्रुति अर्थात कर्ण वाला है अर्थात वह सर्वत्र श्रवण करता है। इस प्रकार होने पर भी वह परिच्छिन्न नहीं है अपितु लोक में व्याप्त है अर्थात वह (सर्व) व्यापक है। उक्त गुण जगत की उत्पत्ति के पश्चात् ही स्पष्ट होते हैं फिर भी नित्य हैं – ऐसा पहले बताया जा चुका है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।14।।

अन्वय :

तत् ब्रह्म – वह ब्रह्म; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

सर्वेन्द्रियगुणाभासम् –सर्व इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला; विशेषण, वि. 'ब्रह्म' ''सर्वेषाम् इन्द्रियाणाम् गुणानाम् आभाः यस्मिन् इति तत्'' बहु.

च, एव – और, अतिरिक्त; अव्यय

सर्वेन्द्रियविवर्जितम् – सब इन्द्रियों से रहित; विशेषण, वि. 'ब्रह्म' सर्वैः इन्द्रियैः विवर्जितम् इति'' तत्पु.

च – और; अव्यय

असक्तम् – आसक्तिरहित; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'

निर्गुणम् – गुणों से अतीत; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'

सन्नपि – होने पर भी; क्रि. अव्यय

सर्वभृत् – सब को धारण करने वाला और पोषण करने वाला; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'

च – और; अव्यय

गुणभोक्तृ – गुणों को भोगने वाला; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'

अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : वह सर्व इन्द्रियों के गुणों के आभास वाला और सर्व इन्द्रियों से रहित है, असक्ति रहित, उसी तरह सबको धारण करने वाला है। निर्गुण होकर भी गुणों का भोग करने वाला है।

विवेचन : ब्रह्म अनंत और अव्यक्त होने से उसके पाणि और पाद सर्वत्रांत तथा (सब ओर) अक्षि, शिर, मुख और श्रुति हैं। अतः वह सर्वत्र सब कार्य करता है। श्रुति कहती है कि ''वह पाणि और पाद रहित दौड़ने वाला और ग्रहण करने वाला है। वह चक्षुरहित देखता है और कर्णरहित श्रवण करता है।'' इससे बोध होता है कि ब्रह्म को प्राकृत इन्द्रियाँ न होकर सर्व अप्राकृत अर्थात दिव्य

इन्द्रियाँ हैं। ठीक इसी प्रकार इस श्लोक में भी कहते हैं कि ब्रह्म सब इंद्रियों के गुणों के आभास वाला है लेकिन प्राकृत इन्द्रियमात्र से रहित है। इस प्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म में अन्य विरूद्ध धर्म विद्यमान हैं। ब्रह्म आसक्तिरहित होकर भी सब को धारण करने वाला है; ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी गुणों का भोग करने वाला है।

बहिरन्तश्च भूतानाम् अचरं चरमेव च।।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।15।।

अन्वय :

भूतानाम् - प्राणियों के; नाम, ष.ब.व.नपु. 'भूत'
बहिः अन्तः च - बाहर, अंदर, और; अव्यय
अचरम् - स्थावर; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
एव, च - अतिरिक्त; और; अव्यय
चरम् - जंगम; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
तदेवास्ति - वह ही है; क्रियापद
तत् - विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
सूक्ष्मत्वात् - सूक्ष्म होने के कारण; नाम, पं.ए.व.नपु.
अविज्ञेयम् - नहीं जानने योग्य; विशेषण, वि. ''ब्रह्म'' विधेय, कर्मणि, कृदंत।
च - और; अव्यय
तत् - वह; विशेषण, वि. ''ब्रह्म''
अन्तिके च - पास में, और; अव्यय
दूरस्थम् - दूर रहा हुआ; विशेषण. वि. 'ब्रह्म'
अपि अस्ति - भी है; अव्यय, क्रियापद

श्लोकार्थ : वह (ब्रह्म) सभी भूतों के बाहर और अंदर (स्थित) है, अचर और चर है, सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा दूर भी है और समीप भी है।

विवेचन : ब्रह्म भोग करने वाला अथवा भोक्तृ है तो वह व्यापक नहीं हो सकता ऐसी शंका के संबंध में कहते हैं कि वह भूतों के बाहर और अंदर स्थित है। स्थिर तथा जंगम भूतों के भोक्ता के रूप में वह भूतों के बाहर है। आत्मरूप से वह सब के अंदर है। इस प्रकार ब्रह्म भूतों के अंदर और बाहर होने पर भी भूतों से भिन्न होने से व्यापक नहीं है- ऐसी शंका को दूर करने के लिए स्पष्ट करते हैं कि वह अचर और चर है। 'अचर' अर्थात स्थावर और 'चर' का अर्थ है जंगम। स्थावर तथा जंगम सब ब्रह्म ही है। श्रुति से यह बोध होता है कि ब्रह्म स्थावर है - ''हे सौम्य! यह पूर्व में सत् ही था।'' श्रुति बोध कराती है - ''हे श्वेतकेतु! वह तू है।'' इसी प्रकार श्रुति यह भी बोध कराती है कि जंगम जीव भी ब्रह्म है। यहाँ मूल (श्लोक) में ''एव च = वह ही'' कहा गया है अतः अर्थ यह है कि स्थावर ब्रह्म जंगम है और जंगम ब्रह्म ही स्थावर है। अतः यह दर्शाया गया है कि वह विरूद्ध धर्मों का आश्रय है। ब्रह्म भूतों से भिन्न नहीं है अपितु स्थावर - जंगम सभी भूत ब्रह्म ही हैं। इतने पर भी ब्रह्म का सबको ज्ञान नहीं होता क्योंकि ब्रह्म सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है। अतः पूर्वकथित ज्ञान के गुण जिसमें होते हैं उसको ही ब्रह्म का ज्ञान होता है। साथ ही ब्रह्म दूर भी है और समीप भी है। यहाँ भी यह बोध कराया गया है कि वह विरूद्ध धर्मों का आश्रय है। यह श्लोक ब्रह्म के विरूद्ध धर्मों का ज्ञापक है। ''यह चलायमान है, वह अचल है, वह दूर है, वह समीप है, वह सब के अंदर है और बाहर भी है'' - श्रुति भी यही बोध कराती है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।16।।

अन्वय :

च - और; अव्यय
अविभक्तम् - अखण्ड; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
च - और; अव्यय
भूतेषु - भूतों में; नाम, स.ब.व.नपु.

विभक्तम् - विभक्त, विभागों में; विशेषण वि. 'ब्रह्म'
इव - सदृश; अव्यय
स्थितम् -रहा हुआ, प्रतीत हुआ; विशेषण, वि. 'ब्रह्म' भू.कृ.
भूतभर्तृ - भूतों का पोषण करने वाला, विष्णुरूप; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
तदेवास्ति - वह ब्रह्म ही है; क्रियापद
च - और; अव्यय
तत् - वह; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
ज्ञेयम् - जानना चाहिए; विधेय कर्मणि कृदन्त, विशेषण, वि.'ब्रह्म'
ग्रसिष्णु - ग्रसने वाला, संहार करने वाला, रूद्ररूप; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
च - और; अव्यय
प्रभविष्णु - उत्पन्न करने वाला, ब्रह्मा; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
अप्यास्ति - भी है; क्रियापद, अव्यय

श्लोकार्थ : वह (ब्रह्म) अविभक्त होते हुए भी भूतों में विभक्त की भांति स्थित है। वह ज्ञेय भूतों का पालक, संहारक और उत्पादक है।

विवेचन : पूर्वोक्त श्लोक में ब्रह्म को सब के अंदर और बाहर, दूर और समीप बताया गया है जिससे शंका होती है कि वह अलग-अलग अवयवों से अलग-अलग स्थलों पर रहता होगा। ऐसी शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि ब्रह्म सर्व भूतों में अविभक्त रूप से एक ही है फिर भी विभक्त अर्थात पृथक्-पृथक् की भांति स्थित है, अर्थात ब्रह्म की अनन्त मूर्तियाँ एक ही हैं, उनमें परस्पर भेद नहीं है बल्कि अपनी इच्छा से ही अमुक-अमुक स्वरूप से प्रकट होता होने से पृथक्-पृथक की भांति प्रतीत होते हुए स्थित है। ब्रह्म, पालक रूप से भूतों का पालन करने वाला, संहारक रूप से भूतों को ग्रसने वाला और प्रजापति रूप से भूतों का उत्पादक है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते।।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।।17।।

अन्वय :
तम् - वह ब्रह्म; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
ज्योतिषाम् - ज्योतियों के; नाम, ष.ब.व.नपु. 'ज्योतिस्'
अपि - भी; अव्यय
ज्योतिः - ज्योति; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
च - और; अव्यय
तमसः - तमस से, माया से, अंधकार से; नाम,पं.ए.व.नपु. 'तमस्'
परम - पर, श्रेष्ठ, दूर, उतम; विशेषण, वि. 'वच्'
अपि तदेव - भी, वह ही; अव्यय
उच्यते - कहा जाता है; क्रि.व. कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'ब्रह्म' 2 गण
ज्ञानम् - ज्ञानरूप ; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
ज्ञेयम् - जानने योग्य; विध्यर्थ कृदन्त, विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
ज्ञानगम्यम् - तत्वज्ञान से प्राप्त होने वाला; विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
च - और; अव्यय ।
सर्वस्य - सब के; नाम, ष.ए.व.पु.
हृदि - हृदय में; नाम, स.ए.व.नपु.'हृद्'
धिष्ठितम् - रहे हुए, स्थित; भू.कृ.विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
अपि तदेवास्ति - भी वही है; क्रियापद

श्लोकार्थ : वह ब्रह्म ज्योतियों की परम ज्योति है, तमः से पर है, वह ज्ञान है, ज्ञेय है, ज्ञान से प्राप्य है और सब के हृदय में स्थित है।

विवेचन : ज्योतिः अर्थात प्रकाश करने वाला-प्रकाशक। रवि, चन्द्र आदि प्रकाश करने वालों को भी वह ज्योति देने वाला अथवा प्रकाशक है। अतः मूल प्रकाशक वही है। वह तमः प्रकृति से पर है; वह ज्ञान, अर्थात जिससे ज्ञान प्राप्त होता है उस ज्ञान के साधन रूप अमानित्व (अपने गुणों की उत्तमता के वर्णन में आनंद न मानना) आदि पूर्वोक्त गुण भी वह (ब्रह्म) ही है। साथ ही वह

ज्ञेय अथवा जानने योग्य है तथा ज्ञान से प्राप्य भी वही है। वह सब के हृदय में स्थित है अर्थात अंतर्यामी भी वही है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।। 18।।

अन्वयः

इति – इस प्रकार, इसके अनुसार; अव्यय
क्षेत्रम् – क्षेत्र, शरीर; नाम, प्र.ए.व.नपु.
तथा – और; अव्यय
ज्ञानम् – ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ज्ञान'
च – और; अव्यय
ज्ञेयम् – जानने योग्य, ब्रह्म; विधेय , कर्मणि कृदन्त, विशेषण, वि.'ब्रह्म'
समासतः – संक्षेप में; अव्यय
उक्तम् – कहा गया; भू.कृ.विशेषण, वि. 'ब्रह्म'
एतद् – इसको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
विज्ञाय – जानकर; विधेय कृदन्त
मद्भक्तः – मेरा भक्त; नाम, प्र.ए.व.पु.'मद्भक्त' ।
मद्भावाय – मेरे भाव के लिए; नाम, च.ए.व.पु.
उपपद्यते – योग्य बनाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. उप+पद् 4गण

श्लोकार्थ : इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के संबंध में तुझे संक्षेप से बताया है। मेरा भक्त इसको जान लेने पर मेरे भाव के योग्य होता है।

विवेचन : इस प्रकार (5 और 6 श्लोक से) क्षेत्र, (7 से 11 श्लोक तक) ज्ञान, और (12 से 17 श्लोक तक) ज्ञेय के बारे में संक्षेप से कहा। इन सब का ज्ञान प्राप्त करके मेरा भक्त मेरे भाव के लिए अर्थात ऐश्वर्य आदि मेरे गुणों को प्राप्त करने योग्य होता है।

प्रकृतिं पुरूषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।। 19।।

अन्वयः

प्रकृतिम् – प्रकृति, त्रिगुणमयी माया; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. ।
च एव – और, इसके अतिरिक्त; अव्यय
पुरूषम् – पुरूष को, क्षेत्रज्ञ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'पुरूष' ।
उभौ अपि – दोनों को भी; सर्वनाम, द्वि.द्वि.व.पु. अव्यय
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'।
अनादी – जिसका आदि नही हैं; विशेषण, वि. 'उभौ'
विद्धि – जान, समझ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै।
च – और; अव्यय
विकारान् – विकारों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'विकार' ।
च एव – और , इसके अतिरिक्त; अव्यय
गुणान् – गुणों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'गुण'
प्रकृतिसम्भवान् – प्रकृति से उत्पन्न हुए; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'प्रकृतिः सम्भवः येषाम्'
विद्धि – जान; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण,परस्मै

श्लोकार्थ : प्रकृति और पुरूष दोनों को तू अनादि जान और विकारों तथा गुणों को भी तू प्रकृति से उत्पन्न जान।

विवेचन : पीछे तीसरे श्लोक में (भगवान् ने) पुरूष तत्व के संबंध में बताने की प्रतिज्ञा की। प्रकृति और आत्मा (पुरूष)दोनों अत्यंत अलग -अलग स्वभाव वाले होने पर भी उनके कारण के स्वरूप से एक हैं। इस श्लोक से आरंभ कर पाँच श्लोक तक यह बताते हैं कि दोनों(प्रकृति और पुरूष) इस सर्व जगत के कारण है।

इनमें से आत्मा से अलग प्रकृति, एकदेशीय सांख्य-मत (पुरूष को विश्व का नियंता और स्रष्टा न मानकर मात्र द्रष्टा मानना) के अनुसार पुरूष की भांति नित्य है। भगवादीय सांख्य के अनुसार तो वह भगवान् की एक शक्ति है।

एकदेशीय सांख्यशास्त्र तो भगवान् का प्रतिपादन नहीं करता। इसके अतिरिक्त इस सांख्य शास्त्र के अनुसार पुरूष को संसार प्राप्त ही है इसलिए वह प्रकृति के वश होता है जबकि भगवान् प्रकृति को वश में रखने वाले हैं। अतः इस सांख्य शास्त्र की प्रवृत्ति अक्षर तक ही है।

(भगवदीय सांख्य शास्त्र के अनुसार) पुरूषोत्तम, अक्षर, काल, प्रकृति और पुरूष - ये पाँच अनादि है। इसके अनुसार काल, प्रकृति और पुरूष का अनादि होना स्पष्ट है। पुरूषोत्तम और अक्षर को गीता में अनादि कहा गया है। यह इस शास्त्र में स्वीकार किया गया है। श्रीभागवत के अध्याय 3/26/4 में इस शास्त्र का निरूपण करते हुए प्रकृति को 'दैवी' कहा गया है। अतः प्रकृति का भगवान् की शक्ति होना भी इस शास्त्र को मान्य है। इस शास्त्र की प्रवृत्ति इस सिद्धांत के अनुसार हुई होने से श्री भागवत के अध्याय 3/26 में उल्लिखित सांख्य, प्राकृतसांख्य के आधार वाला नहीं है।

प्रकृति दो प्रकार की है - 1. कार्य रूप और 2. कारण रूप । कार्य रूप प्रकृति अविद्यायुक्त जीवात्मा की उपाधि, और कारण रूप प्रकृति परमात्मा की माया। इसी प्रकार पुरूष के भी दो प्रकार हैं - 1. कारण और 2. कार्य। कारण पुरूष अर्थात अंशी मूलपुरूष भगवान। कार्यपुरूष अर्थात कारण रूप के कार्य - अंश, जीवात्माएँ । जीवात्मा, भगवादिच्छा से प्राप्त होती कार्य रूप प्रकृति का सेवन करता है। ये दोनों भगवान के अंश रूप हैं। प्रकृति स्वभाव से सद्रूप है और पुरूष चिद्रूप है। दोनों अपने कारणस्वरूप भगवान् से अनन्य होने से अनादि ही हैं - ऐसा जान। जीव के बंधन के कारणरूप इच्छा-द्वेष आदि विकार तथा मोक्ष के कारणरूप सत्त्व आदि गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं - ऐसा जान ।

जब प्रभु की सर्ग(सृष्टि) करने की इच्छा होती है तब भगवान के अंशरूप-भगवान की माया के अंशरूप, गुणरूप प्रकृति मूलभूत अक्षर के अंश, पुरूष के साथ संसृष्ट (मिलकर) होकर महान् अहंकार आदि रूप (उत्पन्न) होते हैं। कार्यरूप प्रकृति अविद्या से अध्यस्त होकर अपने इच्छा-

द्वेष आदि विकारों के कारण जीवत्मा के लिए बंधन रूप होती परंतु उसके अमानित्व आदि ज्ञानसाधन गुणों से पूर्वकथित ज्ञान प्राप्त हो तो वह अपने विकारों से जीवात्मा को मोक्ष प्राप्त कराती है- यह अर्थ संकेतित है।

कार्य-करण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरूच्यते ।।
पुरूषः सुख-दुखानां भोक्तृत्वे हेतुर् उच्यते ।।20।।

अन्वयः

कार्य-करण-कर्तृत्वे - कार्य के करण के कर्तृत्व में; नाम, स.ए.व.नपु.
हेतुः - हेतु; नाम, प्र.ए.व.पु. 'हेतु'
प्रकृतिः - प्रकृति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
उच्यते - कही जाती है; क्रि.व.कर्मणि तृ.पु.ए.व. 'वच्' 2गण ।
च - और; अव्यय
सुखदुःखानाम् - सुख और दुःख के; नाम, ष.ब.व.नपु.
भोक्तृत्व - भोक्तापन में; नाम, स.ए.व.नपु.' भोक्तृत्व'
पुरूषः - पुरूष; नाम, प्र.ए.व.पु. 'पुरूष' ।
हेतुः - हेतु; नाम, प्र.ए.व.पु.'हेतु' ।
उच्यते - कहा जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.कर्मणि 'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : कार्य के कर्तापन में प्रकृति हेतु कही जाती है । सुख और दुःख के भोक्तापन में पुरूष हेतु कहा जाता है।

विवेचन : सृष्टि में पुरूष और प्रकृति से क्या-क्या कार्य होते हैं वह कहते हैं। बंधन के कारण इच्छा-द्वेष आदि विकारों और मोक्ष के कारण सत्व आदि गुणों के कर्तापन में अर्थात बंधन और मोक्ष के कारण रूप विकारों को उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है। अतः पुरूष से अधिष्ठित प्रकृति इन कारणों को (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध-कार्य-करण-उपस्थ, गुह्य, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद) उत्पन्न करती है। पूर्व में श्लोक 19 में भी कहा गया है कि ये

कारण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। उसमें पुरूष प्रकृति को मात्र चैतन्य करता है। सुख और दु:ख के भोक्तापन में पुरूष हेतु कहा जाता है। प्रकृति से उत्पन्न हुए विकार और गुणों से प्राप्त सुख अथवा दु:ख प्रकृति के साथ संसृष्ट (मिलकर) होकर, पुरूष भोगता है। विकार अथवा गुणों की उत्पत्ति तथा सुख-दु:ख का भोग- ये दोनों वस्तुत: क्षेत्र अथवा देह के ही धर्म हैं परंतु विकारों और गुणों का पर्यवसान जड़ में होने से उनकी उत्पत्ति में क्षेत्र का प्राधान्य है। अत: उनको प्रकृति से उत्पन्न कहा है और सुख तथा दु:ख के भोग का पर्यवसान चेतन में होने से एवं उनमें चेतन का प्राधान्य होने से भोग का हेतु पुरूष को कहा गया है। वस्तुत: पुरूष और प्रकृति के संयोग बिना कोई कार्य नहीं होता।

पुरूष: प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्-योनि-जन्मसु ।। 21।।

अन्वय:

हि - निश्चित; अव्यय ।
पुरूष: - पुरूष, जीवत्मा; नाम, प्र.ए.व.पु.
प्रकृतिस्थ: - प्रकृति में(स्थित)रहने वाला; विशेषण, वि.'पुरूष:'
प्रकृतिजान् - प्रकृतिजन्य; विशेषण,वि. 'गुणान्'
गुणान् - गुणों को; नाम,द्वि.ब.व.पु.'गुण'
भुंक्ते - भोगता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भुज्' 7 गण, आत्मने
गुणसङ्ग: - गुण का संग, गुण का संपर्क; नाम, प्र.ए.व.पु.'गुणसङ्ग'
एव - ही; अव्यय
अस्य - इसका, जीव का; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'इदम्'
सद् - असद् योनिजन्मसु - अच्छी और खराब जाति में; नाम, स.ब.व.नपु.
कारणम् - कारण; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'कारण' ।
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : प्रकृति में रहकर, पुरूष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है। इसका गुणों से संग ही उत्तम अथवा अधम योनि में जन्म का कारण है।

विवेचन : पुरूष और प्रकृति के पृथक् -पृथक् कार्य कहकर अब बताते हैं कि प्रकृति के परिणमरूप क्षेत्र के संसर्ग से ही पुरूष भोक्ता होता है। पुरूष प्रकृति में अर्थात प्रकृति के परिणामरूप क्षेत्र में रहकर प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व आदि गुणों का प्रकृति की कार्यरूप इंद्रियों से भोग करता है। जीव इस प्रकार गुणों का भोग करता है परंतु भोग किए बिना अन्तर्यामी की भांति नहीं रहता। इस प्रकार प्रकृति के संसर्ग से पुरूष के अक्षरस्वभाव का तिरोधान होता है और प्रकृति के गुणों के साथ उसका संग होने से वह अच्छी या बुरी योनि में जन्म लेता है। इस प्रकार पुरूष का अच्छी या खराब योनि में जन्म का कारण उसका प्रकृति के साथ संग ही है - ऐसा जानना चाहिए ।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर: ।।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरूष: पर: ।। 22।।

अन्वय:

पुरूष: - पुरूष; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
अस्मिन् - इस; सर्वनाम, स.ए.व.नपु. 'इदम्'
देहे - शरीर में; नाम, स.ए.व.नपु. 'देह' ।
स्थित: - स्थित हुआ; क्रियापद
अपि - भी; अव्यय
पर: - पर, श्रेष्ठ;
परमात्मा - उत्तम; विशेषण, वि. 'पुरूष:' ।
एवास्ति - ही है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
च - और; अव्यय (अयमेव पुरूष: = यह पुरूष ही)
उपद्रष्टा - देख-रेख करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'उप+द्रष्ट्'
अनुमन्ता - देख रेख करने वाला, सम्मति देने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.'अनुमन्तृ'
भर्ता - धारण करने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भर्तृ' ।
भोक्ता - भोगने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. 'भोक्तृ'

महेश्वरः - महेश्वर; नाम, प्र.ए.व.पु.'महेश्वर' ।
च -और; अव्यय
परमात्मा - परमात्मा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'परमात्मन्' ।
इति - इस प्रकार; अव्यय
उक्तः - कहा गया; भू.कृ.विशेषण, वि. 'पुरूषः'
अस्ति - है; क्रियापद, व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : इस देह में उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर तथा परमात्मा कहलाता हुआ दूसरा पुरूष भी है।

विवेचन : यहाँ अंतर्यामी का निरूपण किया गया है। ''दो साथ रहने वाले मित्र पक्षी एक वृक्ष पर रहते हैं, उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल(फल)खाता है और दूसरा किसी प्रकार की बाधा के बिना देखा करता है।'' श्रुतिकथित वृक्षरूपी इस देह में जीव से अन्य 'परमात्मा' परपुरूष' कहा जाने वाला दूसरा पुरूष 'अन्तर्यामी' है। यह अन्तर्यामी असंग है। जीव सङ्ग वाला है, अन्तर्यामी संगरहित रहता है। इसलिए वह 'परपुरूष, परमात्मा' इत्यादि कहा जाता है। वह उपद्रष्टा अथवा साक्षी है। वह भोग का संग नहीं करता परंतु वह मुख्य भोक्ता है। वह अनुमन्ता अथवा अनुमति देने वाला 'भर्ता' अर्थात धारण करने वाला अथवा पालक और 'महेश्वर' अथवा नियम में रखने वाला है। वह इस देह में प्रतिष्ठित होने पर भी भोग का संग नहीं करने से निर्लिप्त है। प्राण धारण करने वाला जीव भोग के संग से लिप्त हो जाता है पर यह अंतर्यामी लेपरहित अर्थात निर्लिप्त रहता है।

य एवं वेत्ति पुरूषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। 23।।

अन्वयः
एवम् - इस प्रकार; अव्यय
पुरूषम् - पुरुष को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'पुरुष'
च - और; अव्यय

गुणैः - गुणों से; नाम, तृ.ब.व.पु. 'गुण'
सह - के साथ; अव्यय
प्रकृतिम् - प्रकृति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.'प्रकृति'
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'
वेत्ति - जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'
सर्वथा - भली-भांति; अव्यय
वर्तमानः - बर्ताव करता हुआ भी; व.कृ.विशेषण, वि. 'यः'
अपि भूयः न - भी पुनः नहीं; अव्यय
अभिजायते - जन्म लेता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अभि+जन्' 4गण, आत्मने

श्लोकार्थ : जो इस प्रकार पुरूष को तथा गुणों के साथ प्रकृति को जानता है वह सर्वथा वर्तमान (आसक्त पुरूष की भांति बर्ताव करते हुए भी) होने पर भी पुनः जन्म नहीं लेता।

विवेचन : इस प्रकार वस्तुतः अक्षर के प्रभाव वाले, क्षेत्रज्ञ, ब्रह्म के अंशरूप, चेतन, जीवरूप तथा अन्तर्यामीरूप दोनों प्रकार के पुरूष को जो स्वरूप से विविक्त (पृथक्) अथवा प्रकृति के संगरहित निर्गुण रूप में जानता है तथा गुणों के साथ प्रकृति रही हुई है ऐसा जो जानता है वह सर्वथा देह में रहने पर भी अथवा सर्वथा गुणों के साथ रहते हुए भी पुनः जन्म नहीं लेता। वह गुण प्रवाह रूपी संसार में पुनः नहीं आता परंतु मुक्ति प्राप्त करता है- ऐसा अर्थ है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिद् आत्मानम् आत्मना ।।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।24।।

अन्वयः
आत्मानम् - आत्मा को, परमात्मा को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
केचित्- कितने ही; नाम,प्र.ब.व.पु. 'किञ्चित'
आत्मना - आत्मा से, शुद्धि बुद्धि से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'आत्मन्'

ध्यानेन – **ध्यान से;** नाम, तृ.ए.व.नपु. 'ध्यान'
आत्मनि – **आत्मा में, हृदय में;** नाम,स.ए.व.पु. 'आत्मन्'
पश्यन्ति – **देखता है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'दृश्'(पश्य), 1 गण परस्मै
अन्ये – **दूसरा;** सर्वनाम,प्र.ब.व.पु.
साङ्ख्येन – **सांख्य से;** विशेषण, वि.'योगेन'
योगेन – **योग से; ज्ञान योग से;** नाम, तृ.ए.व.पु.'योग'
च – **और;** अव्यय
अपरे – **दूसरा;** सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.'अपर'
कर्मयोगेन – **कर्मयोग से;** नाम, तृ.ए.व.पु.
पश्यंति – **देखते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. दृश् (पश्य) 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : कितने ही ध्यान से आत्मा में आत्मा से आत्मा को देखते हैं; दूसरे सांख्ययोग से तथा अन्यान्य कर्मयोग से देखते हैं।

विवेचन : यथोक्त ज्ञानमात्र से ही मुक्ति हो जाए तो दूसरे साधन निरर्थक हो जाते हैं – इस शंका के निवारणार्थ यहाँ से दो श्लोक से (24 व 25) अन्य साधन कहते हैं। कई ज्ञानीजन आत्मा में अर्थात अपने हृदय में, आत्मा से अर्थात मन से, आत्मा को अर्थात आत्मरूप भगवान् को, ध्यानरूप साधन से देखते हैं। अन्य, सांख्य योग के अनुसार अर्थात नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेकरूप योग से देखते हैं। अथवा अन्य सांख्य से अर्थात नित्यानित्य वस्तुओं के विवेकरूप साधन से आत्मा को देखते हैं और अन्यान्य योग से अर्थात धारणा, ध्यान, समाधि, आदि अष्टांगयोग रूप साधन से आत्मा को देखते हैं और कितने ही अन्य कर्मयोग से अर्थात निष्काम कर्म कर आत्मा को देखते हैं।

अन्ये त्वेवम् अजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। 25।।

अन्वयः
तु – **पर;** अव्यय

अन्ये – **अन्य;** सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'अन्य'
एवम् – **इस प्रकार, तो भी;** अव्यय
अजानन्तः – **नहीं जानने वाले;** नाम, प्र.ब.व.पु.'अजानत्'
अन्येभ्यः – **दूसरों के पास से;** सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ।
श्रुत्वा – **सुनकर;** विधेय कृदन्त
उपासते – **सेवा करते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'उप+आस्' 2गण, आत्मने
च – **और;** अव्यय
ते – **वे;** सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
श्रुतिपरायणाः – **श्रवणपरायण;** विशेषण, वि.'अन्ये' ।
अपि – **भी;** अव्यय
मृत्युम् – **मृत्यु को;** नाम, द्वि.ए.व.पु.'मृत्यु'
अतितरन्ति – **तर जाता है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. अति+तृ 1गण, परस्मै
एव – **ही; मात्र;** अव्यय

श्लोकार्थ : दूसरे जो ऐसा (ऊपर कहे साधनों को) नहीं जानते वे अन्य से सुनकर उपासना करते हैं। वे श्रुतिपरायण भी मृत्यु को निश्चय ही तर जाते हैं।

विवेचन : अत्यल्प अधिकार वाले दूसरे (मनुष्य) स्वयं को ज्ञान अथवा अनुभव न होने पर भी गुरू इत्यादि अन्य के पास से श्रवण करके आत्मा की उपासना करते हैं। इस प्रकार श्रुति में कहे अनुसार श्रद्धा से उपासना करने वाले भी मृत्यु अर्थात संसार से तर जाते हैं अर्थात मुक्त हो जाते हैं।

यावत् सञ्जायते किञ्चित सत्वं स्थावर – जङ्गमम् ।।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ! ।। 26।।

अन्वयः
भरतर्षभ – **हे भरतर्षभ** ! सम्बोधन ।
यावत् – **जितने, जो भी;** विशेषण, वि. 'सत्त्वम्'
किञ्चित – **कुछ भी;** विशेषण, वि. 'सत्त्वम्' ।
स्थावरजंगमम् – **स्थावरजंगम;** विशेषण, वि. 'सत्त्वम्'

सत्त्वम् - सत्त्व; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'सत्त्व'
सञ्जायते - उत्पन्न होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'सम+जन्' 4गण,आत्मने
तत् - उनको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'तत्' ।
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मद्'
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् - प्रकृति और पुरूष के संयोग से; नाम, पं.ए.व.पु.'क्षेत्रम् क्षेत्रज्ञः च तयोः संयोगात्' तत्पु.
विद्धि - जान; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भरतर्षभ ! जो भी स्थावर और जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से होते हैं - ऐसा जान ।

विवेचन : प्रकृति से संसृष्ट हुए आत्मा से अर्थात प्रकृति और पुरूष के संयोग से ही स्थावर अथवा जंगम वस्तु मात्र की उत्पत्ति होती है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग होता है तब ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। केवल क्षेत्र अथवा केवल क्षेत्रज्ञ से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। 27।।

अन्वयः
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
विनश्यत्सु - विनाश को प्राप्त होते हुए; व.कृ.विशेषण, वि.' भूतेषु'
सर्वेषु - सब में; विशेषण, वि.' भूतेषु' ।
भूतेषु - भूतों में; नाम, स.ब.व. 'भूत'
अविनश्यन्तम् - नाश को प्राप्त नहीं होता; व.कृ.विशेषण,वि. 'परमेश्वरम्'
परमेश्वरम् - परमेश्वर को; नाम,द्वि.ए.व.पु. ।
समम् - समरूप; विशेषण, वि. 'परमेश्वरम्'
तिष्ठन्तम् - स्थित; व.कृ.विशेषण,वि. 'परमेश्वरम्'
पश्यति - देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'दृश्' (पश्य्) 1गण, परस्मै
सः - वह; 'सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.' ।

एव यथार्थम् - ही सत्य
पश्यति - वह देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य्) 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सब भूतों में समान रूप से स्थित और नष्ट होते हुए (प्राणियों) में विनाश को प्राप्त न होते परमेश्वर को जो देखता है वही (यथार्थ में) देखता है।

विवेचन : भली-भांति बोध हो सके, इसलिए यहाँ से पुनः आत्मदर्शन कहते हैं। आत्मा तीन प्रकार का है- 1.अंतर्यामी 2. पुरूष 3. अव्यक्त।

यहाँ से पहले दो श्लोक (27-28)में बताते हैं कि अंतर्यामी के दर्शन से क्या फल होता है। सभी भूतों में समान रूप से रहने वाले परमेश्वर अंतर्यामी को जो देखता है तथा विनाश को प्राप्त होती प्रकृति में कार्य रूप शरीर में नष्ट न होने वाले (अविनाशी) और 'ज्ञाता' के रूप में समान आकार वाले अंतर्यामी को जो देखता है वह सत्य देखता है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ।। 28।।

अन्वयः
हि- निश्चय; अव्यय ।
सः - वह पुरूष; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तत्' पु.
सर्वत्र - सब जगह; अव्यय ।
समवस्थितम् - समानता से रहने वाला; विशेषण, वि.'ईश्वरम्'
ईश्वरम् - ईश्वर को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'ईश्वर' ।
समम् - सम, समान; विशेषण, वि. 'ईश्वरम्'
पश्यन्- देखने वाला (मनुष्य); व.कृ.विशेषण,वि.'यः'
आत्मना - आत्मा से, माया से; नाम, तृ.ए.व.पु.'आत्मन्'।
न - नहीं; अव्यय
आत्मानाम् - स्वयं को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'आत्मन्'
न नहीं; अव्यय

हिनस्ति – हिंसा करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'हिंस्' 7गण, परस्मै।
ततः – पश्चात; अव्यय
पराम् – पर, उत्तम; विशेषण, वि. 'गतिम्'
गतिम् – गति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'गति' ।
याति – जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'या' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सर्वत्र सम्यक् रूपेण स्थित ईश्वर को समान रूप से देखने वाला आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता ।इसलिए परा गति को प्राप्त होता है।

विवेचन : सर्वत्र सम्यक् रूपेण स्थित (व्याप्त)ईश्वर – अंतर्यामी को सर्वत्र समान देखने वाला आत्मा से आत्मा की हिंसा नही करता अर्थात आत्मा के संबंध में अन्यथा नहीं जानता अपितु यथार्थ जानता है। आत्मा का अन्यथा ज्ञान ही आत्मा का हनन है। श्रुति कहती है कि ''अन्यथा जानने वाला आत्मा को अन्यथा जानता है, उस आत्मापहारी चोर ने क्या पाप नहीं किया ?'' । अतः आत्मा का अन्यथा ज्ञान ही आत्म हनन है। आत्मा को सर्वत्र समान देखने वाला आत्मा का हनन नहीं करता अर्थात आत्मा को यथार्थ जानता है। अतः आत्मा को यथार्थ जानने वाला होने से वह सच्चिदानंद भगवद्धाम अक्षर रूप परा गति को प्राप्त करता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानम् अकर्तारं स पश्यति ।। 29।।

अन्वयः
तथा – और; अव्यय ।
यः – जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.पु.
कर्माणि – कर्मो को; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'कर्मन्' ।
सर्वशः – सब प्रकार से; अव्यय
प्रकृत्या – प्रकृति से; नाम, तृ.ए.व.स्त्री. 'प्रकृति' ।
एव – ही; मात्र; अव्यय ।
क्रियमाणनि – किए जाते; विशेषण,वि. 'कर्मणि' ।
पश्यति – देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1गण, परस्मै ।

च – और; अव्यय
आत्मानम् – अपने आप को, आत्मा को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'आत्मन्'
अकर्तारम् – अकर्ता; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'अकर्तृ'
पश्यति – देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1गण, परस्मै
सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'
पश्यति – वह देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'दृश्' (पश्य) 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सभी प्रकार से प्रकृति से ही कर्म होते हैं तथा आत्मा अकर्ता है – जो इस प्रकार देखता है। (वस्तुतः) वही देखता है।

विवेचन : अब द्वितीय प्रकार के आत्मा – पुरूष के ज्ञान का फल कहते हैं। कर्म सर्वशः (सब प्रकार से) प्रकृति से ही होते हैं और आत्मा वस्तुतः अकर्ता है – जो ऐसा देखता है वह सत्य देखता है। कर्म करने में चेष्टा की आवश्यकता होती है। चेष्टा प्रकृति का गुण है। इसलिए कर्म करने में अर्थात कर्तत्व में चेष्टा आवश्यक होने से कर्तृत्व प्रकृति के अधीन है। अतः प्रकृति से ही सब कर्म होते हैं। ऐसा कर्तृत्व केवल जीवस्वरूप – अण्वाकार चिद्रूप आत्मा में संभव नहीं है । यह प्राकृत कर्तृत्व है। पुरूष श्रीपुरूषोत्तम का अंश होने से और श्रीपुरूषोत्तम मुख्य कर्ता होने से पुरूष में श्रीपुरूषोत्तमभाव के अनुसंधान से ही कर्तृत्व संभव हो सकता है। स्थूल और सूक्ष्मदेह की उपधिवाला पुरूष जो कर्म करता है वे वस्तुतः पुरूष के कर्म नहीं हैं अपितु प्रकृति के हैं। यह कर्तृत्व भी प्राकृत है। यह पुरूष में नहीं बल्कि प्रकृति में रहा हुआ है। अतः जो आत्मा– पुरूष को उपाधिरहित और अकर्ता के रूप में देखता है वही (यथार्थ)देखता है, दूसरे अंधे हैं।

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ।।
ततएव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। 30।।

अन्वयः
यदा – जब; अव्यय

भूतपृथग्भावम् - भूतों के पृथक् -पृथक् भावों को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'पृथक् भावः इति भूतानां पृथक् भावः इति'
एकस्थम् - एक में ही स्थित; विशेषण, वि.'भूतपृथक्भावम्'
अनुपश्यति - देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अनु+दृश्' 1गण, परस्मै
एव च - साथ ही और; अव्यय ।
ततः - उस परमात्मा से; सर्वनाम, पं.ए.व.
विस्तारम् - विस्तार; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'विस्तार' ।
पश्यति - देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.
तदा - तब; अव्यय
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तत्' पु.
ब्रह्म - ब्रह्म; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
सम्पद्यते - प्राप्त करता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'सम्+पद्' 4गण

श्लोकार्थ : जब (कोई मनुष्य - साधक) भूतों के पृथग्भाव को एक (प्रकृति)में स्थित देखता है और उसमें ही विस्तार देखता है तब ब्रह्म को प्राप्त होता है।

विवेचन : अब आत्मा के तृतीय प्रकार-अव्यक्त अक्षर ब्रह्म-के ज्ञान का फल कहते हैं। देव - मनुष्य आदि भूतों में विद्यमान देवत्व, मनुष्यत्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, स्थूलत्व, कृशत्व इत्यादि पृथक् - पृथक् सभी भावों को अर्थात पृथक् - पृथक् प्रतीत होते सब भावों को जो एक प्रकृति में स्थित तथा (उन सब को) समष्टिपुरूष अथवा अव्यक्त अक्षर में स्थित देखता है और पुनः उसमें से ही निकल कर विस्तार को प्राप्त होते हैं - इस प्रकार जब देखता है और अनुभव करता है तब वह अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करता है अर्थात अनवच्छिन्न अक्षरात्मा के साथ ऐक्य प्राप्त करता है ।

यहाँ आत्मा के तीन प्रकारों का बोध कराया, इनको निम्न दृष्टांत से घटित होते समझा जा सकता है। क्षुद्र अथवा फुटकर प्रवाह के समान व्यष्टि, अर्थात पृथक्

-पृथक् जीवात्मा है। समष्टिस्वरूप, गंगा के जल की भांति अनवच्छिन्न प्रवाह के समान है (अर्थात जल की भांति सर्व पुरूष हैं)। उसकी शक्ति जैसा अक्षर है और उसके देवता जैसे परमेश्वर हरि हैं । श्रीमदाचार्यचरण विरचित 'सिद्धांतमुक्तावली' ग्रंथ में भी इसी अर्थ को प्रतिपादित किया गया है ।

अनादित्वात् निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ।। 31।।

अन्वयः
कौन्तेय - हे कौन्तेय! सम्बोधन
अनादित्वात् - अनादि होने से; नाम, पं.ए.व.नपु.
निर्गुणत्वात् - निर्गुण होने से; नाम, पं.ए.व.नपु.'निर्गुणत्व'
अयम् - यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'इदम्'
अव्ययः - अविनाशी; विशेषण, वि.'परमात्मा'
परमात्मा - परमात्मा; नाम,प्र.ए.व.पु. ।
शरीरस्थः - शरीर में स्थित; विशेषण, वि. 'परमात्मा'
अपि न - भी नहीं; अव्यय
न करोति - नहीं करता; क्रियापद
च - और; अव्यय
न लिप्यते - लिप्त नहीं होता; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'लिप्' 6गण, कर्मणि

श्लोकार्थ : यह परमात्मा अनादि होने से तथा निर्गुण होने से अव्यय है। हे कौन्तेय ! वह शरीर में स्थित रहने पर भी कुछ नहीं करता और लिप्त नहीं होता।

विवेचन : अब कहते हैं कि पुरूष को स्वतः प्राकृत संबंध नहीं है। परमात्मा अर्थात पुरूष अथवा जीव अक्षर रूप होने से अनादि तथा निर्गुण है और इसीलिए अव्यय है। मात्र भगवान् की इच्छा से ही भगवान् से विलग है। इसीलिए शरीर में स्थित होते हुए भी (भगवान्) स्वतः कुछ नहीं करता और किसी कार्य से लिप्त नहीं होता वरन् मात्र अध्यास के कारण कर्ता है ऐसा मानता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात् आकाशं नोपलिप्यते ।।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।। 32।।

अन्वयः

यथा – जिस प्रकार; अव्यय ।

सर्वगतम् – सभी स्थानों पर व्याप्त; भू.कृ.विशेषण,वि. 'आकाशम्'

आकाशम् – आकाश; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'आकाश' ।

सौक्ष्म्यात् – सूक्ष्म होने से; नाम, पं.ए.व.नपु. 'सौक्ष्म्य'

न – नहीं; अव्यय

उपलिप्यते – लिप्त होता है; क्रि.व.कर्मणि; 'उप+लिप्' 6गण

तथा सर्वत्र – इसलिए सब स्थानों पर; अव्यय

देहे – देह में; नाम, स.ए.व.पु. 'देह'

अवस्थित : रहा हुआ; विशेषण,वि. 'आत्मा'

आत्मा – आत्मा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'आत्मन्'

न – नहीं; अव्यय

उपलिप्यते – लिप्त होता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'उप+लिप'6 गण

श्लोकार्थ : जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नहीं होता इसी प्रकार देह में सर्वत्र रहा हुआ आत्मा लिप्त नहीं होता ।

विवेचन : पुरूष निर्गुण होने से कुछ नहीं करने पर भी देह के साथ उसका नित्य संबंध होने से देह के स्वभाव के साथ वह संलिप्त क्यों नहीं होता? ऐसी शंका के निराकरणार्थ आकाश का दृष्टांत देते हैं। जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होने पर भी सूक्ष्म होने से किसी भी पदार्थ से लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा देह में सर्वत्र रहने पर भी सूक्ष्म परमाण्वाकार होने से लिप्त नहीं होता। आत्मा अणु-आकार है, फिर भी उसका चैतन्य गुण सम्पूर्ण शरीर में प्रसरित होने से आत्मा को शरीर में सर्वत्र रहने वाला कहा गया है। जैसे शरीर के एक अवयव में चंदन लगा हुआ हो तो भी उसकी शीतलता सम्पूर्ण शरीर में फैली रहती है वैसे ही

अणु परिमाण आत्मा मात्र हृदय में व्याप्त होने पर भी उसकी चेतनता संपूर्ण शरीर में प्रसरित रहती है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकम् इमं रविः ।।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ! ।। 33।।

अन्वयः

भारत – हे अर्जुन; सम्बोधन ।

यथा – जिस प्रकार; अव्यय

एक – एक; विशेषण, वि. 'रविः' ।

रविः – रवि, सूर्य; नाम, प्र.ए.व.पु. 'रवि'

इमम् – इस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. ।

कृत्स्नम् – अखिल, सम्पूर्ण; विशेषण, वि.'लोकम्' ।

लोकम् – लोक को; नाम, द्वि.ए.व.पु.

प्रकाशयति – प्रकाशित करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'प्र+काश्' दस गण, परस्मै

तथा – उसी प्रकार से; अव्यय ।

क्षेत्री – क्षेत्री, जीवात्मा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'क्षेत्रिन्'

कृत्स्नम् – अखिल; विशेषण,वि. 'क्षेत्रम्' ।

क्षेत्रम् – क्षेत्र, शरीर; नाम द्वि.ए.व.नपु. 'क्षेत्र'

प्रकाशयति – प्रकाशित करता है; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'प्र+काश्' दस गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत ! जैसे एक सूर्य इस संपूर्ण लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही क्षेत्री सर्व क्षेत्र को प्रकाशित करता है ।

विवेचन : आत्मा समस्त देह में किस प्रकार व्याप्त रहता है,यह स्पष्ट करने हेतु दूसर दृष्टांत देते हैं। जैसे एक सूर्य इस समस्त लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही क्षेत्री संपूर्ण देह को प्रकाशित करता है। चेतनता आत्मा का ज्ञान रूप धर्म है, प्राकृत धर्म नहीं ।यहाँ पुरूष को 'क्षेत्री' कहा गया है, 'क्षेत्रज्ञ' नहीं क्योंकि

अज्ञानावस्था में पुरूष क्षेत्रज्ञ नहीं बल्कि क्षेत्री ही है। वह जब तत्वज्ञान प्राप्त करके भगवान् के गुणों को प्राप्त करता है तब वह 'क्षेत्रज्ञ' होता है। यहाँ यही बोध कराया गया है।

क्षेत्र - क्षेत्रज्ञयोरेवम् अन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।। 34।।

अन्वयः

एवम् - इस प्रकार से; अव्यय ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः - क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का; नाम, ष.द्वि.व.पु.
अन्तरम् - अंतर, फर्क; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अन्तर'
च - और; अव्यय
भूतप्रकृतिमोक्षम् - भूत (प्राणी) और प्रकृति को छुड़ाने वाला
ये - जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'यत्'
ज्ञानचक्षुषा - ज्ञानचक्षुओं से; नाम,तृ.ए.व.नपु. 'ज्ञानचक्षुष्'
विदुः - जानते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2गण, परस्मै
ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु 'तत्' ।
परम् - ब्रह्म को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'पर'
यान्ति - प्राप्त करते हैं, जाते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'या' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इस प्रकार ज्ञान चक्षु से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अंतर तथा भूतों का प्रकृति में से मोक्ष जिस प्रकार होता है उसको जो जानते हैं वे पर को प्राप्त करते हैं।

विवेचन : इस प्रकार ज्ञान चक्षु से अर्थात तत्वज्ञान की दृष्टि से जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जानते हैं तथा भूतों को प्रकृति से मोक्ष, अमानित्व इत्यादि जिन साधनों से प्राप्त होता है, उसको जो जानते हैं वे पर अर्थात पुरूषोत्तम की प्राप्ति कराने वाला तत्वज्ञान प्राप्त करते हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ।। 13।।

।। अध्याय 14 ।।
गुणत्रय विभाग योग

पुरुष आदि तथा निर्गुण होने से स्वतः विमल है परंतु प्रकृति अनादि होने पर भी त्रिगुणात्मिका होने से मलिन है। इस अध्याय में प्रकृति के तीन गुणों के विभागपूर्वक बताया गया है कि प्रकृति से संबंध युक्त इस जगत में कोई-कोई ही गुणातीत होता है।

पिछले अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से स्थावर-जंगम वस्तु मात्र की उत्पत्ति होना बताया गया है। यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ संयोग निरीश्वर सांख्यवादियों के मतानुसार स्वतंत्रता से न होकर भगवान् की इच्छा से ही होता है। पुरुष का उत्तम अथवा अधम योनि में जन्म का कारण उसका प्रकृति के गुणों से संग होना ही है। ऐसा वर्णन कर अंत में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद बताकर यह निरूपण किया गया है कि भूतों का प्रकृति से मोक्ष जिस कारण से होता है- उसे जानने वाला 'पर' को प्राप्त होता है। इस अध्याय में प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से यह विचित्र जगत उत्पन्न हुआ है- यह बोध कराया है। परंतु पिछले अध्याय के अंत में उल्लिखित क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद आदि को जानने वाला 'पर' को प्राप्त होता है - इस कथन का विवेचन दो श्लोकों (1और 2) में किया गया है।

श्रीभगवान उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिम् इतो गताः ।। 1।।

अन्वयः

हे अर्जुन - हे अर्जुन; सम्बोधन
अहं ते - मैं तुझे; सर्वनाम, प्र.ए.व.' अस्मद्'
ज्ञानानां - विभिन्न ज्ञानों में; नाम,ष.ब.व.नपु.'ज्ञान'
उत्तमं - उत्तम; विशेषण,वि.'ज्ञानम्'

परम्- **पर, श्रेष्ठ;** विशेषण,वि.'ज्ञानम्'
ज्ञानम् - **ज्ञान;** नाम, द्वि.ए.व.नपु.
भूयः - **पुनः** ; अव्यय
प्रवक्ष्यामि - **कहता हूँ, भली-भाँति कहता हूँ;** क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'प्र+वच्' 2गण, परस्मै
यत् - **जो;** सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
ज्ञात्वा - **जानकर;** विधेय कृदन्त
सर्वे - **सब;** सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.
मुनयः - **मुनिजन;** नाम, प्र.ब.व.पु.'मुनि'
इतः - **इस संसार से, कामनाओं के समूह से;** अव्यय
पराम् - **श्रेष्ठ, पर;** विशेषण,वि. 'सिद्धिम्'
सिद्धिम् - **सिद्धि को;** नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'सिद्धि'
गताः - **पाया है;** भू.कृ.विशेषण,वि. मुनयः

श्लोकार्थ : ज्ञानों में उत्तम ज्ञान तुझे पुनः कहता हूँ। सभी मुनिजन ने इसे जानकर इसी से परा सिद्धि प्राप्त की है।

विवेचन : पिछले अध्याय के अंत में 'पर' को प्राप्त करते हैं - कहा है। वह 'पर' सभी ज्ञानों में उत्तम ज्ञान है। कारण कि वह, जिनकी शक्ति और महिमा अचिंत्य है उन श्री पुरूषोत्तम का, यथार्थ ज्ञान है। वह, मैं तुझे पुनः विस्तार से विवेचन कर कहता हूँ। सभी मुनिजन इसे जानकर उससे अर्थात इस त्रिगुणात्मक सृष्टि से परा सिद्धि अर्थात गुणातीत मुक्ति को प्राप्त हो गए हैं।

इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः ।।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। 2।।

अन्वयः
इदम् -**इस;** सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
ज्ञानम् - **ज्ञान को;** नाम,द्वि.ए.व.नपु.

उपाश्रित्य - **प्राप्त करके, आश्रय करके;** विधेय कृदन्त
मम - **मेरे;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
साधर्म्यम् - **स्वरूप को;** नाम,द्वि.ए.व.नपु.'साधर्म्य'
आगताः - **प्राप्त हुए;** भू.कृ.विशेषण, वि. 'पुरूषाः'
पुरूषाः - **पुरूष;** सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
सर्गे - **सृष्टि में;** नाम,स.ए.व.पु. 'सर्ग'
न - **नहीं;** अव्यय
उपजायन्ते - **उत्पन्न होते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब. व.'उप+जन्' 4गण, आत्मने
च - **और;** अव्यय
प्रलये - **प्रलय में;** नाम,स.ए.व.पु.'प्रलय'
अपि न -**भी नही;** अव्यय
व्यथन्ति - **व्यथा पाते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.व्यथ् 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे साधर्म्य स्वरूप को प्राप्त हुए सर्ग के समय भी (सृष्टि के आदि मे) उत्पन्न नहीं होते और प्रलय के समय व्यथित नहीं होते ।

विवेचन : इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे समान ऐश्वर्यादि षट गुण को प्राप्त हुए सर्ग के समय जन्म नहीं लेते और प्रलय के समय व्यथित नहीं होते वरन नित्य मेरे समीप रहते हैं।

मम योनिः महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भम् दधाम्यहम् ।।
संभवः सर्वभूतानाम् ततो भवति भारत ! ।। 3।।

अन्वयः
भारत - **हे भारत;** सम्बोधन
मम - **मेरी;** सर्वनाम,ष.ए.व.'अस्मत्'
महत् -**महान;** विशेषण,वि.'ब्रह्म'
ब्रह्म - **ब्रह्म;** 'प्रकृति, त्रिगुणमयी माया;' नाम,प्र.ए.व.नपु. ''ब्रह्मन्''

योनिः – उत्पत्ति स्थान; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
अस्ति च – है, और; क्रियापद, अव्यय
अहं – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
तस्मिन् – उसमें; सर्वनाम, स.ए.व. नपु. 'तत्'
गर्भम् – गर्भ को, चेतन रूप बीज को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'गर्भ'
दधामि – स्थापित करता हूँ; क्रि.प्र.पु.ए.व. 'धा' 3गण, परस्मै
ततः – उसमें से, जड़ और चेतन के संयोग से; सर्वनाम,पं.ए.व.
सर्वभूतानाम् – सर्वभूतों की; नाम, ष.ब.व.नपु.
संभवः – संभव,उत्पत्ति; नाम, प्र.ए.व.पु. 'संभव'
भवति – होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.भू 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत ! महद् ब्रह्म मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भ स्थापित करता हूँ। जिससे सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है।

विवेचन : इस प्रकार श्री पुरूषोत्तम संबंधी ज्ञान की प्रशंसा कर, अर्जुन में उसके श्रवण की अभिलाषा उत्पन्न करके अपनी अचिंत्य शक्ति, वैभव तथा लीला को दर्शाते हैं। पहले सर्ग(सृष्टि)की उत्पत्ति कहते हैं। गुणातीत मुनिजन सर्ग के समय जन्म नहीं लेते, ऐसी पीछे कहा हुआ होने से सर्ग भी सगुण है। महत् ब्रह्म अर्थात ब्रह्म की सदंशभूत प्रकृति मेरी योनि है। गुणों की कारणरूप प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं, अक्षरात्मा पुरूष बीजरूप गर्भ अपनी दृष्टि से स्थापित करता हूँ। उससे सर्व भूतों की उत्पत्ति होती है। सभी प्राणीमात्र मेरी प्रकृति तथा पुरूष के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। यह संसर्ग स्वतन्त्रतया नहीं वरन मेरी इच्छा से होता है। इस प्रकार 'मेरी' योनि है यह भली – भांति कहते हैं। इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र 1/4/27 पर अणुभाष्य में तथा श्री भागवत के श्लोक 10/57/46 और 3/28/23 के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

सर्व योनिषु कौंतेय! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।।
तासां ब्रह्म महद् योनिः अहम् बीजप्रदः पिता ।।4।।

अन्वयः
कौंतेय – हे अर्जुन; संबोधन
सर्वयोनिषु – सभी उत्पत्तियों में; नाम,स.ब.व.'स्त्री.'
याः – जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.स्त्री.
मूर्तयः – स्वरूप,शरीर,आकृतियाँ; नाम,प्र.ब.व.स्त्री. 'मूर्ति'
संभवन्तिः – उत्पन्न होते हैं; क्रि.व.का.तृ.ब.व.पु.'सम्+भू' 1गण, परस्मै
तासां – उन मूर्तियों का; सर्वनाम,ष.ब.व.स्त्री 'तत्'
महत् – महान; विशेषण,वि. ब्रह्म
ब्रह्म – ब्रह्म; नाम, प्र.ए.व.नपु.'ब्रह्मन्'
योनिः उत्पत्ति स्थान है; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.'योनि'
अहं – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्'
बीजप्रदः – बीज को स्थापित करने वाला; विशेषण,वि.'अहं'
पिता –पिता हूँ; नाम, प्र.ए.व.'पितृ'पु.

श्लोकार्थ : हे कौंतेय ! सभी योनियों में (से) जो मूर्तियाँ (शरीर)उत्पन्न होती हैं उनकी योनि महद् ब्रह्म है और मैं बीजदाता पिता हूँ।

विवेचन : इस प्रकार कार्य अवस्था वाले चित् और अचित् सर्ग को मैंने ही सृजित किया है – ऐसा कहते हैं ।इसमें कुछ नया नहीं है बल्कि लोक में सर्वत्र ऐसा ही देखा जाता है। पिता और क्षेत्र (स्त्री) से प्राणीमात्र की उत्पत्ति होती है। जगत में सभी योनियों से जिन–जिन मूर्तियों (शरीरों) की उत्पत्ति होती है उनमें वस्तुतः महद् ब्रह्म योनि है तथा बीज की स्थापना करने वाला पिता मैं हूँ। इसीलिए विष्णु पुराणादि ग्रंथों में लक्ष्मी और नारायण आदि स्त्री तथा पुरूष की स्वरूप उत्पत्ति करने वाले कहे गए हैं। इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के सूत्र 1/4/27 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः ।।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनम् अव्ययम् ।। 5।।

अन्वयः

महाबाहो – **हे अर्जुन!** सम्बोधन

सत्त्वम् – **सत्त्व;** नाम, प्र.ए.व.नपु.

रजः – **राजस;** नाम, प्र.ए.व.'रजस्'

तमः – **तामस;** नाम, प्र.ए.व.नपु.'तमस्'

इति – **इस प्रकार;** अव्यय

प्रकृतिसंभवाः – **प्रकृति से उत्पन्न हुए;** विशेषण,वि.'गुणाः' 'प्रकृतिः एव संभवः येषां इति'' बहु.

गुणाः – **गुण;** नाम,प्र.ब.व.पु.'गुण'

अव्ययम् – **अविनाशी;** विशेषण,वि.'देहिनम्'

देहिनम् – **जीव को;** नाम, द्वि.ए.व.पु.'देहिन्'

देहे – **देह में;** नाम, स.ए.व.'देह' पु.

निबध्नंति – **बांधते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'नि+बध्' 9गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे महाबाहो ! प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्व, रज और तम ये गुण देह मे अव्यय देही का बंधन करते हैं।

विवेचन : सत्व, रज, और तम ये तीन प्रकृति के गुण हैं। ये गुण आत्मा के नहीं बल्कि प्रकृति के हैं और देह में रहे अव्यय देही अर्थात चेतन पुरूष का बंधन करते हैं। देह में अहं भाव उत्पन्न करने वाले प्रकृति के धर्म ही पुरूष को बंधन करते हैं। प्रकृति उद्भूत होने से गुण रूप हो जाती है। इस देह में अहंभाव का अभिमान कराने वाले गुण अणु परिमाण वाले जीव का उसके अव्यय होने पर भी बंधन करते हैं।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् ।।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ! ।। 6।।

अन्वयः

अनघ – **हे अर्जुन !** सम्बोधन

तत्र – **वहाँ;** अव्यय

प्रकाशकम् – **प्रकाश करने वाला;** विशेषण, वि.'सत्वम्'

सत्त्वम् – **सत्त्व;** नाम, प्र.ए.व.नपु.

अनामयम् – **बिना विकार वाले;** विशेषण,वि.'सत्त्वम्'

निर्मलत्वात् – **निर्मल होने के कारण;** नाम, पं.ए.व.नपु.

संखसंगेन – **सुख की आसक्ति से;** नाम,तृ.ए.व.पु.

च – **और;** अव्यय

ज्ञानसंगेन – **ज्ञान की आसक्ति से;** नाम, तृ.ए.व.पु.

बध्नाति – **बांधता है;** क्रि.तृ.पु.ए.व. 9गण, परस्मै

श्लोकार्थ : यहाँ (तीनों गुणों में) सत्व निर्मल होने से प्रकाशक और अनामय (निर्विकार)है। हे अनघ ! वह सुख के संग से और ज्ञान के संग से बंधन करता है।

विवेचन : अब यहाँ से सिलसिलेवार गुणों के लक्षण बताते हैं और यह भी स्पष्ट करते हैं कि वे किस प्रकार बंधन करते हैं। पहले सत्व गुण का लक्षण कहते हैं। ''सत्त्व गुण'' निर्मल होने से प्रकाशक अर्थात ज्ञान उत्पन्न करने वाला और ''अनामय'' अर्थात निरोगी रखनेवाला है। वह जीव को ज्ञान और सुख का संग कराता है और ज्ञान तथा सुख के संग से बंधन कराता है। ज्ञान और सुख का संग होने से उनका लौकिक और वैदिक साधन के लिए उपयोग करना पुरूष की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए उन साधनों के फलरूप ज्ञान और सुख का अनुभव करने योग्य योनियों में उसका जन्म होता है। इस भांति सत्त्व गुण मर्यादा पूर्वक पुरूष का बंधन कराता है। यह सत्त्व गुण भी प्राकृत है। ''मैं सुखी हूँ'' तथा ''शब्दादि ज्ञान से ज्ञान वाला हूँ'' इस प्रकार ज्ञान और सुख का संग उत्पन्न कराके वह बंधन कराता है ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा – संग – समुद्भवम् ।।
तन् निबध्नाति कौंतेय ! कर्मसंगेन् देहिनम् ।।7।।

अन्वयः

कौंतेय - हे अर्जुन ! ; सम्बोधन

रागात्मकम् - रागात्मक; विशेषण,वि.'रजः'

रजः - राजस, रजोगुण; नाम,द्वि.ए.व.नपु.'रजस्'

तृष्णासङ्गसमुद्भवम् - तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न; विशेषण,वि. 'रजः'''तृष्णा च संगश्च तयोः समुद्भवम् इति समुद्भवः''

विद्धि - समझो; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.,'विद्' 2गण

तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.'तत्'

कर्मसंगेन - कर्म और उसके फल की आसक्ति से; नाम, तृ.ए.व.पु.

देहिनम् - (देही)जीव को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'देहिन्'

निबध्नाति - बांधता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'नि+बध्' 9 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे कौंतेय ! तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होते रजोगुण को रागरूप समझ। वह देही को कर्म के संग से बांधता है।

विवेचन : अमुक पदार्थ विषयक आसक्ति और उसे प्राप्त करने की तृष्णा से रजोगुण की उत्पत्ति होती है। वह रागरूप अर्थात अनुरागरूप है। वह गुण जीव को पदार्थ की प्राप्ति के लिए कर्म में प्रेरित करता है। और कर्म में आसक्ति उत्पन्न कर बंधन का कारण बनता है।

तमस् त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्य - निद्राभिः तन् निबध्नाति भारत ! ।।8।।

अन्वयः

तु - और; अव्यय

भारत - हे भारत! ; सम्बोधन

सर्वदेहिनाम् - सभी देहधारियों को; नाम,ष.ब.व.''सर्वदेहिन्''

मोहनम् - मोह उत्पन्न करनेवाला; विशेषण,वि. तमः

तमः - तमोगुण; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

अज्ञानजम् - अज्ञान से उत्पन्न हुआ; विशेषण, वि. तमः

विद्धि - समझो; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'विद्' 2गण, परस्मै

तत् - वह(तमोगुण); प्र.ए.व.नपु.''तत्''

प्रमादालस्यनिद्राभिः - प्रमाद, आलस्य और निद्रा से; ''प्रमादश्च आलस्यं च निद्रा, प्रमादालस्यनिद्राः ताभिः'' द्वंद्व

निबध्नाति - बांधता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'नि+बध्' 9 गण परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत ! सभी देह धारियों में मोह उत्पन्न करने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझ । वह (तमोगुण)प्रमाद,आलस्य और निद्रा से बंधन में बांधता है।

विवेचन - तमोगुण विपरीत ज्ञान से अथवा अविद्या से उत्पन्न हुआ है; वह मोह उत्पन्न करता है और प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा के द्वारा बंधन करता है।

सत्वम् सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत!।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।। 9।।

अन्वयः

भारत - हे भारत! सम्बोधन

सत्त्वम् - सत्त्व गुण; नाम, प्र.ए.व.नपु.

सुखे - सुख में; नाम,स.ए.व.नपु.'सुख'

सञ्जयति - संलग्न करता है; क्रि.व.का.तृ.ए.व.पु.'सम् +जि'(जय्) 1गण, परस्मै

च - और; अव्यय

तमः - तमोगुण; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'तमस्'

तु - तो भी; अव्यय

रजः - रजो गुण; नाम, प्र.ए.व.पु.

कर्मणि - कर्म में; नाम, स.ए.व.पु.'कर्मन्'

च - और; अव्यय

ज्ञानम् – **ज्ञान को**; नाम,द्वि.ए.व.नपु.'ज्ञानम्'
आवृत्य – **ढक कर**; विधेय कृदन्त
उत – **उलटना, भी**; अव्यय
प्रमादे – **प्रमाद में**; नाम, स.ए.व.नपु. 'प्रमाद'
सञ्जयति – **संलग्न करता है**; क्रि.व.का.तृ.ए.व.पु.'सम्+जि' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत ! सत्वगुण सुख में आसक्ति कराता है, रजो गुण कर्म में और तमो गुण तो ज्ञान को ढक कर प्रमाद में आसक्ति कराता है। यहाँ क्रमशः तीनों गुणों का स्वभाव निरूपित किया गया है।

रजस् तमश् चाभिभूय सत्त्वम् भवति भारत!।
रजः सत्त्वम् तमश्चैव तमः सत्त्वम् रजस् तथा ।। 10।।

अन्वयः
भारत – **हे भारत !** सम्बोधन
रजः – **रजो गुण**; नाम,द्वि.ए.व.नपु.'रजस्'
च – **और**; अव्यय
तमः – **तमो गुण**; नाम,द्वि.ए.व.नपु.'तमस्'
अभिभूय – **दबा कर**; विधेय कृदन्त
सत्त्वम् – **सत्त्व**; नाम, प्र.ए.व.नपु.'सत्त्व'
भवति – **होता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. भू(भव्) 1गण, परस्मै
च एव – **और इसके अतिरिक्त**; अव्यय
रजः – **रजोगुण**; नाम, प्र.ए.व.नपु.'रजस्'
सत्त्वम् – **सत्त्व गुण को**; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'सत्त्व'
अभिभूय – **दबा कर**; विधेय कृदन्त
तमः – **तमो गुण**; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'तमस्'
वर्धते – **बढ़ता है**; क्रि.तृ.पु.ए.व.
तथैव – **उसी प्रकार**; अव्यय

तमः – **तमो गुण**; नाम,प्र.ए.व.नपु.'तमस्'
च – **और**; अव्यय
सत्त्वम् – **सत्त्व गुण को**; नाम,प्र.ए.व.नपु.'सत्त्व'
अभिभूय – **दबा कर**; विधेय कृदन्त
रजः – **रजोगुण**; नाम,प्र.ए.व.नपु.'रजस्'
वर्धते – **बढ़ता है**; क्रि.तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : हे भारत ! रज और तमोगुण का अभिभव कर (दबाकर) सत्त्वगुण प्रकट होता है; सत्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रकट होता है और सत्वगुण तथा रजोगुण को दबाकर तमोगुण प्रकट होता है।

विवेचन : अदृष्ट के कारण तीन में से दो गुणों का अभिभव कर अर्थात दो गुणों को ढक कर/दबाकर तीसरा गुण प्रकट होता है। यह गुण, जो दूसरों को ढक कर वृद्धि प्राप्त करता है वह अपना कार्य करते हुए बंधन प्रदान करता है। इस श्लोक की व्याख्या श्रीभागवत के श्लोक *10/24/4* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

सर्व द्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वम् इत्युत ।। 11।।

अन्वयः
यदा – **जब**; अव्यय
अस्मिन् – **इस**; सर्वनाम, स.ए.व.नपु.'इदं'
देहे – **देह में**; नाम, स.ए.व.नपु.'देह'
सर्वद्वारेषु – **सभी द्वारों में**; नाम, स.ब.व.नपु. 'सर्वद्वार'
प्रकाशः – प्रकाश, चेतन, ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.
च – **और**; अव्यय
ज्ञानम् – **ज्ञान**; नाम, प्र.ए.व.नपु.
उपजायते – **उत्पन्न होता है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'उप+जन्' (जाय्)4गण

तदा इति – तब ऐसा; अव्यय
विद्यात् – जानना चाहिए; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व.'विद्' 2गण
उत् – अथवा; अव्यय
सत्त्वम् – सत्त्व; नाम,प्र.ए.व.
विवृद्धम् – अधिक बढ़ा हुआ है; भू.कृ.विशेषण,वि.'सत्त्वम्'

श्लोकार्थ : इस देह के सभी द्वारों(इंद्रियों और अंत:करण) में जब प्रकाश (चेतना) तथा ज्ञान (विवेक शक्ति) उत्पन्न होता है तब सत्व गुण वृद्धि को प्राप्त हुआ है। ऐसा जानना चाहिए ।

विवेचन : एक गुण दूसरे दोनों को ढक कर अभिवृद्ध होता है ऐसा किससे जाना जाए? ऐसी जिज्ञासा हो तो कहते हैं कि गुण के कार्य से अमुक गुण वृद्धि पाता है – यह तात्पर्य है। इस देह में इंद्रियादि द्वारों में जब प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है तब प्रकाश और ज्ञान सत्वगुण के कार्य होने से, सत्व गुण की वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिए ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणाम् अशमः स्पृहा ।
रजस्ये तानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभः ! ।। 12।।

अन्वयः
भरतर्षभ – हे अर्जुन; सम्बोधन
लोभः – लोभ; नाम,प्र.ए.व.पु.'लोभ'
रजसि – रजोगुण में; नाम, स.ए.व.नपु.'रजस्'
प्रवृत्तिः – प्रवृत्ति; नाम,प्र.ए.व.स्त्री.
विवृद्धे – अधिक बढे हुए; भू.कृ. विशेषण, वि. 'र जसि'
कर्मणाम् – कर्मों के; नाम, ष.ब.व.नपु. 'कर्मन्'
आरंभःअशमः – आरंभ,अशांति; नाम, प्र.ए.व.पु.
च – और; अव्यय
स्पृहा – विषय भोग की लालसा; नाम,प्र.ए.व.स्त्री.

एतानि – ये; सर्वनाम, प्र.ब.व.नपु. 'एतद्'
जायन्ते – उत्पन्न होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 4गण

श्लोकार्थ : हे भरतर्षभ ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशम और स्पृहा ये रजोगुण की वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं ।

विवेचन : लोभ, प्रवृत्ति अर्थात निष्प्रयोजन चल स्वभाव, कर्मों का आरंभ अथवा कर्म करने के लिए उद्योग, अशम अर्थात अशांति और स्पृहा अर्थात प्रत्येक पदार्थ प्राप्त करने की लालसा । ये सभी रजोगुण की वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं। ये सब रजोगुण के कार्य होने से इनकी उत्पत्ति होने पर रजोगुण की वृद्धि हुई जानना चाहिए ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरूनन्दन! ।। 13।।

अन्वयः
कुरूनंदन – हे कुरूनंदन; सम्बोधन
तमसि – तमोगुण में; नाम, स.ए.व.नपु.
विवृद्धे – बढे हुए; भू.कृ.विशेषण,वि.'तमसि'
अप्रकाशः – अंधकार; नाम, प्र.ए.व.पु.'अप्रकाश'
अप्रवृत्तिः – कर्त्तव्य कर्म में अप्रवृत्ति; नाम,प्र.ए.व.स्त्री.
च – और; अव्यय
प्रमादः – प्रमाद,व्यर्थ, चेष्टा; नाम, प्र.ए.व.पु.
एव च – और, इसके अतिरिक्त; अव्यय
मोहः – मोह; नाम,प्र.ए.व.पु.
एतानि – ये; प्र.ब.व.सर्वनाम,नपु.'एतद्'
जायन्ते – उत्पन्न होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 4गण, आत्मने

श्लोकार्थ : हे कुरूनंदन ! तमोगुण की वृद्धि होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद तथा मोह उत्पन्न होते हैं ।

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते ।।14।।

अन्वयः

यदा – जब; अव्यय
देहभृत – शरीर धारी; नाम,प्र.ए.व.नपु.'देहभृत्'
सत्त्वे – सत्व में; नाम,स.ए.व.नपु.'सत्व'
प्रवृद्धे – भली-भांति बढ़ा हुआ; भू.कृ.विशेषण, वि.'सत्वे'
प्रलयम् – प्रलय को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'प्रलय'
याति – प्राप्त करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'या' 2गण
तदातु – तब तो; अव्यय
उत्तमविदाम् – उत्तम को जानने वालों का; नाम,ष.ब.व.स्त्री. 'उत्तम विद्'
अमलान् – निर्मल; विशेषण,वि. 'लोकान्'
लोकान् – लोकों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'लोक'
प्रतिपद्यते – प्राप्त करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'प्रति+पद्' 4गण, आत्मने

श्लोकार्थ : जब देह धारी सत्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तो उत्तम ज्ञानियों के शुद्ध लोकों को प्राप्त करता है।

विवेचन : अब यह निरूपण करते हैं कि सत्वादि गुणों की वृद्धि में मृत्यु हो तो क्या फल मिलता है तथा कैसी गति होती है। सत्व गुण बढ़ा हुआ हो और मृत्यु हो तो, उत्तम उपाय जानने वाला, योगियों की देह को प्राप्त करता है; अर्थात योगियों के उत्तम कुल में उसका जन्म होता है। वहाँ जन्म होने से आत्मा के यथार्थ ज्ञान के साधन रूप पुण्य कर्मों का वह अधिकारी होता है और उत्तम लोक प्राप्त करता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस् तमसि मूढयोनिषु जायते ।। 15।।

अन्वयः

रजसि – रजोगुण में; नाम, स.नपु.'रजस'
प्रलयम् – प्रलय को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'प्रलय'
गत्वा – जाकर, प्राप्त कर; विधेय कृदन्त
कर्मसंगिषु – कर्मों की आसक्ति वाले पुरूषों में; नाम, स.ब.व.पु.'कर्म संगिन्'
जायते – जन्म लेता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'जन्' 4गण,आत्मने
तथा – उसी प्रकार; अव्यय
तमसि – तमोगुण में; नाम, स.ए.व.नपु.'तमस्'
प्रलीन : – मरा हुआ पुरूष; नाम,प्र.ए.व.पु.
मूढयोनिषु – मूढ योनि में-कीट-पशु-पतंगादि; नाम, स.ए.व.पु.'मूढयोनि'
जायते – जन्मता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'जन्' 4गण

श्लोकार्थ : रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त हुआ कर्मों की आसक्ति वालों में जन्म लेता है और तमोगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त मूढयोनि में जन्म लेता है।

विवेचन : रजोगुण की वृद्धि हो तब जो मृत्यु को प्राप्त होता है वह कर्मसंगियों अर्थात कर्म में आसक्ति वाले लोकों में जन्म लेता है। उसी प्रकार तमोगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त 'मूढयोनि' में अर्थात नीच लोक में अथवा असुरों में जन्म लेता है।

कर्मणः सुकृतस्याहु : सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखं अज्ञानं तमसः फलम् ।। 16।।

अन्वयः

सुकृतस्य – सात्विक, शुभ, दोषरहित; नाम,विशेषण,वि. 'कर्मणः'
कर्मणः –कर्म का; नाम,ष.ए.व.

तु – **परंतु ;** अव्यय
सात्विकम् – सात्विक सुख, ज्ञान वैराग्य वाला; विशेषण,वि.'फलम्'
निर्मलम् – निर्मल; विशेषण,वि. 'फलम्'
फलम् – फल को; नाम, नपु.ए.व.'फल'
आहुः – कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 2गण, परस्मै
च – और; अव्यय
रजसः – रजोगुण का, रजस का; नाम, ष.ए.व.नपु. 'रजस्'
फलम् – फल; नाम, प्र.ए.व.नपु.'फल'
दुःखम् – दुख; नाम, प्र.ए.व.नपु.'दुख'
एवम् च – और इसके सिवा; अव्यय
तमसः – तमोगुण का; नाम,ष.ब.व.नपु.'तमस्'
फलम् – फल; नाम, प्र.ए.व.नपु.'फल'
अज्ञानम् – अज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु.'अज्ञान'
आहुः – कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सुकृत कर्म का फल सात्विक और निर्मल कहा गया है, राजस का फल दुख और तामस का फल अज्ञान कहा है।

विवेचन : मरण से पहले इस लोक में सात्विकादि कर्म का क्या फल होता है वह कहते हैं। सत्वगुण से उत्पन्न सुकृत (शुभ कर्म) का फल सात्विक और निर्मल होता है, उसी प्रकार रजोगुण से उत्पन्न राजस कर्म का फल दुख तथा तमोगुण से होने वाले तामस कर्म का फल अज्ञान होता है।

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। 17 ।।

अन्वयः
सत्त्वात् – सत्व से; नाम, पं.ए.व.नपु.'सत्व'
ज्ञानम् – ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु.

संजायते – होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'सम् + जन्' 4गण, आत्मने
च – और; अव्यय
रजसः – रजोगुण से; नाम, पं.ए.व.नपु.'रजस्'
एव – यह ही; अव्यय
लोभः – लोभ; नाम, प्र.ए.व.पु.'लोभ'
च – और; अव्यय
तमसः – तमोगुण से; नाम, पं.ए.व.नपु.'तमस्'
प्रमादमोहौ – प्रमाद और मोह; नाम, प्र.द्वि.व.पु.'प्रामदमोह'
भवतः – होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.द्वि.व.'भू' 1गण, परस्मै
च – और; अव्यय
अज्ञानम् – अज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु.'अज्ञान'
एव – ही; अव्यय
भवति – होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : सत्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे ही रजोगुण से लोभ ही उत्पन्न होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है ।

विवेचन : सत्व गुण से वस्तु का यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान होता है, रजोगुण से स्वर्ग आदि फलों का लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होता है।

इस श्लोक की व्याख्या श्रीभागवत के श्लोक *1/2/20, 2/5/31, 3/26/8, 10/2/35 और 10/10/8* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। 18।।

अन्वयः
सत्त्वस्थाः – सात्विक, सत्व में रहने वाला; नाम, प्र.ब.व.पु.'सत्वस्थ'

ऊर्ध्वम् - ऊपर; अव्यय
गच्छन्ति - जाते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'गम्' 1गण, परस्मै
राजसाः - राजस में रहने वाले; नाम, प्र.ब.व.पु. 'राजसी'
मध्ये - मध्य में; अव्यय
तिष्ठन्ति - रहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'स्था (तिष्ठ)', 1गण, परस्मै
च - और; अव्यय
जघन्यगुणवृत्तिस्थाः -निकृष्ट गुण और वृत्ति में रहने वाले; नाम, प्र.ब.व.पु.'जघन्यगुणवृत्तिस्थ'
तामसाः - तामस गुण वाले; नाम, प्र.ब.व.पु.'तामस'
अधः - नीचे ; अव्यय
गच्छन्ति - जाते हैं; रहते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.

श्लोकार्थ : सत्वगुण में स्थित ऊपर जाते हैं, रजासी मध्य में रहते हैं और अधम गुण की वृत्ति में रहे हुए तामसी नीचे जाते हैं।

विवेचन : अब गुणों से प्राप्त होने वाली अलग -अलग गति के बारे में बताते हैं। सत्व में रहे हुए सात्विक ऊपर सत्यलोकादि लोकों में अथवा मोक्ष पर्यंत जाते हैं। रजोगुण में स्थित, लोभ होने से मध्य में मनुष्यलोक में राज्यादि सुखरूप फल में रहते हैं। अधम गुण- तमोगुण की वृत्तियाँ प्रमाद- मोहादि में रहे हुए तामस पुरूष नीचे अर्थात मध्य से भी नीचे अतलादि असुरों के लोक में जाते हैं, अथवा तामसी निम्न नरकों में अथवा नीच योनि में जाते हैं।

नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भाव सोऽधिगच्छति ।।19।।

अन्वय :
यदा - जब; अव्यय
द्रष्टा - देखने वाला; नाम, प्र.ए.व.'दृष्ट्व' पु.
गुणेभ्यः - गुणों से; नाम, पं.ब.व.पु.'गुण'

अन्यम् - दूसरा, दूसरे को; विशेषण,वि.'कर्तारम्'
कर्तारम् - कर्ता को; नाम,द्वि.ए.व.पु.'कर्तृ'
न - नहीं; अव्यय
अनुपश्यति - देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व 'अनु+दृश्' (पश्य्) 1गण, परस्मै
च - और; अव्यय।
गुणेभ्यः - गुणों से; नाम, पं.ब.व.पु.'गुण'
परम् - परब्रह्म को; नाम,द्वि.ए.व.पु.'पर'
वेत्ति - जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'विद्' 2गण, परस्मै
तदा - तब; अव्यय
मद्भावम् - मेरे भाव को, मेरे स्वरूप को; नाम,द्वि.ए.व.पु.
अधिगच्छति - प्राप्त करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अधि+गम्' 1गण परस्मै

श्लोकार्थ : जब द्रष्टा गुणों से अन्य कर्ता को नहीं देखता और गुणों से पर (ब्रह्म) को देखता है तब वह मेरे भाव को प्राप्त करता है।

विवेचन : इस प्रकार गुणों के संग से सभी प्रकार के भेद उत्पन्न होते हैं तथा जीवों को बंधन प्राप्त होता है - ऐसा बताकर अब यहाँ से दो श्लोक (19,20)से यह बताते है कि गुणों के विवेक से गुणातीत की भांति बंधन मुक्त होकर जीव मोक्ष प्राप्त करता है। जब द्रष्टा गुणों से अन्य किसी को कर्ता नहीं समझता, मात्र गुणों को अपने अनुकूल कार्य में प्रवृत्त कराता है और जब इस प्रकार देखता है और जान जाता है कि आत्मा गुणों से परे है तब वह मेरे भाव को अर्थात ब्रह्म के अक्षर भाव को अथवा अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करता है। श्रुति भी ''ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है'' ऐसा कहती है। अतः जब द्रष्टा को ब्रह्म का ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है तब वह अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करता है।

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्म - मृत्यु जरा - दुःखैर् विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।20।।

अन्वय :

देही - पुरूष, जीव ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'देहिन्'

एतान् - इन; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु. 'एतद्'

देहसमुद्भवान् - देह की उत्पत्ति का कारण रूप; नाम, द्वि.ब.व. 'देहसमुद्भवा'

त्रीन् - तीनों को; विशेषण, वि. 'गुणान्'

गुणान् - गुणों को; नाम,द्वि.ब.व.पु.'गुण'

अतीत्य - उल्लघंन करके; विधेय कृदन्त, अति+ई 1गण, परस्मै

जन्म - मृत्यु - जरा - दुःखैः - जन्म, मरण और दुःखों से; नाम, तृ.ब.व.नपु.

विमुक्तः - मुक्त हुआ; भू.कृ.विशेषण,वि.'देही'

अमृतम - अमृत को (परमानंद); नाम, द्वि.ए.व.नपु.'अमृत'

अश्नुते - भोग करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अश्' 5 गण आत्मने

श्लोकार्थ : देह की जिनमें से उत्पत्ति होती है ऐसे उन तीन गुणों का अतिक्रमण कर जन्म, मृत्यु, जरा और दुख से मुक्त होकर देही अमृत का भोग करता है।

विवेचन : इस प्राकृत देह की जिनसे उत्पत्ति होती है उन सत्व, रज और तम का मेरे भाव को प्राप्त हो जाने से, अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु, जरा तथा दुख से मुक्त होकर देही 'अमृत' अर्थात मोक्ष प्राप्त करता है। अथवा तीनों गुणों का अतिक्रम कर प्राकृत देह से अनुभूत जन्म, मृत्यु, जरा तथा दुख से मुक्त होकर देही अर्थात अलौकिक देह को धारण करने वाला अमृत अथवा ब्रह्मानन्द का भोग/अनुभव करता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैः त्रीन गुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो ! ।
किमाचारः कथं चैतान् त्रीन गुणान् अतिवर्तते ।। 21।।

अन्वयः

एतान् त्रीन् - ये तीन; विशेषण,वि.'गुणान्'

गुणान् - गुणों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'गुण'

अतीतः - अतीत ; विशेषण, वि.'पुरूष'

कैः - कैसे; विशेषण,वि.'लिङ्गैः'

लिङ्गैः - चिह्नों से, लक्षणों से; नाम,तृ.ब.व.नपु.'लिंग'

भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'भू' 1गण, परस्मै

च - और; अव्यय

किमाचारः - किस प्रकार के आचारवाला; 'कः आचारो यस्य सः' बहुब्रीहि, नाम, प्र.ए.व.

भवति च - होता है और; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'भू' 1गण

प्रभो - हे प्रभु!; सम्बोधन

कथम् - किस प्रकार,और; अव्यय

एतान त्रीन् - इन तीनों को; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.'एतद्'

गुणान् - गुणों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'गुण'

अतिवर्तते - अतिक्रमण करता है; क्रि.तृ.पु.ए.व. 'अति+वृत्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थः हे प्रभो ! जो इन तीन गुणों का अतिक्रमण कर चुका है उसके लक्षण क्या हैं ? वह कैसे आचरण वाला होता है और इन तीनों गुणों का किस प्रकार अतिक्रमण कर लेता है ?

विवेचन : इन तीन गुणों का पुरूष अतिक्रमण कर चुका है ऐसा किन लक्षणों से जाना जाता है? जो अतिक्रमण कर चुका है उसका आचरण कैसा होता है ? अतिक्रमण किस प्रकार अर्थात किन उपायों से होता है ? जिज्ञासावश अर्जुन इस प्रकार से प्रश्न करता है।

श्री भगवान् उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव! ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।। 22।।

अन्वयः

पांडव – हे पांडव; सम्बोधन

प्रकाशम् – प्रकाश को, सत्वगुण के कार्य को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'प्रकाश'

च – और; अव्यय

प्रवृत्तिम – प्रवृत्ति को, रजोगुण के कार्य को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.'प्रवृत्ति'

च – और ; अव्यय

मोहम् – मोह, तमोगुण का कार्य; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'मोह'

एव न – भी नहीं; अव्यय

संप्रवृत्तानि – प्रवृत्तिमय कर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.

द्वेष्टि – द्वेष करता है; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'द्विष्' 2गण, परस्मै

च न – और नहीं; अव्यय

निवृत्तानि – निवृत्ति में ले जाते कर्मों से; नाम,द्वि.ब.व.नपु. 'निवृत्त'

कांक्षति – इच्छा करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'कांक्ष्' 1गण,परस्मै

श्लोकार्थ : हे पांडव! पुरूष में यदि प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्रवृत्त हो चुके हों तो वह उनसे द्वेष नहीं करता तथा प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह से वह निवृत्त हो गया हो तो उनकी आकांक्षा नहीं करता ।

उदासीनवद् आसीनो गुणैर् यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।। 23।।

अन्वयः

यः – जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'

उदासीनवत् – उदासीन की भांति,तटस्थ; विशेषण,वि. 'यः'

आसीनः – स्थित हो चुका, शांत; व.कृ.विशेषण,वि.'यः'

गुणैः – गुणों से; नाम, तृ.ब.व.पु.

न – नहीं; अव्यय

विचाल्यते – विचलित हो सकता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'वि+चल्' 1गण,

गुणाः – गुण; नाम, प्र.ब.व.पु.

एव – ही; अव्यय

वर्तन्ते – आचरण करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'वृत्' 1गण, आत्मने (इति जानन् – इस प्रकार जानकर)

यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'

परमात्मनि – परमात्मा में; स.ए.व.

अवतिष्ठति – स्थित रहता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अव+स्था' (तिष्ठ्) 1गण, परस्मै

च न – और नहीं; अव्यय

इंगते – चलायमान होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 1गण, 'इङ्ग्' आत्मने

श्लोकार्थ : जो उदासीन की भांति रहता हुआ गुणों से किंचित भी विचलित न होकर, गुण ही गुणों में बरत रहे हैं – इस भाव से रहता है और (कोई) चेष्टा नहीं करता ।

सम दुःख – सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।। 24।।

अन्वयः

स्वस्थः – आत्मभाव में स्थित; विशेषण,वि.'धीरः'

सम दुःख सुखः – सुख और दुख में सम; विशेषण,वि.'धीरः' समं दुखं च सुखं यस्य' बहु.

समलोष्टाश्मकांचनः – मिट्टी, पत्थर, सुवर्णादि में समान भाव रखनेवाला; विशेषण, वि.'धीरः लोष्टः अश्म काञ्चनम् च समम् यस्य इति' बहु.

धीरः – धीर पुरूष; नाम, प्र.ए.व.पु.'धीर'

तुल्यप्रियाप्रियः – जिसके लिए प्रिय और अप्रिय तुल्य है; विशेषण,वि.'धीरः''प्रियं च अप्रियं च तुल्यो यस्य इति''नाम, प्र.ए.व.

च – और ; अव्यय

तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति – जिसके लिए निन्दा और प्रशंसा तुल्य है; ''तुल्य निंदा च आत्मसंस्तुतिश्च च यस्य इति''विशेषण , वि.'धीरः'बहु.

श्लोकार्थ : जिसके लिए सुख तथा दुख समान हैं, जो स्वस्थ है, जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर तथा कंचन समान हैं, जिसको प्रिय तथा अप्रिय समान हैं, जो धीर है, जो अपनी निंदा और स्तुति में सम है।

मानापमानयोस् तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।। 25।।

अन्वयः

मानापमानयोः – मान और अपमान में; नाम, स.द्वि.व.नपु.

तुल्यः – सम; विशेषण, वि.'धीरः'

मित्रारिपक्षयोः – मित्र और शत्रु के पक्ष में; नाम, स.द्वि.व.नपु.

तुल्यः – सम; विशेषण,वि.'धीरः'

च यः – और जो; अव्यय,सर्वनाम, प्र.ए.व.'यत्'

सर्वारंभपरित्यागी – सर्व आरम्भों का परित्याग करनेवाला; विशेषण,वि.'धीरः'सर्वेषां आरंभानाम् परित्यागः यस्मिन् इति'बहु.

अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'

सः – वह; सर्वनाम,प्र.ए.व.पु.'तत्'

गुणातीतः – गुणातीत;'गुणान् अतीतः'तत्पुरूष वि.'धीरः'

उच्यते – कहलाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. कर्मणि'वच्'2गण

श्लोकार्थ : जो मान तथा अपमान में सम है, जिसको मित्र तथा शत्रुपक्ष समान हैं और जिसने सभी आरंभों का सर्वथा त्याग कर दिया है वह गुणातीत कहा जाता है।

विवेचन : इन चार (22 से 25) श्लोकों से भगवान अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुणातीत का स्वरूप, उसका आचार तथा गुणातीत के लक्षण कहते हैं। सत्वगुण का कार्य प्रकाश अथवा ज्ञान, रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति और तमोगुण का कार्य मोह बताते है। गुणों के इन कार्यों में जो प्रवृत्त हुआ हो वह उनको गुणों का ही कार्य जानकर उनसे द्वेष नहीं करता हो तथा निवृत्त हुआ हो तो उनकी आकांक्षा अथवा इच्छा न रखता हो, जो गुण से पर आत्मा के अवलोकन से ही तृप्ति पाता होने से आत्मा से भिन्न गुणों के कार्यादि सर्व अनात्म के प्रति उदासीन रहता हो तथा गुणों से जिसको द्वेष – आकांक्षदि उत्पन्न नहीं होने से गुणों से जो किंचित भी विचलित नहीं होता, गुणों के प्रकाशादि सभी कार्यों में गुणों की ही प्रवृत्ति जानकर रहता हो और गुणों के अनुसार अपनी चेष्टा न करता हो, जो स्वयं स्वस्थ अर्थात आत्मा में ही रहने वाला होने से सत्व के कार्य सुख तथा रजोगुण के कार्य दुखादि जिसके लिए समान हों, जिस धीर पुरूष को प्रिय तथा अप्रिय और उसी तरह अपनी निंदा तथा स्तुति, मान तथा अपमान, मित्र तथा शत्रु समान हों और जिसने देह के अभिमान से होने वाले सभी कर्मों का भली– भांति त्याग कर दिया हो, वह 'गुणातीत' कहलाता है। यहाँ भी सर्वत्र सम भाव का निरूपण किया गया है। इसी सम भाव का पीछे सांख्य तथा योग के सार स्वरूप निरूपण किया गया है। उसी का यहाँ स्मरण कराया गया है(22 से 25)।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। 26।।

अन्वयः

च – और; अव्यय

यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.'यत्'

माम् – मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'अस्मद्'

अव्यभिचारेण– मिश्र भाव बिना, केवल शुद्ध; विशेषण,वि.'भक्तियोगेन'

भक्तियोगेन – भक्तियोग से; नाम, तृ.ए.व.पु.

सेवते - सेवन करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 1गण आत्मने
सः -वह; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'तत्' पु.
एतान् - इन; सर्व,द्वि.ब.व. 'एतद्' पु'.
गुणान् - गुणों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'गुण'
समतीत्य - भली-भांति अतिक्रमण करके; विधेय कृदन्त,'सम+अति+ई'
ब्रह्मभूयाय - ब्रह्मभाव के लिए; नाम,च.ए.व.'ब्रह्मभूय' पु.
कल्पते - पात्र है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'क्लृप्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थः जो अव्यभिचारी भक्ति योग से मेरा सेवन (भजन) करता है वह इन गुणों का अतिक्रमण कर ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है।

विवेचन : इस प्रकार ज्ञानमार्गीय गुणातीत के लक्षण निरूपित कर बताते हैं कि भक्त केवल अनन्य भक्ति से ही गुणातीत होता है। जो अव्यभिचारी अर्थात ऐकांतिक अनन्य भक्ति योग से मेरा सेवन करता है वह इन गुणों का अतिक्रमण कर अक्षर ब्रह्म के भाव को प्राप्त करता है। इस प्रकार अनन्य भक्त को ब्रह्मभाव अवांतर फल के रूप में प्राप्त होता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।। 27।।

अन्वयः
अव्ययस्य - अविनाशी का; नाम, ष.ए.व.नपु.'अव्यय'
ब्रह्मणः - ब्रह्म का; नाम, ष.ए.व.नपु.'ब्रह्मन्'
च - और; अव्यय
अमृतस्य - अमृत का; नाम, ष.ए.व.'अमृत'
च - और; अव्यय
शाश्वतस्य - शाश्वत का; नाम,ष.ए.व.नपु.'शाश्वत'
धर्मस्य - धर्म का; नाम, ष.ए.व.पु.'धर्म'
च - और; अव्यय

ऐकांतिकस्य - अखंड एकरस का; नाम,ष.ए.व.नपु.'ऐकांतिक'
सुखस्य - सुख का; नाम,ष.ए.व.नपु.'सुख'
हि - निश्चयपूर्वक; अव्यय
अहं - मैं; नाम,प्र.ए.व.'अस्मत्'
प्रतिष्ठा - आश्रय हूँ; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.'प्रतिष्ठा'

श्लोकार्थ : कारण कि अमृत तथा अव्यय ब्रह्म की, शाश्वत धर्म की और ऐकांतिक सुख की प्रतिष्ठा (आश्रय) मैं ही हूँ।

विवेचन : मेरी अनन्य भक्ति करने वाले को अक्षर ब्रह्म अवांतर फल के रूप में प्राप्त होता है। कारण कि अक्षर ब्रह्म आदि सर्व की प्रतिष्ठा अर्थात मूलस्थान मैं हूँ। अमृत और अव्यय अर्थात विकार रहित अक्षरब्रह्म की, शाश्वत धर्म की तथा ऐकांतिक सुख की प्रतिष्ठा मैं हूँ। मैं इन सबका एक ही आश्रय होने पर भी इन सब से पर हूँ। 'अमृत' अर्थात ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष की तथा मेरे धाम अव्यय अक्षर ब्रह्म की प्रतिष्ठा मैं हूँ। इसी प्रकार शाश्वत धर्म अर्थात भगवद्धर्म की और ऐकांतिक सुख अर्थात अगणित भजनानन्द - इन सब की प्रतिष्ठा मैं हूँ। यहाँ श्रीकृष्ण ने सांख्य की विवृत्ति इस प्रकार से की है कि सांख्य का भी तात्पर्य स्वयं भगवान हैं- यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रहमविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ।। 14।।

।। अध्याय 15 ।।

पुरुषोत्तम योग

श्रीभगवान् उवाच

ऊर्ध्वमूलम् अधः शाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।1।।

अन्वय :

ऊर्ध्वमूलम् - ऊर्ध्व है मूल जिसका; मूलपुरुष रूप, मूलवाला; विशेषण, वि. 'अश्वत्थम्' ''ऊर्ध्वम्मूलम् यस्य इति'' बहु.

अधःशाखम् - जिसकी शाखाएँ और डालियाँ नीचे की ओर हैं, ब्रह्मरूप मूल शाखा वाला; विशेषण, वि. 'अश्वत्थम्' ''अधः शाखा यस्य इति'' बहु.

अश्वत्थम् - संसार रूप पीपल के वृक्ष को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'अश्वत्थ'

अव्ययम् - अविनाशी; विशेषण, वि. अश्वत्थम्

प्राहुः - कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'ब्रू' 2 गण परस्मै

यस्य - जिसके; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'यत्'

छंदांसि - वेद; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'छंदस्'

पर्णानि - पत्ते; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'पर्ण'

सन्ति - हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'

यः - जो (पुरुष); सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'यत्'

तम्- उसको (संसार वृक्ष को); सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तत्'

वेद - जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै

सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'

वेदवित् - वेद के तात्पर्य को जानने वाला; विशेषण, वि. 'सः'

श्लोकार्थ : श्री भगवान कहते हैं: इस जगत को-ऊँचे मूल वाले, नीची शाखाओं वाले, वेद के मंत्र जिसके पत्ते हैं-अव्यय अश्वत्थ कहते हैं। जो उसे (जगत रूप अश्वत्थ वृक्ष को) जानता है वह वेदों को जानने वाला है।

विवेचन : पिछले अध्याय में बताया गया है कि पुरुष का गुणों के संग से प्रकृति से संबंध होने के कारण यह विचित्र जगत उत्पन्न होता है तथा पुरुष और प्रकृति का संबंध भी लीला के लिए भगवान का ही किया हुआ है, सांख्यशास्त्र के इस निरूपण के पश्चात प्रसंगोपात्त गुणों के विभागादि बताकर अंत में उन गुणों की निवृत्ति पूर्वक विरल भक्तिमार्गीय पुरुष अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं- ऐसा कहा गया है।

अब यह बतलाना चाहते हैं कि अक्षर ब्रह्म के भी आश्रय श्री पुरुषोत्तम क्षर और अक्षर से भी अतीत हैं, सर्व वेदान्त के तात्पर्य रूप हैं, क्षर-अक्षर और बद्ध-मुक्त, सभी के मूल रूप होने से सभी धर्मों के आश्रय तथा उत्तम हैं- यह कहना चाहते हैं। गुणों से सृष्टि उत्पन्न होती है, उसमें भी चित् तथा अचित्, नाम और रूप सभी भगवान के सत् तथा चित् अंश से उद्भूत हुए होने से भगवत्स्वरूप ही होने पर भी वे भजनीय न होकर सब के मूलभूत श्री पुरुषोत्तम ही भजनीय हैं-यह बोध कराने के लिए पहले प्रपंच का स्वरूप अढ़ाई श्लोक से कहते हैं। यहाँ जगत की अश्वत्थ अर्थात पीपल से तुलना कर जगत का स्वरूप कहते हैं।

जगत को अश्वत्थ अर्थात पीपल कहा है। यह अश्वत्थ कैसा है? ऊँचे मूलवाला - अर्थात जिसका मूल श्री पुरुषोत्तम सर्व से ऊँचे हैं, वैसा है। इस जगत को श्रीपुरुषोत्तम ने अपनी क्रीडा के लिए निर्मित किया होने से श्री पुरुषोत्तम ही प्रपंच अथवा जगत के मूल हैं। अथवा ब्रह्म पर्यंत ऊँचा जिसका मूल है, वैसे मूलवाला (अश्वत्थ वृक्ष) है। यहाँ भगवान को इस विचित्र नाम रूप प्रपंच अथवा जगत का मूल कहा गया होने से भगवान की महत्ता प्रतिपादित होती है तथा भगवान ही जगत का कारण हैं- यह बोध होता है। तदुपरान्त इस अश्वत्थ को नीची शाखाओं वाला कहा है। जीव आदि अश्वत्थ की नीचे वाली शाखाएँ हैं। यह अश्वत्थ अव्यय है क्योंकि भगवान ने अपनी लीला के लिए इसको उत्पन्न किया है अतएव नित्य है। एक अश्वत्थ वृक्ष पर करोड़ फल होते हैं और हरेक फल में असंख्य बीज होते हैं और उसके एक-

एक बीज से ब्रह्माण्ड रूप वृक्ष पुनः उत्पन्न होता है और इस वृक्ष पर पुनः फल लगते हैं। यह चक्रीय प्रक्रिया सतत रहने से इस वृक्ष का अंत नहीं है। इस आदि तथा अंत रहित वृक्ष का मूल भगवान ही हैं। इस वृक्ष पर पुनः-पुनः-फल आते रहने से ही भगवान कई बार अपने अंश से और कई बार तत्त्वों से ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। ऐसा उपदेश शास्त्र में है। 'ऊँचे मूल वाला' इत्यादि विशेषणों युक्त इस अश्वत्थ की रचना विचित्र है तथा यह परम काष्ठापन्न वस्तु भगवान की रचना होने से भगवान का अंश रूप अथवा भगवद्रूप है और इसीलिए सनातन अथवा नित्य है-यह संसूचित है। वेद के मंत्र इस अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते हैं, जैसे वृक्ष के पत्ते अपनी छाया से जीवों का ताप हरण कर सुख उत्पन्न करते हैं वैसे ही वेद के मंत्र भगवत्प्राप्ति के उपाय बताकर जीवों के ताप का निवारण कर उन्हें सुख प्रदत्त करते हैं।

जो ऐसे प्रपंच रूप इस अश्वत्थ को जानता है वह वेद को जानने वाला है। इस प्रपंच अर्थात जगत में अविद्या युक्त जीवों की अहंता - ममता से कल्पित कर्म इत्यादि के कारण पुनः-पुनः प्राप्त होते संसार को दूर करने के उपाय वेद में कहे गए हैं। अतः प्रपंच का ज्ञान सांसारिकता को दूर करने के साधनों का ज्ञान प्राप्त करने में उपयोगी है। इसीलिए कहा गया है कि जो प्रपंच अथवा जगत को जानता है वह वेद को जानता है। प्रपंच अथवा जगत के यथार्थ ज्ञान के बिना वेद का ज्ञान संभव नहीं है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके।।2।।

अन्वय :

तस्य - उसकी; सर्वनाम, ष.ए.व. 'तत्'

गुणप्रवृद्धाः - गुणों से वृद्धि को प्राप्त है; विशेषण, वि. 'शाखाः'

विषयप्रवालाः - विषयरूपी कोमल कोंपलें जिसकी; विशेषण, वि. 'शाखाः'

शाखाः - देव मनुष्य इत्यादि जन्म रूप शाखाएँ; नाम, प्र.ब.व.

अधः च ऊर्ध्वम् – नीचे और ऊपर; अव्यय
प्रसृताः – प्रसृत, प्रसरित; विशेषण, वि. 'शाखा'
च – और; अव्यय
मनुष्यलोके – मनुष्य लोक में; नाम, स.ए.व.पु.
कर्मानुबंधीनि – कर्मों के अनुसार बांधने वाला; विशेषण, वि. 'मूलानिः' ''कर्म एव अनुबंधः'' तद्धित 'इन्' प्रत्यय
मूलानि – अहंता ममता रूप जड़ें; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'मूल'
अपि अधः च ऊर्ध्वम् – नीचे और ऊपर भी; अव्यय
अनुसंततानि – पिरोया हुआ, प्रसरित; भू. कृ. विशेषण, वि. मूलानि
सन्ति – हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : गुणों से वृद्धि को प्राप्त तथा विषयरूपी प्रवाल वाली उसकी शाखाएँ नीचे और ऊपर फैली हुई हैं और मनुष्यलोक में कर्म में परिणत उसकी जड़ें नीचे फैली हुई हैं।

विवेचन : क्रीड़ा रूप वृक्ष का प्रथम श्लोक में निरूपण करने के पश्चात बताते हैं कि उससे ही संसार की उत्पत्ति होती है। उस अलौकिक वृक्ष की शाखाएँ नीचे तथा ऊपर फैली हुई हैं, विविध जीवरूपी शाखाएँ नीचे प्रसृत हैं और लीलावतार रूपी शाखाएँ ऊपर प्रसृत हैं। ये शाखाएँ सत्वादि गुणों से सिंचित होकर वृद्धि को प्राप्त हैं, और उनमें रूप आदि विषय पल्लव रूप से विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त नीचे मनुष्य लोक में उसकी वासना रूप जड़ें फैली हुई हैं। जैसे वृक्ष की जटाओं से नई जड़ें उत्पन्न होती हैं वैसे ही वासनारूपी जड़ें नीचे इस मनुष्य लोक मे फैली हुई हैं। वे जड़ें कर्म में रूपांतरित होती हैं, अर्थात उनसे कर्म उत्पन्न हुआ करते हैं। जैसे कर्म होते हैं वैसे ही लोक की प्राप्ति होती है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।।
अश्वत्थम् एनं सुविरूढमूलम् असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।3।।

अन्वय :
अस्य – इसका, संसार वृक्ष का; सर्वनाम, ष.ए.व.पु. 'इदम्'
रूपम् – स्वरूप; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'रूप'
तथा इह न – वैसा यहाँ नहीं; अव्यय
उपलभ्यते – मिलता है; क्रि.व.का.कर्मणि,तृ.पु.ए.व. 'उप+लभ्' 1गण आत्मने
यतः अस्य – क्योंकि इसका; अव्यय, सर्वनाम,ष.ए.व.
न(तु) – न(तो); अव्यय
आदि न – आरंभ नहीं
अन्तः – अंत; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अंत'
च न – और न ही; अव्यय
संप्रतिष्ठा – सम्यक रूपेण स्थित; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
अतः – इससे ; अव्यय
एनम् – यह; सर्वनाम,द्वि.ए.व. 'एतद्'
सुविरूढमूलम् – भली-भांति दृढ़ जड़ों वाले को; विशेषण,वि. 'अश्वत्थम्' 'सुविरूढम् मूलम् यस्य इति' बहु.
अश्वत्थम् – पीपल का; नाम,द्वि.ए.व. 'अश्वत्थ'
दृढेन – दृढ; विशेषण,वि. 'असंगशस्त्रेण'
असङ्गशस्त्रेण – असंगता के शस्त्र से, वैराग्यरूप शस्त्र से; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'असंगः एव शस्त्रम्' कर्मधारय
छित्त्वा – छेद कर; विधेय कृदन्त

ततः पदम् तत् परिमार्गीतव्यम् यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।।
तमेव चाद्यं पुरूषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।। 4।।

अन्वयः
ततः – तत्पश्चात; अव्यय

तत् - वह; विशेषण,वि.'पदम्'
पदम् - पद को; प्र.ए.व.नपु.'पद'
परिमार्गितव्यम् - खोजना चाहिए; विधेय कर्मणि, कृ.विशेषण,वि.'पदम्'
यस्मिन् - जिसमें; सर्वनाम, स.ए.व.'यत्' पु.
गताः - गए हुए; भू.कृ.विशेषण,वि. 'ये पुरूषाः'
जनाः - लोग; सर्वनाम, प्र.ब.व.
भूयः न - पुनः नहीं; अव्यय
निर्वतन्ति - पुनः आते हैं; क्रि.तृ.पु.ब.व. नि+वत् 1 गण
च - और; अव्यय
यतः - जिससे; सर्वनाम, पं.ए.व.पु.
इयम् - यह; सर्वनाम
पुराणी - पुरानी, पुरातन; विशेषण,वि.'प्रवृत्ति'
प्रवृत्तिः - प्रवृत्ति, संसार की प्रवृत्ति; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'प्रवृत्ति'
प्रसृत्ता - प्रसारित; विशेषण, वि. 'प्रवृत्तिः'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'
तम् - उसे; सर्वनाम,द्वि.ए.व.पु.'तत्'
एव - परंतु; अव्यय
आद्यम् - मुख्य; विशेषण,वि.'पुरूषम्'
पुरूषम् - पुरूष को; नाम,द्वि.ए.व.पु.'पुरूष'
प्रपद्ये - शरण में हूँ; क्रि.व.का.प्र.ए.व.पु.'प्र+पद्' 4गण,आत्मने

श्लोकार्थ : इसका(संसार वृक्ष का जैसा रूप दिखाई देता है) वैसा रूप (विचार करने पर) प्राप्त नहीं होता । उसी प्रकार उसका अंत, आदि अथवा प्रतिष्ठा(स्थिति) जानने में नहीं आती। इस अतिदृढ़ मूल वाले अश्वत्थ को दृढ़ असंगता के शस्त्र से छेदकर, जिस पद को प्राप्त पुनः लौट कर नहीं आता उस पद को ''जिस आद्य पुरूष से पुरातन प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त नहीं हुई है उसी आद्य पुरूष की मैं शरण हूँ'' इस प्रकार खोजना चाहिए ।

विवेचन : वासना रूप जड़ों से सृष्टि किस प्रकार होती है, यह बताते हैं। इस अश्वत्थ का भगवान का अलौकिक क्रीडा युक्त रूप, सत्य स्वरूप यहाँ प्राप्त नहीं होता, कर्मों में आसक्ति वाले जीवों को इस प्रपंच के भगवत्क्रीडात्मक रूप का भान नहीं होता और न ही वे इसका (संसार वृक्ष का) अंत, आदि अथवा प्रतिष्ठा या स्थिति जानते हैं। वे इस जगत को असत्य, अप्रतिष्ठ और अनीश्वर मानते हैं तथा कर्म में लीन रहते हैं। तब क्या करना उचित है? जिसकी जड़ें बहुत दृढ़ हो गई हैं उस संसार रूपी अश्वत्थ को असंग अर्थात अनासक्ति अथवा वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्र से छेदना चाहिए अर्थात संसार में आसक्ति न रखते हुये उससे दूर रहना। फिर क्या करना ? फिर अक्षर ब्रह्म रूप उस पद/भगवद धाम को खोजना जिसको प्राप्त हुआ वहाँ से पुनः नहीं लौटता । किसलिए ? उस पद को प्राप्त कोई पुनः इस संसार में नहीं लौटता इसलिए उस पद को खोजना चाहिए।

यह पद किस उपाय से खोजा जाए ? ''जिस आद्य पुरूष से पुरातन प्रवृत्ति विस्तीर्ण हुई है, मैं उसी की शरण में जाता हूँ'' इस प्रकार शरण भाव से भगवान की भक्ति करने से यह पद प्राप्त होता है। इस पद को प्राप्त करने का मुख्य साधन भक्ति है। भगवान की शरण जाने से सभी दोष दूर हो जाते हैं और उस पद की तुरंत ही प्राप्ति हो जाती है।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख सञ्ज्ञैर् गच्छंत्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत् ।। 5 ।।

अन्वयः

निर्मानमोहा - मान और मोह से रहित; विशेषण,वि.'पुरूषाः' ''मानश्च मोहश्च निर्गताः येभ्यः''
जितसंगदोषाः - संग के दोषों को जिन्होंने जीत लिया है; विशेषण,वि.'पुरूषाः''संगस्य दोषाः जिताः यैः इति' बहु.
अध्यात्मनित्या - जो अध्यात्म में नित्य रत हैं; विशेषण, वि. 'पुरुषाः' ''अध्यात्म एव नित्यम् येषाम् इति'' बहु.

विनिवृत्तकामाः - जो कामनाओं से विशेष रूप से(पूर्णरूपेण)निवृत्त हो गए है; विशेषण,वि.'पुरूषाः' ''विनिवृत्ताः कामाः येषाम् इति'' बहु.
च - और; अव्यय
सुख दुःख सञ्ज्ञैः - सुख और दुख संज्ञा है जिनकी; ''सुखं च दुःखं संज्ञा येषाम् इति'' बहु. विशेष्य **द्वंद्वैः**
द्वंद्वैः - द्वन्द्वों से; नाम,तृ.ब.व.नपु.'द्वंद्व'
विमुक्ताः - मुक्त; भू.कृ.विशेषण,वि.'पुरूषाः'
अमूढाः - मोह रहित; विशेषण, वि. 'पुरुषाः'
पुरूषाः - पुरूष; सर्वनाम, प्र.ब.व.
तत् - उस; विशेषण,वि.'पदम्'
अव्ययम् - अविनाशी; विशेषण,वि.'पदम्'
पदम् - पद को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'पद'
गच्छन्ति - जाते हैं, प्राप्त होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'गम्' 1गण

श्लोकार्थ : जो मान तथा मोह से रहित हैं; जिन्होने संग दोष को जीत लिया है; जो अध्यात्म में नित्यनिष्ठा वाले हैं; जिनकी कामनाएँ दूर हो गई हैं; जो सुख - दुख रूपी द्वंद्व से मुक्त हैं वे अमूढ़ उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं।

विवेचन : (जब) मान और मोह का अभाव, संग- दोष का अभाव , नित्य अध्यात्म ज्ञान, निवृत्तकामत्व, सुख-दुख रहित, द्वंद्व का अभाव होता है तब वह पद प्राप्त होता है। इन दोषों का अभाव तथा गुण भगवान की शरण जाने से प्राप्त होते हैं। दूसरे किसी भी साधन से प्राप्त नहीं होते । अतः भगवान की शरण रहकर भक्ति करना ही इस पद को प्राप्त करने का मुख्य साधन है। यह पद अव्यय है, 'व्यापीवैकुंठ' अथवा 'ब्रह्म' नामक यह पद अक्षर अव्यय है। वह इस रीति से भगवान की शरण जाने से प्राप्त होता है।

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। 6।।

अन्वयः
तत् - उस (परम पद)को; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
न - नहीं; अव्यय
सूर्यः - सूर्य; नाम,प्र.ए.व.पु.'सूर्य'
भासयते - प्रकाशित करता है; क्रि.तृ.पु.ए.व.व.कारक 'भास्' 1गण
न - नहीं; अव्यय
शशांकः पावकः - चंद्र अग्नि; नाम, प्र.ए.व.
भासयते - प्रकाशित करता है; क्रि.तृ.पु.ए.व., व. कारक 'भास्' 1 गण
तथा - और; अव्यय।
यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
गत्वा - प्राप्त होकर; संबंधक भू.कृ.
मनुष्याः - मनुष्य; प्र.ब.व.
न - नहीं; अव्यय
निवर्तन्ते - लौटकर आते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'नि+वृत्' 1गण आत्मने
तत् - वह; विशेषण,वि.'धाम'
मम - मेरा; सर्वनाम, ष.प्र.ए.व.'अस्मत्'
परमम् - परम; विशेषण,वि.'धाम'
धाम - धाम है; नाम, प्र.ए.व.नपु.'धामन्'

श्लोकार्थ : उस (परम) पद को सूर्य,चंद्रमा अथवा अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते । जिसको प्राप्त करने के पश्चात(जीव) पुनः लौट कर नहीं आता वह मेरा उत्तम धाम है।

विवेचन : उस पद को सूर्य, चंद्र अथवा अग्नि प्रकाशित नहीं करते, कारण कि वह स्वयंप्रकाश है। तदुपरान्त उस पद को प्राप्त कर कोई संसार में लौट कर पुनः नहीं आता। कारण, कि वह मेरा उत्तम धाम है।''वह विष्णु का परम पद है'' वचनों से श्रुति में भी इस पद का निरूपण किया गया है। यह अक्षरब्रह्मात्मक पद मेरा उत्तम धाम है। सूर्य आदि इसको प्रकाशित नहीं करते

वरन् सूर्य आदि सर्व को यह (धाम) प्रकाशित करता है। मेरा यह धाम ज्योतिरूप, निरूपम महिमावाला है।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के सूत्र 1/3/23 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। 7।।

अन्वयः

जीवलोके - जीवलोक में, देह में; नाम, स.ए.व.पु.
जीवभूतः - जीवात्मा; नाम,प्र.ए.व.पु.'जीवभूत'
मम - मेरा; सर्वनाम,ष.ए.व.'अस्मत्'
एव - ही; अव्यय
सनातनः - सनातन; विशेषण,वि.'जीवभूतः'
अंशः - अंश; नाम, प्र.ए.व.पु.
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'
च स एव - और वह ही; अव्यय ,सर्वनाम
प्रकृतिस्थानि - प्रकृति में स्थित रहने वाली; विशेषण,वि.'इंद्रयाणि'
मनः षष्ठानि - मन जिनमें छठा है ऐसी (इंद्रियाँ), मन सम्मिलित(छठा)है; विशेषण,वि.'इंद्रियाणिः' ''मनः षष्ठम् येषाम् विद्यते इति''
इंद्रियाणि - इंद्रियों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.
कर्षति - आकर्षित करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'कृष्' 1गण

श्लोकार्थ : जीवलोक (संसार)में जीव बना हुआ मेरा ही सनातन अंश प्रकृति में रही हुई मन सहित छ इंद्रियों को आकर्षित करता है।

विवेचन : मुझ सच्चिदानंदरूप पुरूषोत्तम का ही सनातन अशं जीवलोक में जीव बना हुआ है। सत्, चित् और आनंद इन तीन में से मात्र आनंद का

तिरोभाव हो जाने से चिद्रूप जीव भगवान की इच्छा से स्वयं से अलग हो जाता है। जीव, परंतु, भगवान का अशं होने से, वस्तुतः नित्यस्वरूप ही होने से, सनातन है। उसका आनंद तिरोहित होने पर, अनादि कर्मरूप अविद्या के आवेष्टन से जीवलोक में जीव बना हुआ वह प्रकृति के अमुक परिणाम रूप, देव मनुष्य आदि के शरीर में अवस्थित पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन को आकर्षित करता है। कोई जीव पहले कहे गए मार्ग से अविद्या से मुक्त होकर स्वरूप में स्थित रहते हैं परंतु संसारी जीव का ज्ञान तथा ऐश्वर्य अति सीमित रहता हैं और वह प्रकृति के परिणाम रूप शरीर में रही हुई मन सहित छः इंद्रियों को आकर्षित करता है अर्थात कर्म को अनुकूल करता है।

यह जीव भी सर्वशक्तिमान श्रीपुरूषोत्तम का अंश ही है। ब्रह्मसूत्र 2/3/43 के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है। भगवान के सत्, चित् और आनंद इन तीन मुख्य अंशों युक्त जीव चिद्रूप है। जीव में आनंदांश का तिरोभाव होने से उसको बंधन और अनीश्वरता प्राप्त होती है। ब्रह्म निरवयव अर्थात अवयव रहित होने से ब्रह्म में से अंश कैसे संभव है ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि ब्रह्म मात्र वेद से ही जाना जा सकता है। लोक में ब्रह्म सावयव है अथवा निरवयव है, यह जानने का कोई साधन नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान मात्र वेद से ही हो पाने के कारण वेद में उसका जैसा निरूपण किया गया है वैसा मानना चाहिए । ऐसा न कर वेद की श्रुतियों का विरोध उचित नहीं। जैसे अग्नि में से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे इंद्रियरहित - सर्वतः हस्त - पाद तथा सर्वतः अक्षि शिरः और मुखयुक्त ब्रह्म में से जड़ और जीव उत्पन्न होते हैं। सदंश से जड़ और चिदंश से जीव उत्पन्न होते हैं । श्रीपुरूषोत्तम की इच्छा से ही जीव में आनंदांश का तिरोभाव होता है और जड़ में चित् तथा आनंद अंश का तिरोभाव होता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म का अंश ही है।

जिस प्रकार(शरीर के) अंश हस्त इत्यादि को दुख होने से अंशी शरीर को दुख होता है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश होने से जीव के दुख से ब्रह्म को भी दुख होना चाहिए - ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे अग्नि दूसरों

के लिए तो ताप उत्पन्न करती है परंतु उससे स्वयं अग्नि को ताप अनुभूत नहीं होता वैसे ही ईश्वर की इच्छा से आनंदांश का तिरोभाव होने से जीव को बंधन इत्यादि की प्राप्ति से उसे दुख होने के बावजूद ईश्वर को दुख नहीं होता वरन् जीव की द्वैत बुद्धि होने से उसको ही दुख होता है। ब्रह्म को दुख नहीं होता। अथवा सूर्य आदि का अपना प्रकाश कहीं भी पड़ने पर भी वे प्रकाश के दोष से दूषित नहीं होते, वैसे ही अंश स्वरूप जीव को दुख होने पर भी अंशी ब्रह्म को कोई दुख नहीं होता । इसी प्रकार स्मृतियों में भी अंश जीव से दुख के संबंध का निरूपण है कि जैसे कमल पत्र को जल का स्पर्श नहीं होता वैसे अंशी ब्रह्म का दुख आदि से संबंध नहीं होता। इसलिए जीव ब्रह्म का अंश ही है, ब्रह्म का अंश होने से सजातीय है परंतु सर्वथा ब्रह्म ही नहीं है क्योंकि अंश, अंशी का सजातीय है पर अंशी से न्यून शक्ति वाला है। अंशी का सजातीय परंतु अंशी से न्यून शक्ति वाला हो वही अंश कहलाता है। श्रुतियाँ भी जीव को अणु कहती हैं; इसीलिए जीव ब्रह्म का अंश ही है।

जीव और ब्रह्म का विभाजन(विभाग) भी अविद्या से कल्पित नहीं, बल्कि ''विभक्तियुक्त अविभक्त '' आदि श्रुति वचन से सहज है और ईश्वरकृत ही है। ब्रह्म और जीव का विभाग अविद्याजनित है - ऐसा मानने पर उस विभाग के पूर्व उसकी कल्पना देने वाली अविद्या का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। उस समय अविद्या का आधार कौन ? आधार बिना अविद्या रह ही नहीं सकती। अत: उसका आधार अवश्य होना चाहिए । अविद्या स्वयं का ही आश्रय लेकर उस समय रही हुई है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ब्रह्म और अविद्या दोनों पदार्थों की उस समय विद्यमानता से अद्वैत का भंग होता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म ही अविद्या का आधार था - ऐसा मानें तो ब्रह्म में भी अविद्या होने से ब्रह्म भी संसारी जीव जैसा ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अविद्या दूर होने पर भक्ति हुई होने से (भक्ति के कारण) किसी एक जीव की मुक्ति होने पर ही अविद्या का उच्छेद (नाश)होता होने से सब की उसी समय मुक्ति होनी चाहिए, परंतु वैसा भी होता नही। अत: ब्रह्म तथा जीव का भेद

अविद्या से कल्पित मानने पर शास्त्र अप्रामाणिक हो जाता है तथा सर्वश: विप्लव(सम्यक् अध्ययन के अभाव में वेद का अनादर) होता है। अत: यही मानना उचित है कि यह भेद भी ईश्वर ने स्वयं की सहज इच्छा से किया हुआ है। अतएव सभी श्रुति और स्मृतियों के कथनानुसार सभी जीव भगवान ब्रह्म के अशं ही हैं, सनातन हैं और भगवान की इच्छा से ही भगवान से वियुक्त हैं - ऐसा ही मानना चाहिए ।

इस श्लोक में सभी जीवों को समष्टि के अभिप्राय से ''जीव'' एकवचन से अभिहित किया है। जीवलोक में अर्थात जीव के क्रीड़ास्थल इस प्रपञ्च अथवा जगत् में वह जीव होकर रहा हुआ है, वह देह की भांति आगंतुक नहीं, बल्कि सनातन है अर्थात सदा जीव रूप ही है, भौतिक सृष्टि की भांति उसकी उत्पत्ति बाद की नहीं है।

इस प्रपंच में जीव का क्या अर्थ है - यह बताते हैं। जीव प्रकृति में विद्यमान पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन (इन छ:) को अर्थात वासनामय लिंग शरीर को विषय भोग की उत्पत्ति के लिए आकर्षित करता है। जैसे किसान जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए जोतता है वैसे ही जीव लिंग शरीर को विषय भोग की उत्पत्ति के लिए अनुकूल बनाता है।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्म सूत्र 2/3/45 पर अणुभाष्य में की गई है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर:।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।8।।

अन्वय:

वायु: - वायु, नाम; प्र.ए.व.पु. 'वायु'
आशयात् - स्थान में, गंध के स्थान में से; पं.ए.व.पु. 'आशय'
गन्धान् - गंध को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'गंध'
इव - की भांति; अव्यय
ईश्वर: - देहादिका स्वामी जीवात्मा; नाम, प्र.ए.व.पु. 'ईश्वर'

अपि – पुनः, फिर से; अव्यव
यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
शरीरम् – शरीर को; नाम द्वि.ए.व.नपु.
उत्क्रामति – छोड़ देता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'उत् + क्रम्' 1 गण परस्मै
तस्माद् – उस शरीर से; सर्वनाम, पं.ए.व.
एतानि – ये; सर्वनाम, द्वि.ब.व.नपु. 'एतद्'
इंद्रियादीनि – इंद्रिय आदि को;
गृहित्वा – ग्रहण करके; विधेय कृदंत
संयाति – जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'सम् + या' 2 गण परस्मै
यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
शरीरम् – शरीर को; सर्वनाम, द्वि.ए.व.
अवाप्नोति – प्राप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.
तस्मिन् – उस में; सर्वनाम, स.ए.व.

श्लोकार्थ : जिस समय ईश्वर (देहादि का स्वामी) जो शरीर प्राप्त करता है तथा जिसमें से उत्क्रमण (त्याग) करता है तब, जैसे वायु गंध के स्थान में से गंध को ग्रहण कर अपने साथ ले जाती है वैसे ही वह (देहादि का स्वामी जीव) इसको (मन सहित छः इंद्रियों वाले लिंग शरीर को) ले जाता जाता है।

विवेचन : इंद्रियों का ईश्वर अर्थात इंद्रियों को आकर्षित करने वाला जीव जो शरीर प्राप्त करता है तथा जब उस शरीर का त्याग करता है तब वह वहाँ अपने साथ इनको अर्थात इन सहित छः इंद्रियों अथवा लिंग शरीर को भी ले जाता है। जीव इंद्रियों को अपने साथ सूक्ष्म भूतों सहित ले जाता है। जैसे वायु कस्तूरी आदि गंध के स्थान में से सूक्ष्म अवयवों के साथ गंध को ले जाती है, वैसे जीव सूक्ष्म भूतों के साथ मनसहित छः इंद्रियों को जिस शरीर में जाता है वहाँ तथा जिस शरीर का त्याग करता है उसमें से अपने साथ लेकर जाता है।

ब्रह्मसूत्र 2/3/19 तथा *20* में यही अर्थ कहा हुआ है। इस श्लोक की व्याख्या भी भागवत के श्लोक *10/5/1/44* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयान् उपसेवते।। 9।।

अन्वयः
श्रोत्रम् – कान; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'श्रोत्र'
चक्षु : – आँख; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'चक्षुष्'
स्पर्शनम् – स्पर्शेंद्रिय को, त्वचा; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'स्पर्श'
च – और; अव्यय
रसनम् – जीभ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'रसन'
च एव – और इसके अलावा; अव्यय
घ्राणम् – नाक; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'घ्राण'
च – और; अव्यय
मनः – मन; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'मनस्'
अधिष्ठाय – आश्रय करके, सब की सहायता से; विधेय कृदंत
अयम् – यह 'जीवः'; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'इदम्'
विषयान् – विषयों का; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'विषय'
उपसेवते – सेवन करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. उप+सेव आत्मने 1 गण

श्लोकार्थ : श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना, घ्राण और मन का अधिष्ठान कर यह (जीव) विषयों का सेवन करता है।

विवेचन : अब यह निरूपण करते हैं कि जीव किसलिए इंद्रियों को अपने साथ ले जाता है। श्रोत आदि छः इंद्रियों का अधिष्ठान (आश्रय) कर यह जीव विषयों का सेवन करता है। अर्थात जीव प्राकृत अहंकार के कार्य को, श्रोत आदि इंद्रियों के विषयों की वृत्ति को अनुकूल करके उन इंद्रियों से विषयें का भोग करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढ़ा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः।।10।।

अन्वयः

उत्क्रामन्तम् - शरीर को छोड़कर उत्क्रमण करने वाला; विशेषण, वि. 'जीवम्'

वा - अथवा; अव्यय

स्थितम् - शरीर में स्थित रहा हुआ; विशेषण, वि. 'जीवम'

भुञ्जानम् - विषयों को भोगते हुए; विशेषण, वि. जीवम्

वा - अथवा; अव्यय

गुणान्वितम् - तीनों गुणों से युक्त हुआ; विशेषण, वि. 'जीवम्' ''गुणैः अन्वितम् इति'' तत्पुरुष।

अपि - भी; अव्यय

विमूढ़ाः - अज्ञानी, अति मोह में फंसे हुए; विशेषण

न - नहीं; अव्यय

अनुपश्यंति - जानते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.अनु. +दृश् (पश्य्) 1 गण

केवलम् - केवल; अव्यय

ज्ञानचक्षुषः - ज्ञानरूपी आँखों वाले, ज्ञानीजन; नाम, प्र.ब.व.नपु. ''ज्ञानम् एव चक्षुः येषाम् तेषु'' बहु.

पश्यंति - देखते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'दृश्' (पश्य्) 1 गण

श्लोकार्थ : (शरीर का) उत्क्रमण करते हुए (छोड़ते हुए), स्थिति करते हुए, भोग करते हुए अथवा गुणों से युक्त जीव को विमूढ़ (मोह में फंसे हुए) जन नहीं देखते, परंतु ज्ञानचक्षु वाले (ज्ञानीजन) देखते हैं।

विवेचन : अब इस शंका को दूर करते हैं कि तब जीव (मनुष्य को) शरीर से भिन्न क्यों नहीं दिखाई देता। सत्त्वादि गुणों वाली प्रकृति के अमुक परिणामस्वरूप मनुष्यादि की देह के साथ संसृष्ट (अन्तर्भूत) जीव को वैसी किसी देह से निकलते हुए, अथवा किसी देह में स्थिति करते हुए तथा ईश्वरीय गुण प्राप्त कर उन गुणों वाला होकर रहे हुए (जीव को) विमूढ़ (जन) देखते नहीं हैं। प्राकृत मनुष्यादि की देह के अभिमान वाले अर्थात उस

देह को ही आत्मा मानने वाले विमूढ़ लोग जीव को देह से भिन्न नहीं देखते, परंतु जिनको देह और आत्मा का विवेक रूप ज्ञान है वे ज्ञानदृष्टि वाले जीव को, चाहे वह किसी भी अवस्था में हो, देह से भिन्न ही देखते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।11।।

अन्वयः

योगिनः - योगीजन, नाम, प्र.ब.व.पु. 'योगिन्'

आत्मनि - हृदय में; नाम, स.ए.व.

अवस्थितम् - रहे हुए को; विशेषण, वि. 'एनम्'

एनम् - इसको, जीव को; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'

यतन्तः - यत्न करने वाले; विशेषण, वि. 'योगिनः'

पश्यन्ति - देखते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'दृश्' (पश्य्) 1 गण परस्मै।

च - और; अव्यय

अकृतात्मानः - जिन्होंने अपने आत्मा और अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है (ऐसे); नाम, प्र.ब.व.पु. 'अकृतात्मन्'

अचेतसः - अज्ञानीजन; नाम, प्र.ब.व.नपु. 'अचेतस्'

यतन्तः - यत्न करने वाला; विशेषण, वि. 'अचेतसः'

अपि - भी, अव्यय

एनम् - इसको (जीव को); सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'एतद्'

न - नहीं; अव्यय

पश्यन्ति -देखते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'दृश्' (पश्य्) 1 गण

श्लोकार्थ : यत्न करने वाले योगीजन स्वयं में स्थित इस (आत्मा) को देखते हैं। जिन्होंने चित्त को वश में नहीं किया है वे मंदबुद्धि यत्न करने पर भी इस (आत्मतत्त्व) को नहीं देख पाते।

विवेचन : योगीलोग अर्थात जिन्होंने चित्त का निरोध कर लिया है वे यत्न करके अपने अंदर रहे हुए आत्मा को देख सकते हैं, परंतु जिन्होंने चित्त को

निरूद्ध नहीं किया वे मंदबुद्धि वाले तो प्रयत्न करके भी आत्मा को नहीं देख सकते। आत्मा ऐसा दुर्ज्ञेय है कि आत्मा और देह का जिनको विवेक है उनमें भी जिन्होंने चित्त का निरोध कर लिया है वे ही प्रयत्न करके उसको (आत्मा को) देखने के पात्र होते हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भायसतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्।।12।।

अन्वयः

यद् - जो; सर्वनाम, विशेष्य 'तेजः'
तेजः - तेज; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'तेजस्'
आदित्यगतम् - सूर्य में रहा हुआ; विशेषण, वि. 'तेजः'
अखिलम् - अखिल; विशेषण, वि. 'जगत्'
जगत् - जगत को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'जगत्'
भासयते - प्रकाशित करता है; क्रि.व. कारक, तृ.पु.ए.व.नपु.
च - और; अव्यय
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
तेजः - तेज; नाम, प्र.ए.व. 'तेजस्'
अग्नौ - अग्नि में; नाम, स.ए.व.पु. 'अग्नि'
वर्तते - रहता है; क्रि.तृ.पु.ए.व.
तत् - उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
तेजः - तेज; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'तेजस्'
मामकम् - मेरा; विशेषण, वि. 'तेजः'
विद्धि - जान; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए. 'विद्' 2 गण परस्मै

श्लोकार्थ : सूर्य का जो तेज अखित जगत को प्रकाशित करता है, चन्द्र और अग्नि में जो तेज है उसे तू मेरा ही तेज जान।

विवेचन : इस प्रकार इंद्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष (संबंध) के विरोधी अंधकार को दूर कर इंद्रियों को अपने प्रकाश से (प्रकाशित) अनुगृहीत करने

वाले सूर्य - चंद्र आदि ज्योतियों (ज्योति स्रोत) की भी जिसको अपेक्षा नहीं है ऐसा सच्चिदानंदरूप मेरा धाम अक्षर, काल, प्रकृति का अध्यक्ष पुरुष, केवल चिद्रूप आत्मा तथा जीव होकर रहा हुआ आत्मा ये सब मेरी विभूतियाँ और मेरे अंश हैं। ऐसा उपदेश करके भगवान यहाँ से चार (12 से 15) श्लोक में यह उपदेश करते हैं कि ऊपर पूर्व में कहे गए आदित्यादि के प्रकाशादि अचित (जड़) के परिणाम भी मेरी विभूति हैं।

आदित्य का तेज (जो सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है) तथा चन्द्र और अग्नि के तेज भी मेरे ही हैं।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र 1/3/23; 3/2/34 के संदर्भ में अणुभाष्य में और श्रीभागवत 2/5/11 के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।13।।

अन्वयः

च - और; अव्यय
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
गाम् - पृथ्वी; नाम, द्वि.ए.व. 'गो'
आविश्य - प्रवेश करके; विधेय कृदंत
ओजसा - तेज से, मेरी प्रकाशमयी शक्ति से; नाम, तृ.ए.व.नपु. 'ओजस्'
भूतानि - भूतों को, प्राणियों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'भूत'
धारयामि - धारण करता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'धृ' *10* गण परस्मै
च - और; अव्यय
रसात्मकः - रसरूप; विशेषण, वि. 'सोमः'
सोमः - चन्द्र; नाम, प्र.ए.व.पु. 'सोम'
भूत्वा - होकर; विधेय कृदंत
सर्वाः - सभी; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'सर्व'
ओषधीः - वनस्पति को; नाम, द्वि.ब.व. 'ओषधि'

पुष्णामि – पोषण करता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'पुष्' 9 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : बल से पृथ्वी में प्रवेश कर मैं भूतों को धारण करता हूँ और रस रूप चन्द्र बनकर सभी ओषधियों का पोषण करता हूँ।

विवेचन : पृथ्वी में जो धारण शक्ति है और चंद्रमा में जो पोषण शक्ति है वह भी मेरी (भगवान की) ही है – ऐसा निरूपण करते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।14।।

अन्वयः

अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'

एव – ही; अव्यय

प्राणापानसमायुक्तः – प्राण और अपान से युक्त; विशेषण, वि. ''वैश्वानरः''

प्राणिनाम् – प्राणियों का; नाम, ष.ब.व.पु. 'प्राणिन्'

देहम् – देह को; नाम, द्वि.ए.व.

आश्रितः – आश्रय किया हुआ; विशेषण, वि. ''वैश्वानरः''

वैश्वानरः – वैश्वानर; अग्नि का नाम है, नाम, प्र.ए.व.पु.

भूत्वा – होकर; विधेय कृदंत

चतुर्विधम् – चार प्रकार के; विशेषण, वि. 'अन्नम्'

अन्नम् – अन्न को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ;'अन्न'

पचामि –पचाता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'पच्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मैं वैश्वानर होकर प्राणियों की देह का आश्रय करके प्राण और अपान से युक्त हो चार प्रकार के अन्न का पाचन करता हूँ।

विवेचन : वैश्वानर की पाचन शक्ति मेरी ही है। अतः भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय – इन चार प्रकार के अन्न का पाचन करने वाला मैं ही हूँ।
इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र 1/2/26 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैर् अहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम् ।। 15।।

अन्वयः

च – और; अव्यय ।

अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्'।

एव – ही; अव्यय।

सर्वस्य – सब(प्राणियों)के; सर्वनाम, ष.ए.व.पु.'सर्व'

हृदि – हृदय में; नाम, स.ए.व.पु.'हृत्'।

सन्निविष्टः – प्रविष्ट; भू.कृ.विशेषण,वि.'अहम्' ।

अस्मि – हूँ; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व.'अस्' ।

मत्तः – मुझ से; सर्वनाम, पं.ए.व.'तः' प्रत्यय

एव – ही; अव्यय।

स्मृतिः – स्मृति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. ।

ज्ञानम् – ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'ज्ञान'

च – और; अव्यय ।

अपोहनम् – विस्मृति; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।

भवति – होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.

च – और; अव्यय

सर्वैः – सब (प्राणी); विशेषण,वि.'वेदैः' ।

वेदैः – वेदों के द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु.'वेद'

अहम् – मैं;सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्'।

एव – ही, मात्र; अव्यय

वेद्यः – जानना चाहिए; विधेय कर्मणि, कृदंत, विशेषण,वि.'अहम्' ।

अस्मि च – हूँ,और; क्रियापद, अव्यय ।

वेदांतकृत – वेदान्त के रचने वाले, वेद के रहस्य को समझाने वाले; विशेषण,वि.'अहम्'

च – और; अव्यय

वेदवित् - वेद को जानने वाला; विशेषण, वि. 'अहम्'
अपि - भी; अव्यय
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्' ।
एव - सिवाय, अलावा; अव्यय
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व 'अस्'

श्लोकार्थ : मैं सभी (प्राणियों) के हृदय में प्रविष्ट(विद्यमान) हूँ। मुझ से ही स्मृति, ज्ञान और विस्मरण होता है। सब वेदों के द्वारा वेद्य(जानने योग्य) मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्ता और सब वेदों को जानने वालो मैं ही हूँ।

विवेचन : सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि में प्रकाश, वैश्वानर में पाचक शक्ति - ये सब मेरे हैं अर्थात सूर्य, चंद्र, अग्नि वैश्वानर ये सब मैं हूँ - पूर्व में ऐसा कहने का यहाँ कारण बताते हैं। सूर्य, चंद्र, अग्नि वैश्वानर तथा प्राणी मात्र के हृदय में मैं प्रविष्ट हूँ। समस्त प्रवृत्ति के कारण रूप ज्ञान का जहां से उदय होता है, उन सबके हृदय में मैं सबके आत्मा के रूप में प्रविष्ट हूँ। इसीलिए श्रुति भी इस संबंध में - ''अंत: प्रवेश किए हुए लोगों के शासक'' - आदि के रूप में कथन करती है। मैं सब के हृदय में विद्यमान(प्रवेश किया हुआ) रहने से सब में स्मृति, ज्ञान और अपोहन अर्थात विस्मरण भी मुझ से ही होते हैं। पूर्व में अनुभव किए हुए विषयों के मात्र संस्कार से उत्पन्न हुआ ज्ञान वह ''स्मृति'' और इंद्रिय, अनुमान, शास्त्र और योग से वस्तुओं के संबंध में ''यह ऐसी/अमुक है'' इस प्रकार का निश्चय होना ''ज्ञान''। स्मृति और ज्ञान का नष्ट होना ''अपोहन'' अथवा विस्मरण है। ये सब मुझ से/ मेरे कारण (अस्तित्व में) होते हैं। कारण यह है कि सब के आत्मा के रूप में सब वेदों के द्वारा वेद्य(जानने योग्य)मैं ही हूँ। वेद में अग्नि, सोम, वायु, इंद्र आदि का वर्णन किया हुआ है परंतु उन सबका अंतर्यामी मैं हूँ इसलिए वे सब मेरे रूप ही होने से उनका वर्णन करने वाले वेद भी मेरा ही गान करते हैं।

वेदान्त अर्थात उपनिषद में सब का निषेध कर मेरे आत्मा का ही निरूपण किया हुआ है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि, यह जीव की

मात्र कल्पना है कि वेदान्त में सब का निषेध किया हुआ है। सब वेदों के निर्णयों के सिद्धांत रूप वेदान्तों (उपनिषद)को मेरे बिना अन्य कोई नहीं जानता। इसलिए ही जीव द्वारा कल्पित अध्यारोपापवाद(वस्तु पर अवस्तु के आरोपण का मत) का खंडन करके ब्रह्मवाद के अनुसार तत्व का निश्चय कराने के लिए मैंने कृष्णद्वैपायनरूप से वेदान्त सूत्र की रचना की है।

इसके अतिरिक्त, जैसे रस्सी में सर्प का आरोप(भ्रम)हो और बाद में रस्सीका यथार्थ ज्ञान होने पर वह आरोप (भ्रम) दूर हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में जगत का अध्यारोप होता है और बाद में वह आरोप दूर होता है - ऐसा वादी (पूर्व पक्ष वाले) मानते हैं। उस स्थिति में भी अध्यारोप और उसका दूर होना अर्थात अपोहन जीव के द्वारा कल्पित है या सत्य है? जीव के द्वारा कल्पित मानने पर श्रुतियों का विरोध होता है क्यों कि श्रुतियाँ जगत को सत्य मानते हुए वर्णन करती हैं। वह(जगत)सत्य है- ऐसा कहना तो हमें भी अभीष्ट ही है। अध्यारोप और अपोहन भगवान के द्वारा किया हुआ कहने पर भी जगत को मिथ्या नहींकहा जा सकता। इसलिए यही निश्चय होता है कि जगत को मिथ्या कहना मात्र कल्पना ही है। अध्यारोप और उसका अपोहन माया से होता है। ऐसा स्वीकारने पर ब्रह्मवाद के अनुसार, माया भी भगवान से अन्य पृथक् तत्व नहीं है।

ब्रह्मवाद के अनुसार क्षर, अक्षर और अक्षरातीत - तीन स्वरूपों से भगवान रमण करते हैं। भगवान सर्व शक्तिमान हैं। वे अपनी आज्ञानुसार आचरण करने वाली, स्वेच्छया स्वयं से पृथक की हुई, अपने सदंशरूप ''स्वभाव'' 'कर्म' आदि नाम वाली अपनी माया को रमण के लिए अपने चिदंश रूप क्षर के साथ संबद्ध करते हैं तब प्रवाह सृष्टि होती है।

अक्षर आत्मा का ज्ञान और उसकी साधन रूप शक्तियाँ उत्पन्न कराके रमण के लिए भगवान ने मार्यादासृष्टि की रचना की है। क्षर और अक्षर से अतीत अपने स्वरूप प्रपंच से रमण करने के लिए सृजित अपने प्रतिबिंब रूप भक्तों के साथ आत्माराम भगवान नित्य रमण किया करते हैं। यह पुष्टि सृष्टि है।

वेद का ऐसा भावार्थ वेदान्त का रचयिता और वेद का ज्ञाता केवल मैं जानता हूँ। दूसरा कोई नहीं जानता । अतः सभी वेदांतों का सार तू मुझ से ही जान(समझ) ।

इस श्लोक की व्याख्या श्री भागवत के श्लोक सं. *10/06/34* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

द्वाविमौ पुरूषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। 16।।

अन्वयः

लोके - लोक में, संसार मे; नाम, स.ए.व.पु.'लोक'
क्षरः - क्षर, नाशवान, देह; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
च - और; अव्यय।
एव - इसके अतिरिक्त; अव्यय
अक्षरः - अक्षर, अनश्वर; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
इमौ - ये; सर्वनाम,प्र.द्वि.व.पु.'इदं'
द्वौ - दो; विशेषण, वि.'पुरूषौ' ।
पुरूषौ - दो पुरूष; नाम, प्र.द्वि.व.पु.
स्तः तयोः - उनमें(विद्यमान)है; क्रियापद, सर्वनाम ।
सर्वाणि - सब; सर्वनाम, प्र.ब.व.नपु.'सर्व'
भूतानि - प्राणी; नाम, प्र.ब.व.नपु.'भूत' ।
क्षरः - नाशवान; नाम, प्र.ए.व.पु.
च - और; अव्यय
कूटस्थः - शरीर में रहने वाला; विशेषण, प्र.ए.व.पु. विशेष्य'पुरूषः'
अक्षरः - अक्षर; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
उच्यते - कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरूष हैं। सभी प्राणी क्षर हैं तथा कूटस्थ अक्षर कहा जाता है।

विवेचन : इस जगत में क्षर और अक्षर उभय प्रकार के पुरूष हैं तथा दोनों में से कोई भी स्त्री प्रकृति वाला अथवा जड़ नहीं है। क्योंकि दोनों को पुरूष कहा गया है। अतः जिसको अधिकांश स्थानों पर ''अव्यक्त'' कहा गया है उस ''अक्षर'' को स्त्री रूप प्रकृति मानने वाले विभिन्न मतवादियों का खंडन हो जाता है ।

मूल में ''एव च = और अक्षर ही'' शब्द हैं, अतः क्षर भी अक्षर ही है। अर्थात जो क्षरपुरूष है वह भी स्वरूप से अक्षर ही है; क्षर नहीं। परंतु उसमें क्षरत्व का आभास भगवान की इच्छा से प्रकृति से उसका संसर्ग होने से प्रकृति की संसर्ग रूप उपाधि से हुआ है। वह वास्तविक नहीं है - ऐसा सूचित होता है। यह अर्थ भगवान स्वयं ''सभी प्राणी क्षर हैं, और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है।'' - इस प्रकार बता रहे हैं। ब्रह्मा से तृण पर्यंत सभी प्राणी जिनको जीव कहा गया है और जो भगवान के सदंश रूप प्रकृति के साथ सम्बद्ध होने से जिन्हें उत्पत्ति आदि क्रिया का विषय कहा गया है, वे 'क्षर' पुरूष हैं। यहाँ, प्राणी अनंत होने के बावजूद समष्टि के प्रयोजन से एकवचन संज्ञा से अभिहित किया गया है। ''कूट'' अर्थात प्राणियों के समूह में रहने वाला कूटस्थ शुद्ध, सच्चिदानंदरूप, भगवद्धाम आदि नामों से अभिहित ''आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना'' इत्यादि उपनिषद के ज्ञान से जिसका साक्षात्कार होता है, उसे अक्षर पुरूष कहते हैं। यह प्राणियों के समूह में अंतर्यामी रूप से रहता है। यह अक्षर भगवद्धाम होने से भगवद्धाम के प्रयोजन से एकवचन रूप से अभिहित किया गया है।

उत्तमः पुरूषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। 17।।

अन्वयः

उत्तमः - उत्तम; विशेषण,वि.'पुरूषः'।
पुरूषः -पुरूष; नाम, प्र.ए.व.पु.'पुरूष'
तु - परंतु; अव्यय ।

अन्य - अन्य; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
एवास्ति - ही है; अव्यय, क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'यत्'।
लोकत्रयम् - तीनों लोक को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'लोकत्रय'
आविश्य - प्रविष्ट होकर; विधेय कृदन्त ।
बिभर्ति - धारण करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'भृ' 3गण, परस्मै
एवम् सः - इस प्रकार से वह; ।
अव्ययः - अविनाशी; विशेषण, वि.'ईश्रः'।
ईश्वरः - ईश्वर; नाम, प्र.ए.व.पु.'ईश्वरः'
परमात्मा - परमात्मा; नाम, प्र.ए.व.पु.'परमात्मन्' ।
इति - इति प्रकार; अव्यय
उदाहृतः - कहा गया; भू.कृ.विशेषण,वि.'पुरूषः'

श्लोकार्थ : ''परमात्मा'' कहा जाने वाला उत्तम पुरूष तो अन्य है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश कर उनको धारण करता है।

विवेचन : सबसे उत्तम, सबके आश्रयरूप मुख्य स्वरूप का अब निरूपण करते हैं।'तु'= तो शब्द, पूर्व में वर्णित क्षर तथा अक्षर से इसका भेद दर्शाता है। सब कारणों का कारण रूप यह उत्तम पुरूष पूर्व वर्णित क्षर तथा अक्षर से भिन्न है। इसको ''परमात्मा'' कहते हैं। यह परम आत्मा है। गंगाप्रवाह और गंगा अध्यात्मदेवता की भांति अक्षर और परमात्मा का भेद है। अक्षर गंगाप्रवाह जैसा है और उत्तम पुरूष परमात्मा गंगा अध्यात्मदेवता जैसे हैं।

उक्त श्रीपुरूषोत्तम अद्भुत ऐश्वर्ययुक्त हैं। ये तीनों लोक में प्रवेश कर उनको धारण करते हैं परंतु उनमें विकृति नहीं है। वे 'अव्यय' अर्थात विकाररहित हैं। विकाररहित द्वारा तीनों लोकों को धारण करना कैसे संभव है ? वे ईश्वर हैं, कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् सामर्थ्य से युक्त हैं, अतः अव्यय रहकर तीनों लोक में प्रवेश करके उनको धारण करते हैं। सभी विरूद्ध धर्मों के आश्रय हैं।

इस संबंध में निम्नवत फलित बताया गया है। प्रकृति के कार्य सबसे हल्के(गौण) हैं। उसके साथ संबंध रखने वाला, उसके साथ संसृष्ट आत्मा क्षर है। उससे संबंध रहित उत्कृष्ट आत्मा अक्षर है। सबसे उत्तम श्रीपुरूषोत्तम हैं। पुराण भी ऐसा ही उपदेश करते हैं। क्षर बद्धपुरूष है, अक्षर बद्ध नहीं है, स्वरूप से क्षर भी अक्षर ही है। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि ''मेरी बद्ध और मुक्त के रूप में की गई व्याख्या गुण से है, वास्तविक नहीं। ''इसका अर्थ यह है कि क्षर रूप से आत्मा को बद्ध कहा है और अक्षर रूप से मुक्त कहा है। 'बद्ध' के रूप में की गई व्यवस्था सत्त्व, रजः और तमः गुणों को लेकर की गई है अतः बद्ध के रूप में की गई व्याख्या वास्तविक (तत्त्व-ब्रह्म के स्वरूप के विचार से) नहीं।

यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।18।।

अन्वयः
यस्मात् - जिससे, जिस कारण से; अव्यय
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व. ''अस्मत्''
क्षरम् - क्षर से, नाशवान को; नाम, द्वि.ए.पु.
अतीतः - अतीत; भू.कृ. विशेषण, वि. ''अहम्''
च - और अव्यय।
अक्षरात् - अक्षर से; नाम, पं.ए.व.पु.
अपि - भी; अव्यय।
उत्तमः - उत्तम; विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. ''अस्'' 2 गण, परस्मै
अतः - इसलिए; अव्यय
लोके - लोक में; नाम, स.ए.व.पु. 'लोक'
च - और; अव्यय
वेदे - वेद में; नाम, स.ए.व.पु. 'वेद'

पुरुषोत्तमः - पुरुषोत्तम; नाम, प्र.ए.व.पु.
इति नाम्ना - इस नाम से;
प्रथितः - जिसका बखान किया गया हो, प्रसिद्ध; भू.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.द्वि.ए.व.पु. 'अस्'

श्लोकार्थ : मैं क्षर से अतीत हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ। अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूँ।

विवेचन : भगवान स्वयं कह रहे हैं कि वैसा (पूर्वकथित) पुरुषोत्तमत्व मुझ में ही है। मैं क्षर से अतीत हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ। अतः लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूँ। श्रुतियाँ, क्षर और अक्षर इन उभय पुरुषो से उत्तम मेरा पुरुषोत्तमत्व दर्शाती है। चौदह लोक में सर्वत्र मेरा माहात्म्य दृष्टिगोचर होने से लोक में भी पुरुषोत्तमत्व प्रसिद्ध ही है। अतः मैं जो दिखाई देता हूँ वही सच्चिदानंद आकृति वाला हूँ। साधारण मनुष्य के रूप में मेरा जो दर्शन होता है वह माया के कारण ही होता है। यह निश्चित है।

इस श्लोक की व्याख्या श्रीभागवत के *1/10/20/;10/3/9* तथा *10/29/31* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

यो माम् एवम् असम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत!।।19।।

अन्वयः
भारत - हे भारत! सम्बोधन
एवम् - इस प्रकार; अव्यय
यः -जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.
असम्मूढः -ज्ञानी, मोहरहित मनुष्य; विशेषण, वि. ''यः''
माम् - मुझे;सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'
पुरुषोत्तमम् - पुरूषोत्तम को; नाम, द्वि.ए.व.पु.

जानाति - जानता है;क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''ज्ञा'' 9 गण, परस्मै
सः - वह; सर्वनाम; प्र.ए.व.पु.
सर्ववित् - सर्वज्ञ; विशेषण, वि. 'सः'
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.ए. 'अस्मत्'
सर्वभावेन - सर्व भाव से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'सर्वभाव'
भजति - भजता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'भज्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत! जो मोह रहित पुरुष मुझे सब प्रकार से पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ मेरा सर्वभाव से भजन करता है।

विवेचन : मैं सबसे उत्तम, श्री पुरषोत्तम होने से उत्तम ज्ञान वाला और सर्वज्ञ मेरा (भक्त) अनन्यता के साथ मेरा भजन करता है - ऐसा कहते हैं। जो मोह से रहित पुरुष इस प्रकार मुझे अज, अनादि पुरुषोत्तम रूप से जानता है, वह सर्वज्ञ मेरा सर्वभाव से भजन करता है, उस मोह रहित को ही मेरे पुरुषोत्तमत्व का ज्ञान होता है। क्योंकि मोह, आसुर है और आसुरी को ऐसा ज्ञान नहीं होता। जो मोह रहित पुरुष मुझे अज अनादि पुरुषोत्तम रूप में जानता है वह सर्वज्ञ है, कारण कि मुझ एक के ज्ञान से उसको सबका ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह सर्वात्म भाव से मेरी सेवा करता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रम् इदम् उक्तं मयाऽनघ!।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत!।।20।।

अन्वयः
अनघ - हे अनघ, हे निष्पाप; सम्बोधन
भारत - हे भारत, अर्जुन; सम्बोधन
इति - इस प्रकार; अव्यय
इदम् - इस; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'इदम्'
गुह्यतमम् - गुह्याति गुह्य, अतिगोपनीय; विशेषण, वि. 'शास्त्रम्'
शास्त्रम् - शास्त्र को; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'शास्त्र'

मया - मेरे द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'
उक्तम् - कहा गया; भू.कृ. विशेषण, वि. 'शास्त्रम्'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
एतद् - यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
बुद्ध्वा - जानकर; विधेय कृदंत
मनुष्यः - मनुष्य; सर्वनाम
बुद्धिमान् - बुद्धिमान; विशेषण, वि. 'कश्चित्'
च - और; अव्यय
कृतकृत्य - जिसने स्वयं का कृत्य कर लिया है-वह; विशेषण, वि. 'कश्चित्' ''कृतं कृत्यम् यस्य इति'' बहु.
स्यात् - होता है; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे अनघ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मैंने कहा। हे भारत! इसको जानकर (मनुष्य) बुद्धिमान और कृत कृत्य होता है।

विवेचन : इस अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं- हे अनघ पापरहित कुतर्कहीन अर्जुन! यह सर्ववेदान्त का साररूप सबसे गुह्य 'पुरुषोत्तम योग' नामक शास्त्र सर्ववेदान्त से वेद्य वेदान्त कर्ता श्रीपुरुषोतम अर्थात मैंने तुम्हें बताया। क्योंकि तू निष्पाप होने से यह गुह्यतम शास्त्र जानने का अधिकारी है। इसे जानकर प्रत्येक सामान्य मनुष्य भी बुद्धिमान, शास्त्र के तात्पर्य को जानने वाला और कृत कृत्य हो जाता है, तो भरतकुलोत्पन्न तू वैसा हो जाए इसमें आश्चर्य ही क्या?

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम् योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ''पुरुषोत्तमयोगो'' नाम पंचदशोऽध्यायः।।15।।

।। अध्याय 16 ।।

दैवासुरसम्पद्विभाग योग

श्रीभगवान् उवाच

अभयं सत्त्व - संशुद्धिर् ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानंदमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस् तप आर्जवम्।।1।।
अहिंसा सत्यमक्रोधः त्यागः शांतिर् अपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।2।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीम् अभिजातस्य भारत।।3।।

अन्वय :
अभयम् - निर्भयता; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अभय'
सत्त्वसंशुद्धिः - सत्त्व अर्थात अंतःकरण की भली-भांति शुद्धता; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. 'सत्त्वसंशुद्धि'
ज्ञानयोग व्यवस्थितिः - ज्ञान और योग में दृढ़ स्थिति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
च - और; अव्यय
दानम् - दान; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'दान'
दमः - इंद्रियनिग्रह; नाम, प्र.ए.व.पु. 'दम'
यज्ञः - यज्ञ; भगवन्निमित्तक कर्म, नाम, प्र.ए.व.पु.
स्वाध्यायः - वेदशास्त्रादि का पठन; नाम, प्र.ए.व.पु.
तपः - धर्मपालन के निमित्त कष्ट सहन करना, सहनशीलता; 'नाम, प्र.ए.व.नपु.
च - और; अव्यय
आर्जवम् - शरीर, इंद्रियों तथा अन्तःकरण आदि की सरलता, विशुद्धता; नाम, प्र.ए.व.नपु.
अहिंसा - मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्रकार का कष्ट न देना; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.

सत्यम् – यथार्थ और प्रिय भाषण; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
अक्रोधः–अक्रोध; अपकार करने वाले का अपराध सहना; नाम, प्र.ए.व.पु.
त्यागः – कर्तृत्व के अभिमान का त्याग; नाम, प्र.ए.व.पु.
शांतिः – चित्त की चंचलता का त्याग; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
अपैशुनम् – निन्दा न करना; नाम, प्र.ए.व.नपु.
दया – कारण परत्वे (हेतु रहित) दया; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
भूतेषु – प्राणियों में; नाम, स.ब.व.नपु.
अलोलुप्त्वम् – इंद्रियों का विषयों से संयोग होने पर भी आसक्ति न रखना; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अलोलुप्त्वम्'
मार्दवम् – अन्तःकरण के मनोभावों की कोमलता; नाम, प्र.ए.व. नपु.
ह्री : – लोकविरूद्ध,शास्त्रविरुद्ध, भगवद्धर्म विरुद्ध, आचरण में लज्जा; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
अचापलम् – व्यर्थ प्रयत्न न करना, चपलता का अभाव; नाम, प्र.ए.व.नपु.
तेजः – भगवद्भावात्मक तेज; नाम, प्र.ए.व.नपु.
क्षमा – क्षमा; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
धृतिः – धैर्य, त्रिदुख सहनः नाम, प्र.ए.व. स्त्री
शौचम् – अंतर्बाह्य की शुद्धि; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'शौच'
अद्रोहः – शत्रु भाव न धारण करना; नाम, प्र.ए.व.पु. 'अद्रोह'
च न – और नहीं; अव्यय
अतिमानिता – अपनी पूज्यता के अभिमान का अभाव; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
भारत – हे भारत!; सम्बोधन (इमे गुणाः = ये गुण)
दैवीम् – दैवी (संपत्ति) को; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री.
सम्पदम् – संपत्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
अभिजातस्य – सात्विक भाव को प्राप्त; नाम, ष.ए.व.पु. 'अभिजात्'
भवन्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे भारत ! 1. अभय, 2. अन्तःकरण की शुद्धि, 3. ज्ञान तथा योग में स्थिति, 4. दान, 5. दम, 6. यज्ञ, 7. स्वाध्याय, 8. तप, 9. ऋजुता, *10.* अहिंसा, 11. सत्य, 12. अक्रोध, 13. त्याग, 14. शांति, 15. 'अपैशुन' अर्थात किसी की चुगली न करना, 16. प्राणियों के प्रति दया, 17. 'अलोलुप्त्व' अर्थात भोग की इच्छा से मन का चाञ्चल्य न करना, 18. मृदुता, 19. लज्जा, *20.* चपलता का अभाव, 21. तेज, 22. क्षमा, 23. धृति, 24. पवित्रता, 25. अद्रोह, 26. मानिता का अभाव – ये (गुण) दैवी सम्पद् में जन्म लेने वाले में होते हैं।

विवेचन : गत अध्याय के अंत में श्री पुरुषोत्तम की सर्वात्म भाव से सेवा करने वाले तथा श्री पुरुषोत्तम से सम्बन्धित ज्ञानयुक्त को बुद्धिमान और कृतकृत्य बताया गया है। इस सृष्टि में कई लोग बुद्धिमान् दिखाई देते हैं फिर भी वे ऐसे उत्तम ज्ञान के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते, ऐसी शंका के समाधान के लिए गत अध्याय के 19वें श्लोक में ''मोहरहित'' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात जो आसुरी जीव नहीं हैं – दैवी जीव हैं, उनको ही उनका (श्री पुरुषोत्तम का) ज्ञान हो सकता है। दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् से क्या तात्पर्य है और उनके क्या कार्य हैं, इन सबका बोध इस अध्याय में कराया गया है।

पहले तीन श्लोक से दैवी सम्पद् का बोध कराते हैं। ऊपर अभय से आरंभ कर जो 26 गुण कहे गए हैं वे दैवी सम्पद् (लक्षणों/गुणों) के साथ जन्म लेने वाले (प्राणियों) में होते हैं। ''दैवी'' अर्थात देव से संबंधयुक्त। भगवान के वचनानुसार आचरण करने का जिसका स्वभाव हो जाए, वह देव। इस प्रकार देवों की सम्पद् अर्थात देवों की भगवत्प्राप्ति की साधनरूप सामग्री अथवा देवों की सृष्टि। यह सृष्टि भगवान के वचन रूप धर्म के अनुसार आचरण करने वाली ही होती है। ऐसी सृष्टि में जो जन्म लिया हुआ हो तो वह ''दैवी जीव'' कहलाता है। उसमें ऊपर बताए गए 26 गुण होते हैं।

विशेष : 1. अभय का भाव अद्वैतभावना के तत्पर होने से निर्मित होता है। जगत् में भगवान् के सिवाय अन्य कोई पदार्थ नहीं है। ऐसी भावना निर्मित होने

पर ही अभय अंतर्भाव में उत्पन्न होता है। यह भाव भगवद्रस की प्राप्ति में अति उपयोगी है। इस कारण से अभय को मुख्य रूप से महत्व दिया गया है।

2. अन्त: कारण में वासनाएँ रहती हैं। वासनाओं से मलिनता आती है। मलिनता दूर करने के लिए बुद्धियोग का स्थिर अभ्यास आवश्यक है।

3. सांख्ययोग में बताई गई प्रक्रिया के अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने पर चित्त में भगवद्ध्यान सुदृढ़ करने के लिए सतत अभ्यास आवश्यक है। यथास्थिति बनाए रखने के लिए भगवद् माहात्म्य का नित्य चिंतन आवश्यक है।

4. दान सात्त्विक भाव से किया जाना चाहिए। ममता के त्याग का मार्ग दान के माध्यम से प्रशस्त होने से त्याग भावना से ममता को कम करना सुझाया गया है।

5. इंद्रियों का सामान्य स्वभाव बाहर भटकने का होता है। इंद्रियाँ अनुचित रस के आस्वाद में आनंद का अनुभव करती हैं। जीव का धर्म भगवद्धर्माभिमुख होने का है। इंद्रियाँ जीव को उस धर्म से विमुख करती हैं। अत: इंद्रियों के दमन (बाह्य वृत्तियों पर नियंत्रण) की आवश्यकता है। 4 के बजाए 5 को सिद्ध करने में विशेष ध्यान रखना अपेक्षित है।

6. यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। कर्मकाण्ड के नियमानुसार उनकी व्यवस्था है। कलियुग में इस प्रकार की व्यवस्था स्वाभाविक रूप से संभव नहीं है। यज्ञ में 'यज्' धातु है। यज् का अर्थ सेवा होता है। अत: भगवत्स्वरूप की सेवा यज्ञ की भांति जानी जाती है।

7. श्रुति (वेद) और स्मृति (शास्त्र) का भावपूर्वक अध्ययन करते हुए भगवद् गुणगान में प्रवृत्त होना। यह प्रवृत्ति रहने पर चित्त भगवन्मय बनता है।

8. कष्ट सहन करने को 'तप' कहा जा सकता है। स्वधर्म पालन में कष्ट सहन करने की विशेष आवश्यकता है। इसके द्वारा सहिष्णुता और धैर्य बढ़ता है। देह, इंद्रिय, प्राण और मन का निरोध होता है। देह की आसक्ति दूर होती है। इतने और इस प्रकार के गुणों के कारण 'तप' को प्रधानता दी गई है।

9. आर्जव अर्थात सरल भाव। पवित्रता सरल भाव से आती है। पारस्परिक व्यवहार में पवित्रता न हो तो क्लेश सहन करना पड़ता है। शुद्ध भाव प्रगट करने में सरलता का विशेष महत्त्व है। सरलता भगवद् भाव को (अन्त:करण में) स्थापित करने में सहायक है। कोमल भावों की जब तक प्राप्ति नहीं होती तब तक चित्त में विषमता रहती है और विषमता सर्वत्र बाधक सिद्ध होती है।

10. हिंसा न करना। यह (अहिंसा) धर्म उच्च भावना वाला है; यह सही है। इस भावना के प्रति तत्पर होने से पूर्व अंदर की वृत्तियाँ नियमबद्ध होनी चाहिए। यम और दम के साधनों से वृत्तियों को नियंत्रित रखकर अन्य जीवों को अपने समान मान लेने पर हिंसा में प्रवृत्ति नहीं होती।

11. सत्य बोलना अर्थात यथार्थ बोलना।

12. अक्रोध का लक्षण विलक्षण भाव सूचक है। स्वभाव से अयोग्यता, अपकारिता इत्यादि ज्ञात हो तो क्रोध के लक्षण प्रगट हैं। यदि सामने वाला पक्ष बलवान दिखाई दे तो क्रोध दब जाता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ अक्रोध विद्यमान है। अक्रोध की भावना निर्मित होने से पूर्व अन्त:करण में निर्दुष्ट भाव निर्मित हों, ऐसे प्रयास होने चाहिए। निर्दुष्ट भावना चित्त की समस्थिति के बिना निर्मित नहीं होती। समस्थिति के लिए यम और दम की आवश्यकता होती है। साथ ही अंत:करण को सात्त्विक ज्ञान से स्वच्छ और प्रेमार्द्र बनाना आवश्यक है। इतनी तैयारी के बाद ही अक्रोध स्वाभाविक रीति से जीव के साथ रहेगा। ऐसा अक्रोध उसको शांति की भावभूमि पर ले जाकर ज्ञान की परिपाटी में सहायक होगा।

13. त्याग के दो प्रकार हैं : सांख्य सिद्धान्त के अनुसार सर्व त्याग और योग सिद्धान्त के अनुसार कर्मफल त्याग । सांख्य सिद्धान्त का त्याग आधुनिक समय में संभव नहीं । अत: यह कहना उचित होगा कि योग सिद्धांत के त्याग का व्यवहार में निर्वहन किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि मन से त्याग के लिए तैयार होकर कर्म में से ममता को छोड़ देना । निष्काम कर्म करना और

उसे(कर्म) मात्र ब्रह्मार्पण करना अथवा भगवत्प्रीत्यर्थ करना। अर्थात कर्तृत्व का अभिमान छोड़ कर त्याग भाव प्रकट करना।

14. 'शांति' शब्द सामान्य रूप से चित्त के धर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। चित्त के भाव चंचल होते हैं। चंचलता सब प्रकार के विक्षेप को खड़ा करती है। चित्त का विक्षेप विषय को - भगवत् स्वरूप को नहीं समझा सकता। चित्त का चैतन्य के साथ अति निकट का (प्रकृष्ट) संग है अर्थात चित्त स्वस्थ हो तो जीव भगवद्भाव सिद्ध कर सकता है।

15. अपैशुन - वासनामय वृत्तियाँ अन्तःकरण में निवास कर अंतर्निविष्ट रहती हैं। इन वृत्तियों में परकीय दोष देखना, द्वेष करना, निंदा करना, सहनशक्ति न रहने देना और सामान्यतः अरूचि होना आदि(दोष)जीव के भाव में सम्मिलित रहते हैं। इन सब दोषों को पिशुनता कहते हैं। 'पिशुनता' अर्थात दुष्ट भाव। इन दुष्ट भावों को दूर करने के लिए उचित भावों का विस्तार करने की वृत्ति को निर्मित करना अपैशुन कहा जाता है।

16. भूत दया अर्थात सभी प्राणियों के प्रति दया वृत्ति रखना। यह गुण, मनोभाव और चित्त को भावनामय बनाने में सहायक होता है। इस प्रकार की वृत्ति यदि सतत बनी रहे तो अनेकानेक भगवद्भाव प्रकट होते हैं। ये भाव उपकारक होते हैं। ऐसी दया हेतुरहित होनी चाहिए अर्थात मात्र स्वयं को लाभ पहुंचाने वाले जीव पर ही दया करने के बजाय सभी में दया भाव रखना चाहिए।

17. अलोलुपता। मन सदैव लोलुप रहता है। तात्पर्य कि किसी न किसी पदार्थ पर इसकी आसक्ति रहती ही है। यह आसक्ति जीवन के लिए बाधक रूप है। आसक्ति संसार में घसीट ले जाती है और वासनाएँ खड़ी रहती हैं। अतः इंद्रियों पर विषयों के प्रति उचित नियंत्रण रखना चाहिए। मन जहां जाएगा वहाँ वहाँ इंद्रियाँ अपना कार्य करेंगी। अतः अलोलुपता रखने से इंद्रियों से उचित कार्य होते हैं और ये कार्य परमार्थ के कार्यों में सहयोग करते हैं।

18. मार्दव : कठोर भावना स्वयं के लिए भी और दूसरों के लिए भी कठिनाई पैदा करती है। भगवद् कार्य में कठोरता नहीं होनी चाहिए। अतः हृदय में मृदुता विकसित की जानी चाहिए। कोमलता से हृदय सात्त्विक बनता है। साथ ही भगवद् विषय समझने में सुगम हो जाते हैं।

19. ह्री अर्थात लज्जा एक भाव है। यह भाव प्रकट करने की विशेष आवश्यकता है। लोक और शास्त्र के विरूद्ध आचरण न करने में लज्जा समाविष्ट है। जिनमें लज्जा होगी उनका आचरण शुद्ध और सरल होगा। निर्लज्ज मनुष्य को लोकनिंदा और देव की अवकृपा प्राप्त होती है।

20. अचापलम् - कुछेक जीवों में अनुचित चपलता का दोष होता है। ऐसी चपलता की वजह से चित्त सदा व्यग्र रहता है। एकाग्रता के बिना किसी भी प्रकार का लाभ नहीं होता। जीवन में प्रारंभ से अंत पर्यंत एकाग्रता बनी रहे तो सभी कार्य सफल होते हैं। चपलता से तो मात्र व्यर्थ चेष्टा ही होती है। परिणामस्वरूप कुछ भी हासिल नहीं होता।

21. ''तेज'' एक तत्व शक्ति है। भगवान से इसका प्रादुर्भाव होता है। इस शक्ति के द्वारा भगवद् विषय को यथार्थ रूप से समझा जा सकता है। प्रत्येक इंद्रिय में इस तेज का स्फुरण है। इतना ही नहीं बल्कि वही देह में विकास को प्राप्त होता है। यह तेज कोई एक को ही प्राप्त होता है।

22. क्षमा : क्षमावान जीव में ही दया हो सकती है। ऐसी दया विरोधाभास खड़ा करने वाली न होने से उस(जीव)का कोई विरोध नहीं करता। तात्पर्य कि उसका कोई शत्रु नहीं बनता। शत्रुभाव न हो तब जीव में भगवद् भाव प्रकट होता है। अनन्य भाव से यह गुण प्राप्त होता है। अद्वैतभाव प्राप्त करने में यह गुण सहायक होता है।

23. धृति : धृति अर्थात धैर्य, जिसमें भय है उसमें धैर्य विद्यमान नहीं रहता। जब तक देह पर आसक्ति रहती है तब तक भय रहता है। देह में आसक्ति न्यून

होते – होते धैर्य बढ़ता है। फिर सहिष्णुता का धर्म प्रगट होता है। सहिष्णुता आने वाले संकटों को सहन करती है। संकट आत्मोन्नति में बाधक होते हैं। आत्मोन्नति का मार्ग धैर्य से प्रशस्त होता है और इस प्रकार भगद्भाव सिद्ध होने में धैर्य सहायक बनता है।

24. शौच : शौच दो प्रकार का होता है। बाहर और अंदर अर्थात शरीरशुद्धि और मनशुद्धि। शौच अर्थात पवित्रता, स्वच्छता। वह अंदर और बाहर से होनी चाहिए। मन और शरीर साधन रूप है। जीव की उत्कर्ष भावना में ये दोनों उपयोगी हैं। इन दोनों की शुद्धि से जीव की भावनाएँ पवित्र बनती हैं। दूसरे, किसी के साथ भी दुष्ट व्यवहार नहीं रह जाता ।

25. अपकार करने को द्रोह कहा जा सकता है।

26. नातिमानिता : कई जीवों की यह स्वाभाविक कामना होती है कि दूसरों से अपने को आदर और सम्मान प्राप्त हो जिसके चलते अपेक्षाकृत अधिक मान–प्रतिष्ठा पाने की कामना बलवती होती जाती है। इस प्रकार की कामना(मनोरथ)को अतिमानिता कहा जाता है। यह एक प्रकार का दोष है। जिसमें यह दोष होता है उसके प्रति लोकभाव कम होता जाता है। अत: उसमें भगवद् भाव नहीं आता। इस कारण अतिमानिता का त्याग आवश्यक है।

इस प्रकार उक्त 26 लक्षण दैवी जीव में बताए गए हैं। इन श्लोकों से सूचित किया गया है कि अर्जुन दैवी संपत्ति युक्त है। इन 26 में से जितने गुण प्राप्त किए जा सकते हैं उतने स्वयं में विकसित करना जीवों के लिए आवश्यक है।

दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारूष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ! सम्पदम् आसुरीम् ।। 4।।

अन्वय :

पार्थ – हे पार्थ; सम्बोधन ।

दंभः – दंभ, पाखंड; नाम, प्र.ए.व.पु.
दर्प – दर्प, गर्व; नाम,प्र.ए.व.पु. ।
च – और; अव्यय ।
अभिमानः – अभिमान; नाम, प्र.ए.व.पु.
च – और; अव्यय
क्रोधः – क्रोध; नाम, प्र.ए.व.पु.
च – और; अव्यय
एव – इसके अतिरिक्त, और; अव्यय
पारूष्यम् – कठोर वाणी; नाम,प्र.ए.व.नपु.
अज्ञानम् – अज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु.' अज्ञान'
एते दोषाः – ये सब दोष; प्र.ब.व.
आसुरीम् – आसुर भाव वाली; विशेषण,वि.' सम्पदम्'
सम्पदम् – संपत्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
अभिजातस्य – उत्पन्न हुए(मनुष्य)को; भू.कृ.विशेषण,वि.' पुरूषस्य'
भवति – होता है; क्रि.तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : हे पार्थ! दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारूष्य और अज्ञान आसुरी संपद में जन्म लिए हुए (मनुष्य) को प्राप्त होते हैं।

विवेचन : 1. दंभ अर्थात भीतर धर्म न रहने पर भी बाहर से धर्म का पाखंड–दिखावा करना। 2. दर्प 3. अभिमान 4. क्रोध तथा 5. 'पारुष्य' अर्थात कठोरता और 6. अज्ञान; ये सब आसुरी सम्पद् में जन्म लेने वाले (जीव) को प्राप्त होते हैं। मूल में 'च' का बार–बार प्रयोग सूचित करता है कि दैवी सम्पद् के जो 26 गुण कहे उनके विरूद्ध दुर्गुण इन आसुरी जीवों में होते हैं। भगवान के वचनों में माया का बोध मानने वाले और भगवान के वचनानुसार आचरण न करने के स्वभाव वाले आसुरी जीव होते हैं।

विशेष : इस श्लोक में आसुरी संपत्ति (युक्त जीवों) के बारे में बताया गया है। पिछले तीन श्लोकों में बताए गए दैवी संपत्ति के भावों से विरूद्ध जाते भाव

आसुरी भाव हैं। तदुपरान्त अन्य छह हैं। उनके बारे में यहाँ बताया जा रहा है –
1. दंभ 2. दर्प 3. अभिमान 4. क्रोध 5. परुषता 6. अज्ञान

1. दंर्भ – दंभ में पाखंड धर्म आता है। पांखड होने से यह पाप का खंड है। तात्पर्य कि जिनके हृदय में पाप की भावना है वे पाखंड मार्ग में ही प्रवर्तित होते हैं और उसके द्वारा दूसरों को ठगने की योजना बनाते हैं।

2. दर्प – दर्प को गर्व नाम से जाना जाता है। दर्प में मद तथा दूसरों का अनिष्ट करने की भावना विद्यमान रहती है।

3. अभिमान – यह एक भावदोष है। इस भावदोष में जीव अपनी सभी वृत्तियों को मन में रखे रहने की योजना बनाता है। उसको योग्यता अथवा अयोग्यता की चिंता नहीं होती। अभिमानी जीव दूसरों पर दोष मढ़ कर स्वयं के निर्दोष होने का दिखावा करता है। इस प्रकार वह स्वयं को भी और दूसरों को भी हानि पहुँचाता है।

4. क्रोध : क्रोध एक मनोभाव है। यह मनोभाव जिससे द्वेष किया जाता है उस पर शस्त्र की भांति प्रयुक्त किया जाता है। अर्थात जिससे द्वेष है उसका किसी न किसी भांति नुकसान करने की प्रवृत्ति क्रोध में रहती ही है। विषम भाव प्रकट करने में द्वेष एक मुख्य पदार्थ है और सहकारी क्रोध को उभाड़ कर जीव को दिशाभ्रष्ट करता है। यह भ्रष्टता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि उसका कोई मित्र नहीं रहता। अर्थात उचित सलाह न मिलने से यह (क्रोध) पदच्युत हो जाता है।

5. परूषता : यह वाणी का व्यापार है। वाणी – व्यवहार में बोलने वाले को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिससे वार्तालाप किया जा रहा है वह भी मेरे साथ उसी ब्रह्म से संबंध (अंश रूप से) रखने वाला है। अर्थात दोनों जीवभाव के स्तर पर समान हैं। कठोर वाणी का उपयोग कर सामने वाले के मन को पीड़ा पहुंचाना और उसे हीनता की दृष्टि से देखना स्वयं में आसुरी संपत्ति की विद्यमानता का लक्षण है।

6. अज्ञान : ऊपर पाँच प्राकर की जो आसुरी संपत्ति बताई गई हैं उन सब का मूल अज्ञान है। जब तक मनुष्य को श्रेष्ठ, शुद्ध, निष्कलंक प्रकाशमय भाव उत्पन्न करने वाला ज्ञान नहीं होता तब तक प्राप्त किया हुआ आस-पास का व्यावहारिक ज्ञान, लौकिक ज्ञान अथवा वैदिक ज्ञान अज्ञान ही है।

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीम् अभिजातोऽसि पाण्डव! ।। 5।।

अन्वयः

दैवी – देव सम्बन्धी; विशेषण,वि.'सम्पत्'।
सम्पत् – द् – सम्पत्ति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.'सम्पत्'
विमोक्षाय – मुक्ति के लिए; नाम, च.ए.व.पु.'मोक्ष'
च – और; अव्यय
आसुरी – आसुरी; विशेषण,वि.'सम्पत्'
निबन्धाय – बांधने के लिए; नाम, च.ए.व.पु. ।
मता – मानी गई; भू.कृ.विशेषण,वि.'सम्पत्'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'।
पाण्डव – हे अर्जुन!; सम्बोधन
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मद्'
मा – नहीं; अव्यय
शुचः – शोक करना; क्रि.भू.का.द्वि.पु.ए.व.'शुच' 1 गण
यतो हि त्वम् – क्योंकि तू; अव्यय सर्वनाम।
दैवीम् – दैवी; विशेषण,वि.'सम्पदम्'
सम्पदम् – सम्पत्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. ।
अभिजातः – प्राप्त हुए, उत्पन्न हुए; भू.कृ.विशेषण,वि.'त्वम्'
असि – है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : दैवी सम्पद् मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पद् बंधन के लिए मानी गई है। हे पाण्डव(अर्जुन) ! तू शोक मत कर। तुमने दैवी सम्पद् में जन्म लिया है।

विवेचन : उभय सम्पद् के कार्य बताए हैं। दैवी सम्पद् का कार्य मोक्ष प्रदान करना है। दैवी सम्पद् पुष्टि और मर्यादा इन दो मार्ग से मोक्ष देती है। आसुरी सम्पद् का कार्य बंधन है। आसुरी सम्पद् वाले को सर्वथा बंधन ही प्राप्त होता है। हे पाण्डु पुत्र अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तुमने दैवी सम्पद् में जन्म लिया है। अर्जुन को स्वयं के बारे में ज्ञात नहीं है कि उसने किस सम्पद् में जन्म लिय है। अत: उसको शोक करता देख भगवान आश्वस्त करते हैं कि तुमने दैवी सम्पद् में जन्म लिया है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ! मे शृणु ।। 6।।

अन्वयः

पार्थ – हे अर्जुन! सम्बोधन ।
अस्मिन् – इस; सर्वनाम, स.ए.व.पु. 'इदम्'
लोके – लोक में; नाम, स.ए.व.पु. 'लोक'
द्वौ – दो; विशेषण, वि. 'भूतसर्गौ'
भूतसर्गौ – प्राणियों की सृष्टि-स्वभाव; नाम, प्र.द्वि.व.पु. ''भूतसर्ग''।
मतौ – मानी जाती है।
दैवः – दैवी; विशेषण, वि. 'सर्गः'
च एव अपरः – और इसके अलावा दूसरी; अव्यय
आसुरः – आसुरी; विशेषण, वि. ''सर्गः''
तयोः मया – उसमें मेरे द्वारा; तृ.ए.व.
दैवः – दैवी; विशेषण, वि. ''सर्गः'' (सर्गः = सर्ग)
विस्तरशः – विस्तार से; अव्यय
प्रोक्तः – कहा गया; भू.कृ. विशेषण, वि. 'सर्ग'
(अस्ति अतः इदानि – है अर्थात अब से, आगे से)
मे – मुझ से; सर्वनाम; ष.ए.व. 'अस्मत्'
आसुरम् – आसुरी; विशेषण, वि. 'सर्गम्'
शृणु – सुन; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'शृ' 5 गण परस्मै

श्लोकार्थ : इस लोक में दैव और असुर दो ही प्रका के भूतों (प्राणियों) की सृष्टि है। हे पार्थ! दैवी सृष्टि के बारे में (तुम्हें) विस्तार से बताया है। अब मुझ से आसुर सृष्टि का श्रवण कर।

विवेचन : इस लोक में दैव और असुर दो प्रकार के भूतों की सृष्टि है। मैंने तुम्हें दैवी सृष्टि के बारे में विस्तार से बताया। अब आसुरी (सृष्टि) का श्रवण कर। दैवी सृष्टि के भी दो प्रकार हैं – 1. मर्यादा और 2. पुष्टि। आसुरी सृष्टि, प्रवाही है अत: इसे प्रवाह सृष्टि कहा गया है। इस प्रकार पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा ये सृष्टि के प्रकार हैं।

(भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिस्तीति निश्चयः; द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः; वेदस्यविद्यमान्त्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता – पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद 2/3) इस श्लोक की व्याख्या भागवत के श्लोक *3/3/20* के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।। 7।।

अन्वयः

आसुराः – आसुर स्वभावयुक्त; विशेषण, वि. ''जनाः''
जनाः – मनुष्य; नाम, प्र.ब.व.पु. 'जन'
प्रवृत्तिम् – प्रवृत्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
च – और, अव्यय
निवृत्तिम : निवृत्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
च न – तथा न; अव्यय
विदुः – जानते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै
अतः – इसके लिए; अव्यय
तेषु – उनमें; सर्वनाम, स.ब.व.पु. 'तत्'
न – नहीं; अव्यय
शौचम् – बाह्य अन्तर् शुद्धि; नाम, प्र.ए.व.नपु.

च न अपि - और न ही; अव्यय
आचारः - आचरण; नाम, प्र.ए.व.पु. ''आचार''
च न - और न ही; अव्यय
सत्यम् - सत्य; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'सत्य'
विद्यते - होता है; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'विद्' 4 गण, आत्मने

श्लोकार्थ : आसुरी (प्रकृति वाले) मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के संबंध में नहीं जानते। उनमें शौच, आचार और सत्य नहीं होता।

विवेचन : आसुरी सृष्टि के साथ सर्व संबंध के त्याग की दृष्टि से यहाँ से, 12 श्लोक (7-18) तक आसुरी सृष्टि का विस्तार से निरूपण करते हैं। वेद में कहे गए प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग को आसुरी जीव जानते नहीं हैं। वेद में कहे गए प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग में भी उनकी रूचि नहीं होती। वेद में कहे गए कर्म अथवा शास्त्र में उनको निश्चित विश्वास नहीं है। कारण कि उनमें पवित्रता, श्रेष्ठ आचरण और सत्यता नहीं है। मानसिक पवित्रता, कायिक सदाचार के अभाव के साथ-साथ उनमें वाणी की सत्यता भी नहीं है। इस प्रकार उनमें मानसिक, कायिक और वाचिक दोष विद्यमान होते हैं।

असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगदाहुर् अनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्।।8।।

अन्वयः
असत्यम् - असत्य; विशेषण, वि. 'जगत्'
अप्रतिष्ठम् - प्रतिष्ठा रहित, आश्रय विहीन; विशेषण, वि. 'जगत्'
अनीश्वरम् - ईश्वर बिना; विशेषण, वि. 'जगत्'
अपरस्परसम्भूतम् - परस्पर (प्रकृति रूप स्त्री और चित्त रूप पुरुष के संयोग से) बना हुआ; विशेषण, वि. 'जगत्'
किम् - क्या; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
अन्यत् - दूसरा; विशेषण, वि. 'किम्'

कामहैतुकम् - भोग की प्राप्ति करना ही जिसका हेतु है; विशेषण, वि. 'जगत्' ''काम एव हेतुः यस्य इति'' बहु.
जगत् - जगत्; नाम, द्वि.ए.व.नपु. (अस्ति इति = होना, अस्तित्वमय)
ते - वे, आसुरी प्रकृति वाले पुरुष; सर्वनाम, प्र.बहु.पु. 'तत्'
आहुः - कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'ब्रू' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : वे जगत को असत्य, अप्रतिष्ठित, अनीश्वर, प्रकृति-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ और काम ही जिसका हेतु है, ऐसा कहते हैं और दूसरा (कारण) क्या (है-ऐसे पूछते हैं)।

विवेचन : ''हे सौम्य! इससे पूर्व सत्य ही (विद्यमान) था'' इत्यादि श्रुति-प्रमाण जगत को सत्य कहते हैं परंतु आसुरी जीव जगत को असत्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त (वे) उसको (जगत को) माया से अथवा अपने अज्ञान के कारण कल्पित मानते हैं। यदि जगत असत्य है तो जगत में विद्यमान वेद, वेदमें कहे गए साधन आदि सभी असत्य होने से व्यर्थ हो जाते हैं। कारण कि शश-शृंग की भांति असत्य, अर्थात वस्तुतः जिसका अस्तित्व नहीं है वैसे, पदार्थ से किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं हो सकता। तदुपरान्त वे जगत को अप्रतिष्ठ अर्थात जिसकी ब्रह्म में प्रतिष्ठा नहीं है तथा अनीश्वर अर्थात सत्य संकल्प सर्वव्यापक श्रीपुरूषोत्तम जैसे नियन्ता के बिना(जगत को)बताते हैं। मैंने पीछे कहा है कि ''मैं सबका उत्पत्ति स्थान हूँ। मुझमें से सब प्रवर्तित होते हैं।'' परंतु आसुरी जीव इससे विरूद्ध जाकर जगत को असत्य, अप्रतिष्ठ और अनीश्वर मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे प्रकृति रूप स्त्री तथा चित् - पुरूष के संयोग से ही जगत का उत्पन्न होना मानते हैं। उनका कहना है कि ऐसे संयोग बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है। अतः यह संपूर्ण जगत कामहैतुक है अर्थात जगत की उत्पत्ति का कारण वे प्रकृति पुरूष का काम ही मानते हैं।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के 1/1/3 के संदर्भ में अणुभाष्य की गई है।

एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। 9।।

अन्वयः

एताम् - इस (को); सर्वनाम, द्वि.ए.व.स्त्री. एतद् ' ।

दृष्टिम् - दृष्टि को; मिथ्या ज्ञान को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री ' दृष्टि ' ।

अवष्टभ्य - अवलंबन करके; विधेय कृदंत ' अव+स्तम्भ् '9गण

नष्टात्मानः - नष्ट हो गया है आत्मा जिनका; विशेषण,वि.' आसुरपुरूषाः '

अल्पबुद्धयः - अल्पबुद्धि है जिनकी; विशेषण,वि.' आसुरपुरूषाः '

अहिताः - अहित करने वाला; विशेषण,वि. ' आसुरपुरूषाः '

उग्रकर्माणः - उग्र हैं कर्म जिनके, क्रूर हैं कर्म जिनके; विशेषण, वि.' आसुरपुरूषाः '

जगतः - जगत के; नाम, ष.ए.व.नपु.' जगत् ' ।

क्षयाय - नाश करने के लिए; नाम, च.ए.व.पु.' क्षय '

प्रभवन्ति - होते हैं, उत्पन्न होते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.' प्र+भू ' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इस दृष्टि(मिथ्या ज्ञान) का अवलंबन करके नष्ट आत्मा वाले, अल्पबुद्धि वाले, उग्र कर्म वाले, जगत के शत्रु जगत के नाश के उद्भूत होते हैं ।

विवेचन : ''सर्व जगत मिथ्या है'' - ऐसी दृष्टि का अवलंबन कर ''हम ब्रह्मरूप हैं, परंतु अविद्या के साथ संबंध होने से जीव बने हुए हैं ।'' - ऐसा मत रखने से नष्ट आत्मा वाले अर्थात आत्मा के यथार्थ स्वरूप का भान जिन्हें नहीं है, वे अल्पबुद्धि वाले और हिंसा प्रधान उग्र कर्म करने वाले जगत के शत्रु जगत के नाश के लिए उत्पन्न होते हैं ।

कामम् आश्रित्य दुष्पूरं दम्भ - मान - मदान्विताः ।
मोहाद् - गृहीत्वाऽसद्ग्राहात् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।। *10* ।।

अन्वयः

दम्भ - मान - मदान्विताः - दम्भ, मान और मद से युक्त; विशेषण,वि.' आसुर पुरूषाः दम्भमानमदैः अन्विताः ' तत्पुरूष

दुष्पूरम् - पूर्ण नहीं होने वाला; विशेषण,वि.' कामम् '

कामम् - काम को, कामनाओं को; द्वि.ए.व.पु.' काम ' ।

आश्रित्य - आश्रय करके; विधेय कृदन्त

च - और; अव्यय

मोहात् - मोह से, अज्ञान से; नाम, पं.ए.व.पु.' मोह '

असद्ग्राहात् - मिथ्या सिद्धांतों को; नाम,द्वि.ब.व.पु.' असद्ग्राह '

गृहीत्वा - ग्रहण करके; विधेय कृदन्त ' गृह् ' 9गण ।

अशुचिव्रताः - भ्रष्ट आचरण वाले, अपवित्र व्रतों को धारण करने वाले; विशेषण,वि.' आसुरपुरूषाः '

जगति - जगत में; स.ए.व. ।

प्रवर्तन्ते - प्रवर्तित करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.' प्र+वृत् ' 1गण परस्मै

श्लोकार्थ : दुष्पूर काम का आश्रय कर दम्भ, मान तथा मद युक्त होकर अपिवत्र आचरण वाले मोह के कारण दुष्ट आग्रह को ग्रहण करके(संसार में) प्रवर्तित होते हैं ।

विवेचन : दुख पाकर भी जो पूर्ण न हो सके वैसे दुष्पूर काम का आश्रय लेकर दंभ, मान तथा मद में मत्त रह कर अपवित्र व्रतों का आचरण करने वाले मोह के कारण दुष्ट आग्रह अर्थात क्षुद्र देवताओं के मंत्र आदि को ग्रहण करके (जगत में) विचरते हैं । अर्थात अपने सभी मनोरथ पूर्ण करने में क्षुद्र देवताओं के मंत्र आदि को साधन रूप जानकर उनके मंत्रों का सेवन करते हैं और अपेय (पदार्थों का पान)का पान आदि अपवित्र आचरण कर क्षुद्र देवताओं की आराधना करते हैं ।

चिन्ताम् अपरिमेयां च प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावद् इति निश्चिताः ।। 11।।

अन्वयः

प्रलयान्ताम् – मृत्यु पर्यन्त रहने वाली; विशेषण, वि. 'चिन्ताम्'

अपरिमेयाम् – अनंत; विशेषण, वि. 'चिन्ताम्'

चिन्ताम् – चिन्ताओं को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'चिन्ता'

उपाश्रिताः – आश्रय लेने वाले; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः'

च – और; अव्यय

कामोपभोगपरमाः – विषयभोग को परम (सब से बढ़कर) मानने वाले; ''कामस्य भोगः सः एव परमः येषाम् इति'' बहुव्रीहि

च – और; अव्यय

एतावत् – इतना ही; अव्यय

आनंद : अस्ति – आनंद है; क्रि., तृ.पु.ए.व.

इति – ऐसा; अव्यय

निश्चिताः – निश्चय करने वाले; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः'

आशापाशशतैर्बद्धाः काम-क्रोध-परायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेनार्थसंचयान्।।12।।

अन्वयः

आशापाशशतैः – आशारूपी सैकड़ों पाश से; नाम, तृ.ब.व. नपु. ''आशा एव पाशः तेषां शतं'' तत्पुरुष

बद्धाः – बंधे हुए (मनुष्य); विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः'

च – और; अव्यय

कामक्रोधपरायणाः – काम, क्रोध के वश में होकर; विशेषण, वि. ''आसुरपुरुषाः'' ''कामश्च क्रोधश्च तौ परम् अयनम् येषाम् इति'' बहु.

कामभोगार्थम् – काम को भोगने के लिए; नाम, च.ए.व.पु. 'कामभोगार्थ'

अन्यायेन – अन्याय से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'अन्याय'

अर्थसञ्चयान् – धन का संचय करने की; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'अर्थसञ्चय'

ईहन्ते – इच्छा रखते हैं, चेष्टा करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.ईह् 1 गण, आत्मने

श्लोकार्थ (11 एवं 12) : अपरिमेय (अगणित) तथा प्रलय पर्यन्त रहने वाली चिन्ता का आश्रय लेने वाले, कामनाओं के उपभोग को चरम-परम (सबसे बढ़कर) जानने वाले, कामोपभोग ही फल है ऐसा निश्चय करने वाले, आशा के सैंकड़ों बंधनों से बंधे हुए, काम तथा क्रोध के परायण वे (आसुरी प्रकृति वाले पुरुष) कामभोग के लिए अन्याय से अर्थ संचय की इच्छा रखते हैं। (11, 12)

विवेचन : वे (आसुरी पुरुष) अपरिमेय अर्थात मापी नहीं जा सकने वाली और मरण पर्यन्त बनी रहने वाली चिन्ता रखते हैं। काम भोग को ही परम फल अथवा परम पुरुषार्थ जानते हैं और वही (भोगों को परम फल जानना) उनका निश्चय होने से आशा के सैकड़ो बंधनों से वे बंधे हुए रहते हैं। भोग के लिए चोरी, लूट, हिंसा द्वारा अन्याय से धन प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। (11, 12)

इदमद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदम् अस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर् धनम्।।13।।

अन्वयः

मया – मुझ से; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मद्'

अद्य – आज; अव्यय।

इदम् – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु.

लब्धम् – प्राप्त कर लीं; भू.कृ. विशेषण, वि. 'इदम्'

अस्ति च – है; और क्रियापद, अव्यय

इमम् – इस, इतना; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. 'इदम्'

मनोरथम् – मनोरथ को, मन की कामनाओं को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'मनोरथ'

प्राप्स्ये –प्राप्त होगा, मिलेगा; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'प्र + आप्' 5 गण

च – और; अव्यय

मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'

इदम् – इतना; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. ;'इदम्'

धनम् – **धन;** नाम, प्र.ए.व. नपु. 'धन'
अस्ति – **है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
च – **और;** अव्यय
इदम् – **यह, इतना;** सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'इदम्'
पुनः अपि – **फिर से;** अव्यय
मे – **मेरा;** सर्वनाम
भविष्यन्ति – **हो जाएगा;** क्रि.भ.का.तृ.पु.ए.व. 'भू' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : (असुर स्वभाव वाले जीव इस प्रकार मनोरथ किया करते हैं) – ''आज मुझे इतना (धन) प्राप्त हो गया है और अब इस (अमुक) मनोरथ को प्राप्त करूँगा'' (मेरी इच्छा पूर्ण करूँगा) ''इस समय मेरे पास इतना धन है'', ''पुनः मेरे पास इतना धन हो जाएगा।''

विवेचन : इस श्लोक में उक्त जीवों के मनोरथों के बारे में समझाते हैं। इस प्रकार के जीव ऐसा मानते हैं कि आज मुझे इतना (धन) प्राप्त हो गया और इस धन से मैं अपनी कामनाओं को प्राप्त कर लूँगा। भविष्य में भी मुझे इस प्रकार से धन प्राप्त हुआ करेगा और उससे मैं दूसरे प्रकार की कामनाएँ सिद्ध करूँगा। इस प्रकार उस (आसुरी जीव) के विचारों की शृंखला चला करती है। किसी का भी कल्याण करने की उनकी (आसुरी जीवों की) प्रवृत्ति नहीं होती, बल्कि अन्य का द्रव्य लूट कर पापमय वृत्तियों में ही संलिप्त रहना इस इस प्रकार के स्वभाव वाले जीवों की प्रवृत्ति होती है।

असौ मया हतः शत्रुर् हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहम् अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।।14।।

अन्वयः
असौ – **यह;** सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ''अस्''
शत्रुः – **शत्रु;** नाम, प्र.ए.व.पु. 'शत्रु'
मया – **मुझ से;** सर्वनाम, तृ.ए.व. ''अस्मत्''

हतः – **मारा गया;** भू.कृ. विशेषण, वि. 'शत्रुः'
च – **और;** अव्यय
अपरान् – **दूसरों को;** सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु. ''अपर''
अपि – **भी;** अव्यय
अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
हनिष्ये – **मारूँगा;** क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'हन्' 2 गण, आत्मने
अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
ईश्वरः – **ईश्वर;** नाम,प्र.ए.व.पु. ''ईश्वर''
च – **और;** अव्यय
भोगी–**भोगी;** विशेषण, वि. 'अहम्' प्र.ए.व.पु. 'भोगिन्' (तथैव=उसी प्रकार)
अहम् – **मैं;** सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मत्'
सिद्धः – **सिद्ध;** विशेषण, वि. 'अहम्' प्र.ए.व.पु. 'सिद्ध'
बलवान् – **बलवान;** विशेषण, वि. 'अहम्'
च – **और;** अव्यय
सुखी – **सुखी;** विशेषण, वि. 'अहम्' (अस्मि = हूँ; क्रि.द्वि.पु.ए.व. 'अस्')

श्लोकार्थ : (आसुरी संपद् वाले जीव इस प्रकार से विचार किया करते हैं कि) ''वे शत्रु मेरे द्वारा मारे गए, अन्य शत्रुओं को भी मैं मार दूँगा, मैं ईश्वर और ऐश्वर्य का भोग करने वाला, सब सिद्धियों युक्त, बलवान और सुखी हूँ।''

विवेचन : इस प्रकार के जीव ऐसे विचारते हैं कि इन मनुष्यों (शत्रुओं) को मैंने मार दिया, जो अन्य शत्रु हैं उनको भी मैं मार दूँगा। मैं ही ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान हूँ और सुखी हूँ।

विशेष : ऐसे जीव स्वयं को ईश्वर, भोगी, सिद्ध, बलवान और सुखी मानते हैं। उसमें विशेष रूप से उनका अभिमान ही प्रतिबिम्बित होता है। कारण कि ईश्वर के छह धर्मों में से एक भी धर्म उनके पास दिखाई नहीं देता। ईश्वर के धर्म (अनंत) ऐश्वर्य, श्री, यश, वीर्य, ज्ञान, वैराग्य हैं। जीव को ये छह धर्म

भाग्य से ही प्राप्त हो पाते हैं। श्री धर्म जीव को प्राप्त हो सकता है, यश अथवा वीर्य धर्म (जीव को) प्राप्त हो सकता है परंतु ऐश्वर्य, ज्ञान और वैराग्य आना संभव नहीं। वह (जीव) ऐश्वर्य बिना भोगी नहीं हो सकता, ज्ञान और ऐश्वर्य बिना बलवान नहीं हो सकता, वैराग्य बिना सिद्ध नहीं हो सकता। अतः वैराग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य बिना सुखी नहीं हो सकता।

आढ्योऽभिजनवान् अस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।15।।

अन्वयः

अहम् – **मैं**; प्र.ए.व. 'अस्मद्'
आढ्यः – **धनवान, कीर्तिवान**; व.भू.कृ., वि. 'अहम्'
च – **और**; अव्यय
अभिजनवान् – **उत्तम कुटुंब वाला**; भू.कृ. विशेषण, वि. 'अहम्'
अस्मि – **हूँ**; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै।
मया – **मेरे से, मेरे साथ**; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'
सदृशः – **जैसा, समान**; विशेषण, वि. 'अन्यः'
अन्यः – **दूसरा**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'अन्य'
कः – **कौन**; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'किम्'
अस्ति – **है**; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै
अहम् – **मैं**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
यक्ष्ये – **यजन करूँगा**; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'यज्' 1 गण, आत्मने
दास्यामि – **दूँगा**; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'दा' (यच्छ्) 3 गण, परस्मै
मोदिष्ये – **आनंद मिलेगा**; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व. 'मुद्' 1 गण, आत्मने
इति – **इस प्रकार**; अव्यय
अज्ञानविमोहिताङ – **अज्ञान से मोह को प्राप्त हुए**; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः'
सन्ति – **हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'अस्'

श्लोक : मैं बहुत समृद्ध हूँ; उच्च और माननीय कुटुंब वाला हूँ; मेरे जैसा अन्य और कौन है? मैं यज्ञ करूँगा; मैं दान करूँगा, मैं आनन्द को प्राप्त करूँगा – इस प्रकार के अज्ञान से अत्यधिक मोह को प्राप्त पुरुष आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।16।।

अन्वयः

अनेकचित्तविभ्रान्ता – **अनेक प्रकार के विचारों से चित्त जिनका अत्यधिक भ्रमित हो गया है ऐसे (आसुरी जीव)**; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः' ''अनेकेषु (विचारेषु) चित्तम् विभ्रान्तम् येषाम् इति'' बहुव्रीहि
मोहजालसमावृताः – **मोहरूपी जाल में फंसे हुए**; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः' ''मोहः एव जालम् तेन समावृताः ये इति'' बहुव्रीहि
कामभोगेषु – **काम के भोगों में**; स.ब.व.पु. 'कामभोग'
प्रसक्ताः – **अत्यासक्त**; भू.कृ. विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषा'
आसुरपुरषाः – **आसुरपुरुष।**
अशुचौ – **अपवित्र**; विशेषण, वि. 'नरके'
नरके – **नरक में**; नाम, स.ए.व.पु. 'नरक'
पतन्ति – **गिरते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. ''पत्'' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अनेक संकल्पों से भ्रांत हुए, मोहजाल से लिपटे हुए, कामभोग में आसक्त आसुरी जीव अपवित्र नरक में गिरते हैं।

विवेचन : ऊपर श्लोक 13–15 में आसुरी जीवों की कामनाओं तथा उनसे प्राप्त होते फल का सुंदर वर्णन किया गया है। उनके (आसुरी जीवों के) संकल्प और कामनाएँ आदि ऊपर बताए गए अनुसार होने से उनका चित्त क्षुद्र देवों की आराधना में लगा रहता है। जैसे पक्षी जाल में फँसने के बाद निकल नहीं पाते वैसे ही वे भी भ्रांति से उत्पन्न मोह के जाल में फंस जाने पर उससे

निकल नहीं पाते। इसके अतिरिक्त, जैसे पक्षी अपने कुटुंब के भरण-पोषण की चिंता में उलझे रहते हैं वैसे ये आसुरी जीव भी कामभोग में आसक्त रहने से उस जाल से निकल नहीं सकते और विवश होकर अपवित्र नरक में गिरते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धन-मान-मदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस् ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम्।।17।।

अन्वयः

ते - वे; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'तत्'।

आत्मसंभाविताः - स्वयं को ही श्रेष्ठ मानने वाले; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः' ''आत्मना संभाविताः'' तत्पुरुष।

स्तब्धाः - गर्विष्ठ पुरुष; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः'

धनमानमदान्विताः - धन, मान, मद में चूर; विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः' ''धनं मानश्च मदश्च तैः अन्विताः इति'' तत्पुरुष

अविधिपूर्वकम् - विधिविहीन; अव्यय

नामयज्ञैः - नाम मात्र के यज्ञ से; नाम, तृ.ब.व.पु. 'नामयज्ञ'

दम्भेन - पाखंड से; तृ.ए.व.पु. 'दम्भ'

यजन्ते - यज्ञ करते हैं, पूजते हैं; क्रि.व.का.तृ. पु. ब.व. 'यज्' 1 गण

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।18।।

अन्वयः

अहङ्कारम् - अहंकार को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'अहंकार'।

बलम् - बल को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'बल'

दर्पम् - अभिमान को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'दर्प'

कामम् - काम को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'काम'

च - और; अव्यय

क्रोधम् - क्रोध को; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'क्रोध'

संश्रिताः - भलीभांति आश्रय प्राप्त; भू.कृ. विशेषण, वि. 'आसुरपुरुषाः'

एवम् च - और इसके अतिरिक्त; अव्यय

अभ्यसूयकाः - दूसरों की निंदा करने वाले; विशेषण, वि. 'तान्'

आत्मपरदेहेषु - अपनी और दूसरों की देह में; नाम, स.ब.व.पु.

माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'

प्रद्विषन्त : द्वेष करने वाले; विशेषण, वि. 'तान्'

श्लोकार्थ : (वे आसुरी जीव) अपने को ही संभावित (श्रेष्ठ मानने वाले), स्तब्ध, धन के मान तथा मद युक्त, अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध का आश्रय करके स्वयं की और दूसरों की देह में रहने वाले मुझ परमात्मा से द्वेष करने वालेऔर असूया करने वाले दंभ के कारण नाममात्र (कहने के लिए) के लिए यज्ञ से अविधिपूर्वक (शास्त्रीय विधि से रहित) यजन करते हैं। (17-18)

विवेचन : स्वयं ही स्वयं को मान देने वाले अथवा आत्मप्रशंसा करने वाले, ''स्तब्ध'' अर्थात अनम्र अथवा मूढ़, धन से उत्पन्न होते मान अर्थात प्रतिष्ठा और मदयुक्त, अहंकार आदि दुर्गुणों वाले, सब की देह में रहे हुए मुझ ईश्वर से द्वेष तथा ईर्ष करने वाले दंभ के कारण मात्र नाम के यज्ञ करते हैं और वे भी विधिपूर्वक नहीं करते। इस अठारहवें श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के सूत्र 4/4/13 के संदर्भ में अणुभाष्य में और श्रीभागवत के श्लोक 3/2/24 के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

तान् अहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।।
क्षिपाम्यजस्रम् अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु।।19।।

अन्वयः

तान् - उनको; सर्वनाम, द्वि.ब.व. 'तत्'

द्विषतः - द्वेष करने वाले; विशेषण, वि. 'तान्'

क्रूरान् - क्रूर कर्म करने वालों को; विशेषण, वि. 'तान्'

नराधमान् - नराधमों को, पापियों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. 'नराधम'

अशुभान्- अशुभ; विशेषण, वि. 'तान्'

अहम् – **मै**; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
संसारेषु – **संसार में**; नाम, स.ब.व.पु. 'संसार'
अजस्रम् – **पुनः-पुनः**; अव्यय
आसुरीषु – **आसुरी (योनि) में**; विशेषण, वि. 'योनिषु'
योनिषु – **योनियों में**; नाम, स.ब.व.स्त्री. ''योनि''
एव – **ही, मात्र**; अव्यय
क्षिपामि – **फेंकता हूँ**; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'क्षिप्' 6 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : द्वेषी, क्रूर मनुष्यों में जो अधम तथा दुष्ट हैं उनको मैं पुनः – पुनः संसार में आसुरी योनि में ही फेंकता हूँ।

विवेचन : अब यह बताते हैं कि भगवान ऐसे आसुरी जीवों को क्या फल प्रदान करते हैं। ऐसे द्वेषी, क्रूर, अधम, दुष्ट, आसुरी जीवों को मैं संसार में पुनः-पुनः आसुरी योनि में ही डालता हूँ। ऐसे जीव मात्र असुर आवेश वाले नहीं बल्कि सहज आसुर भाव वाले हैं।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के सूत्र 4/4/13 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

आसुरीं योनिम् आपन्नाः मूढ़ाः जन्मनि जन्मनि।।
माम् अप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।20।।

अन्वयः
कौंतेय – **हे अर्जुन!** सम्बोधन
ते – **वे**; सर्वनाम, प्र.ब.व.
मूढ़ाः – **मूढ़ पुरूष**; विशेषण,वि.' आसुरी पुरूषाः'
जन्मनि – **जन्मनि** – **जन्म-जन्म में**; नाम, स.ए.व.नपु.'जन्मन्'
आसुरीम् – **आसुरी को**; विशेषण,वि.'योनिम्'
योनिम् – **योनि को**; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.'योनि'
आपन्ना – **प्राप्त हुए**; विशेषण,वि.'ते'।

माम् – **मुझे**; सर्वनाम,द्वि.ए.व.'अस्मत्'
अप्राप्य – **नहीं पाकर**; विधेय कृदन्त।
ततः – **उससे**; अव्यय ।
अधमाम् – **अधम**; विशेषण,वि.'गतिम्'
गतिम् – **गति को**; नाम,द्वि.ए.व.स्त्री. ।
एव – **ही**; अव्यय
यान्ति – **प्राप्त करते हैं**; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'या' 2गण परस्मै

श्लोकार्थ : हे कौंतेय ! जन्म – जन्म आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़जन मुझको प्राप्त किए बिना ही पुनः अधम गति को प्राप्त होते हैं।

विवेचन : ऐसे मूढ़जन को जन्म-जन्म आसुरी योनि प्राप्त होती है जिसके कारण अंत में वे अधम अंधतमरूप गति को प्राप्त होते हैं। उनको मेरी प्राप्ति होती ही नहीं, यहाँ तक कि दृष्टि से भी मुझ से संबंध नहीं होता। मूल में ''एव = ही'' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका भावार्थ यह है कि ''उनको मेरी प्राप्ति के साधन रूप उचित मार्ग की ही प्राप्ति नहीं होती तो मेरी प्राप्ति तो कैसे संभव है?'' अथवा अवतार दशा में जब प्राणीमात्र को भी मेरे दर्शन हो सकते हैं तब भी उनको मेरे स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से मेरे दर्शन नहीं होते – ऐसा 'एव' शब्द से सूचित होता है।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के सूत्र 4/4/13 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।।
कामः क्रोधस् तथा लोभः तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् ।। 21।।

अन्वयः
कामः – **काम, इच्छा**; नाम, प्र.ए.व.पु.'काम' ।
क्रोधः – **क्रोध**; नाम,प्र.ए.व.पु.'क्रोध'

तथा - **और, इसके अतिरिक्त;** अव्यय
लोभः - **लोभ;** नाम, प्र.ए.व.पु.'लोभ'
इदम् - **यह;** सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.।
त्रिविधम् - **तीन प्रकार का;** विशेषण,वि.'द्वारम्'
नरकस्य - **नरक के;** नाम, ष.ए.व.पु.'नरक'।
द्वारम् - **द्वार को;** विशेषण,वि.'द्वार'
आत्मनः - **स्वयं का;** नाम,ष.ए.व.पु.'आत्मन्'
नाशनम् - **नाश करने वाला;** विशेषण,वि.'द्वार'
अस्ति - **है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'
तस्मात् - **उस कारण से;** अव्यय
एतद् - **यह;** विशेषण, वि.'त्रयम्'
त्रयम् - **तीनों का समूह;** नाम, द्वि.ए.व.नपु.'त्रय'
त्यजेत् - **त्याग देना चाहिए;** क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व.'त्यज्' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : काम, क्रोध और लोभ आत्मा का नाश करने वाले तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं। अतः इन तीनों का त्याग करना चाहिए।

विवेचन : ऐसे आसुर भाव से आत्मनाश होने का मूल कारण बताते हैं। नरक को प्राप्त कराने वाले आसुर भाव के द्वार तीन प्रकार के हैं, काम,क्रोध और लोभ। अतः इन तीनों का त्याग करना और इन तीनों का संग छोड़ देना चाहिए।

एतैर् विमुक्तः कौंतेय! तमोद्वारैस् त्रिभिर् नरः ।।
आचरत्यात्मनः श्रेयः ततो याति परां गतिम् ।। 22।।

अन्वयः
कौंतेय - **हे अर्जुन ;** सम्बोधन
एतैः - **यह;** सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु.'एतद्'
त्रिभिः - **तीनों;** विशेषण,वि.'तमोद्वारैः'
तमोद्वारैः - **अज्ञान के द्वारों से;** नाम, तृ.ब.व.नपु.'तमोद्वार'
विमुक्तः - **छूटा हुआ, मुक्त हुआ;** भू.कृ. विशेषण, वि.'नर'

नरः - **मनुष्य;** नाम, प्र.ए.व.पु.'नर'
आत्मनः - **अपना, स्वयं का;** नाम, ष.ए.व.पु.'आत्मन्'
श्रेयः - **कल्याण;** नाम, द्वि.ए.व.'श्रेयस्'
आचरति - **आचरण करता है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'आ+चर्' एक गण, परस्मै
ततः - **इसलिए;** अव्यय
पराम् - **श्रेष्ठ, पर;** विशेषण, वि.'गतिम्'
गतिम् - **गति को;** नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.'गति'
याति - **प्राप्त करता है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'या' दो गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे कौंतेय! इन तीनों तमोद्वार से मुक्त पुरुष अपने श्रेयः के लिए आचरण करता है और फिर परम गति को प्राप्त करता है।

विवेचन : इन तीनों से जो मुक्त होता है वह स्वयं के श्रेयः भक्ति इत्यादि का आचरण करता है अतः उत्तम गति को प्राप्त करता है।

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य वर्तते कामकारतः।।
न स सिद्धिम् अवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।23।।

अन्वयः
यः - **जो;** सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'यत्'
शास्त्रविधिम् - **शास्त्रविधि को;** नाम, द्वि.ए.व.पु.'शास्त्रविधि'
उत्सृज्य - **छोड़कर;** विधेय कृदंत
कामकारतः - **स्वच्छंदता से;** नाम, पं.ए.व.'तः' प्रत्यय
वर्तते - **आचरण करता है ;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'वृत्' 1 गण, आत्मने
सः - **वह;** सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'तत्'
न तु - **न तो;** अव्यय
सिद्धिम् - **सिद्धि को;** नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.'सिद्धि'
अवाप्नोति - **प्राप्त करता है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.अव. + आप् 5 गण, परस्मै
च न - **और न ही;** अव्यय

पराम् - पर, श्रेष्ठ; विशेषण, वि. 'गतिम्'
गतिम् - गति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री. 'गति'
प्राप्नोति - प्राप्त करता है

श्लोकार्थ : जो शास्त्रविधि का त्याग करके स्वच्छंदतापूर्वक आचरण करता है वह सिद्धि, सुख अथवा परम गति को प्राप्त नहीं करता।

विवेचन : आसुरों के संग से जो शास्त्रविधि को त्याग कर स्वच्छंदता से निषिद्ध कर्म करते हैं उनको मनोभिलषित सिद्धि, मन का सुख अथवा परम गति अर्थात मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इहार्हसि।।24।।

अन्वयः
तस्मात् - अत; अव्यय
ते (तुभ्यम्) - तेरे लिए; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'
इह - यहाँ, इस संसार में; अव्यय
कार्याकार्य व्यवस्थितौ - कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में; नाम, स.ए.व. स्त्री. ''कार्यम् अकार्यम् च तयोः व्यवस्थितिः'' तत्पुरुष
शास्त्रम् - शास्त्र को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'शास्त्र'
प्रमाणम् - प्रमाण; विशेषण, वि. 'शास्त्रम्'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
एवम् - इस प्रकार से; अव्यय
ज्ञात्वा - जानकर; विधेय कृदंत
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मद्'
शास्त्रविधानोक्तम् - शास्त्रविधि से कहा हुआ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'कर्म'
कर्म - कर्म को; नाम,द्वि.ए.व. नपु. 'कर्मन्'
कर्तुम् - करने (के लिए), हेत्वर्थ कृदंत
अर्हसि - योग्य है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'अर्ह्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अतः कर्तव्य और कर्तव्य की व्यवस्था (निर्णय) करने के लिए तू शास्त्र को प्रमाण मान और शास्त्र द्वारा विहित किए गए कर्मों को जानकर ही तेरे लिए यहाँ (इस लोक में) कर्म करना योग्य है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ''दैवासुरसम्पद्विभागयोगो'' षोडशोऽयायः।।16।।

।। अध्याय 17 ।।

।। श्रद्धात्रय विभाग योग।।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठां तु का कृष्ण! सत्त्वमाहो रजस्तमः।। 1।।

अन्वयः

कृष्ण – हे कृष्ण! सम्बोधन

ये – जो (मनुष्य); सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.

शास्त्रविधिम् – शास्त्र विधि को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'शास्त्रविधि' ।

उत्सृज्य – छोड़कर; विधेय कृदन्त

श्रद्धयान्विताः – श्रद्धा से युक्त; विशेषण,वि.'ये'

यजन्ते – पूजते है, सेवा करते है, यजन करते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'यज्' 1गण आत्मने

तेषाम् – उनकी; सर्वनाम, ष.ब.व.पु.'तत्'।

निष्ठा – स्थिति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. ।

तु – परंतु; अव्यय

का – कैसी; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.'किम्' (किम्=क्या)

सत्त्वम् – सत्व; नाम, प्र.ए.व.नपु.'सत्व'(अस्ति = है)

आहो – अथवा; अव्यय।

रजः – रजोगुण; नाम,प्र.ए.व.नपु.'रजस्'(किंवा= अथवा)

तमः – तमोगुण; नाम,प्र.ए.व.नपु.'तमस्'

अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : अर्जुन पूछते हैं : हे कृष्ण! जो(मनुष्य)शास्त्र विधि का त्याग कर श्रद्धायुक्त रहकर यजन करते हैं उनकी निष्ठा(स्थिति)कैसी है – सात्विक, राजसी अथवा तामसी ?

विवेचन : षोडश अध्याय के अंत में 23 वें श्लोक में भगवान ने बताया है कि जो शास्त्र विधि का त्याग कर स्वच्छंदतापूर्वक आचरण करते हैं उनको प्राप्त करने योग्य तत्वज्ञान रूपी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसी संबंध में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि जो शास्त्र में कही हुई विधि का त्याग करके स्वच्छंदता से कर्म करते हैं परंतु श्रद्धा के साथ करते हैं उनकी निष्ठा कैसी होगी- सात्विकी, राजसी अथवा तामसी ?

।। श्री भगवान् उवाच ।।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।। 2।।

अन्वयः

अर्जुन – हे अर्जुन! सम्बोधन ।
देहिनाम् – पुरूषों की; नाम,ष.ब.व.पु.'देहिन्'
सा – वह; केवल शास्त्रीय संस्कार सहित निष्ठा; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.'तत्'
स्वभावजा – स्वभाव से उत्पन्न हुई; विशेषण,वि.'श्रद्धा'
श्रद्धा – श्रद्धा; नाम, ए.व.स्त्री.'श्रद्धा'।
सात्त्विकी – सात्विकी; विशेषण,वि.'श्रद्धा' ।
च – और; अव्यय ।
राजसी – राजसी; विशेषण,वि.'श्रद्धा'।
च एव – और, इसके अतिरिक्त; अव्यय ।
तामसी – तामसी; विशेषण, वि.'श्रद्धा' ।
इति – ऐसे; अव्यय।
त्रिविधा – तीन प्रकार की; अव्यय ।
भवति – होता है; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व.'भू' 1गण, परस्मै
ताम् त्वम् मत् – उसको तुम मुझसे ।
शृणु – सुन; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'शृ' 5गण,परस्मै

श्लोकार्थ : श्री भगवान कहते हैं : देहधारियों में उनके प्रकृत स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्विकी, राजसी तथा तामसी – तीन प्रकार की होती है। वह सुन ।

विवेचन : भगवान अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं – देही अर्थात देह का जिनको अभिमान है, उन जीवों में उनके स्वभाव से उत्पन्न होती श्रद्धा तीन प्रकार की है। सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से उत्पन्न होने वाला स्वभाव मात्र शास्त्रीय विज्ञान(विशेष ज्ञान)से अन्यथा हो सकता है परंतु शास्त्र विधि का त्याग करके आचरण करने वाले जीवों को वैसा विशिष्ट ज्ञान नहीं होता। अतः उनके स्वच्छंद आचरण में श्रद्धा उनके पूर्व के स्वभाव से ही उत्पन्न हुई रहती है। यह श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है। उसे मुझ से सुन।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ।।
श्रद्धामयोऽयं पुरूषो यो यत् श्रद्धः स एव सः ।। 3।।

अन्वयः

भारत – हे अर्जुन; सम्बोधन ।
सर्वस्य – सब(मनुष्यों)की; सर्वनाम, ष.ए.व.पु.'सर्व'
श्रद्धा – श्रद्धा; नाम,प्र.ए.व.स्त्री.'श्रद्धा'।
सत्त्वानुरूपा – अन्तःकरण के अनुरूप; विशेषण,वि.'श्रद्धा'
भवति – होती है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'भू'1गण, परस्मै।
च – और; अव्यय
अयम् – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.'इदम्'पु. ।
पुरूषः – पुरूष; नाम,प्र.ए.व.पु.'पुरूष'
श्रद्धामयः – श्रद्धावान,श्रद्धायुक्त; विशेषण,वि.'पुरूषः'।
अतः – इसलिए; अव्यय
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'यत्'।
यच्छ्रद्धः – जो जैसी श्रद्धा वाला (है); विशेषण, वि.'पुरूषः'

सः - वह, स्वयं; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'तत्' ।
एव - ही; अव्यय
सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'तत्' ।
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : हे भारत! सत्व के अनुरूप सब की श्रद्धा होती है। यह पुरूष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है।

विवेचन : श्रद्धा अन्तः करण का धर्म है। अतः श्रद्धा ''सत्व'' अर्थात अन्तः करण के अनुरूप होती है। सब की श्रद्धा अपने-अपने अन्तः करण के अनुरूप होती है। पूर्व के जिस प्रकार के संस्कार होते है, अन्तःकरण उनके अनुरूप होता है अतः जैसा अन्तः करण होता है वैसी ही श्रद्धा होती है। जिनका अन्तःकरण शास्त्र के ज्ञान से रहित होता है उनकी श्रद्धा भी वैसी होती है। इस श्रद्धा के होने से(मनुष्य)शास्त्र विधि के अनुसार अथवा शास्त्र विधि का त्याग कर आचरण करता है। अर्थात शास्त्र विधि के अनुसार अथवा शास्त्र विधि का त्याग करके जो आचरण किया जाता है उसका कारण उसकी श्रद्धा है। परंतु श्रद्धा से देव अथवा असुर भाव को जाना नहीं जा सकता। श्रद्धा से गुण जाने जाते हैं। अर्थात जिसकी जैसे गुण वाली श्रद्धा होती है वह वैसे गुणों के अन्तःकरण वाला होता है- यह भाव प्रकट होता है। यह पुरूष श्रद्धामय है । जिसकी जिस प्रकार की श्रद्धा है, वह वैसे गुणों वाला होता है; ऐसा जानना चाहिए।

इस श्लोक की व्याख्या श्री भागवत के श्लोक 1/7/14, 2/9/16, 10/43/14, 10/84/32 और 11/2/4 के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में की गई है।

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्ष - रक्षांसि राजसाः ।।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।। 4।।

अन्वयः
सात्त्विकाः - सात्विक; विशेषण,वि.'जनाः'
जनाः - मनुष्य; नाम,प्र.ब.व.पु.'जन'।
देवान् - देवों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'देव'
यजन्ते - यजन करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'यज्'1गण,आत्मने
च - और; अव्यय।
राजसाः - राजस प्रकृति वाले; विशेषण,वि.'जनाः'
जनाः - मनुष्य; नाम, प्र.ब.व.पु.'जनाः'।
यक्षरक्षांसि - यक्ष और राक्षसों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.'यक्षरक्षस्'
च - और; अव्यय
अन्ये - दूसरे; विशेषण,वि.'जनाः'
तामसाः - तामसी प्रकृति वाले; विशेषण,वि.'जनाः'।
जनाः - मनुष्य; नाम,प्र.ब.व.पु.'जन'
प्रेतान् - प्रेतों को; नाम, द्वि.पु.ब.व.'प्रेत'।
च - और; अव्यय
भूतगणान् - भूतगणों को; नाम,द्वि.ब.व.पु.'भूतगण'।
यजन्ते - यजन करते हैं, सेवन करते हैं, पूजन करते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.1गण आत्मने 'यज्'

श्लोकार्थ : सात्विक जन देवों का यजन करते हैं, राजसी यक्ष और राक्षसों का यजन करते हैं और तामस जन प्रेतों तथा भूतगणों का यजन करते हैं।

विवेचन : सात्विक जन अर्थात सात्विक श्रद्धा युक्त जिनकी प्रकृति है वे देवों का यजन करते हैं, राजसी श्रद्धायुक्त प्रकृति वाले यक्ष तथा राक्षसों का यजन करते हैं और तामसी श्रद्धा युक्त प्रकृति वाले भूत तथा प्रेत का यजन करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।।
दम्भाहङ्कार - संयुक्ताः काम-राग-बलान्विताः ।।5।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसः ।।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।। 6।।

अन्वयः

ये – जो; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. ।

जनाः – मनुष्य; नाम, प्र.ब.व.पु.'जन'

अशास्त्रविहितम् – शास्त्र के विधान के बिना; विशेषण,वि.'तपः'।

घोरम् – घोर; विशेषण,वि.'तपः'

तपः – तप को; नाम,द्वि.ए.व.नपु.'तपस्'।

तप्यन्ते – तप करते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'तप्' 4गण

तथा – और; अव्यय

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः – दम्भ और अंहकार से संयुक्त; विशेषण, वि. 'जनाः''दम्भश्च अहङ्कारश्च इति ताभ्याम् संयुक्ताः''तत्पु. ।

कामरागबलान्विताः – काम,राग और बल से युक्त; विशेषण,वि.'जनाः' ''कामश्च रागश्च बलश्च इति तैः अन्विताः इति''तत्पुरूष।

ते – वे मनुष्य; ।

शरीरस्थम् – शरीर में रहने वालों को, शरीर रूप से स्थित; विशेषण,वि.'भूतग्रामम्'

भूतग्रामम् – भूत समुदाय को; नाम, द्वि.ए.व. ।

च – और; अव्यय

अंतःशरीरस्थम् – अन्तःकरण में रहे हुए; विशेषण,वि.'माम्'

माम् – मुझ(परमात्मा)को; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'अस्मत्'।

एव – ही; अव्यय

कर्षयन्तः – खींचने वाले,दुख देने वाले,कृश करने वाले; व.कृ.विशेषण, वि.'जना'

सन्ति – हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'अस्'।

तान् – उन्हें; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु.'तत्'

अचेतसः – अज्ञानीजन; विशेषण,वि.'जनाः'।

त्वम् – तू; सर्वनाम,प्र.ए.व.'युष्मद्'

आसुरनिश्चयान् – आसुर निश्चय वाले, आसुर स्वभाव वाले; विशेषण, वि.'तान्'

विद्धि – जान; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'विद्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जो बुद्धिहीन मनुष्य दंभ तथा अहंकार युक्त होकर काम, राग और बलयुक्त होकर शरीर में स्थित भूतग्राम(पंचभौतिक शरीर) को और हृदय में स्थित मुझ परमात्मा को शास्त्र से अविहित तरीके से घोर तप आदि करके कृश करते हैं उनको तू आसुर निश्चय(निष्ठा) वाले समझ।(श्लोक 5-6)

विवेचन : शास्त्र विधि का त्याग करके स्वच्छंदता से परंतु श्रद्धापूर्वक कर्म करने वालों में भी आसुरी जीव कैसे होते हैं, इसका निरूपण करते हैं। दंभ, अहंकार, काम, राग इत्यादि दुर्गुणों में अँटे हुए जो बुद्धिहीन ज्ञानशून्य लोग अपने शरीर में स्थित पृथ्वी आदि पाँच भूतों के समूह को शास्त्र से अविहित ढंग से घोर तप करके कृश करते हैं और हृदय में अंतर्यामी रूप से स्थित मुझ(परमात्मा) को भी, मेरी आज्ञा भंग कर, अपने आप से दूर कर देते हैं वे लोग निश्चय आसुरी हैं; ऐसा समझ।

इस छठे श्लोक की व्याख्या श्री भागवत के श्लोक 2/4/17 के संदर्भ मे श्री सुबोधिनी मे की गई है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।।
यज्ञस् तपस् तथा दानं तेषां भेदम् इमं शृणु ।।7।।

अन्वयः

आहारः – भोजन; नाम, प्र.ए.व.पु.'आहार'।

अपि – भी; अव्यय

सर्वस्य – सबको; सर्वनाम,ष.ए.व.पु.'सर्व' ।

त्रिविधः - तीन प्रकार का; विशेषण, वि.' आहारः'
प्रियः - प्रिय; विशेषण,वि.' आहारः'
भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.' भू'1गण,परस्मै।
तु तथा - और इसके अतिरिक्त; अव्यय
यज्ञः - यज्ञ; नाम,प्र.ए.व.पु.।
तपः - तप; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
दानम् - दान; नाम, प्र.ए.व.नपु.' दान
अपि त्रिविधम् भवति - भी तीन प्रकार के होते है।
तेषाम् - उनके; सर्वनाम,ष.ब.व.नपु.' तत्'
इमम् - इस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.' इदम्'
भेदम् - भेद को; नाम,द्वि.ए.व.पु.' भेद'
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व.' युष्मद्'।
शृणु - सुन, समझ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.' शृ' 5गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इसके अतिरिक्त आहार और यज्ञ, तप और दान भी सबको तीन प्रकार के प्रिय होते हैं। उनके भेद को (तू)सुन।

विवेचन : ''शास्त्रीय'' अर्थात वैदिक यज्ञ आदि में भी सत्व, रजस् और तमस् तीन गुणों के कारण तीन प्रकार के भेद हो जाते हैं। आहार की भांति यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं। उनका भेद सुन।

आयुः - सत्त्व - बलारोग्य - सुख - प्रीतिविवर्धनाः।।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।8।।

अन्वयः
आयुः - सत्त्व -बलारोग्य - सुख - प्रीति - विवर्धनाः - आयुष्य, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले; विशेषण,वि.' आहाराः'
'' आयुः सत्वम् बलः आरोग्यं सुखं प्रीतिः तेषां विवर्धनाः इति'' बहु.
एवम च - इसी प्रकार से; अव्यय।

रस्याः - रसयुक्त; विशेषण,वि.' आहाराः'
स्निग्धः - चिकने, स्नेहयुक्त; विशेषण,वि.' आहाराः'
स्थिराः - स्थिर, टिकनेवाले; विशेषण,वि.' आहाराः'
च - और; अव्यय।
हृद्याः - मन को प्रिय लगने वाले; विशेषण,वि.' आहाराः'
आहाराः - आहार।
सात्त्विकप्रियाः - सात्विक पुरूषों को प्रिय; विशेषण,वि.' आहाराः'।
भवन्ति - होते है; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.

श्लोकार्थ : आयु, सत्व, बल , आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि करने वाले रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर और रूचिकर आहार सात्विक मनुष्यों को प्रिय होते हैं।

विवेचन : 'आयु' अर्थात आयुष्य, 'सत्व' अर्थात ज्ञान, बल , आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि करने वाले मधुर रसयुक्त,स्नेहयुक्त (घी) और स्थिर परिणाम वाले और हृदय को आनंदकारी रूचिकर आहार सात्विकजन को प्रिय होते हैं। कारण यह है कि ये आहार सत्वगुण की वृद्धि करते हैं अथवा ये आहार सात्विक लोगों को प्रिय अर्थात सात्विक जन को सुखकर होते हैं।

कट्वम्ल - लवणात्युष्ण - तीक्ष्ण - रूक्ष - विदाहिनः ।।
आहार राजसस्येष्टा दुःख - शोकामयप्रदाः ।। 9।।

अन्वयः
कट्वम्ल - लवणात्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः - कडवा, खट्टा, क्षारीय, अतिगर्म, तीखे, रूक्ष, दाहक; विशेषण,वि.' आहाराः'
दुःख शोकामयप्रदाः - दुख, शोक और रोग देने वाले; विशेषण,वि.' आहाराः'
राजयस्य - राजस गुण वाले को; नाम,ष.ए.व.पु.' राजस'
इष्टाः - इच्छित, प्रिय; भू.कृ.विशेषण,वि.' आहाराः'
भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : अति तीखे, खट्टे और नमकीन, अति गर्म, तीक्ष्ण, रूक्ष और दाहकारक आहार जो दुख, शोक और रोगकारक होते हैं वे राजसी मनुष्यों को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। 10।।

अन्वयः

यत् -जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु. 'यत्' ।
भोजनम् - भोजन, खाने के पदार्थ; नाम,प्र.ए.व.नपु.' भोजन'
यातयामम् - जिस (भोजन)को एक प्रहर हो गया हो; विशेषण,वि.' भोजनम्'
गतरसम् - रस के बिना; विशेषण,वि.' भोजनम्'।
च - और; अव्यय
पूति - दुर्गंध युक्त; विशेषण, वि. ' भोजनम्'
पर्युषितम् - बासी; विशेषण, वि. ' भोजनम्'
उच्छिष्टम् - अवशेष रहा हुआ; विशेषण,वि.' भोजनम्'
अपि च - भी और; अव्यय।
अमेध्यम् - अपवित्र, समर्पित किए बिना, जिसका निवेदन नहीं किया गया हो; विशेषण,वि.' भोजनम्'
तामसप्रियम् -तामस प्रकृति वालों को प्रिय; विशेषण,वि.' भोजनम्'
भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : याम (लगभग तीन घंटे पहले का) तक रखा हुआ, रस रहित(रूक्ष), दुर्गंधयुक्त, बासी, जूठा तथा अपवित्र भोजन तामसी मनुष्यों को प्रिय होता है। इस प्रकार तीन तरह के आहार बताकर अब तीन प्रकार के यज्ञ का निरूपण तीन श्लोक (11 से 13) में करते हैं।

अफलाकांक्षिभिर् यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।। 11।।

अन्वयः

यः - जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.पु.' यत्'।
यज्ञः - यज्ञ; नाम, प्र.ए.व.पु.' यज्ञ'
विधिदृष्टः - शास्त्र की रीति से ,विधिसम्मत; विशेषण,वि.' यज्ञः'
च - और; अव्यय
यष्टव्यम् -यज्ञ कर्तव्य रूप है; विधेय कर्मणि, कृद.विशेषण,वि. ' मनः'।
एव इति - ही इस प्रकार से; अव्यय
मनः - मन; नाम, द्वि.ए.व.नपु.' मनस्'।
समाधाय - समाधान करके, रोक कर; विधेय कृदन्त ।
अफलाकांक्षिभिः - फल की इच्छा से रहित मनुष्यों के द्वारा; विशेषण,वि.' जनैः' तृ.ब.व.पु.
इज्यते - किया जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.' यज्' 1गण, आत्मने
सः - वह; सर्वनाम,प्र.ए.व.' तत्' पु.
यज्ञः - यज्ञ;
सात्त्विक - सात्विक; विशेषण,वि.' यज्ञः'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.' अस्'

श्लोकार्थ : यज्ञ करना ही चाहिए, ऐसा मन में निश्चय करके, फल की आकांक्षा न रखने वाले मनुष्यों द्वारा शास्त्र विधि से सम्मत जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।।
इज्यते भरत श्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।। 12।।

अन्वयः

तु - परन्तु; अव्यय।
भरतश्रेष्ठ - हे अर्जुन! सम्बोधन
यत् - जो (यजन ,यज्ञ); सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.।
यज्ञम् - यज्ञ

दम्भार्थम् – **केवल दम्भाचरण के लिए ही;** नाम, च.ए.व.पु.
चैव – **और इसके अतिरिक्त;** अव्यय
फलम् – **फल को;** नाम, द्वि.ए.व.नपु.
अपि – **भी;** अव्यय
अभिसन्धाय – **उद्देश्य रखकर;** विधेय कृदन्त।
इज्यते – **पूजा जाता है;** क्रि.व.कर्मणि,तृ.पु.ए.व.'यज्' 1गण
तम् – **उस;** सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.'तत्' ।
यज्ञम् – **यज्ञ को;** नाम,द्वि.ए.व.पु.'यज्ञ'
त्वम् – **तू;** सर्वनाम,प्र.ए.व.'युष्मद्'
राजसम् – **राजस;** विशेषण,वि.'यज्ञम्'।
विद्धि – **जान,समझ;** क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'विद्' 2गण

श्लोकार्थ : परन्तु हे भरतश्रेष्ठ ! फल को दृष्टि में रखकर तथा केवल दम्भ के लिए जो यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ को राजस जान ।

विधिहीनम् असृष्टान्नं मंत्रहीनम् अदक्षिणम् ।।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।। 13।।

अन्वयः
विधिहीनम् – **शास्त्र विधि रहित;** विशेषण,वि.'यज्ञम्'
असृष्टान्नं – **जिसमें अन्न का त्याग करने में नहीं आता;** विशेषण,वि.'यज्ञम्'
मंत्रहीनम् – **मंत्र रहित;** विशेषण,वि.'यज्ञम्'
अदक्षिणम् – **दक्षिणा रहित;** विशेषण,वि.'यज्ञम्'
च – **और;** अव्यय
श्रद्धाविरहितम् – **श्रद्धारहित किया हुआ;** विशेषण,वि.'यज्ञम्'
यज्ञम् – **यज्ञ को;** नाम, द्वि.ए.व.पु.'यज्ञ'
तामसम् – **तामस;** विशेषण, वि.'यज्ञम्'

परिचक्षते – **कहते हैं;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'परि+चक्ष्' 2गण, आत्मने

श्लोकार्थ : विधिरहित, अन्नदान रहित, मंत्र रहित, दक्षिणा रहित तथा श्रद्धा रहित यज्ञ को तामस कहते हैं।

विवेचन : यज्ञ के पश्चात तप के सात्विक आदि तीन भेद दर्शाए गए हैं। प्रत्येक प्रकार का तप–शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का होने से पहले शारीरिक आदि के तीन भेद तीन श्लोक (14 से 16) से कहते हैं, तत्पश्चात सात्विक आदि तीन भेद तीन श्लोक से (17 से 19) कहते हैं। इस तरह तप के कुल नौ प्रकार बताए गए हैं।

देव-द्विज-गुरू-प्राज्ञ-पूजनं शौचम् आर्जवम् ।।
ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरम् तप उच्यते ।। 14।।

अन्वयः
देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनम् – **जिसमें देवता, ब्राह्मण, गुरू, ज्ञानीजन का पूजन होता है, वह;** विशेषण,वि.'तपः' ''देवस्य द्विजस्य गुरोः प्राज्ञस्य पूजनम् यस्मिन् इति'' बहु.
शौचम् – **पवित्रता;** नाम,प्र.ए.व.नपु.'शौच'
आर्जवम् ब्रह्मचर्यम् – **सरलता ब्रह्मचर्य;** नाम,प्र.ए.व.नपु.।
च – **और;** अव्यय
अहिंसा – **अहिंसा;** नाम,प्र.ए.व.स्त्री.।
इदम् – **यह;** सर्वनाम,प्र.ए.व.'इदम्' नपु.
शारीरम् – **शरीर संबंधी;** विशेषण,वि.'तप'
तपः – **तप;** नाम,प्र.ए.व.नपु.'तमस्'।
उच्यते – **कहा जाता है;** क्रि.व.कर्मणि,तृ.पु.ए.व.'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : देव, द्विज, गुरू तथा प्राज्ञ का पूजन, शुद्धता, ऋजुता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप कहे जाते हैं ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। 15।।

अन्वयः

च – और; अव्यय

यत् – जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.'यत्'

अनुद्वेगकरं – उद्विग्न न करने वाला; विशेषण,वि.'वाक्यम्' ।

प्रियहितम् – प्रिय और हितकारक; विशेषण,वि.'वाक्यम्' ।

सत्यम् – सत्य; विशेषण,वि.'वाक्यम्'

वाक्यम्– वाक्य; नाम, प्र.ए.व.नपु.'वाक्य'।

च – और; अव्यय

स्वाध्यायाभ्यसनम् – वेद का अभ्यास; नाम,प्र.ए.व.नपु. ।

वाङ्मय – वाणी संबंधी; विशेषण,वि.'तपः'

तपः – तप; नाम, प्र.ए.व.नपु.'तपस्'।

उच्यते –कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : उद्वेग न करने वाले, सत्य तथा प्रिय और हितकारक वचन और वेद का अभ्यास – यह वाचिक तप कहा जाता है ।

विवेचन : मूल में द्वितीय पंक्ति में 'च' कार का प्रयाग है । इसलिए वेद के साथ स्मृतियों का भी अध्ययन – अभ्यास इसमें सम्मिलित है। चकार के पश्चात 'एव' शब्द इंगित करता है कि स्मृति का अभ्यास वेद के अविरोधपूर्वक अपेक्षित है । अर्थात यह सूचित किया है कि वेद वाक्य से विरूद्ध न हो, वेद के वचनों से सम्यक् रूपेण संगत हो, वैसा स्मृति का अध्ययन और अभ्यास हो ।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्मविनिग्रहः।।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसम् उच्यते ।। 16।।

अन्वयः

मनः प्रसादः – मन की प्रसन्नता; नाम, प्र.ए.व.पु.'मनःप्रसाद'

च – और; अव्यय ।

सौम्यत्वम् –शांत भाव; नाम,प्र.ए.व.नपु.'सौम्यत्वम्'

मौनम् – चिंतन करने का स्वभाव; नाम,प्र.ए.व.नपु.'मौन' ।

आत्मविनिग्रहः – मन का निग्रह; नाम, प्र.ए.व.पु.'आत्मविनिग्रहः' ।

भावसंशुद्धिः – अन्तः करण की पवित्रता; नाम,प्र.ए.व.स्त्री.

इति – इस प्रकार से; अव्यय ।

एतद् – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

मानसम् – मानसिक , मन संबंधी; विशेषण,वि.'तपः'।

तपः – तप; नाम, प्र.ए.व.नपु.'तपस्'

उच्यते – कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन तथा मन के निग्रह और भाव की शुद्धता को मानस तप कहा जाता है ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस् तत् त्रिविधं नरैः ।।
अफलाकांक्षिभिर् युक्तैः सात्त्विकम् परिचक्षते ।। 17।।

अन्वयः

अर्जुन – हे अर्जुन; सम्बोधन।

यत् – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.'यत्'

अफलाकांक्षिभिः युक्तैः(योगिभिः) – फलेच्छारहित निष्काम योगी द्वारा; विशेषण,वि.'नरैः'

नरैः – मनुष्यों द्वारा; नाम, तृ.ब.व.पु.'नर'।

परया – परम; विशेषण,वि.'श्रद्धया'

श्रद्धया – श्रद्धा से; नाम,तृ.ए.व.स्त्री. ।

तप्तम् – तप्त किया हुआ; भू.कृ.विशेषण,वि.'तपः'

तत् – उसको; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु. ।

त्रिविधम् – तीन प्रकार का; विशेषण,वि.'तपस्'

तपः – तप; नाम, प्र.ए.व.नपु.'तपस्' ।
सात्त्विकम् –सात्विक; विशेषण,वि.'तपः'
परिचक्षते – कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'परि+चक्ष्' 2गण, आत्मने

श्लोकार्थ : फलाकांक्षारहित युक्त पुरूषों द्वारा परम श्रद्धापूर्वक किए गए तीन प्रकार के तप को ''सात्विक'' कहते हैं।

सत्कार – मान – पूजार्थ तपो दम्भेन् चैव यत् ।।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलम् अध्रुवम् ।। 18।।

अन्वयः
च – और; अव्यय।
यत् – जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.'यत्'
तपः – तप; नाम, प्र.ए.व.नपु.'तपस्'।
सत्कारमानपूजार्थम् – सत्कार, मान और पूजा के लिए; नाम, च.ए.व.
वा – अथवा; ।
दम्भेन – दंभ से; नाम, तृ.ए.व.पु.'दंभ' ।
एव – ही; अव्यय
क्रियते – किया जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'कृ' 8गण ।
तत् – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
अध्रुवम् – अनित्य; विशेषण,वि.'तपः'
चलम् – क्षणिक; विशेषण,वि.'तपः'
इह – इस लोक में, यहाँ; अव्यय
राजसम् – राजस; विशेषण, वि. 'तपः'
प्रोक्तम् – कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'तपः'

श्लोकार्थ : सत्कार, मान और पूजा के लिए और दंभ से इस लोक में जो चल और नश्वर फल देने वाला अध्रुव तप किया जाता है उसको 'राजस' कहते हैं।

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसम् उदाहृतम् ।। 19।।

अन्वयः
यत् – जो; विशेषण,वि.'तपः'।
तपः – तप; नाम, प्र.ए.व.नपु.'तपस्'
मूढग्राहेण – मूढ़ता से, हठपूर्वक; नाम, तृ.ए.व.पु.'मूढः ग्राहः यस्मिन् इति' बहु.
आत्मनः – अपना, आत्मा का , मन, प्राण, इंद्रिय की क्रिया का; नाम, ष.ए.व.पु.
पीडया – पीड़ा देकर, पीड़ा के द्वारा; नाम, तृ.ए.व.स्त्री.'पीड़ा' ।
वा – अथवा; अव्यय
परस्य – दूसरों को; सर्वनाम, ष.ए.व.पु.'पर' ।
उत्सादनार्थम् – अनिष्ट करने के लिए, उच्छेदन के लिए; नाम, च.ए.व. ।
क्रियते – किया जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'कृ' 8गण
तत् – वह; सर्वनाम,प्र.ए.नपु.।
तामसम् – तामस; विशेषण,वि.'तपः'
उदाहृतम् – कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'तपः'

श्लोकार्थ : मूर्खतापूर्ण दुराग्रह से अपने को पीड़ित करके अथवा दूसरों के विनाश के लिए जो तप किया जाता है उसको 'तामस' कहते हैं।

विवेचन : इस प्रकार सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का तप कहा गया है। इनमें प्रत्येक के शारीरिक, मानसिक और वाचिक तीन – तीन भेद कहे गए हैं। अतः तप के नौ प्रकार कहकर अब तीन श्लोक (*20–22*) से दान के तीन भेद कहते हैं।

दातव्यम् इति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।20।।

अन्वयः

च - और; अव्यय।

दातव्यम् - (दान)देना उपयुक्त है; विधेय कर्मणि, कृ.विशेषण,वि.'दानम्'

इति - ऐसे(भाव से); अव्यय ।

यत् - जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.'यत्' ।

दानम् - दान; नाम, प्र.ए.व.नपु.'दान' ।

देशे - उचित देश में, किसी भी देश में; नाम, स.ए.व.पु.'देश'।

काले - उचित समय में; नाम, स.ए.व.पु.'काल'

च - और; अव्यय ।

पात्रे - उचित(पात्र)मनुष्य को; नाम, स.ए.व.पु.'पात्र'

अनुपकारिणे - प्रत्युपकार न कर सके वैसे को; नाम, च.ए.व.पु.'अनुपकारिन्'

दीयते - दिया जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'दा' 3गण ।

तत् - वह; प्र.ए.व.नपु. ।

दानम् - दान; नाम, प्र.ए.व.नपु.

सात्त्विकम् - सात्त्विक; विशेषण, वि. 'दानम्'

स्मृतम् - कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'दानम्'

श्लोकार्थ : दान करना ही चाहिए ऐसा निश्चय करके जो दान(उत्तम) देश में(उत्तम)काल में अनुपकारी पात्र को (दान लेने वाला मेरे प्रति उपकार करे ऐसी भावना के बिना) दिया जाता है वह दान 'सात्विक' कहा गया है।

यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलम् उद्दिश्य वा पुनः ।।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ।। 21।।

अन्वयः

तु - परंतु, तो; अव्यय।

यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

परिक्लिष्टम् - क्लेशपूर्वक, आस-पास क्लेश समाया हुआ हो ऐसा; भू.कृ.विशेषण,वि.'दानम्'

च - और; अव्यय।

प्रत्युपकारार्थम् - प्रत्युपकार के लिए; नाम, च. के अर्थ में अव्ययात्मक द्वि.ए.व.पु.

वा- अथवा; अव्यय ।

फलम् - फल को; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ।

उद्दिश्य - उद्देश्य बनाकर; विधेय कृदंत

पुनः - फिर से, वापस; अव्यय।

दीयते - दिया जाता है; क्रि.व.कर्मणि,तृ.पु.ए.व.'दा' 3गण

तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।

दानम् राजसम् - दान राजस; नाम, प्र.ए.व.नपु.

स्मृतम् - कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'दानम्'

श्लोकार्थ : परंतु प्रत्युपकार के लिए अथवा फल के उद्देश्य से जो क्लेशपूर्वक दान किया जाता है वह ''राजस'' दान कहा गया है।

विवेचन : जिसको दान किया जाता है वह इस दान के बदले में उपकार करेगा इस प्रयोजन से अथवा दान करने से अमुक फल प्राप्त होगा इस प्रयोजन से जो दान करता है उसमें दानदाता को यह चिंता रहती है कि इस दान से प्रयोजन सिद्ध होगा अथवा नहीं; अतः वह क्लेश पूर्वक दान करता है। ऐसे दान को ''राजस'' कहते हैं।

अदेशकाले यद् दानम् अपात्रेभ्यश्च दीयते ।।
असत्कृतम् अवज्ञातं तत् तामसम् उदाहृतम् ।। 22।।

अन्वयः

च - और; अव्यय।

यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।

दानम् – **दान**; नाम, प्र.ए.व.नपु.'दान'।
असत्कृतम् – **सत्कार बिना किया गया**; भू.कृ.विशेषण,वि.'दानम्'।
वा – **अथवा**; अव्यय।
अवज्ञातम् – **तिरस्कार के साथ**; भू.कृ.विशेषण,वि.'दानम्'।
अदेशकाले – **अनुपयुक्त स्थान और काल में**; नाम, स.ए.व.पु.'अदेशकाल'।
अपात्रेभ्यः – **अपात्र मनुष्य को**; नाम, च.ब.व.पु.'अपात्र'
दीयते – **दिया जाता है**; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'दा' 3गण।
तत् – **वह**; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.
तामसम् – **तामस**; विशेषण,वि.'दानम्'।
उदाहृतम् – **कहा गया है**; भू.कृ.विशेषण,वि.'दानम्+उत्+आ+हृ'

श्लोकार्थ : अयोग्य देश और काल में अपात्र को जो दान बिना सत्कार और तिरस्कारपूर्वक किया जाता है उसको 'तामस' दान कहते हैं।

ॐ'तत्' 'सद्' इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः ।।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुराः ।। 23।।

अन्वयः
ॐ,तत्,सत् – **ओम, तत् और सत्।**
इति – **इस प्रकार ,ऐसे**; अव्यय।
त्रिविधः – **तीन प्रकार का**; विशेषण,वि. 'निर्देशः'
ब्रह्मणः – **ब्रह्म का**; नाम, ष.ए.व.नपु.'ब्रह्मन्'
निर्देशः – **नाम, पहचान**; नाम, प्र.ए.व.पु.।
स्मृतः – **कहा गया है, समझाया गया है**; भू.कृ.विशेषण,वि.'निर्देशः'
तेन – **उस(परमात्मा)के कारण**; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.'तत्'।
पुराः – **पूर्व में, सृष्टि के आदि में**; अव्यय
ब्राह्मणाः – **ब्राह्मण**; नाम, प्र.ब.व.पु.'ब्राह्मण'।
च – **और**; अव्यय।

वेदाः – **वेद**; नाम, प्र.ब.व.पु.'वेद्'
च – **और**; अव्यय।
यज्ञाः – **यज्ञ**; नाम, प्र.ब.व.पु.'यज्ञ'
विहिताः – **निश्चय किया हुआ, विधान किया हुआ**; भू.कृ.विशेषण,वि.'वेदाः', ब्राह्मणाः, यज्ञाः''

श्लोकार्थ : ॐ,तत् और सत् नाम से तीन प्रकार से ब्रह्म का निर्देश किया गया है। उससे पहले (सृष्टि के आरंभ में) ब्राह्मण,वेद और यज्ञ की रचना हुई।

विवेचन : अनुपयुक्त देश और काल में किए गए श्रौतयज्ञ आदि तामस कहे गए हैं। अतः देश-काल उपयुक्त न हो तो उपयुक्त देश – काल की संपत्ति (श्रेष्ठता) जिस रीति से प्राप्त की जा सकती है वह बताते हैं। 'ब्रह्म' अर्थात वेद अथवा पुरूषोत्तम के नाम का व्यपदेश (नाम रखना) 'ॐ', तत् और 'सत्' तीन प्रकार का है। 'ॐ', 'तत्', 'सत्' ये तीन शब्द वेद अथवा पुरूषोत्तम के लिए श्रुति आदि में प्रयुक्त हुए हैं। अतः यज्ञ आदि में देश-काल आदि सर्व संपत्ति सिद्ध करने के लिए वेदवादियों ने ब्रह्म के तीन प्रकार के अभिधान योजित किए हैं अर्थात इन तीन ब्रह्म नामों के उच्चारण से देश-काल आदि सभी संपत्तियाँ सिद्ध होती हैं। इससे अर्थात इन तीन ब्रह्म के नामों के उच्चारण से पूर्व में सृष्टि के सर्ग प्रसंग में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ की रचना हुई। उच्चारण करने वाले ब्राह्मण, जिनका उच्चारण होना है वे वेद और उच्चारण के पश्चात किए जाने वाले कार्यरूप यज्ञ की रचना हुई है।

तस्मात् ओम् इत्युदाहृत्य यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः ।।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। 24।।

अन्वयः
तस्मात् – **इसलिए**; अव्यय।
ब्रह्मवादिनाम् – **वेद का कथन करने वाले(पुरूषों)की**; नाम,ष.ब.व.पु.''ब्रह्मवादिन्''।

विधानोक्ताः – **(शास्त्र विधि से)नियत;** भू.कृ.विशेषण,वि.'यज्ञदानतपः क्रियाः'
यज्ञदानतपः क्रियाः – **यज्ञ ,दान , और तप रूप क्रियाएँ;** नाम, प्र.ब.व.स्त्री
सततम् ओम् इति – **सदैव ॐ इस प्रकार;** अव्यय।
उदाहृत्य – **कहकर;** विधेय कृदन्त
प्रवर्तन्ते – **प्रवर्तित(आरंभ) होती है;** क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'प्र+वृत्' 1गण आत्मने

श्लोकार्थ : इसलिए ब्रह्मवादियों द्वारा शास्त्र में कही गई यज्ञ, दान तथा तप रूप क्रियाएँ निरंतर ॐ के उच्चारण से प्रवर्तित(आरंभ)होती हैं।

विवेचन : 'ॐ', 'तत्', 'सत्' – इन तीन नाम का अन्वय बताने के लिए प्रथम 'ॐ' के अन्वय का प्रकार कहते है।'ॐ' – इस ब्रह्म के अभिधान का उच्चारण करके ब्रह्मवादी शास्त्र में कही गई यज्ञ, दान तथा तप रूप क्रियाएँ करते हैं।

तद् इत्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ – तपः – क्रियाः ।।
दान – क्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।।25।।

अन्वयः
च तत् इति – **और वह इस प्रकार;** अव्यय।
फलम् – **फल को;** नाम,द्वि.ए.व.नपु.'फल'
अनभिसन्धाय – **इस प्रकार से इच्छा न करके , संलग्न न रहकर;** विधेय कृदन्त
विविधाः – **अलग-अलग;** विशेषण,वि.''यज्ञ तपःक्रियाः''
यज्ञतपः क्रियाः – **यज्ञ और तप की क्रियाएँ;** नाम, प्र.ब.व.स्त्री. ।
च – **और;** अव्यय।
दानक्रियाः – **दान की क्रियाएँ;** नाम, प्र.ब.व.स्त्री. ।
मोक्षकांक्षिभिः – **मोक्ष की आकांक्षा वालों के द्वारा;** नाम, तृ.ब.व.पु. ।

क्रियन्ते – **की जाती हैं;** क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ब.व.''कृ'' 8गण

श्लोकार्थ : फल की इच्छा न रखकर नाना प्रकार के यज्ञ तथा तप और दान की क्रियाएँ मोक्ष की आकांक्षा वालों के द्वारा 'तत्' का उच्चारण करके की जाती हैं।

विवेचन : मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले यज्ञ तप तथा दान की विविध क्रियाएँ लौकिक फल की इच्छा के बिना 'तत्' – इस ब्रह्म -नाम का उच्चारण करके करते हैं। यहाँ 'तत्' नाम का अन्वय कहा गया है।

सद्भावे साधुभावे च सद् इत्येतत् प्रयुज्यते ।।
प्रशस्ते कर्मणि तथा 'सत्' शब्दः पार्थ! युज्यते ।।26।।

अन्वयः
च – **और;** अव्यय।
सत् इति – **सत्, इस प्रकार;** अव्यय।
एतत् – **यह;** सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.'एतद्'
सद्भावे – **सद्भाव में , सत्य भाव में;** नाम,स.ए.व.पु.'सद्भाव'
च – **और;** अव्यय
साधुभावे – **साधु भाव में , श्रेष्ठ भाव में;** नाम, स.ए.व.पु. 'साधुभाव'
प्रयुज्यते – **प्रयुक्त होता है;** क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.''प्र+युज्' 7गण
तथा – **तथा;** अव्यय।
पार्थ – **हे अर्जुन!;** सम्बोधन।
प्रशस्ते – **उत्तम;** भू.कृ.विशेषण, वि. 'कर्मणि'
कर्मणि – **कर्म में;** स.ए.व.
अपि सत् – **सत् भी;** अव्यय
शब्दः – **शब्द;** प्र.ए.व.पु. ''शब्द''
युज्यते – **प्रयोग किया जाता है;** क्रि.वि.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'युज्' 7गण

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! सद् भाव और साधु भाव में (ब्रह्म का) ''सत्'' नाम (शब्द) प्रयुक्त होता है; उसी प्रकार प्रशस्त कर्म में भी ''सत्'' शब्द का प्रयोग होता है।

विवेचन : अब लोक में शब्द की व्युत्पत्ति से सिद्ध होते ''सत्'' शब्द का अन्वय दर्शाते है। जो कुछ भी है वह ''सत्'' है। इस भाव से 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है। यहाँ भाव का अर्थ ''वस्तु'' है। यदि भाव का अर्थ 'वस्तु' न लेकर 'सत्ता' मानें तो अनवस्था दोष प्राप्त होता है। अत: ''सद् भाव'' अर्थात ''सत्'' पद से आविर्भूत वस्तु को ''सत्'' कहते हैं।

''साधुभाव'' में अर्थात साधुत्व दर्शाने के लिए भी ''सत्'' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार प्रशस्त कर्म को दर्शाने के लिए ''सत्'' शब्द का प्रयोग होता है। सर्वत्र विद्यमान ब्रह्म सर्व (पदार्थ मात्र) है। शास्त्र में इस प्रकार कहा गया होने से इस सर्व को दर्शाने के लिए ''सत्'' शब्द का प्रयोग किया है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सद् इति चोच्यते ।।
कर्म चैव तदर्थीयं सद् इत्येवाभिधीयते ।। 27।।

अन्वय:

च – और; अव्यय ।
यज्ञे – यज्ञ में; नाम,स.ए.व.पु.'यज्ञ'
तपसि – तप में; नाम, स.ए.व.नपु.'तपस्'।
च – और; अव्यय।
दाने – दान में; नाम,स.ए.व.नपु.'दान'।
या – जो; प्र.ए.व.स्त्री. ।
स्थिति: – स्थान; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.'स्थिति'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'।
सा – वह; प्र.ए.व.स्त्री.
एव सत् इति – इस प्रकार सत् ही; अव्यय।

उच्यते – कहा जाता है; क्रिया, व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्'2गण
च – और; अव्यय।
तदर्थीयम् – उस(परमात्मा)के लिए किया गया; विशेषण, वि.'कर्म" तत् एव अर्थ: यस्य इति' बहु. ।
कर्म – नाम; प्र.ए.व.नपु.'कर्मन्'
एव सत् – मात्र सत्; अव्यय।
अस्ति – है; ।
इति – इस प्रकार; अव्यय
अभिधीयते – कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'अभि+धा' 3गण

श्लोकार्थ : यज्ञ, तप तथा दान में स्थिति को ''सत्'' – इस प्रकार कहा जाता है। और इनके लिए किए गए कर्म को भी ''सत्'' कहते हैं।

विवेचन : यज्ञ,तप और दान में जो स्थिति है उसे भी 'सत्' कहा जाता है। उसके लिए कर्म किए जाएँ तो वे भी सत् कहे जाते हैं, अर्थात वे सभी कर्म भी भगवद्रूप ही हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।।
असद् इत्युच्यते पार्थ! न च तत् प्रेत्य नो इह ।। 28।।

अन्वय:

पार्थ – हे पार्थ! सम्बोधन ।
अश्रद्धया – अश्रद्धा से; नाम, तृ.ए.व.स्त्री.
हुतम् दत्तम् – किया गया हवन और दिया गया दान; भू.कृ.विशेषण,वि.'यत्'
तप्तम् – तपा हुआ(तप); भू.कृ.विशेषण,वि.'तप:'
तप: – तप; नाम, प्र.ए.व.नपु.'तपस्' ।
च – और; अव्यय।

यत् – **जो**; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
कृतम् – **किया गया**; भू.कृ.विशेषण,वि.'कर्म'।
तत् असत् इति – **वह असत्**
उच्यते – **कहा जाता है**; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्'2गण
तत् – **वह**; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.।
नो इह च न – **ना यहाँ(इस लोक में)और न**; अव्यय
प्रेत्य – **मृत्यु के पश्चात, देह त्याग के पश्चात**; विधेय कृदन्त 'प्र+इ'

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! अश्रद्धा से किया गया हवन, दान और तप तथा कार्य 'असत्' कहा जाता है। वह परलोक में और इस लोक में भी फलित नहीं होता।

विवेचन : यज्ञ, होम, दान, तप आदि कोई भी कर्म अश्रद्धा से किए जाने पर 'असत्' अर्थात व्यर्थ हैं क्योंकि वे इस लोक में भी और परलोक में भी फलित नहीं होते ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ''श्रद्धाविभागयोगो'' नाम सप्तदशोऽध्यायः ।। 17 ।।

।। अध्याय 18 ।।
मोक्ष संन्यासयोग

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो! तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम्।।
त्यागस्य च हृषीकेश! पृथक् केशिनिषूदन!।।1।।

अन्वयः
महाबाहो हृषीकेश – **हे कृष्ण! हे हृषीकेश** ; सम्बोधन।
केशिनिषूदन – **हे केशिनिषूदन** ; सम्बोधन
सन्न्यासस्य – **संन्यासी का** ; नाम, ष.ए.व.पु. 'सन्न्यास'।
च – **और** ; अव्यय
त्यागस्य – **त्याग के** ; नाम, ष.ए.व.पु. 'त्याग'।
तत्त्वम् – **तत्त्व को** ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. 'तत्त्व'
पृथक् – **अलग, भिन्न** ; अव्यय।
वेदितुम् – **जानने का** ; हेत्वर्थ कृदंत
इच्छामि – **चाहता हूँ** ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'इष्' (इच्छ्) 6 गण परस्मै

श्लोकार्थ : अर्जुन कहते हैं: हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं सन्न्यास और त्याग का तत्त्व पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।

विवेचन : अध्याय 5 के श्लोक 13 में 'सर्व कर्म का मन से सन्न्यास' और अध्याय 4 के श्लोक 20 में 'कर्म के फल और आसंग (आसक्ति) का त्याग' बताते हुए दोनों स्थानों पर 'सन्न्यास' और 'त्याग' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन दोनों का अर्थ एक ही है अथवा उनके अर्थ में कोई भेद है ; यह जानने की इच्छा से अर्जुन उक्त श्लोक में जिज्ञासा प्रकट करते हैं कि सन्न्यास और त्याग दोनों तत्त्व पृथक् रूप से अर्थात विवेक से जानने की मेरी इच्छा है। अतः कृपया बताएं।

श्री भगवान् उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुः त्यागं विचक्षणाः।। 2।।

अन्वयः -

कवयः - कवि, पण्डित ; नाम, प्र.ब.व.पु. 'कवि'।

काम्यानाम् - काम्य, सकाम ; विशेषण, वि. 'कर्मणाम्'

कर्मणाम् - कर्मों के ; नाम, ष.ए.व.नपु. 'कर्मन्'।

न्यासम् - त्याग; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'न्यास'

सन्न्यासम् - सन्न्यास ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'सन्न्यास'।

विदुः - जानते/समझते हैं ; क्रि. व.का.तृ.पु.ब.व. 'विद्' 2 गण, परस्मै।

च - और ; अव्यय

विचक्षणाः-बुद्धिमान पुरुष, विचार कुशल पुरुष ; नाम, प्र.ब.व.पु. विचक्षण

सर्वकर्मफलत्यागम् - सभी कर्मों के फल का त्याग ; नाम, द्वि.ए.व.पु. ''**सर्वेषाम् कर्मणाम् फलानाम् त्यागम् इति**'' तत्पु.।

त्यागम् - त्याग को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'त्याग'

प्राहुः - कहते है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व. 'प्र.+ब्रू' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : श्री भगवान कहते हैं : काम्य कर्मों के त्याग को कवि (विद्वज्जन) संन्यास कहते हैं। विचक्षण पुरुष समस्त कर्मों के फल के त्याग को 'त्याग' कहते हैं।

विवेचन : 'संन्यास' और 'त्याग' शब्दों का अर्थ एक ही होने पर भी पृथक्-पृथक् मतों के अनुसार उनमें विषय-भेद है - इस प्रकार भगवान उत्तर देते हैं। ''स्वर्ग की कामना वालों को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए'' ''जो अश्वमेघ यज्ञ करते हैं वे सभी पापों और ब्रह्म हत्या से तर जाते हैं'' इत्यादि काम्य कर्म शास्त्र में कहे गए हैं। वेद से विहित ऐसे सभी काम्य कर्मों का स्वरूप से ही

त्याग करना अर्थात ऐसे काम्य कर्म करने ही नहीं- इस स्थिति को कवि अर्थात योगीजन 'संन्यास' कहते हैं। इसलिए 'विचक्षण' अर्थात चतुर पुरुष निपुण भक्तों को स्वरूप से कर्म का त्याग अभीष्ट नहीं, परंतु नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य सभी कर्मों के वेदादि शास्त्रों में कहे गए फल के त्याग को वे ''त्याग'' कहते हैं। मोक्षशास्त्र में जहां 'त्याग' शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ उसका अर्थ फल का त्याग ही कहा गया है- ऐसा वे कहते हैं। अतः इनके मतानुसार स्वरूप से कर्म का त्याग अर्थात कर्म ही नहीं करना, संन्यास नहीं है बल्कि समस्त कर्मों के फल का त्याग ही त्याग है।

त्याज्यं दोषवद् इत्येके कर्म प्राहुर् मनीषिणः।।
यज्ञ - दान - तपः कर्म न त्याज्यम् इति चापरे।। 3।।

अन्वयः

एके - कई (विद्वान) ; विशेषण, वि. 'मनीषिणः'

मनीषिणः - बुद्धिमान् विद्वज्जन ; नाम, प्र.ब.व.पु.'मनीषिन्'

इति - इस प्रकार; अव्यय।

प्राहुः - कहते हैं; क्रि.व.का.तृ.पु.ब.व.'प्र+ब्रू' 2गण, परस्मै।

कर्म - कर्म को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'कर्मन्'

दोषवत् - दोषयुक्त; विशेषण,वि.'कर्म'।

त्याज्यम् - त्यागने योग्य ; विधेय कर्मणि, कृदंत विशेषण, वि. 'कर्म'

च - और ; अव्यय।

अपरे - अन्य, दूसरे (विद्वान); सर्वनाम, प्र.ब.व.पु. 'अपर'।

इति - इस प्रकार ; अव्यय

आहुः - कहते हैं ; क्रि. व. का.।

यज्ञदानतपः कर्म-यज्ञ, दान तपरूपी कर्म ; नाम, प्र.ए.व. नपु.।

न - नहीं ; अव्यय

त्याज्यम् - त्याग करने योग्य ; विधेय कर्मणि, कृ. विशेषण, वि. 'कर्म'

श्लोकार्थ : कई विद्वान कहते हैं कि दोषयुक्त कर्म त्याज्य हैं। कुछ अन्य विद्वान यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म का त्याग न करने के लिए कहते हैं।

विवेचन : कई सांख्यवादी बुद्धिमान पुरुषों का मत है कि कर्म में हिंसा आदि दोष होने से कर्म त्याज्य है। यहाँ पर, यदि कर्म दोष रहित हो तो त्याज्य नहीं, ऐसा भावार्थ और तर्क होने से उनको 'बुद्धिमान' माना गया है। अन्य बुद्धिमान मीमांसक कहते हैं कि यज्ञ, दान तथा तप वेद से विहित कहे गए होने से उनके फल का त्याग करना उचित नहीं है। इस मत के लोग वेद के किसी भी अंश का त्याग नहीं करते अतः इस कारण से उनको 'बुद्धिमान' कहा गया है। इस प्रकार कर्म त्याग के संबंध में चार अलग-अलग मत हैं:

1. कवि (योगीजन) कहते हैं कि काम्य कर्मों का स्वरूप से त्याग अपेक्षित है। इस मत के अनुसार काम्य कर्मों के अतिरिक्त कर्म करणीय हैं।

2. विचक्षण भक्त कहते हैं कि समस्त कर्मों के फल का त्याग अपेक्षित है। कर्म का स्वभाव से त्याग न करके सभी कर्मों के फल का त्याग इनको अभीष्ट है।

3. सांख्यवादी कहते हैं कि दोषयुक्त कर्मों का त्याग किया जाए।

4. मीमांसक कहते हैं कि कर्म और कर्मफल, किसी भी त्याग की आवश्यकता नहीं है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम!।।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।4।।

अन्वयः

भरतसत्तम - हे भरसत्तम!, अर्जुन ; सम्बोधन।
तत्र - वहाँ ; अव्यय
त्यागे - त्याग में ; नाम, स.ए.व.पु. 'त्याग'।
मे - मेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
निश्चयम् - निश्चय को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'निश्चय'।

शृणु - सुन ; क्रि. आज्ञार्थ, तृ.पु.ए.व. 'शृणु' 5 गण, परस्मै
पुरुषव्याघ्र - पुरुषों में व्याघ्ररूप, पुरुष श्रेष्ठ ; सम्बोधन।
त्याग - त्याग ; नाम, प्र.ए.व.पु.
त्रिविधः - तीन प्रकार का ; विशेषण, वि. 'त्यागः'।
हि-निश्चितरूपेण ; अव्यय।
सम्प्रकीर्तितः - उत्तम प्रकार से कहा गया ; भू.कृ. विशेषण. वि. 'त्याग'
अस्ति - है ; क्रि. व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
श्लोकार्थ : हे भरतसत्तम! अब पहले त्याग के संबंध में मेरा निश्चय सुन। हे पुरुषव्याघ्र! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।
विवेचन : इस प्रकार अन्य मतों का उल्लेख करके भगवान इस संबंध में स्वयं का निर्णय कहते हैं। हे पुरुषों में व्याघ्ररूप अर्जुन! त्याग तीन प्रकार का है - सात्त्विक, राजस और तामस। इस श्लोक में भगवान त्याग के संबंध में अपना निश्चय (निर्णय) तथा त्याग के तीन भेद कहते हैं।

यहाँ से दो श्लोक तक (5-6) पहले भगवान त्याग के संबंध में अपना निश्चय अर्जुन को कहते हैं तथा अगले तीन श्लोक से (7-9) तीन प्रकार का त्याग कहते हैं।

यज्ञ - दान - तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। 5।।

अन्वय :

यज्ञदानतपः कर्म - यज्ञ, दान और तपरूप कर्म ; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
न- नहीं ; अव्यय।
त्याज्यम् - त्याग देने योग्य ; विधेय कर्मणि, कृ. विशेषण, वि. 'कर्म'।
तत् - उन (को) ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. 'तत्'
एव - ही ; अव्यय।
कार्यम् - करना चाहिए ; विधेय कर्मणि, कृ. विशेषण, वि. 'कर्म'
यज्ञः - यज्ञ ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'यज्ञ'

दानम् - दान ; नाम, प्र.ए.व. नपु. 'दान'।
च - और ; अव्यय।
तपः - तप ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'तपस्'
एव - ही, मात्र ; अव्यय।
मनीषिणम् - बुद्धिमान पुरूषों का, फलासक्ति बिना भगवदर्थ कर्म करने वालों का; नाम, ष.ब.व.पु.'मनीषिन्' ।
पावनानि - पवित्र करने वाले; वि.'यज्ञदानतपः'
अस्ति - है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। वे (करणीय होने से)करने ही चाहिए। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पावन करने वाले ही हैं।

विवेचन : पहले भगवान मीमांसकों के मत को आंशिक रूप में अंगीकार करते हैं।''यज्ञ विष्णु है'' - श्रुति के अनुसार यज्ञ भगवत्स्वरूप है। यज्ञ, दान और स्वधर्म के आचरण रूप तप - तीनों का त्याग नहीं करना चाहिए प्रत्युत ये तीनों करने ही चाहिए। मुमुक्षुओं को भी इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, बल्कि मरण पर्यंत सदैव कर्म करने ही चाहिए। उक्त कर्म किसलिए करने चाहिए? कारण कहते हैं कि ये कर्म बुद्धिमानों(विद्वज्जन)को भी पावन करने वाले हैं। बुद्धिमान पुरूष कहते हैं कि कर्म दोषयुक्त होते हैं परंतु उनको भी ये कर्म पावन करने वाले ही हैं। कर्म दोषयुक्त नहीं बल्कि पावन करने वाले ही है। अतः कर्म करने चाहिए। इससे सम्बन्धित निर्णय ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के पंचदश अधिकरण में (सूत्र 42) किया गया है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गम् त्यक्त्वा फलानि च ।।
कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ।। 6।।

अन्वयः
पार्थ - हे अर्जुन; सम्बोधन ।

एतानि - इन; सर्वनाम, प्र.ब.व.नपु.'एतद्' ।
तु - परंतु; अव्यय
अपि - भी; अव्यय।
कर्माणि - कर्म; नाम, प्र.ब.व.नपु.'कर्मन्' ।
सङ्गम् - सङ्ग को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'सङ्ग'
च - और; अव्यय।
फलानि - फलों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.'फल'।
त्यक्त्वा - त्याग कर; विधेय कृदन्त
कर्तव्यानि - करना चाहिए; विधेय कर्मणि, कृ.विशेषण,वि.'कर्माणि'।
इति - इस प्रकार; अव्यय
मे - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.'अस्मत्'।
निश्चितम् - निश्चय से युक्त; विशेषण,वि.'मतम्'
उत्तमम् - उत्तम; विशेषण,वि.'मतम्'
मतम् - मानना है; भू.कृ.नाम, प्र.ए.व.नपु.

श्लोकार्थ : परंतु हे पार्थ ! ये कर्म भी सङ्ग(आसक्ति) और फल का त्याग करके ही करने चाहिए - ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है।

विवेचन : परंतु यज्ञ, दान और तप भी उनमें आसक्ति(सङ्ग)और उनके फल का त्याग करके करने चाहिए।''मैं कर्ता हूँ'' ऐसा अभिमान न रख कर भगवान् में सर्व कर्मों का न्यास करके, अर्थात 'भगवान् कर्ता हैं और मैं उनके अधीन रहकर उनके करवाने से ऐसा कर रहा हूँ' - इस प्रकार भावना रख कर कर्म करने से उनका सङ्ग (आसक्ति) नहीं होता, कर्म में ममत्व नहीं रहता और कर्म के फल का भी त्याग होता है। इस प्रकार कर्म करना चाहिए अर्थात स्वरूप से कर्म का त्याग न करके कर्म के फल का त्याग करना ही मेरा निश्चित उत्तम मत है। अतः विचक्षण भक्तों का जो मत है वही मेरा मत है। उक्त सभी मतों में यह मत उत्तम है।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।।
मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ।। 7।।

अन्वयः

तु – भी परंतु; अव्यय ।

नियतस्य – नियत किया हुआ; विशेषण,वि.'कर्मणः'

कर्मणः – कर्म का; नाम,ष.ए.व.नपु.'कर्मन्'।

सन्न्यासः – सन्न्यास; नाम, प्र.ए.व.पु.

न – नहीं; अव्यय

उपपद्यते – उचित है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'उप+पद्' 4गण, आत्मने

मोहात् –मोह से; नाम, पं.ए.व.पु.'मोह'

तस्य – वह; सर्वनाम, ष.ए.व.नपु.'तत्'

परित्यागः – त्याग; नाम, प्र.ए.व.पु.'परित्याग' ।

तामसः – तामस; विशेषण,वि.'परित्यागः'

परिकीर्तितः – कहा गया है; विशेषण,वि.'परित्यागः'

श्लोकार्थ : नियत कर्म का सन्न्यास(त्याग)उचित नहीं है। मोह से उनका त्याग करना तामस (त्याग)कहा जाता है।

विवेचन : अतः तीन प्रकार के त्याग का निरूपण करते हैं। उनमें से यहाँ तामस त्याग के विषय में बताया गया है। यहाँ यह भी इंगित किया गया है कि दूसरे श्लोक में कवियों(विद्वज्जन)का कहा गया मत दोषपूर्ण है। कामना तथा फल के बोधपूर्वक जो नियत अर्थात नियमपूर्वक करणीय कर्म वेद में निर्दिष्ट हैं उनका स्वरूप से त्याग उचित नहीं है। विद्वान पुरूष ऐसे कर्मों का स्वरूपतः त्याग करने के लिए कहते हैं जो उचित नहीं है। फिर भी तमोगुण के परिणामरूप मोह से यदि उनका त्याग किया जाता है तो मोह के कारण किए गए उस त्याग को ''तामस'' कहा जाता है। ''मोह और प्रमाद तमोगुण से उद्भूत हैं'' – इस वाक्य के अनुसार मोह तमोगुण का कार्य होने से मोह से किया जाने वाला त्याग ''तामस'' ही कहा जाता है।

इस श्लोक का अनुसंधान ब्रह्मसूत्र के सूत्र 3/4/7 के संदर्भ में अणुभाष्य में किया गया है।

दुःखम् इत्येव यत् कर्म काय-क्लेश-भयात् त्यजेत ।।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। 8।।

अन्वय :

यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.'यत्' ।

कर्म – कर्म को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'कर्मन्'

तदेव – वह ही; ।

दुःखम् – दुःख; नाम, प्र.ए.व.नपु.'दुःख'।

इति – इस प्रकार; अव्यय

कायक्लेशभयात् – शरीर के क्लेश के भय से ; नाम, पं.ए.व.नपु. ''कायस्यक्लेशः एव भयम् इति'' कर्मधारय

त्यजेत् – छोड़ना चाहिए, छोड़ देता है ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'त्यज्' 1 गण

सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।

राजसम् – राजस ; विशेषण, वि. 'त्यागम्'

त्यागम् – त्याग ; नाम, द्वि.ए.व. 'त्याग'।

कृत्वा – करके ; विधेय कृदंत।

एव – भी ; अव्यय

त्यागफलम् – त्याग के फल को ; नाम द्वि.ए.व.नपु.

न – नहीं ; अव्यय।

लभेत् – मिलता है ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'लभ्' 1 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : कर्म दुःखरूप हैं ऐसा ही समझ कर काया को क्लेश होने के भय से जो उनका (कर्मों का) त्याग करता है, उसका वह त्याग राजस होने से (उसको) त्याग का फल नहीं मिलता।

विवेचन : वेद में कहे गए नियत कर्म परम्परा से मोक्ष प्राप्त कराते हैं फिर भी उन यज्ञादि कर्मों को करने के लिए पहले अत्यधिक प्रयास करके द्रव्य प्राप्त करना होता है। द्रव्य प्राप्त होने पर भी बहुत प्रयत्न करने से ही वे कर्म हो सकते हैं इस लिए कर्म दुःखमय हैं। कर्म दुखमय होने से सुख के विरोधी हैं। कर्म करने में काया को भी कष्ट होता है। इस विचार से जो कर्म नहीं करते हैं अथवा कर्म का त्याग करते हैं वह 'राजस' त्याग है। ऐसा त्याग करने वाले को त्याग का फल अर्थात ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

कार्यम् इत्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन!।।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।9।।

अन्वयः

अर्जुन – हे अर्जुन! ; सम्बोधन।
कार्यम् – करने योग्य ; विधेय कर्म, कृ. विशेषण, वि. 'कर्म'
इति एव – इस प्रकार ही, ऐसा समझ कर ; अव्यय।
यत् – जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
नियतम् – निर्धारित किया हुआ ; भू. कृ. विशेषण, वि. 'कर्म'
कर्म–कर्म ; नाम, प्र.ए.व.नपु.
सङ्गम् – सङ्ग को, आसक्ति को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'सङ्ग'।
च – और ; अव्यय।
फलम्–फल को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
त्यक्त्वा–त्यज कर ; विधेय कदंत।
क्रियते – कराता है ; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण
सः – वह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. 'तत्'।
एव – ही ; अव्यय।
सात्त्विकः – सात्त्विक ; विशेषण, वि. 'त्यागः'
त्यागः – त्याग ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
मतः – माना गया ; भू. कृदंत, क्रि. विशेषण, वि. 'त्यागः'

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! कर्म करना ही चाहिए, मात्र इस विचार से जो नियत कर्म, संग (आसक्ति) तथा फल का त्याग करके किए जाते हैं तो वह त्याग सात्त्विक माना गया है।

विवेचन : विचक्षण भक्तों का त्याग, सात्त्विक त्याग है – ऐसा निरूपण करते हैं। नित्य, नैमित्तिक, महायज्ञ आदि वर्णाश्रम विहित सभी कर्म करने ही चाहिए। ऐसा विचार कर कर्म के संग अर्थात कर्म में ममता अतथा कर्म के फल का त्याग करके जब कर्म किए जाते हैं तो वह त्याग सात्त्विक है। इसी प्रकार सभी कर्मों का त्याग करके, मात्र पुष्टिपुरूषोत्तम श्रीकृष्ण का ही आश्रय करना भगवान की आज्ञा – पालन रूप निर्गुण त्याग है और आचार्यश्री ने उसको उत्तम माना है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। 10।।

अन्वयः

अर्जुन – हे अर्जुन ! सम्बोधन
अकुशलम् – अकल्याण करने वाला; विशेषण,वि.'कर्म'
कर्म – कर्म को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.।
न – नहीं; अव्यय
द्वेष्टि – द्वेष करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'द्विष्'2गण, परस्मै
कुशले – कल्याण करने वाला; विशेषण,वि.'कर्मणि'।
न – नहीं; अव्यय
अनुषज्जते – आसक्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अनु+सज्ज्'1गण, आत्मने
सत्त्वसमाविष्टः – जिसका सत्त्व में समावेश हो गया है–वह; विशेषण,वि.'त्यागी''सत्त्वे समाविष्टः इति''तत्पु.
छिन्नसंशयः – जिसके संशय नष्ट हो गए हैं; विशेषण,वि.'त्यागी'।

मेधावी – ज्ञानवान; विशेषण,वि.'त्यागी'।
त्यागी – त्यागी; नाम, प्र.ए.व.पु.'त्यागिन्' ।
अस्ति – है;

श्लोकार्थ : सत्त्व मे सम्यक् आवेशवाला, बुद्धिमान, जिसके संशय दूर हो गए हैं वह त्यागी अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता ।

विवेचन : यहाँ सात्त्विक त्याग करने वाले के लक्षण कहे गए हैं। ऐसे त्यागी (पुरूष)कर्म के संग का और कर्मफल का त्याग कर चुके होने से अकुशल अर्थात अनिष्ट फल प्रदान करने वाले कर्मों से द्वेष नहीं करते तथा इसी प्रकार 'कुशल' अर्थात स्वर्ग आदि इष्ट फल देने वाले कर्मों में आसक्त नहीं होते । अत: कर्म के संग तथा उसके फल का त्याग ही शास्त्रीय त्याग है। स्वरूप से कर्म का त्याग शास्त्रीय त्याग नहीं है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।।
यस्तु कर्म फलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। 11।।

अन्वय:
हि – निश्चित; अव्यय।
देहभृता – देह धारण करने वाले के द्वारा; तृ.ए.व.पु.'देहभृत्'
अशेषतः – अवशेष न रहे– इस भांति; अव्यय।
कर्माणि – कर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.
त्यक्तुम् – छोड़ना; हेत्वर्थ कृदंत, नामं, प्र.ए.व.नपु.
न – नहीं; अव्यय
शक्यम् – शक्य; विधेय कर्मणि,कृ.विशेषण,वि.'त्यक्तुम्'
तस्मात् – इसलिए;
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'यत्' ।
कर्मफलत्यागी – कर्म के फल का त्याग करने वाला; विशेषण,वि.'यः'

सः – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'तत्'।
तु – तो भी; अव्यय
त्यागी – त्यागी; नाम, प्र.ए.व.पु.'त्यागिन्'
इति – इस प्रकार से; अव्यय।
अभिधीयते – कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि,तृ.पु.ए.व.'अभि+धा'3गण

श्लोकार्थ : देहधारी द्वारा समग्रतः कर्मों का त्याग शक्य नहीं है परंतु जिन्होने कर्म के फल का त्याग कर दिया है वे ''त्यागी'' कहे जाते हैं।

विवेचन : देहधारी से संपूर्ण रीति से कर्म का त्याग संभव नहीं, कारण कि देह के निर्वहन के लिए अशन (भोजन), पान तथा (देह के लिए)अन्य उपयोगी सभी कर्म उसको अवश्य करने ही पड़ते हैं। इसी कारण से महायज्ञ आदि कर्मों का भी त्याग उससे संभव नहीं, परंतु उन यज्ञादि कर्मों के फल का जिसने त्याग कर दिया है, जिसने ''मैं कर्ता हूँ, यह कर्म मेरा है'' इस स्वयं के कर्तापन और ममता का त्याग कर दिया है, वही – ''कई(मनुष्य)त्याग से अमृतत्व भोगते हैं'' आदि स्थानों पर कहा गया त्यागी है।

अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित् ।। 12।।

अन्वय:
अत्यागिनाम् – सकाम पुरूषों का; नाम, ष.ब.व.पु.।
कर्मणः – कर्म के; नाम, ष.ए.व.नपु.'कर्मन्'
इष्टम् – इष्ट; विशेषण,वि.'फलम्'।
अनिष्टम् – अनिष्ट; विशेषण,वि.'फलम्'।
च – और; अव्यय
मिश्रम् – मिश्र, इष्ट और अनिष्ट; विशेषण,वि. 'फलम्'
इति – ऐसे; ।
त्रिविधम् – तीन प्रकार के; विशेषण, वि. 'फलम्'

फलम् – **फल;** नाम, प्र.ए.व.नपु.'फल'।
प्रेत्य – **मरणोपरांत;** विधेय कृदन्त,'प्र+इ'
भवति – **होता है ;** क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'भू'1गण,परस्मै
तु – **और;** अव्यय
सन्न्यासिनाम् – **सन्न्यासियों का;** नाम, ष.ब.व.पु.'सन्न्यासिन्'।
क्वचित् – **किसी भी समय;** अव्यय
न – **नहीं;**

श्लोकार्थ : अत्यागियों को अनिष्ट, इष्ट और मिश्र तीन प्रकार का कर्म का फल मरणोपरांत मिलता है परंतु सन्न्यासियों (त्यागियों) को कभी भी (फल) प्राप्त नहीं होता।

विवेचन : शास्त्र में जहां कर्म करने की विधि कही गई है वहीं उसके फल का भी निरूपण किया गया है। कर्म का स्वभाव ही ऐसा है कि अपना फल प्रदान करता ही है। फल देना कर्म का स्वभाव है, यह जानते हुए भी जब कर्म किया जाता है तो जैसे खेत में बीज बोकर सिंचाई करने से फल प्राप्त हुए बिना नहीं रहता वैसे ही कर्म के इष्ट – अनिष्ट आदि फल प्राप्त होते ही हैं। ऐसे कर्म का फल मोक्ष का विरोधी होने से मुमुक्षुओं को कर्म का सर्वथा त्याग ही उचित है ऐसी शंका हो तो इस श्लोक से भगवान उस शंका को दूर करते हैं।

कर्म के नरक आदि अनिष्ट फल, स्वर्ग आदि इष्ट तथा धन, पुत्र, पशु, अन्न आदि की प्राप्ति रूप मिश्र फल हैं। ऐसा फल जो अत्यागी है, अर्थात जिन्होंने ऊपर वर्णित कर्म का त्याग नहीं किया है, उन कर्मियों (अत्यागियों) को ही मरणोंपरांत प्राप्त होता है। जो त्यागी है, जिन्होंने कर्तापन तथा ममता के अभिमान का तथा कर्म के फल का त्याग कर दिया है उनको मरणपूर्व अथवा मरणोपरांत कभी भी उक्त प्रकार के कर्मों के फल प्राप्त नहीं होते। अर्थात जिन्होंने कर्म-फल का त्याग कर दिया है और सभी कर्म भगवान को अर्पित किए हैं उनको कर्म का मोक्षविरोधी फल कदापि प्राप्त नहीं होता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।। 13।।

अन्वयः
महाबाहो – **हे अर्जुन!** सम्बोधन।
सर्वकर्मणाम् – **सम्पूर्ण कर्मों की ;** नाम, ष.ब.व.नपु.
सिद्धये – **सिद्धि के लिए ;** नाम, च.ए.व.स्त्री. 'सिद्धि'।
एतानि – **ये ;** विशेषण, वि. 'कारणानि'
पञ्च – **पाँच ;** विशेषण, वि. 'कारणानि'
कारणानि – **कारणों को, हेतुओं को ;** नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'कारण'
साङ्ख्ये – **सांख्य शास्त्र में ;** नाम, स.ए.व.नपु.।
कृतान्ते–**(कर्मों का अंत करने वाले) सिद्धान्त के रूप में ;** नाम, स.ए.व.पु. 'कतांत'।
प्रोक्तानि – **कहे गए ;** भू.कृ.विशेषण, वि. 'कारणानि'।
तानि – **तू ;**
मे – **मुझे से, मेरे पास से ;** सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
निबोध – **समझ, जान ;** क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. ''नि+बुध्'' 1 गण

श्लोकार्थ : हे महाबाहो ! सभी कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य सिद्धान्त में कहे गए ये पाँच कारण मुझ से सुन।

विवेचन : यहाँ से यह स्पष्ट करते हैं कि कर्म मात्र में भगवान ही कर्ता हैं, ऐसे अनुसंधान से जीव के कर्तृत्व का परिहार किस प्रकार होता है। अगले 14 वें श्लोक के अनुसार कर्म के पाँच कारण (हेतु) होने पर भी जीव स्वयं के भीतर ही कर्तव्य मान लेता है इसलिए उसकी निंदा होती है। जब यह जान-समझ लिया जाता है कि कर्म मात्र का कारण गुण (सत्त्वादि) ही हैं अथवा दैव अथवा हरि ही हैं तभी जीव की कर्म और कर्मफल में रही हुई ममता दूर होती है। वस्तुतः कर्तृत्व अंतर्यामी में अधिष्ठित है, कारण कि अंतर्यामी स्वतंत्र है और सबका नियंता है। जीव परतंत्र होने से उसका कर्तृत्व मुख्य नहीं बल्कि

गौण ही है। अतः कर्ता, वस्तुतः, अंतर्यामी रूप ब्रह्म ही है, जीव ब्रह्म का अंश मात्र होने से उसका कर्तृत्व गौण है। यह सिद्धान्त भगवान अब कहेंगे।

सांख्य सिद्धान्त में सभी कर्मों की सिद्धि के पाँच कारण कहे गए हैं – वे मुझ से सुन। सांख्य में वेद के आज्ञापालन की दृष्टि से सूत्र कहे गए हैं। उनके अनुसार शरीर इंद्रिय, प्राण और जीवात्मा इन उपकरणों से युक्त अंतर्यामी परमात्मा ही उत्तम कर्ता हैं। "जो आत्मा में रहकर आत्मा को नियम में रखता है" इत्यादि श्रुति वचनों से बोध होता है कि स्वतंत्रता से नियमन करने वाला केवल परमात्मा ही है। अब आगे कर्म की सिद्धि के सांख्य में कहे गए पाँच कारण कहते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। 14।।

शरीर – वाङ्-मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। 15।।

अन्वय :

अत्र – यहाँ (कर्मों की सिद्धि में)।
अधिष्ठानम् – अधिष्ठान, आधार ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'अधिष्ठान'
च – और ; अव्यय।
कर्ता – कर्ता ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'कर्तृ'।
च – और ; अव्यय
पृथग्विधम् – अलग – अलग प्रकार के ; विशेषण, वि. 'करणम्'
करणम् – करण, साधन; नाम, प्र.ए.व.नपु.'करण'।
च – और; अव्यय।
विविधाः – विविध प्रकार की; विशेषण,वि.'चेष्टाः'।
पृथक् – अलग; अव्यय।
चेष्टाः – चेष्टाएँ; नाम, प्र.ब.व.स्त्री.'चेष्टा'

तथैव – उसी प्रकार से; अव्यय।
पञ्चमम् – पाँचवाँ; विशेषण,वि.'दैवम्'
दैवम् – दैव; नाम, प्र.ए.व.नपु.
नरः – मनुष्य; नाम, प्र.ए.व.पु.'नर'।
शरीरवाङ्मनोभिः – शरीर, वाणी और मन से; नाम, तृ.ब.व.नपु.
न्याय्यम् – न्यायसम्मत; विशेषण,वि.'कर्म'।
वा – अथवा; अव्यय
विपरीतम् – विपरीत, अन्यायी; विशेषण,वि.'कर्म'।
वा – अथवा; अव्यय।
यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
कर्म – कर्म को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
प्रारभते – प्रारंभ करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'प्र+आ+रभ्' 1गण, आत्मने
तस्य – उसके, कर्म के; सर्वनाम, ष.ए.व.नपु.'तत्'
एते – ये; सर्वनाम, प्र.ब.व.पु.'एतद्'
पञ्च – पाँच; विशेषण,वि.'हेतवः'
हेतवः – हेतु; नाम, प्र.ब.व.पु. 'हेतु'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : मनुष्य(अपने)शरीर, वाणी तथा मन से न्याय्य(शास्त्र संगत)अथवा विपरीत, जिस किसी भी कर्म का प्रारंभ करता है उस(कर्म)के अधिष्ठान, कर्ता, अलग–अलग प्रकार के करण, विविध चेष्टाएँ और पाँचवाँ देव – ये पाँच हेतु होते हैं।

विवेचन : शरीर, वाणी तथा मन से कर्म करना संभव होता है। इन तीनों के द्वारा मनुष्य न्याय्य अर्थात शास्त्रीय अथवा विहित और विपरीत अर्थात निषिद्ध आदि जो कोई भी कर्म करता है उसके पाँच कारण हैं।

1. 'अधिष्ठान' अर्थात शरीर प्रथम कारण है।
2. 'कर्ता' अर्थात अहंकारयुक्त जीवात्मा।

3. अलग – अलग प्रकार के 'करण' अर्थात मन सहित इंद्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियाँ ।

4. विविध – अलग – अलग चेष्टाएँ अथवा वृत्तियाँ

5. 'दैव' – दैव का अर्थ कई (अन्य अनेक मतावलंबी) 'अदृष्ट' करते हैं। यह उचित नहीं है। यहाँ 'दैव' का अर्थ अंतर्यामी है। कर्म मात्र की सिद्धि के लिए मुख्य कारण ''दैव'' अर्थात अंतर्यामी है। यह अंतर्यामी स्वरूप सब के हृदय में स्थित है – ऐसा भगवान ने ही पूर्व में भी कहा है। श्रीमदाचार्यचरण भी ''अन्त: करणप्रबोध'' में आज्ञा करते हैं कि दोष से रहित दैव वस्तुत: श्रीकृष्ण से अलग (अन्य) नहीं है। (''कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्'') कर्तृत्व का निर्णय वेदान्त सूत्र में भली – भांति किया गया है। दूसरे अध्याय के तृतीय पाद में इस संबंध में निर्णय किया गया है। वहाँ इस प्रकार निर्णय किया है कि जीवात्मा अंतार्यामी के अधीन रहकर कर्ता होता है। ब्रह्मसूत्र – 2/3/40-42 ।

तत्रैवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलं तु य: ।।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मति: ।। 16।।

अन्वय:

तु – तो भी, परंतु; अव्यय ।
एवम् – इस प्रकार; अव्यय ।
सति – है, फिर भी; स.ए.व.'सत्'
य: – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
अकृतबुद्धित्वात् – अशुद्ध, अयोग्य बुद्धि होने से; नाम, पं.ए.व.नपु.
तत्र – वहाँ; अव्यय ।
केवलम् – केवल, मात्र; विशेषण,वि.'आत्मानम्'
आत्मानम् – आत्मा को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'आत्मन्' ।
कर्तारम् – कर्ता को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'कर्तृ'
पश्यति – देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'दृश्' (पश्य्) 1गण,परस्मै

स: – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु. ।
दुर्मति: – नष्ट बुद्धि, अज्ञानी मनुष्य; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
न – नहीं; अव्यय
पश्यति – देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'दृश्' (पश्य्) 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : उस संबंध में (कर्मों के होने के संबंध में) ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को कर्ता के रूप में देखता है वह दुर्बुद्धि विवेक बुद्धि रहित होने से सत्य को नहीं देखता ।

विवेचन : कर्म के पाँच कारण होने से पाँच कर्ता बताते हैं। उनमें भी मुख्य स्वतंत्र कर्ता अंतर्यामी है। प्रकृति और पुरूष का संबंध कराने वाले परमात्मा की अनुमति से ही जीव कर्ता होता है। उसका यह कर्तृत्व भी गौण है। इस प्रकार होने पर भी जो केवल जीवात्मा को ही कर्ता मानता है वह विपरीत मति वाला है, वह कर्तृत्व के विषय में गुरू के द्वारा विवेक बुद्धि से सत्य निर्णय को प्राप्त नहीं हुआ है, उसको इस विषय में सत्य ज्ञान नहीं है।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।। 17।।

अन्वय:

अर्जुन – हे अर्जुन; सम्बोधन ।
यस्य – जिसका; सर्वनाम, ष.ए.व.पु.
अहङ्कृत: – अहङ्कार, मैं कर्ता हूँ का भाव; विशेषण,वि.'भाव:'
भाव: – भाव; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
न – नहीं; अव्यय ।
यस्य: – जिसकी; सर्वनाम, ष.ए.व.पु.'यत्'
बुद्धि: – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.'बुद्धि' ।
न – नहीं; अव्यय
लिप्यते – लिप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'लिप्' 4गण, आत्मने

सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'तत्'।
इमान् - इन; सर्वनाम, द्वि.ब.व.पु.'इदम्'
लोकान् - लोगों(प्राणियों)को; नाम, द्वि.ब.व.पु.'लोक'
हत्वा - मारकर; विधेय कृदन्त
अपि न - भी नहीं; अव्यय ।
हन्ति - मारता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'हन्' 2गण, परस्मै
न - नहीं; अव्यय
निबध्यते - बंधता है; क्रि.व.काल, कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'नि+बन्ध्'9गण

श्लोकार्थ : ''मैं कर्ता हूँ'' - जिसका ऐसा भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि अलिप्त है वह इन लोगों(प्राणियों)को मारकर भी नहीं मरता और बंधन को प्राप्त नहीं होता ।

विवेचन : मुख्य कर्ता परमात्मा ही है - ऐसी भावना रखने से ''मैं कर्ता हूँ'' का अभिमान जिसके मन में नहीं रहता है और कर्मफल की प्राप्ति आदि के लिए जिसकी बुद्धि नहीं बिगड़ती वह भीष्म आदि को तो क्या बल्कि इन(सभी)लोकों को मारकर भी नहीं मारता तथा उस कर्म से उसको बंधन प्राप्त नहीं होता। अर्थात उस कर्म का फल उसको नहीं भोगना पड़ता। इस प्रकार जब निषिद्ध कर्म भी उसको नहीं बांधते तो विहित कर्म से उसको बंधन कैसे प्राप्त हो सकता है? यही अर्थ पिछले अध्याय 5 के श्लोक 10 में कहा गया है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।। 18।।

अन्वय :
भारत - हे भारत! सम्बोधन ।
परिज्ञाता - ज्ञाता, जानने वाला; नाम, प्र.ए.व.पु.'परिज्ञातृ'
ज्ञानम् - ज्ञान को; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
ज्ञेयम् - जानने योग्य; विधेय कर्मणि, कृ.नाम, प्र.ए.व.नपु.

त्रिविधा - तीन प्रकार की; विशेषण,वि.'कर्मचोदना'
कर्मचोदना - कर्म में प्रवृत्त होने की आज्ञा है; ।
कर्ता - कर्ता; नाम, प्र.ए.व.पु.'कर्तृ'
करणम् - करण, साधन; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'करण'
इति - इस प्रकार से; अव्यय ।
त्रिविधः - तीन प्रकार का; विशेषण,वि.'कर्मसंग्रहः'
कर्मसंग्रहः -कर्म का संग्रह है; नाम, प्र.ए.व.पु.

श्लाकार्थ : ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता तीन प्रकार की कर्म की विधि है। करण, कर्म और कर्ता तीन प्रकार का कर्म संग्रह है।

विवेचन : ज्ञान का तात्पर्य है - ज्ञेय के लिए अर्थात कर्तव्य - कर्म के लिए किए जाने वाले साधन और 'परिज्ञाता'अर्थात कर्तव्य कर्म को जाननेवाला; अथवा ''ज्ञान'' अर्थात फल के स्वरूप के ज्ञान के साथ यह ज्ञान कि वह आत्मा के अर्थात ईश्वर के अधीन है। ''ज्ञेय'' अर्थात फल के साधन रूप कर्म और ''परिज्ञाता'' अर्थात ज्ञान तथा ज्ञेय के स्वरूप का जानने वाला। इस प्रकार ज्ञान आदि को लेकर होती कर्म की प्रेरणा तीन प्रकार की है। वेद में भी कर्म की विधि तीन गुण वाली है, इसीलिए वेद त्रैगुण्यविषय कहे गए हैं। ''करण'' अर्थात कर्म के साधन भूत इंद्रियाँ और द्रव्य । ''कर्म'' यानि यज्ञादि क्रिया। ''कर्ता'' यानि यज्ञादि क्रिया करने वाला। इस प्रकार कर्म संग्रह तीन प्रकार का है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावत् शृणु तान्यपि ।। 19।।

अन्वय :
ज्ञानम् - ज्ञान; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
च - और; अव्यय ।
कर्म - कर्म; नाम, प्र.ए.व.नपु.।

और; अव्यय ।

र्ता - **कर्ता**; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

- **ही**; अव्यय

भेदतः - **गुण के भेद से**; नाम, पं.ए.व.'तः' प्रत्यय ।

सङ्ख्याने - **साङ्ख्यशास्त्र में**; नाम, स.ए.व.नपु. ।

ा - **तीन प्रकार से, तीन-तीन प्रकार से**; अव्यय

व्यते - **कहा जाता है**; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व. 2गण,'प्र+वच्'

न - **उनको**; सर्वनाम, द्वि.ब.व.नपु.'तत्'।

प **यथावत् - भी यथावत्**; अव्यय

गु - **सुन**; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'शृ' 5गण, परस्मै

कार्थ : गुणों के भेद से सांख्यशास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्ता भी तीन - तीन
कार के कहे गए हैं। उनका भी तू भली-भांति श्रवण कर।

वेचन : जिसमें कार्य के भेद से गुणों का संख्यान अथवा निरूपण किया
ता है वह 'गुणसंख्यान' अर्थात सांख्य । शास्त्र में सत्त्वादि तीन गुणों के भेद
ज्ञानादि तीन प्रकार के कहे गए हैं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावम् अव्ययम् ईक्षते ।।
अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ।। 20।।

न्वयः

न - **जिनके द्वारा, जो (ज्ञान के द्वारा)**; सर्वनाम, तृ.ए.व.नपु.

भक्तेषु - **अलग-अलग विभाग में**; विशेषण,वि.' भूतेषु' ।

र्वभूतेषु - **सभी प्राणियों में**; नाम, स.ब.व.नपु.

कम् - **एक**; विशेषण,वि.' भावम्' ।

व्ययम् - **अविनाशी**; विशेषण,वि.' भावम्'

ावम् - **भाव को**; नाम, द्वि.ए.व.पु.' भाव' ।

अविभक्तम् - **अविभक्त**; विशेषण,वि.' भावम्'

ईक्षते - देखता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'ईक्ष्' 1गण

तत् - उस; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. ।

ज्ञानम् - ज्ञान को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'ज्ञान'

सात्त्विकम् - सात्विक; विशेषण,वि.'ज्ञानम्'

विद्धि - जान; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. परस्मै, 2गण

श्लोकार्थ : सर्व विभक्त भूतों में एक अविभक्त अव्यय भाव को जिसके द्वारा देखा जाता है उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान ।

विवेचन : ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि आश्रमों में विभक्त हुए पृथक् - पृथक् कर्मों के अधिकार वाले अनेक प्राणियों में आत्मरूप एक ही भाव को देखते हैं, जो व्यय स्वभाव वाले अनेक शरीरों में विद्यमान होकर भी अव्यय है, जिसको कर्म के फल का संग अथवा आसक्ति नहीं और जो सभी शरीरों में एक ही आकार वाला है उसको जो ज्ञान से देखता है अर्थात कर्म के अधिकार के समय यानि कर्म करते समय भी देखता है उस ज्ञान को सात्विक जान ।

पृथक्त्वेन तु यज् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज् ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। 21।।

अन्वयः

तु - परंतु; अव्यय ।

यत् - जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु. ।

ज्ञानम् - ज्ञान को; नाम,द्वि.ए.व.नपु.'ज्ञान'

सर्वेषु - सब में; सर्वनाम, स.ब.व.नपु. ।

भूतेषु - प्राणियों मे; नाम, स.ब.व.नपु.

पृथग्विधान् - भिन्न - भिन्न प्रकार से; विशेषण,वि.'नानाभावान्'

नानाभावान् - अलग-अलग भावों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.

पृथक्त्वेन - विभाग से, पृथकत्व से; नाम, तृ.ए.व.नपु.

वेत्ति - जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'विद्' 2गण, परस्मै।
तत् - वह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
ज्ञानम् - ज्ञान को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'ज्ञान'।
राजसम् - राजस; विशेषण,वि.'ज्ञानम्'।
विद्धि - जान; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.परस्मै 'विद्' 2गण

श्लोकार्थ : जो ज्ञान सब भूतों में रहे हुए पृथक् - पृथक् प्रकार के पृथक् पृथक् भावों को पृथक् रूप से जानता है उस ज्ञान को राजस जान।

यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहैतुकम् ।।
अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम् ।। 22।।

अन्वय :
तु - परंतु, तब; अव्यय।
यत् - जो, ज्ञान; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.।
एकस्मिन् - एक; विशेषण,वि.'कार्ये'
कार्ये - काम में, कार्य रूप शरीर में; नाम, स.ए.व.नपु.
कृत्स्नवत् - अखिल, सम्पूर्ण की तरह; विशेषण,वि.'यत्'
सक्तम् - आसक्त; विशेषण,वि.'यत्'।
च - और; अव्यय।
अहैतुकम् - अकारण, युक्ति बिना; विशेषण,वि.'यत्'
अतत्त्वार्थवत् - तत्वों से रहित; विशेषण, वि.'यत्'।
अल्पम् - तुच्छ, हल्का; विशेषण,वि.'यत्'
तत् - वह ज्ञान; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.।
तामसम् - तामस; विशेषण,वि.'तत्'
उदाहृतम् - कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'तत्'

श्लोकार्थ : परंतु जो(जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य)एक कार्य रूप शरीर में संपूर्ण की तरह आसक्त रहता है तथा जो निष्प्रयोजन, तत्वार्थरहित और अल्प है उस ज्ञान को तामस कहा जाता है।

विवेचन : परंतु जो प्रेत अथवा भूत के आराधनरूप एक ही कार्य(अपने ही कार्य रूप शरीर में)में, मानो वही सब फल देने वाला हो, लगा हुआ हो, वह तत्वार्थ रहित होने से अहैतुक अथवा निष्प्रयोजन और अल्प ज्ञान तामस है।

यहाँ से तीन श्लोक(23-25)तक अनुष्ठेय कर्म के सात्विक आदि तीन भेद कहते हैं।

नियतं सङ्गरहितम् अराग-द्वेषतः कृतम् ।।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते ।। 23।।

अन्वय :
अर्जुन - हे अर्जुन! सम्बोधन
यत् - जो; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.।
कर्म - कर्म; नाम, ए.व.प्र.नपु.
नियतम् - शास्त्र विधि से नियत किया हुआ; विशेषण,वि.'कर्म'
सङ्गरहितम् - फलासक्ति के बिना; विशेषण,वि.'कर्म'
अफलप्रेप्सुना - फल की इच्छा नहीं रखने वाले पुरूष के द्वारा; तृ.ए.व.पु.
अरागद्वेषतः - राग द्वेष से रहित; नाम, पं.ए.व.'तः' प्रत्यय।
कृतम् - किया हुआ; भू.कृ.विशेषण,वि.'कर्म'
तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.।
सात्त्विकम् - सात्विक; विशेषण,वि.'कर्म'
उच्यते - कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : फल की इच्छा नहीं रखने वाले मनुष्यों द्वारा जो आसक्तिरहित और रागद्वेष रहित नियत कर्म किए जाते हों, उनको सात्विक कहा जाता है।

विवेचन : श्रुति में अपने वर्ण और आश्रम के लिए जो 'नियत' अर्थात नियमानुसार करणीय कर्म कहे गए हैं वे कर्म ''मैं कर्ता हूँ'' - इस आसक्ति के बिना तथा कर्म से प्राप्त होने वाले यश और अपयश के प्रति प्रीति अथवा द्वेष

बिना, फल की इच्छा नहीं रखनेवाले पुरूष के द्वारा किए गए हो तो वे कर्म सात्विक कहे जाते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसम् उदाहृतम् ।। 24।।

अन्वय :
तु – किन्तु, और; अव्यय ।
यत् – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
कर्म – कर्म; नाम, प्र.ए.व.नपु.'कर्मन्'
बहुलायासम् – अत्यधिक परिश्रमवाला; ''बहुलाः आयासाः यस्मिन् इति''ब.व्रीहि, विशेषण,वि.'कर्म'
पुनः – फिर से; अव्यय ।
कामेप्सुना – काम(भोगों की)की इच्छा रखने वाले के द्वारा; नाम, तृ.ए.व.पु.'कामेप्सु'
वा – अथवा; ।
साहङ्कारेण – कर्तत्व के अभिमान के साथ; नाम, तृ.ए.व.पु.'साहंकार'
क्रियते – करता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.
तत् – वह(कर्म); सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
राजसम् – राजस; विशेषण,वि.'कर्म'।
उदाहृतम – कहा गया है; विशेषण,वि.'कर्म' भू.कृ.

श्लोकार्थ : परंतु फल की इच्छा से अथवा तो अहंकारसहित अत्यधिक श्रम करते हुए जो कर्म किया जाता है उसको राजस कहा गया है।

विवेचन : फल की इच्छा से अथवा ''मैं इस कर्म का कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है'' इस अहंकार से अत्यधिक श्रम करते हुए जो कर्म किया जाता है वह राजस है।

अनुबंध क्षयं हिंसाम् अनवेक्ष्य च पौरूषम् ।।
मोहाद् आरभ्यते कर्म यत् तत् तामसम उच्यते ।। 25।।

अन्वय :
यत् – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
कर्म – कर्म; नाम, प्र.ए.व.नपु.'कर्मन्'
अनुबन्धम् – परिणाम; नाम, द्वि.ए.व.पु. ।
क्षयम् – हानि, नाश; नाम, द्वि.ए.व.पु.
हिंसाम् – हिंसा को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
च – और; अव्यय ।
पौरूषम् – स्वयं के सामर्थ्य; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'पौरूष'
अनवेक्ष्य – बिना देखे, बिना विचारे; विधेय कृदन्त,'अव+ईक्ष्'1गण,
मोहात् – केवल अज्ञान से; नाम, पं.ए.ब.पु.'मोह'
आरभ्यते – आरंभ करता है; क्रि. व. कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'आ+रभ्' 1 गण
तत् – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
तामसम् – तामस; विशेषण,वि.'कर्म'
उच्यते – कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : अनुबंध (परिणाम), क्षय(हानि), हिंसा तथा पौरूष का विचार किए बिना मोह से आरंभ किया गया कर्म तामस कहा जाता है।

विवेचन : 'अनुबंध' अर्थात कर्म करने के पश्चात प्राप्त होने वाला उसका शुभ और अशुभ फल। ऐसे अनुबंध आदि का विचार किए बिना मोह से जो कर्म आरंभ किया जाता है उसको तामस कहा जाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साह – समन्वितः ।।
सिद्ध्यसिद्ध्योर् निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।। 26।।

अन्वय :
अर्जुन – हे अर्जुन ! सम्बोधन ।

मुक्तसङ्गः - आसक्तिरहित; विशेषण,वि.'कर्ता'
अनहंवादी - निरहंकारी, कर्तृत्वाभिमान रहित; विशेषण,वि.'कर्ता'
धृत्युत्साहसमन्वितः - धैर्य और उत्साह से युक्त; ''धृत्या उत्साहेन च समन्वितः'' तत्पु. विशेषण,वि. 'कर्ता'
सिद्ध्यसिद्ध्योः - कार्य की सिद्धि और असिद्धि में; नाम , स.द्वि.व.स्त्री.
निर्विकारः - विकारों से रहित; विशेषण,वि.'कर्ता'
कर्ता - कर्ता; नाम, प्र.ए.व.पु. 'कर्तृ '
सात्त्विकः - सात्विक; वि.'कर्ता'
उच्यते - कहा जाता है; क्रि.व.कर्मणि, तृ.पु.ए.व.'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : संग से रहित, अहंकार रहित, धृति और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धि में विकाररहित कर्ता सात्विक कहा जाता है।

विवेचन : यहाँ से तीन श्लोक(26-28)तक सत्वादि गुणों के भेद से तीन प्रकार के कर्ता का निरूपण करते हैं। जो कर्ता 'संग' अर्थात आसक्ति रहित हो, जिसे ''मैं कर्ता हूँ'' ऐसा अभिमान न हो; जो धृति और उत्साह वाला हो तथा कार्य की सिद्धि और असिद्धि में विकार रहित हो वह सात्विक कहा जाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।।
हर्ष - शोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।। 27।।

अन्वय :
च - और; अव्यय ।
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
रागी - आसक्तिवाला; विशेषण,वि.'कर्ता'
कर्मफलप्रेप्सुः - कर्म के फल की इच्छावाला; भू.कृ.विशेषण,वि.'कर्ता'
लुब्धः - लोभी; विशेषण,वि.'कर्ता'।
हिंसात्मकः - दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला; विशेषण,वि.'कर्ता'
अशुचिः - अपवित्र; विशेषण,वि.'कर्ता'।

हर्षशोकान्वितः - हर्ष और शोक वाला; विशेषण,वि.'कर्ता'
तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
कर्ता - कर्ता; नाम, प्र.ए.व.पु.'कर्तृ'
राजसः - राजस; विशेषण,वि.'कर्ता'
परिकीर्तितः - कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'कर्ता'

श्लोकार्थ : रागयुक्त, कर्मफल की इच्छावाला, लोभी, हिंसा करने वाला, अपवित्र तथा हर्ष और शोक करनेवाला कर्ता राजस कहा जाता है।

विवेचन : 'राग' अर्थात आसक्तिवाला, फल की इच्छा रखनेवाला, लोभी, परपीड़ारूप हिंसा करनेवाला, अशुद्धि अपवित्र रहने वाला तथा कर्म के अभीष्ट फल से हर्ष और अनिष्ट फल से शोक करने वाला कर्ता राजस है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।। 28।।

अन्वय :
तथा - तथा ।
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
अयुक्तः - जो योग्य नहीं है; विशेषण,वि.'कर्ता'
प्राकृतः - असंस्कारी, शिक्षा रहित; विशेषण,वि.'कर्ता'।
स्तब्धः - अनम्र; विशेषण,वि.'कर्ता'
शठः - धूर्त, ठग; विशेषण,वि.'कर्ता' ।
नैष्कृतिकः - परपीडक; विशेषण,वि.'कर्ता'
विषादी - शोक करने का स्वभाव जिसका है; विशेषण,वि.'कर्ता'।
अलसः - आलसी; विशेषण,वि.'कर्ता'
च - और; अव्यय ।
दीर्घसूत्री - काम करने में विलंब करने वाला; विशेषण,वि.'कर्ता'
कर्ता - कर्ता; नाम, प्र.ए.व.पु. 'कर्तृ'

तामस – तामस; विशेषण,वि.'कर्ता'
उच्यते – कहा जाता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'कर्मणि', 'वच्' 2गण

श्लोकार्थ : अयुक्त, प्राकृत, स्तब्ध, शठ, वंचक, आलसी, शोक करनेवाला तथा दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहा जाता है।

विवेचन : 'अयुक्त' अर्थात शास्त्रीय कर्म करने का अधिकार होने पर भी जो उन कर्मों को न करता हो, 'प्राकृत' अर्थात तुच्छ कर्म अथवा विकर्म करने वाला, 'स्तब्ध' अर्थात विद्या नहीं जानने वाला अथवा कर्म के आरंभ में ही शिथिल, 'शठ' अर्थात अभिचार आदि कर्मों में रूचि वाला, वंचक, आलसी, विषाद करने वाला तथा कर्म में विलंब करने वाला कर्ता तामस है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस् त्रिविधं शृणु।।
प्रोच्यमानम् अशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय!।।29।।

अन्वयः
धनञ्जय – हे धनंजय! सम्बोधन।
बुद्धेः– बुद्धि का ; नाम, ष.ए.व. स्त्री।
चैव – इसी प्रकार ; अव्यय
धृतेः – धैर्य का ; नाम, ष.ए.व. स्त्री. 'धृति'।
गुणतः – गुण से ; नाम, पं.ए.व. 'तः' प्रत्यय
त्रिविधम् – तीन प्रकार के ; विशेषण, वि. 'भेदम्'।
भेदम् – भेद को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'भेद'
अशेषेण – संपूर्णता से ; नाम, तृ.ए.व.पु.।
पृथक्त्वेन – अलग-अलग प्रकार से ; नाम, तृ.ए.व.पु.
प्रोच्यमानम् – कहे जा रहे हैं; व.कृ.विशेषण,वि.'भेदम्' (मया–मुझ से)
शृणु – सुन; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'शृ' 5गण

श्लोकार्थ : हे धनंजय ! गुणो के कारण बुद्धि के तथा धृति के तीन प्रकार के भेद भली–भांति अलग–अलग रूप से कहता हूँ। उनको सुन।

विवेचन : श्लोक 26 से 28 तक कर्ता के तीन प्रकार के भेद बताए जिसमें ज्ञाता के भी तीन प्रकार के भेद कहे। कर्म के तीन प्रकार के भेद श्लोक 23 से 25 तक बताए गए जिससे ज्ञेय के भी भेद कहे गए। अब करण के भेद कहने के लिए निश्चयात्मिका बुद्धि के तथा धृति के तीन प्रकार के भेद कहने की प्रतिज्ञा करते हैं। तदुपरांत तीन श्लोक से (30–32) बुद्धि के और अगले तीन श्लोक से (33–35) धृति के भेद कहते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी ।।30।।

अन्वयः
पार्थ – हे पार्थ; सम्बोधन।
प्रवृत्तिम् – प्रवृत्ति को; नाम, द्वि.ए.व.'प्रवृत्ति'
च – और; अव्यय।
निवृत्तिम् – निवृत्ति को; नाम,द्वि.ए.व.स्त्री.।
च – और; अव्यय।
कार्याकार्ये – कार्य और अकार्य को; नाम, द्वि.व.नपु.।
भयाभये – भय और अभय को; नाम, द्वि.व.नपु.।
बन्धम् – बंधन को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'बन्ध'
च – और; अव्यय।
मोक्षम् – मोक्ष को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'मोक्ष'।
या – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.।
वेत्ति – जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'विद्' 2गण, परस्मै
सा – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.
बुद्धिः – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.।
सात्त्विकी – सात्त्विकी है; विशेषण,वि.'बुद्धिः'

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बंध और मोक्ष को जो बुद्धि जानती है वह सात्विकी है।

विवेचन : ''प्रवृत्ति'' अर्थात अभ्युदाय का साधन रूप धर्म और '' निवृत्ति '' अर्थात मोक्ष के साधन रूप धर्म आदि को जो बुद्धि यथार्थतः सम्यक् रूप से जानती है वह सात्त्विकी है। बुद्धि मन से पर(उच्चतर)होने से उसको यहाँ''जानने वाली''(ज्ञाता)कहा गया है।

यया धर्मम् अधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ! राजसी ।। 31।।

अन्वय :

पार्थ – हे पार्थ! सम्बोधन ।
यया – जिसके द्वारा, जिस बुद्धि के द्वारा; सर्वनाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
धर्मम् – धर्म को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'धर्म' ।
च – और; अव्यय
अधर्मम् – अधर्म को; नाम,द्वि.ए.व.पु. ।
च – और; अव्यय
कार्यम् – कार्य को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'कार्य'
च – और; अव्यय ।
अकार्यम् – अकार्य को; नाम, द्वि.ए.व.नपु ।
एव – भी; अव्यय ।
अयथावत् – यथार्थ नहीं; अव्यय
प्रजानाति – जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.''प्र+ज्ञा''9गण, परस्मै
सा – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.
बुद्धिः – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
राजसी – राजसी है; विशेषण,वि.'बुद्धि'

श्लोकार्थ : हे पार्थ! जिस(बुद्धि) के द्वारा (मनुष्य)धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को मिथ्या (असत्य)रूप में जानता है वह बुद्धि राजसी है।

विवेचन : धर्म – अधर्म, कार्य और अकार्य को जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य यथार्थ रूप में नहीं जानता अर्थात जैसे वे(धर्माधर्म,कार्याकार्यादि)वास्तव में हैं वैसे न जानकर अन्य प्रकार से जानता है वह बुद्धि राजसी है।

अधर्मं धर्मम् इति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ।। 32।।

अन्वय :

पार्थ ! – हे पार्थ, सम्बोधन ।
या – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.
तमसा – तामस से; तमोगुण से; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
आवृता – घिरी हुई; व.कृ.विशेषण,वि.'तमसा'
अधर्मम् – अधर्म को; नाम,द्वि.ए.व.पु. ।
धर्मम् – धर्म; नाम, प्र.ए.व.पु.
इति – इस प्रकार; अव्यय ।
मन्यते – मान लेता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'मन्' 4गण
च – और; अव्यय
सर्वार्थान् – सभी अर्थों को; नाम, द्वि.ब.व.पु.
विपरीतान् – विपरीत; विशेषण,वि.'सर्वार्थान्' ।
मन्यते – मान लेता है ; क्रि.व.का.
सा – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.
बुद्धिः – बुद्धि; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
तामसी – तामसी है; विशेषण,वि.'बुद्धिः'

श्लोकार्थ : हे पार्थ! अज्ञान से लिपटी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म और सभी अर्थों को उल्टा मानती है वह तामसी है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय-क्रियाः।।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ! सात्त्विकी।।33।।

अन्वय :

पार्थ – हे पार्थ! संबोधन

योगेन – ध्यान योग से, योग से विचार से; नाम, तृ.ए.व.पु. 'योग'

यया – जिसके द्वारा, धैर्य के द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व. स्त्री.

अव्यभिचारिण्या – भगवद्विषयक योग के द्वारा अचल हुई; विशेषण, वि. 'धृत्या'

धृत्या – धारणा से, धैर्य से; नाम, तृ.ए.व. स्त्री.

मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः – मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को; नाम, द्वि.ब.व. स्त्री. ''मनः प्राणः इन्द्रियं च, तेषां क्रियाः'' तत्पु.

धारयते – धारण करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ''धृ (धारय्)'' 10 गण, आत्मने

सा – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री.

धृतिः – धारणा, धैर्य; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.

सात्त्विकी – सात्त्विकी; विशेषण, वि. 'धृतिः'

अस्ति – है; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व.

श्लोकार्थ : हे पार्थ ! योग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धृति से जो मन, प्राण तथा इंद्रियों की क्रियाओं को धारण किया जाता है वह सात्त्विकी धृति है ।

विवेचन : ''धृति''अर्थात देह आदि को धारण करने की क्रिया। यहाँ सात्विकी धृति किसे कहते हैं – यह निरूपित किया गया है।

यया तु धर्म – कामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ।।
प्रासङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ! राजसी ।। 34।।

अन्वय :

तु – तो, परंतु; अव्यय ।

पार्थ – हे पार्थ! सम्बोधन

अर्जुन – हे अर्जुन ! सम्बोधन

फलाकांक्षी – फल की इच्छा वाला; नाम, प्र.ए.व.पु. ।

प्रसंगेन – अत्यंत आसक्तिपूर्वक; नाम, तृ.ए.व.पु.

यया – जिसके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व.स्त्री.'यत्' ।

धृत्या – धारणा से, धैर्य से; नाम, तृ.ए.व.स्त्री.'धृति' ।

धर्मकामार्थान् – धर्म,काम और अर्थ को; नाम,द्वि.ब.व.पु.

धारयते – धारण करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'धृ' 10 गण, आत्मने

सा – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री. ।

धृतिः – धारणा; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.

राजसी –राजसी; विशेषण,वि.'धृतिः'

अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्'

श्लोकार्थ : हे पार्थ! जिस धृति (धारणा शक्ति)से (मनुष्य)धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है और अत्यंत आसक्ति के साथ फल की आकांक्षा रखता है वह राजसी धृति है ।

विवेचन : जिस धृति से (मनुष्य)धर्म, अर्थ और काम – त्रिवर्ग को धारण करता है और ''मैं कर्ता हूँ'' – ऐसी आसक्ति के साथ फल की आकांक्षा रखता है वह राजसी धृति है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ।। 35।।

अन्वयः

पार्थ – हे पार्थ! सम्बोधन ।

दुर्मेधाः – दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य; नाम, प्र.ए.व.पु.

यया – जिस(धृति)के द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व.स्त्री.

धृत्या – धारणा द्वारा

स्वप्नम् – निद्रा को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'स्वप्न'

भयम् – भय को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'भय'

शोकम् – शोक को, चिन्ता को; नाम, द्वि.ए.व.पु. ।
च – और; अव्यय
विषादम् – शोकमय दुख; नाम,द्वि.ए.व.पु.
मदम् – उन्मत्तता को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
एव – ही; अव्यय ।
न – नहीं; अव्यय ।
विमुञ्चति – छोड़ता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 1गण, परस्मै, वि. मुच् 'मुञ्च्'।
सा – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री. ।
धृतिः – धारणा; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.
तामसी – तामसी है; विशेषण,वि.'धृतिः'

श्लोकार्थ : हे पार्थ! दुर्बुद्धि वाला(मनुष्य)जिस(धृति)के द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद तथा मद को नहीं छोड़ता अर्थात धारण किए रहता है वह तामसी धृति है।

सुखंत्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ! ।।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।। 36।।

अन्वयः
अर्जुन – हे अर्जुन ! सम्बोधन ।
इदानीम् – अब; अव्यय
सुखम् – सुख को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
तु – भी;
त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मद्'
त्रिविधम् – तीन प्रकार का; विशेषण,वि.'सुखम्'।
मे – मुझ से; सर्वनाम, ष.ए.व.'अस्मत्'
शृणु – सुन; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'शृ' 5गण

भरतर्षभ – हे अर्जुन; सम्बोधन
यत्र – जहां, जिस सृष्टि में; अव्यय ।
अभ्यासात् – बार-बार अभ्यास करने से; नाम, पं.ए.व.पु.
रमते – रमण होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'रम्'1गण, आत्मने
च – और; अव्यय
दुःखान्तम् – दुख के अंत को, सुख को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
निगच्छति – मिलता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'नि+गम्' 1गण

श्लोकार्थ : हे भरतर्षभ! अब मुझ से तीन प्रकार का सुख सुन जिसमें अभ्यास से रमण होता है और दुखों का अंत हो जाता है।

विवेचन : अब तीन प्रकार का सुख कहने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस सुख का दीर्घ काल तक अभ्यास करने से अत्यधिक आनंद प्राप्त होता है और(मनुष्य)संसार से दुखों का अंत प्राप्त करता है।

यत् तद् अग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् आत्म – बुद्धिप्रसादजम् ।। 37।।

अन्वय :
तत् – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
अग्रे – आरंभ में, साधन काम में; नाम, स.ए.व.पु. अव्यय
विषम् – विष; नाम, प्र.ए.व.नपु.
इव – तरह; अव्यय
परिणामे – परिणाम में; नाम, स.ए.व.पु.
अमृतोपमम् – अमृत के समान; ''अमृतम् एव उपमा यस्य इति'' बहु. नाम, प्र.ए.व.नपु.
अतः – इसलिए; अव्यय
यत् – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
आत्मबुद्धिप्रसादजम् – भगवद्विषयक बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ; ''आत्मनः बुद्धिः इति तस्याः प्रसादेन जातम्'' उपपद

सुखम् - सुख; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
तत् - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
सात्त्विकम् - सात्विक; विशेषण,वि.'सुखम्' ।
प्रोक्तम् - कहा गया; भू.कृ.विशेषण,वि.'सुखम्'

श्लोकार्थ : जो आरंभ में विष जैसा और परिणाम में अमृत समान है वह स्वयं की बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ सुख सात्विक कहा गया है ।

विवेचन : जो (सात्विक सुख) आरंभ में अर्थात योग के प्रारंभ के समय - योग अति श्रम साध्य होने से तथा उस समय विविक्त(पृथक्)आत्मा के स्वरूप का अनुभव न होने से - विष जैसा अर्थात अति दुख रूप लगता है परंतु परिणाम में योगसिद्धि होने से और आत्मा के स्वरूप का आर्विभाव हो जाने से अमृत के समान लगता है वह स्वयं की बुद्धि की प्रसन्नता, अर्थात रजोगुण और तमोगुण रहित शुद्धता से, उत्पन्न हुआ सुख सात्विक है ।

विषयेन्द्रिय - संयोगाद् यत् तद् अग्रेऽमृतोपमम् ।।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ।। 38।।

अन्वय :
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ।
सुखम् - सुख; नाम, प्र.ए.व.नपु.
विषयेन्द्रिय - विषय और इंद्रियों के; नाम, पं.ए.व.पु. ।
संयोगात् - संयोग से; पं.ए.व.
भवति - होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. ।
तत् - वह(जो कि); सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
अग्रे - शुरूआत में; अव्यय ।
अमृतोपमम् - अमृत के समान; विशेषण,वि.'सुखम्'
परिणामे - परिणाम में; स.ए.व.पु. ।
विषम् - विष; नाम, प्र.ए.व.नपु.'विष'

इव - जैसा; अव्यय
तत् - वह(सुख); सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
राजसम् - राजस; विशेषण,वि.'सुखम्'
स्मृतम् - कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'सुखम्'

श्लोकार्थ : विषय और इंद्रियों के संयोग से जो आरंभ में अमृत जैसा और परिणाम में विष जैसा होता है वह सुख राजस कहा गया है ।

विवेचन : रूप आदि विषयों और इंद्रियों के संयोग से उत्पन्न होता सुख आरंभ में अमृत जैसा लगता है परंतु परिणाम में विष जैसा होता है । वह सुख राजस है ।

यद् अग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनम् आत्मनः ।।
निद्रालस्य-प्रमादोत्थं तत् तामसम् उदाहृतम् ।। 39।।

अन्वय :
यत् - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
सुखम् - सुख; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
अग्रे च - आरंभ में और; अव्यय
अनुबंधे - परिणाम के समय; नाम, स.ए.व.पु.
च - और; अव्यय
आत्मनः - स्वयं के जीव को; नाम , ष.ए.व.पु.
मोहनम् - मोह करने वाला; विशेषण,वि.'सुखम्'
तत् - वह; सर्वनाम,प्र.ए.व.नपु.
निद्रालस्यप्रमादोत्थम् - निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ; विशेषण,वि. ''सुखम्, निद्रा, आलस्यं प्रमादश्च तैः उत्थम् इति'' उपपद
तामसम् - तामस; विशेषण,वि.'सुखम्' ।
उदाहृतम् - कहा गया है; भू.कृ.विशेषण,वि.'सुखम्'
श्लोकार्थ : जो सुख आरंभ में तथा अनुबंध में स्वयं को मोह में डालता है और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न हुआ है वह तामस कहा गया है ।

विवेचन : ''अनुबंध'' में अर्थात अनुभव करते समय और पश्चात परिणाम में। इस प्रकार तीन गुणों से सभी भेद होते हैं।

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।।
सत्वं प्रकृतिजैर् मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर् गुणैः ।।40।।

अन्वय :

पुनः – फिर से; अव्यय ।
अर्जुन – हे अर्जुन ! सम्बोधन
पृथिव्याम् – पृथ्वी में , भूलोक में; नाम, स.ए.व.स्त्री.
वा – अथवा; अव्यय
दिवि – स्वर्गलोक में; नाम, स.ए.व.स्त्री. ।
वा – अथवा; अव्यय
देवेषु – देवताओं में; नाम, स.ए.व.पु. ।
तत् – वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.
सत्त्वम् – प्राणी; नाम, प्र.ए.व.नपु.
न – नहीं; अव्यय
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै
यत् – जो; प्र.ए.व.नपु.
एभिः – इन से; सर्वनाम, तृ.ब.व.'इदम्' पु. ।
प्रकृतिजैः – जो प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं; विशेषण,वि.'गुणैः'
त्रिभिः गुणैः – तीन गुणों से; नाम, तृ.ब.व.पु.'गुण' ।
मुक्तम् – मुक्त; विशेषण, वि.'सत्त्वम्' भू.कृ.
स्यात् – हो ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'अस्' 2 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग में तथा देवताओं में भी ऐसा कोई सत्त्व नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हो।

विवेचन : भूतल पर प्राणीमात्र और स्वर्ग के देवता – सभी प्राकृत त्रिगुणमय ही हैं।

ब्राह्मण – क्षत्रिय – विशां शूद्राणां च परन्तप!।।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर् गुणैः।। 41।।

अन्वय :

परन्तप – हे परंतप ; सम्बोधन।
ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् – ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य ; नाम, ष.ब.व.पु.
च–और ; अव्यय।
शूद्राणाम् – शूद्रों के ; नाम, ष.ब.व.पु. ।
कर्माणि – कर्म ; नाम, प्र.ब.व. 'कर्मन्'
स्वभावप्रभवैः – स्वभाव से उत्पन्न ; विशेषण, वि. 'गुणैः'
गुणैः – गुणों के द्वारा ; नाम, तृ.ब.व.पु.
प्रविभक्तानि – विभाग किया हुआ ; विशेषण, वि. 'कर्माणि'।
अस्ति – है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : – हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्मों के विभाग भी स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से किए गए हैं।

विवेचन : ''सन्न्यास'' शब्द का अर्थ मोक्ष का साधन रूप त्याग ही है। ''त्याग'' अर्थात कर्तृत्वाभिमान, कर्म में आसक्ति का और फल का त्याग हैं; कर्म के स्वरूप का त्याग नहीं। अंतर्यामी स्वरूप भगवान ही कर्ता हैं – ऐसा अनुसंधान रखने से ''मैं कर्ता हूँ'' – स्वयं के इस कर्तृत्व का त्याग होता है।

आगे कहते हैं कि कर्म के अधिकारी ब्राह्मण आदि के कर्मों के विभाग, उनके स्वभाव से उत्पन्न हुए सत्त्व आदि गुणों से किए गए हैं। प्रत्येक के पूर्व कर्म के संस्कार रूप स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार कर्म के विभाग किए गए हैं। ब्राह्मण सात्त्विक हैं, क्षत्रिय सात्त्विक राजस हैं वैश्य राजस तामस हैं और शूद्र तामस हैं। इस विभाग का कारण उनके पूर्व के कर्म ही हैं। इन गुणों से ही उनके कर्मों के विभाग किए गए हैं।

शमो दमस् तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च।।
ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्।। 42।।

अन्वय :

शमः – शान्त ; नाम, प्र.ए.व.पु. ।
दमः – दमन ; नाम, प्र.ए.व.पु.
शौचम् – पवित्रता ; नाम, प्र.ए.व. नपु. ।
तपः – तप ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
च – और ; अव्यय।
क्षांति – क्षमा ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
आर्जवम् – सरलता ; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
आस्तिक्यम् – श्रद्धा ; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
ज्ञानम् – व्यावहारिक ज्ञान ; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
च – और ; अव्यय
विज्ञानम् – परमात्मा संबंधी ज्ञान ; नाम, प्र.ए.व.नपु. ।
एव – ही ; अव्यय
ब्रह्म कर्म – ब्राह्मण का कर्म ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
स्वभावजम् – स्वाभाविक, स्वभाव से उत्पन्न हुए; विशेषण, वि. 'ज्ञानम्'
अस्ति – है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा तथा सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ये सब स्वभाव से उत्पन्न हुए ब्राह्मण के कर्म हैं।

विवेचन :– 'शम' अर्थात शांति अथवा भगवान के प्रति चित्त की वृत्ति ; 'दम' अर्थात इंद्रियों का संयम, तपः ; पवित्रता, क्षमा और सरलता, शास्त्रीय ज्ञान, 'विज्ञान' अर्थात परमात्मा का ज्ञान और अनुभव और 'आस्तिक्य' ये सभी ब्राह्मण के स्वभाव से ही उत्पन्न अर्थात स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।।
दानम् ईश्वरभावश्च क्षात्रम् कर्म स्वभावजम्।। 43।।

अन्वयः

च – और ; अव्यय।
शौर्यम् – शूरवीरता ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
तेजः दाक्ष्यम् – तेज चतुराई ; नाम, प्र.ए.व. नपु. ।
धृतिः– धैर्य ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री।
च – और ; अव्यय।
युद्धे – युद्ध में ; नाम, स.ए.व. नपु. ।
अपि – इसके अतिरिक्त ; अव्यय
अपलायनम् – पलायन न करने का स्वभाव ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
दानम् – दान ; नाम, प्र.ए.व. नपु. ।
च – और ; अव्यय।
ईश्वरभावः – प्रतिष्ठा का भाव, शासक का भाव ; नाम, प्र.ए.व. पु.
क्षात्रम् – क्षत्रिय से सम्बन्धित ; विशेषण, वि. 'कर्म'
स्वभावजम् – स्वभाव से उत्पन्न हुए; विशेषण, वि. 'कर्म'
कर्म– कर्म है ; नाम, प्र.ए.व. नपु.

श्लोकार्थ : शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य तथा युद्ध में पीछे न हटना तथा दान, ऐश्वर्य आदि क्षत्रिय के स्वभावज़ अर्थात स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं।

कृषि – गोरक्ष्य – वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।। 44।।

अन्वय :

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् – खेती, गाय की सेवा और व्यापार ; नाम, प्र.ए.व.नपु. 'कृषिश्च गोरक्ष्यं च वाणिज्यम् च इति' द्वंद्व

वैश्यकर्म - वैश्य का कर्म, क्रय - विक्रय ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
परिचर्यात्मकम् - सेवा करना ; नाम, प्र.ए.व. नपु. ''परिचर्या एव आत्मा यस्य'' बहु.
स्वभावजम् - स्वाभाविक ; विशेषण, वि. 'वैश्यकर्म'
शूद्रस्य - शूद्र का ; नाम, ष.ए.व. नपु.
अपि - भी ; अव्यय
स्वभावजम् - स्वाभाविक ; विशेषण, वि. 'कर्म'
कर्म - कर्म ; नाम, प्र.ए.व. नपु.
अस्ति - है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : खेती, गोरक्षा और व्यापार स्वभाव से ही उत्पन्न हुए वैश्य के कर्म हैं तथा परिचर्या रूप शूद्र का कर्म भी स्वभाव से ही उत्पन्न है।

विवेचन : ब्याज के धंधे का समावेश व्यापार में हो जाने से उसका अलग से उल्लेख नहीं किया है। शूद्रों के लिए बताई गई परिचर्या पहले तीन वर्णों की सेवा के संबंध में समझना चाहिए। यदि भगवान की ऐसी सेवा की जाती है तो वह उन वर्णों को उत्तम फल देने वाली होती है।

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं तथा विंदति तत् शृणु।। 45।।

अन्वयः
स्वे - स्वे - अपने - अपने ; विशेषण, वि. 'कर्मणि'
कर्मणि - कर्म में ; नाम, स.ए.व.नपु. 'कर्मन्'
अभिरतः - लगा हुआ ; विशेषण, वि. 'नर' भू. कृ.।
नर : - मनुष्य ; नाम, प्र.ए.व.
संसिद्धिम् - सिद्धि को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री
लभते - प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'लभ्' 1 गण, आत्मने
यथा - जिस प्रकार ; अव्यय।

स्वकर्मनिरतः अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ ; भू. कृदंत ; विशेषण, वि. 'नरः'
सिद्धिम् - सिद्ध को ; नाम, ए.व.स्त्री.
विन्दति - प्राप्त करता है ; क्रि. व. का.तृ.पु.ए.व. 'विद्' (विन्द्) 6 गण
तत् - उस प्रकार को ; सर्वनाम, द्वि.ए.व. नपु.
शृणु - सुन ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'शृ' 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थः अपने - अपने कर्म में आनंद मानने वाले पुरुष संसिद्धि प्राप्त करते हैं। अपने कर्म में आनंद मानने वाले किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करते हैं - उसको सुन।

विवेचन : इस प्रकार सभी वर्णों के स्वाभाविक कर्म बताकर उनका प्रयोजन निरूपित करते हैं। अपने-अपने कर्म में आनंद मानने वालों को संसिद्धि प्राप्त होती है। अतः परधर्म का आचरण उचित नहीं। स्वधर्म में आनन्द मानने वाले किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करते हैं - वह सुन।

यतः प्रवृत्तिर् भूतानां येन सर्वम् इदं ततम्।।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। 46।।

अन्वयः
अर्जुन - हे अर्जुन! सम्बोधन।
यतः - जिससे, जिसमें से ; अव्यय
भूतानाम् - प्राणियों का ; नाम, ष.ब.व.नपु. ''भूत''।
प्रवृत्तिः- प्रवृत्ति ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री. ''प्रवृत्ति''
येन - जिससे, जिसके द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'यत्' पु.
इदम् - यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु. ''इदम''।
सर्वम् - सम्पूर्ण ; सर्वनाम, प्र.ए.व. नपु. 'सर्व'
ततम् - व्याप्त है ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'सर्वम् तन्' 8 गण
तम् - उसको ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु. 'तत्'

स्वकर्मणा – अपने स्वाभाविक कर्म से ; नाम, तृ.ए.व.नपु.
अभ्यर्च्य – अभ्यर्थना करके ; विधेय कृदंत, 'अभि + अर्च्'
मानवः – मनुष्य ; नाम, प्र.ए.व. पु.
सिद्धिम् – सिद्धि को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री.
विन्दति – प्राप्त करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'विद्' (विन्द्) 6 गण, परस्मै।

श्लोकार्थ : जिससे भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिसने सब को व्याप्त किया हुआ है उसका अपने कर्म से अर्चन करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

विवेचन : भगवान के स्वरूप अक्षर ब्रह्म से इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई है और उसने इन सबको (भूतों को) व्याप्त किया हुआ है। उस अक्षर ब्रह्म का अपने कर्मों से अर्चन करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्।। 47।।

अन्वय : स्वनुष्ठितात् – भली – भांति आचरण किए हुए ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'परधर्मात्'
परधर्मात् – पराए धर्म से ; नाम, पं.ए.व.पु. 'परधर्मः'।
विगुणः – गुणरहित।
अपि – भी ; अव्यय।
स्वधर्म :– अपना धर्म ; नाम, प्र.ए.व.पु. 'स्वधर्मः'।
श्रेयान् – अधिक श्रेष्ठ ; विशेषण, वि. 'स्वधर्मः'
यस्मात् – कारण कि ; ।
स्वभावनियतम् – स्वभाव से नियत ; विशेषण, वि. 'कर्म'
कर्म – कर्म ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'कर्मन्'।
कुर्वन् – करने वाला ; व.कृ.नाम, प्र.ए.व.पु. 'कुर्वत्'
किल्बिषम् – पाप को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'किल्बिष'।

न – नहीं ; अव्यय
आप्नोति – प्राप्त करता है ; क्रि.व.का. तृ.पु.ए.व. 'आप्' 5 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : भली–भांति आचरण में लाए हुए परधर्म की अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म अधिक श्रेष्ठ है। स्वभाव से नियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।

विवेचन : स्वधर्म के आचरण को श्रेष्ठ बताया गया है। परधर्म चाहे जितना भली प्रकार से आचरण में उतारा जाए परन्तु उसकी अपेक्षा स्वधर्म अल्पप्रतिष्ठ होने पर भी अधिक श्रेष्ठ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के स्वभावानुसार जो कर्म विभाग कहा गया है उसके अनुसार स्वभाव से नियत किया गया अपना कर्म करने से पाप नहीं होता परन्तु अपना कर्म न करने से पाप होता है। स्वधर्म पालन के साथ कर्म निष्ठा ही उत्तम है। तृतीय अध्याय में यह बोध कराया गया है। उसी का यहाँ व्याख्यानपूर्वक पुनः उपदेश किया गया है।

सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। 48।।

अन्वयः
कौन्तेय – हे अर्जुन! सम्बोधन।
सदोषम् – दोषयुक्त ; विशेषण, वि. 'कर्म'
अपि – भी ; अव्यय।
सहजम् – स्वाभाविक ; विशेषण, वि. 'कर्म'
कर्म – कर्म को ; नाम, द्वि.ए.व. नपु. 'कर्मन'।
न – नहीं ; अव्यय
त्यजेत् – छोड़ना चाहिए ; क्रि. विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व. 'त्यज्' 1 गण, परस्मै।
हि– कारण कि ; अव्यय
धूमेन – धुएँ से ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'धूम'।
अग्निः – अग्नि ; नाम, प्र.ए.व.पु.

इव – तरह, जैसा ; अव्यय।
सर्वारम्भा :– सभी प्रकार का आरंभ, सभी कर्म ; नाम, प्र.ब.व.पु.
दोषेण – दोष से ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'दोष'
आवृताः – ढँके हुए हैं ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'सर्वारम्भाः'

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि धुएँ से अग्नि की तरह सभी आरंभ (सभी कर्म) दोष से संसक्त हैं।

विवेचन : सांख्य शास्त्र की दृष्टि से तू यदि अपने क्षत्रिय धर्म में हिंसा रूप दोष मानता हो तो भी सहज कर्म दोषयुक्त होने पर भी त्याज्य नहीं है। क्योंकि परधर्म में भी दोष तो हैं ही। सभी धर्म दोष से लिपटे हुए हैं। अतः स्वाभाविक अथवा सहज कर्म, जो मैंने वर्णाश्रम के साथ ही सृजित किए हैं, करना ही उचित है। ज्ञानियों को भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना ही उचित है।

अथवा ''दोष'' शब्द का अर्थ दुख करना चाहिए। सभी प्रकार के ज्ञान अथवा कर्म का आरंभ दुखयुक्त होता है। आरंभ दुख से भरा हुआ है। जैसे अग्नि आरंभ में धुएँ से आच्छादित रहती है वैसे ही सभी कर्मों का आरंभ दुखयुक्त होता है परन्तु समयान्तराल के पश्चात अग्नि धूम्ररहित प्रकाशमान हो जाती है वैसे ही अंततोगत्वा दुखमय स्वधर्म भी सिद्धि प्राप्त कराता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।। 49।।

अन्वय :
सर्वत्र – सभी स्थानों पर ; अव्यय।
असक्तबुद्धिः– आसक्तिरहित बुद्धि वाला ; विशेषण वि. 'नरः' ''असक्ता बुद्धिः यस्य इति'' बहुब्रीहि
विगतस्पृहः– इच्छारहित ; विशेषण, वि. 'नरः'।

जितात्मा – अन्तःकरण को जीतने वाला ; विशेषण, वि. 'नरः'
सन्न्यासेन – साङ्ख्य योग द्वारा ; नाम, तृ.ए.व.पु.
परमाम् – श्रेष्ठ, परम ; विशेषण, वि. 'नैष्कर्म्य सिद्धिम्'
नैष्कर्म्यसिद्धिम् – करते हुए दिखाई देने पर भी वस्तुतः न करना, ऐसी सिद्धि ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री.
अधिगच्छति – प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अधि+गम्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धि वाला, मन को जीतने वाला तथा स्पृहा रहित मनुष्य संन्यास से परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

विवेचन : पूर्व में कहे गए सांख्य तथा योग के एकार्थ का पुनः स्मरण कराते हैं। जिसकी 'बुद्धि' अर्थात चित्त कहीं भी आसक्त नहीं होता, जिसने मन को जीत लिया है और जिसको किसी भी कर्म के फल की स्पृहा नहीं वैसा पुरुष संन्यास से नैष्कर्म्य रूप परम सिद्धि को प्राप्त करता है। यहाँ अनासक्ति सांख्य के संदर्भ में अर्थ कहा गया है और मन की जीत तथा स्पृहा का अभाव कह कर योग का सार रूप इंगित किया है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।।
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा।। 50।।

अन्वयः
कौन्तेय – हे कौन्तेय ; सम्बोधन।
सिद्धिम् – सिद्धि को ; नाम, द्वि.ए.व. स्त्री.
प्राप्त :– प्राप्त हुआ ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'नरः'।
यथा – जिस प्रकार से ; अव्यय
ब्रह्म – ब्रह्म को ; नाम, द्वि.ए.व. 'ब्रह्मन्' नपु.
आप्नोति – प्राप्त करता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'आप्' 5 गण, परस्मै
तथा – उस प्रकार से ; अव्यय

या – जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'यत्'
ज्ञानस्य – ज्ञान का, ज्ञान की ; नाम, ष.ए.व. नपु.
परा – श्रेष्ठ ; विशेषण, वि. 'निष्ठा'
निष्ठा – निष्ठा, श्रद्धा ; नाम, प्र.ए.व.स्त्री. 'नितरां स्थितिः यस्मिन् इति' बहु.
तदेव – उसको ही ; अव्यय।
मे–मुझ से ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'
समासेन – संक्षेप में ; नाम, तृ.ए.व.पु.
निबोध – समझ ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'नि+बुध्' 1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय ! सिद्धि को प्राप्त हुआ (साधक) जिस प्रकार ब्रह्म को, जो (ब्रह्म) ज्ञान प्राप्ति की परानिष्ठा है, प्राप्त करता है वह मुझ से संक्षेप में सुन।

विवेचनः नैष्कर्म्य रूप सिद्धि जिसने प्राप्त कर ली है वह इसी देह से (सजीव रूप में) अक्षर ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त करता है वह संक्षेप में कहता हूँ, उसे समझ। अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान की परा निष्ठा है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा राग-द्वेषौ व्युदस्य च।। 51।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्-काय-मानसः।।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।। 52।।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। 53।।

अन्वय :
अर्जुन – हे अर्जुन!।
विशुद्धया बुद्ध्या – विशुद्ध बुद्धि से ; विशेषण, वि. 'बुद्ध्या'
युक्तः –युक्त ; भू.कृ. विशेषण, वि. 'नरः'
विविक्तसेवी – एकांत और शुद्ध स्थान का सेवन करने वाला ; विशेषण, वि. 'नरः' ''विविक्तम् सेवनम् यस्य इति''

लघ्वाशी – स्वल्पाहारी ; विशेषण, वि. 'नरः'
यतवाक्कायमानसः – जिसने वाणी, काया और मन को वश में रखा हुआ है ; विशेषण, वि. 'नरः' ''यतानि वाक् च कायश्च मनश्च येन इति' बहु.
वैराग्यम् – वैराग्य ; नाम, द्वि.ए.व.पु.
समुपाश्रितः – जिसने सभी प्रकार से आश्रय कर लिया है ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'नरः'
नित्यम् – सदा ; विशेषण, वि. 'वैराग्यम्'
ध्यानयोगपरः – ध्यान और योग में तत्पर रहने वाला ; विशेषण, वि. 'नरः' ''ध्यानं एव योगः इति ध्यानयोगे परः'' तत्पु.
धृत्या – धैर्य से ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'धृति'।
आत्मानम् – अन्तःकरण को ; नाम, द्वि.ए.व.पु.
नियम्य – नियम में रखकर ; विधेय कृदंत।
च– और ; अव्यय
शब्दादीन् विषयान् – शब्दादि विषयों को ; नाम, द्वि.ब.व.पु.
त्यक्त्वा – त्याग कर ; विधेय कृदंत।
च – और ; अव्यय।
राग द्वेषौ – राग और द्वेष को ; नाम, द्वि. द्विवचन, पु.।
व्युदस्य – नष्ट कर, हटा कर ; विधेय कृदंत।
अहङ्कारम् – अहङ्कार को ; नाम, द्वि.ए.व.पु. 'अहङ्कार'
बलम् दर्पम् कामम् – बल–दर्प–कामना को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'बल'
क्रोधम् परिग्रहम् – क्रोध संग्रह को; नाम, द्वि.ए.व.पु.
विमुच्य – छोड़कर; विधेय कृदन्त 'वि+मुच्' 6 गण
निर्ममः – ममता रहित; विशेषण,वि.'नरः'
च – और; अव्यय
शांतः – शांत; जिसका अन्तःकरण शांत है; विशेषण,वि. 'नरः'
ब्रह्मभूयाय – ब्रह्म में स्थित होने के लिए; नाम , च.ए.व.पु.

कल्पते - योग्य है, योग्य होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'क्लृप्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थ : विशुद्ध बुद्धि वाला होकर, धृति से आत्मा का नियमन करके, शब्द आदि विषयों का त्याग कर, राग तथा द्वेष को दूर कर, एकांत का सेवन करने वाला, अल्पाहारी, जिसने वाणी काया और मन को वश में कर लिया है, वह नित्य ध्यान योग में तत्पर वैराग्य का आश्रयी, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, और परिग्रह का त्याग कर ममता रहित तथा शांत अन्तःकरण वाला ब्रह्मभाव के लिए योग्य(पात्र) होता है।

विवेचन : कर्म में आसक्ति, कर्तृत्व के अभिमान तथा कर्म के फल का त्याग करने से विशुद्ध बुद्धि हुआ, योग से अव्यभिचारिणी धृति के द्वारा आत्मा को नियम में रख कर, शब्द आदि इंद्रियों के विषयों का त्याग करके तथा राग और द्वेष का त्याग करके एकांत में रहना आदि गुणों वाला ब्रह्म भाव के योग्य(पात्र)होता है। अर्थात उसमें आनंदांश का आविर्भाव होने से वह अक्षर ब्रह्म के भाव के योग्य हो जाता है। वह ऐसा यथार्थ अनुभव करता है कि ''मैं ब्रह्म हूँ''। भगवान के ''आनंद'' गुण का उसमें आविर्भाव हो जाने से उसको 'ब्रह्म' कहना उचित है। इससे संबंधित निर्णय ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के तृतीय पाद के 29 वें सूत्र में दिया गया है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। 54।।

अन्वयः

ब्रह्मभूतः - ब्रह्म में ऐक्यभाव से स्थित; विशेषण, वि. 'नरः'
प्रसन्नात्मा - जिसका चित्त प्रसन्न है; विशेषण, वि. 'नरः' ।
न - नहीं; अव्यय ।
शोचति - शोच करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'शुच्' 1 गण, परस्मै
न - नहीं; अव्यय

कांक्षति - इच्छा करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'कांक्ष्' 1 गण, परस्मै
सर्वेषु - सम्पूर्ण; सर्वनाम, स.ब.व.नपु.'भूत' ।
भूतेषु - प्राणियों में; नाम, स.ब.व.पु.'भूत' ।
समः - सम(भाव युक्त); विशेषण,वि.'नरः'
पराम् - श्रेष्ठ; विशेषण,वि.'मद्भक्तिम्'
मद्भक्तिम् - मेरी भक्ति को; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.
लभते - प्राप्त करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'लभ्' 1गण, आत्मने

श्लोकार्थ : ब्रह्म भाव को प्राप्त, प्रसन्न आत्मा वाला शोक नहीं करता और किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं रखता; वह सभी भूतों के प्रति सम भाव होकर मेरी परा भक्ति को प्राप्त करता है।

विवेचन : इस प्रकार जो ब्रह्म भाव को प्राप्त हो गया है वह प्रसन्नचित्त पुरूष किसी प्रकार का शोक नहीं करता और किसी भी पदार्थ की आकांक्षा नहीं रखता; परंतु सर्वभूतों के प्रति समान रहकर मेरी परा भक्ति को प्राप्त करता है। अपेक्षा रहित, ब्रह्म भाव को प्राप्त(पुरूष) शुकदेव जी की भांति मेरी, क्षर और अक्षर से भी अतीत श्री पुरूषोत्तम की, ''परा'' अर्थात ज्ञान से भी अधिक फलरूप उत्तम नव प्रकार की प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त करता है। यहाँ ''मेरी भक्ति'' कहकर भगवान ने सांख्य आदि से अक्षर ब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्त करने को भी पुरूषार्थ न कहकर ऐसा आशय व्यक्त किया है कि अक्षर ब्रह्म तथा आत्मा के यथार्थ ज्ञान वाले जीवन्मुक्त ज्ञानियों के लिए भी परम पुरूषार्थ श्री पुरूषोत्तम की भक्ति ही है। यदि भगवान का आशय ऐसा नहीं होता तो ''ब्रह्म भाव को प्राप्त मेरी परा भक्ति को प्राप्त करते हैं ''ऐसा नहीं कहते ।

यहाँ कोई शंका करे कि पिछले श्लोक में (53)''ब्रह्म भाव के योग्य हो जाता है'' - ऐसा कहा गया होने से तात्पर्य है - ब्रह्म भाव के योग्य पुरूष; परंतु जो ब्रह्म भाव को प्राप्त नहीं हुआ है वह भगवान की परा भक्ति को प्राप्त करता है, ऐसा कहा गया है। और फिर अगले श्लोक में (55) ''भक्ति से भगवान का ज्ञान प्राप्त कर(भगवान में)प्रवेश करता है'' ऐसा कहा गया होने से, भक्ति अक्षर

ब्रह्म के साथ ऐक्य का साधन है। अर्थात भगवान की भक्ति मात्र ब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्त करने का साधन रूप होने से परम पुरूषार्थ नहीं, बल्कि अक्षर ब्रह्म के साथ ऐक्य ही परम पुरूषार्थ है।

ऐसी शंका नहीं की जा सकती - क्यों कि इस श्लोक में ''ब्रह्मभूतः'' शब्द का अर्थ स्पष्ट ही है। ''ब्रह्मभूत'' अर्थात ब्रह्म हो चुका अथवा ब्रह्मभाव को प्राप्त। श्रीमद् भागवत के श्लोक 1/7/10 के अनुसार, अतएव, स्पष्ट ही है कि ब्रह्मभाव को प्राप्त होने पर ही(पुरूष)भगवान की भक्ति प्राप्त करता है। ब्रह्म के साथ ऐक्य होने पर ही भगवान की भक्ति कही गई है। ऐसी भक्ति प्राप्त होने पर वह भक्ति के द्वारा अक्षर ब्रह्म से भी अतीत श्री पुरूषोत्तम का तत्त्वतः ज्ञान होने के पश्चात पुरूषोत्तम के स्वरूप में ही प्रवेश करता है - यह अगले श्लोक(55) में स्पष्ट है। अक्षर ब्रह्म में प्रवेश करता है - ऐसा नहीं कहा गया है। अतः अक्षर ब्रह्म के ज्ञानरूप प्रमाण मार्ग की अपेक्षा श्री पुरूषोत्तम से संबंध कराने वाला प्रमेय मार्ग श्रेष्ठतम ही है। अक्षरब्रह्म मार्ग में अक्षर ब्रह्म की उपासना की जाती है, तदुपरान्त श्रवण आदि की सिद्धि के लिए ज्ञान प्राप्त कर अंत में अक्षर ब्रह्म के साथ ऐक्य का फल प्राप्त होता है। परंतु भगवन्मार्ग में तो भगवान संबंधी स्वधर्मों का आचरण करते हुए श्री पुरूषोत्तम की भक्ति प्राप्त होती है। श्री पुरूषोत्तम की कृपा से अक्षरब्रह्मभाव प्राप्त होने के पश्चात भी श्री शुकदेव, उद्धव आदि की तरह वह श्रवण कीर्तन तथा सेवा आदि करता है। इस प्रकार श्री पुरूषोत्तम की भक्ति से श्री पुरूषोत्तम में प्रवेश करता है। ऐसा होने पर भक्तजन यशोदाजी के उत्संग(अंक)में लालित(लाड़ से दुलराए जाते)श्री पुरूषोत्तम भगवान की भक्ति करते हैं; सांख्य ज्ञानी अक्षर ब्रह्म की और योगीजन परमात्मा की उपासना करते हैं। उनकी मति क्रमशः भक्ति, ज्ञान तथा कर्म में रही हुई होती है अर्थात उनका मार्ग क्रमशः भक्ति मार्ग, ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग है। भक्ति मार्ग के मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति - ऐसे दो भेद हैं। इन दोनों भेदों का ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के 29 वें सूत्र के भाष्य में श्रीमदाचार्यचरण ने निरूपण किया है।

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। 55।।

अन्वय :

च - और; अव्यय ।
सः - वह; सर्वनाम ।
भक्त्या - भक्ति के द्वारा; नाम, तृ.पु.ए.व.स्त्री.'भक्ति' ।
माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'अस्मत्'
तत्त्वतः - तत्व से, सूक्ष्मता से; नाम, पं.ए.व.''तत्त्व''तः प्रत्यय
अभिजानाति - जानता है, सम्यक् रूपेण जानता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अभि+ज्ञा' 9गण, परस्मै
अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मद्'
यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'यत्'
च - और; अव्यय ।
यावान् - जितना, जैसा; विशेषण,वि.'अहम्'
अस्मि - हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै ।
तथा - तथा; अव्यय
ततः - उस भक्ति से; पं.ए.व.
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'अस्मद्'
तत्त्वतः - तत्त्व से, सूक्ष्मता से; नाम, पं.ए.व.'तत्त्व'तः प्रत्यय
ज्ञात्वा - जानकर; विधेय कृदन्त
तदनन्तरम् -अंतर बिना, तत्काल; अव्यय
विशते - प्रवेश करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'विश्' 6गण, आत्मने

श्लोकार्थ : (इसके पश्चात)मैं तत्व से जितना और जैसा हूँ वैसा मुझको भक्ति से जानता है। मुझे तत्व से जानने के पश्चात मुझ में प्रवेश करता है।

विवेचन : अब निरूपण करते हैं कि भक्ति से क्या होता है। मुझ एक निर्गुण पुरूषोत्तम को तत्व से जितना और जैसा मैं हूँ अर्थात ऐश्वर्य आदि जितने अनंत

अलौकिक गुणयुक्त, लीला परिकर सहित, प्राकृत गुणों की सृष्टि से रहित, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान आदि नामों से पहचाना जाता हूँ, उस मुझ को, मेरी निर्गुण भक्ति से ही जाना जा सकता है। इस भक्ति का विषय मैं श्री पुरूषोत्तम निर्गुण होने से यह भक्ति भी निर्गुण है। इस भांति मेरा यथार्थ ज्ञान हो जाने के पश्चात मुझ श्री पुरूषोत्तम में ही वह प्रवेश करता है। सेवाफल में भी श्रीमदाचार्यचरण ने सेवा के फल बताए हैं जिनमें श्री पुरूषोत्तम के साथ सायुज्य कहा गया है। वहाँ सेवा के तीन फल बताए गए हैं – अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य और वैकुंठादि में सेवोपयोगी देह।

अथवा मूल श्लोक में ''ज्ञात्वा विशते'' पद है। उसका पदच्छेद ''ज्ञात्वाऽऽविशते'' – करने पर अर्थ होता है कि मुझ श्री पुरूषोत्तम का ज्ञान प्राप्त करने पर मेरे आवेश वाला होता है। इस प्रकार श्री शुकदेव में श्री पुरूषोत्तम का आवेश हुआ होने से श्री भागवत के श्लोक 10/1/14 के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में श्रीमदाचार्यचरण ने उनको ''सभगवान्'' अर्थात भगवान के आवेश वाला कहा है। अत: ब्रह्मभूत शुकदेव जी द्वारा भी श्री पुरूषोत्तम की भक्ति से उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने से श्री पुरूषोत्तम का उनमें आवेश हुआ अर्थात उन्होंने श्री पुरूषोत्तम की लीला में प्रवेश किया । इसलिए ही ''शुक भावना से श्री गोकुल में रहते हैं'' – ऐसा श्री भागवत के श्लोक 10/26/16 के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में कहा गया है। श्री शुक द्वारा गंगा तट पर परीक्षित को भागवत सुनाए जाते रहने के बावजूद ऐसा कहकर यह दर्शाया है कि अक्षरमार्ग से भगवन्मार्ग अलग है और भगवन्मार्ग में प्रमाण और प्रमेय भी भगवान ही हैं।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के 3/2/11, 3/3/27, 3/3/29 तथा 3/3/33 पर अणुभाष्य में तथा श्री भागवत के श्लोक 1/2/20 और 11/2/42 के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में की गई है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यापाश्रय: ।।
मत्प्रसादाद् अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। 56।।

अन्वय :

च – और; अव्यय ।

मद्व्यापाश्रय: – मुझ में परायण हुआ, मेरे आश्रय वाला; विशेषण,वि.'नर:''मयि व्यपाश्रय: यस्य इति'' बहु.

सर्वकर्माणि – सम्पूर्ण कर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु.

सदा – सदैव; अव्यय

कुर्वाण: – करता हुआ; व.कृ.विशेषण,वि. 'नर:'

अपि – भी; अव्यय

मत्प्रसादात् – मेरी कृपा से ; नाम, पं.ए.व.पु. ।

शाश्वतम् – अविनाशी ,अखिल; विशेषण,वि.'पदम्'

अव्ययम् – अनंत; विशेषण,वि.'पदम्'

पदम् – पद को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'पद'

अवाप्नोति – प्राप्त होता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.'अव+आप्' 5गण, परस्मै

श्लोक : मेरा आश्रय रखकर सदा सभी कर्म करने वाला भी मेरे प्रसाद से शाश्वत अव्यय पद प्राप्त करता है।

विवेचन : कर्म में कर्तृत्व का अभिमान तथा उसके फल की आकांक्षा रखे बिना मात्र मुझ भगवान का ही आश्रय रखकर अर्थात ''अंतर्यामी भगवान ही प्रेरणा करते हैं, उनकी इच्छा से किया हुआ कर्म बंधन नहीं होता'' – इस प्रकार मुझ भगवान का ही आश्रय रख कर जो भगवन्मार्गीय पुरूष स्वकीय धर्मरूप लौकिक – वैदिक सभी कर्म करता है वह भी मेरी कृपा से अक्षर ब्रह्म रूपी नित्य अव्यय पद प्राप्त करता है। यहाँ मूल श्लोक में ''अवाप्नोति'' शब्द है। उसमें ''अव'' उपसर्ग है। उसका भावार्थ यह है कि भक्ति से श्री पुरूषोत्तम का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने पर तो श्री पुरूषोत्तम का सायुज्य प्राप्त होता है परंतु वैसा न करके मात्र मेरा आश्रय रख कर जो कर्म करता है उसे अक्षर ब्रह्मरूपी अव्यय शाश्वत पद प्राप्त होता है।

चेतसा सर्व कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः ।।
बुद्धियोगम् उपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। 57।।

अन्वय :

अर्जुन – हे अर्जुन; सम्बोधन ।

त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मद्'

सर्वकर्माणि – सभी कर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.नपु. 'सर्वकर्मन्'

चेतसा – चित्त से, मन से; नाम, तृ.ए.व.नपु. ।

मयि – मुझ में; सर्वनाम,स.ए.व.'अस्मद्'

सन्न्यस्य – छोड़ कर, अर्पण करके; विधेय कृदन्त

मत्परः – मेरे परायण होकर; विशेषण,वि.'नरः' ''अहम् एव परः यस्य इति''बहु.

बुद्धियोगम् – बुद्धियोग को, निष्काम कर्म योग को; नाम, द्वि.ए.व.पु.

उपाश्रित्य – आश्रय करके; विधेय कृदन्त ।

सततम् – सदैव; अव्यय

मच्चित्तः – मुझ में चित्त वाला; विशेषण,वि.'त्वम्'

भव – हो; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व.'भू'1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : चित्त से सभी कर्मों का मुझ में अर्पण करके, मेरे परायण होकर, बुद्धि योग का आश्रय करके, सदा मुझ में चित्त रखने वाला हो।

विवेचन : अतः तू भी योग और भक्तियुक्त चित्त से साक्षात मुख्य कर्ता मुझ में सभी कर्मों का अर्पण करके, मेरे परायण होकर अर्थात ''मैं कर्ता नहीं हूँ बल्कि मेरा अंतर्यामी मुख्य कर्ता है; वही सब करता है, मैं तो उसके अधीन रहकर जैसे वह प्रेरित करता है वैसे करता हूँ'' – इस भाव से मेरे परायण रहकर अथवा मेरी आज्ञा के अनुसार आचरण करने से मेरे परायण होकर सांख्य और योग का एकार्थ रूप जो बुद्धि योग कहा गया है, उसका अवलंबन करके निरंतर मुझ में चित्त रखने वाला हो ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।।
अथ चेत् त्वम् अहङ्कारात् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ।। 58।।

अन्वय :

त्वम् – तू; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'युष्मत्' ।

मच्चित्तः – मुझ में चित्त वाला; विशेषण,वि.'नरः' ।

मत्प्रसादात् – मेरी कृपा से; नाम, पं.ए.व.पु. ।

सर्वदुर्गाणि – सब दुर्गों को, सब विघ्नों को; नाम, द्वि.ब.व. नपु.

तरिष्यसि – तरेगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'तृ+तर्' 1 गण, परस्मै

अथ चेत् – और यदि; अव्यय

अहङ्कारात् – अहंकार से; नाम, पं.ए.व.पु. ।

न – नहीं; अव्यय

श्रोष्यसि – सुनेगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व.'श्रु' 5 गण

विनङ्क्ष्यसि – विनाश को प्राप्त होगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'वि+नश्' 4 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मुझ में चित्त वाला (होकर) तू सभी संकटों से मेरे प्रसाद से तर जाएगा परंतु अहंकार के कारण तू (मेरी बात) नहीं सुनेगा तो विनाश को प्राप्त होगा ।

विवेचन : भगवान में चित्त रखने से क्या होगा – यह बताते हैं। मुझ में तू चित्त रखेगा तो सभी संकटों से तर जाएगा परंतु ''कर्म करने से उनका फल अवश्य भोगना ही पड़ेगा इसलिए कर्म करना उचित नहीं है'' – ऐसा विचार कर अहंकार से मेरे इस उपदेश को नहीं सुनेगा तो तेरा प्राकृत जीव की भांति नाश होगा ।

यद् अहङ्कारम् आश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।। 59।।

अन्वय :

च – और; अव्यय

यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.

अहङ्कारम् – अहंकार को; नाम , द्वि.ए.व.पु. ।

आश्रित्य – आश्रय करके; विधेय कृदन्त

इति – ऐसा; अव्यय

मन्यसे – मानता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व.'मन्' 4गण, आत्मने

न – नहीं; अव्यय।

योत्स्ये – (मैं) लड़ूँगा; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व.'युध्' 4गण, आत्मने

एषः – यह; सर्वनाम, प्र.ए.व.'एतद्' पु. ।

ते – तेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.'युष्मत्'

व्यवसायः – निश्चय; नाम, प्र.ए.व.पु.

मिथ्या – मिथ्या, व्यर्थ है; अव्यय

यतः – कारण कि; अव्यय

प्रकृतिः – प्रकृति; नाम, प्र.ए.व.स्त्री.

त्वाम् – तुझ को; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'युष्मत्'

नियोक्ष्यति – (युद्ध में)लगा देगी; क्रि.भ.का.तृ.पु.ए.व.'नि+युज्' 7गण, परस्मै

श्लोकार्थ : अहंकार का आश्रय करके तू यदि यह मानता है कि ''मैं युद्ध नहीं करूंगा'' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है क्योंकि(क्षात्र) प्रकृति तुझे युद्ध में लगा देगी।

विवेचन : ''मैं युद्ध नहीं करूंगा'' – तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। क्योंकि मेरी आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाली गौण स्वभाव रूप प्रकृति तेरी इच्छा के विरूद्ध तुझे युद्ध में प्रवृत्त करेगी।

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।।
कर्तुं नेच्छसि यन् मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।60।।

अन्वय :

च – और; अव्यय

कौन्तेय – हे अर्जुन; सम्बोधन

यत् – जो; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.

मोहात् – मोह से; नाम, पं.ए.व.पु.

न – नहीं; अव्यय

कर्तुम् – करने को; हेत्वर्थ कृदन्त

इच्छसि – चाहता है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व.''इष्(इच्छ्)'' 1 गण, परस्मै

तत् – वह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.'तत्' ।

अपि – भी; अव्यय

स्वेन – अपने; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.'स्व'।

स्वभावजेन – स्वभाव से उत्पन्न हुआ कर्म; विशेषण,वि.'कर्मणा'

कर्मणा – कर्म से; नाम, तृ.ए.व.नपु.।

निबद्धः – बंधा हुआ; भू.कृ.विशेषण,वि.'त्वम्'

अवशः – परवश; परतंत्र; विशेषण,वि. 'त्वम्'

करिष्यसि – करेगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8गण,परस्मै

श्लोकार्थ : हे कौन्तेय! स्वभाव से उत्पन्न हुए अपने कर्म से बंधा हुआ तू मोह के कारण जो(युद्ध) नहीं करना चाहता उसको भी(अपनी क्षात्र-प्रवृत्ति के)परवश होकर करेगा ।

विवेचन : पिछल श्लोक(59) में कहे गए अर्थ की ही उत्पत्ति कहते हैं।

प्रकृति से उत्पन्न हुए, स्वभाव से उत्पन्न कर्म से तू बंधा हुआ होने से तेरी इच्छा हो या न हो, प्रकृति के परवश होकर तुझे युद्ध करना ही पड़ेगा। मोह के कारण युद्ध न करने की तेरी इच्छा के बावजूद भी प्रकृति के परवश होकर तू युद्ध करेगा ही।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद् देशे अर्जुन ! तिष्ठति ।।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ।। 61।।

अन्वय :

यत: - कारण कि ; अव्यय ।

अर्जुन - हे अर्जुन ; सम्बोधन ।

यंत्रारूढ़ानि - यंत्र पर आरूढ़ ; विशेषण,वि.'सर्वभूतानि'

सर्वभूतानि - सब प्राणियों को ; नाम, द्वि.ब.व.नपु. ।

ईश्वर:- ईश्वर, नाम, प्र.ए.व.पु. 'ईश्वर'

मायया - माया से ; नाम, तृ.ए.व. स्त्री. 'माया'।

भ्रामयन् - भ्रमण कराते हुए ; व.कृदंत, विशेषण, वि. 'ईश्वर'

सर्वभूतानाम् - सब प्राणियों के ; नाम, ष.ब.व.नपु.

हृद्देशे - हृदय प्रदेश में ; नाम, स.ए.व.पु. ''हृत् एव देश: इति'' कर्मधारय

तिष्ठति - रहता है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.स्था (तिष्ठ्)1 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे अर्जुन! यंत्र के ऊपर आरूढ़ सब प्राणियों को माया से भ्रमण कराते हुए ईश्वर सब प्राणियों के हृदय प्रदेश में निवास करता है ।

विवेचन : भगवान कहते हैं कि प्रकृति भी मेरे अधीन रहकर मेरी इच्छा से ही अनिच्छुक प्राणियों को कर्म में प्रवृत्त करती है। अत: प्राकृत प्राणियों के नियंता के रूप में मैं ही सब प्राणियों को उनके प्राकृत कर्मों के अनुसार प्रकृति के अधीन रख कर आचरण कराता हूँ। सब का नियंता रूप ईश्वर वासुदेव मैं ही अपनी लीला के लिए उच्च और निम्न (योनियों में) सृजन कर, प्रकृति के साथ संसृष्ट (सम्बद्ध) ब्रह्मा से तृण पर्यंत सभी प्राणियों के हृदय प्रदेश में रहता हूँ। मैं सबके हृदय में अंतर्यामी रूप से निवास करने के बावजूद निर्लिप्त हूँ - यह बात स्पष्ट करने के लिए ''ईश्वर'' पद का प्रयोग किया गया है। कारण, कि मेरे ईश्वर होने से ही उपाधि युक्त स्थान, प्रदेश में रहकर भी मुझे उपाधि का स्पर्श नहीं होता। वहाँ रहकर मैं सब प्राणियों को यंत्र पर आरूढ़ की भांति माया से भ्रमण करता हूँ।

मैं सब प्राणियों को मेरी इच्छा के अनुसार कर्म करने के लिए प्रेरित करता हूँ - यही प्राणियों का भ्रमण। यहाँ प्रत्येक प्राणी के देह, इंद्रिय आदि यंत्र

हैं। प्रत्येक प्राणी में रहे हुए गुणों के अनुसार उनकी प्रवृत्ति कराता हुआ मैं उनके हृदय में रहता हूँ। जैसे सूत्रधार काष्ठ - यंत्र पर आरूढ़ कृत्रिम प्राणियों को घुमाता है वैसे मैं शरीर रूपी यंत्र पर आरूढ़ सब प्राणियों को माया से भ्रमण कराता हुआ उनके हृदय में निवास करता हूँ।

इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के सूत्र1/2/6 और 1/3/25 के संदर्भ में अणुभाष्य में की गई है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!।।
तत्प्रसादात् परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। 62।।

अन्वय :

भारत - हे अर्जुन! सम्बोधन।

सर्वभावेन - सम्पूर्ण भाव से ; नाम, तृ.ए.व.पु.

तम् - उसको (ईश्वर की) ; द्वि.ए.व. 'तत्' पु. ।

एव - ही, मात्र, अव्यय

शरणम् - शरण में ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'शरण'

गच्छ - जा ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'गम् (गच्छ्)' 1 गण, परस्मै

तत्प्रसादात् - उसकी कृपा से ; नाम,पं.ए.व.पु. ''तस्य प्रसाद:'' तत्पु.

पराम् - श्रेष्ठ ; विशेषण, वि. 'शान्तिम्'।

शान्तिम् - शांति को ; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.

शाश्वतम् - अखिल, सनातन ; विशेषण, वि. 'स्थानम्'।

स्थानम् - स्थान में ; नाम, द्वि.ए.व.नपु.

प्राप्स्यसि - प्राप्त होगा ; क्रि. भ.का.द्वि.पु.ए.व. 'प्र + आप्' 5 गण

श्लोकार्थ : हे भारत! सर्व भाव से उसकी (ईश्वर) ही शरण जा। उसके प्रसाद से तू परा शान्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त करेगा।

विवेचन : इस प्रकार भगवान प्राणी मात्र को प्रेरित करने वाले होने से सर्व भाव से सर्व नियंता, सर्वेश्वर, शरण में जाने योग्य भगवान की ही शरण में जा।

ऐसा नहीं करने पर भी मेरे द्वारा प्रेरित प्रकृति तुझे युद्ध में प्रेरित करेगी ही। अतः प्रकृति के अधीन होकर युद्ध करने के बजाए मेरी आज्ञा से युद्ध करना उत्तम है। ऐसा करने से मेरी कृपा से तुझे परा शान्ति और अक्षर ब्रह्मरूपी शाश्वत स्थान प्राप्त होगा। अतः मेरी आज्ञा से स्वधर्म का आचरण करना उत्तम है। ऐसा करने से मेरे भक्त को बंधन नहीं होता।

इति ते ज्ञानम् आख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।।
विमृश्यैतद् अशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। 63।।

अन्वय :

इति – यह ; अव्यय।
गुह्यात् – गुह्य से ; विशेषण, वि. 'ज्ञानात्'
गुह्यतरम् ज्ञानम – अधिक गुढ़ ज्ञान ; नाम, प्र.ए.व.नपु.।
मया – मेरे द्वारा ; सर्वनाम, तृ.ए.व. 'अस्मत्'
ते – तुझे ; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'
आख्यातम् – कहा ; भू.कृ.विशेषण, वि. 'ज्ञानम्'।
एतद् – यह ; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.
अशेषेण – पूरी तरह से ; नाम, तृ.ए.व.पु. 'अशेष'।
विमृश्य – विचार कर ; विधेय कृदंत, वि + मृश 6 गण
यथा – जैसे ; अव्यय।
इच्छसि – चाहता है ; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व. 'इष्' (इच्छ्)
तथा – वैसा ;
कुरु–कर ; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8 गण परस्मै

श्लोकार्थ : इस प्रकार गुह्य से भी गुह्य ज्ञान मैंने तुमसे कह दिया। इस पर सम्पूर्णतः विचारकर जैसे चाहता है वैसे कर।

विवेचन : अब सम्पूर्ण गीता के शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हैं।

गुह्य से भी गुह्य अर्थात 'अतिगोप्य' यह सर्व शास्त्रों के ज्ञान का सार रूप ज्ञान, सर्व वेदान्त के उत्तम सिद्धान्त का सार मैंने तुमसे कहा। इसका समग्रतः विचार कर जैसे चाहता है वैसे कर।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। 64।।

अन्वय :

सर्वगुह्यतमम् – सबसे गुह्य ; विशेषण, वि. 'वचः'
मे – मेरे ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
परमम् – श्रेष्ठ, रहस्ययुक्त ; विशेषण, वि. वचः
वचः – वचन ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. 'वचस्'।
भूयः – फिर से ; अव्यय।
शृणु – सुन ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'शृ' 5 गण
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.' अस्मत्' ।
दृढम् – दृढ़; विशेषण,वि.' हितम्'
इष्टः – प्रिय ,चाहने योग्य; भू.कृ.विशेषण,वि.'त्वम्'
असि – है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व.' अस्' 2गण
ततः – इसलिए; अव्यय
इति – यह; अव्यय
हितम् – हित ,हितरूप , हितकर; विशेषण,वि.'वचः'
ते – तेरे लिए; सर्वनाम, च.ए.व.'युष्मत्'
वक्ष्यामि – कहूँगा; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व.'वच्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सब से गुह्यतम मेरे परम वचन फिर से सुन। तू मुझे अतिशय प्रिय है अतः तेरे हित के लिए कहता हूं।

विवेचन : सर्व शास्त्र का विचार करके शास्त्र के अर्थ को जानना अति कठिन होने से भगवान स्वयं ही निरतिशय कृपा करके अर्जुन का और उसके माध्यम

से सभी लोगों का उद्धार करने की इच्छा से स्वयं ही शास्त्र का निश्चितार्थ कहते हैं। तू मुझे अतिप्रिय है अत: तेरा हित करने वाले परम गुह्य वचन कहता हूँ। इस प्रकार अर्जुन को यह उत्तम उपदेश कहने का प्रयोजन कहा गया है और आगे के 65-66 श्लोक में वह हितकारी(परम गुह्य)उपदेश कहते हैं। यहाँ ''फिर से'' और ''सर्व गुह्यतम'' शब्दों का प्रयोग यह समझाने के लिए किया गया है कि भगवान स्वयं पुरुषोत्तम हैं - यह पूर्व में अर्जुन को बता दिए जाने से ऐसा संदेह करना उचित नहीं है कि भगवान मनुष्य (अर्जुन के सारथी बने होने के कारण) ही हैं और पुरुषोत्तम तो अन्य ही कोई अंतर्यामी निर्गुण होगा। क्योंकि भगवान ने पिछले श्लोक 61-62 से उसका (ईश्वर का) भजन करने का उपदेश किया है।

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।।
मामेवैश्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। 65।।

अन्वय :

मन्मना - मुझ में मन वाला ; विशेषण, वि. 'त्वम्' ''मयि मन: यस्य इति'' बहु.
भव - हो ; क्रि. आज्ञार्थ द्वि.पु.ए.व. 'भू' 1 गण
मद्भक्त:- मेरा, मित्र, मेरी भक्तिवाला; विशेषण, वि. 'त्वम्'
भव - हो ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'भू' 1 गण
मद्याजी - मेरा यजन करने वाला ; विशेषण, वि. 'त्वम्'
भव - हो ; क्रि. आज्ञार्थ, द्वि.ए.व.पु. 'भू' 1 गण
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'अस्मत्'
नमस्कुरू - नमस्कार कर; क्रि.आज्ञार्थ, द्वि.पु.ए.व. 'कृ' 8गण, परस्मै
एवम् - ऐसा करने से ।
माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'अस्मत्'
एव - ही,मात्र; अव्यय
एष्यसि - प्राप्त होगा; क्रि.भ.का.द्वि.पु.ए.व.'इ' 2गण, परस्मै

ते - तेरे लिए; सर्वनाम, च.ए.व.'युष्मत्'
सत्यम् - सत्य को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.
प्रतिजाने - प्रतिज्ञा करता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'प्रति+ज्ञा' 9गण, आत्मने
यत: - कारण कि; अव्यय
त्वम् - तू; सर्वनाम, प्र.ए.व.'युष्मद्'
मे - मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.'अस्मत्'
प्रिय: - विशेषण,वि.'त्वम्'
असि - है; क्रि.व.का.द्वि.पु.ए.व.'अस्' 2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : मुझ में मन रखने वाला हो, मेरा भक्त हो, मुझे नमस्कार कर। तू मुझे अति प्रिय है अत: तुझ से सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मुझे ही प्राप्त होगा ।

विवेचन : हे पार्थ ! सर्व वेदांतों से वेद्य, स्वकीय भक्तों के प्रति वात्सल्य का सागर रूप, तेरा सारथी बना हुआ मैं भगवान हूँ; उसी(मुझ)में मन रख, मेरी ही भक्ति कर, मेरा ही यजन कर, मुझे ही नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त करेगा। मूल श्लोक में ''मामेव'' में जो 'एव=ही' शब्द है उसका प्रत्येक के साथ संबंध है। 'एव=ही' शब्द श्रीकृष्ण के अतिरिक्त सभी देवों के भजन का निवारण करता है। अत: ''मेरा ही भजन कर; अन्य किसी देव का नहीं'' - ऐसा अर्थ होता है। ऐसा करने से मुझे ही प्राप्त होगा। तू मुझे अत्यंत प्रिय होने से तेरा मार्ग निर्विघ्न होगा इसलिए ही तुझे इस सत्य मुख्य भक्तिमार्ग का उपदेश करता हूँ ।

इस श्लोक की व्याख्या श्री भागवत के श्लोक 11/2/34 के संदर्भ में सुबोधिनी में की गई है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज ।।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ।। 66।।

अन्वय :

सर्वधर्मान् - सब धर्मों को; नाम, द्वि.ब.व.पु. ।

परित्यज्य - छोड़कर; विधेय कृदन्त

एकम् - एक को ही, अद्वितीय; विशेषण, वि. 'माम्'

माम् - मेरी; सर्वनाम, द्वि.ए.व.' अस्मत्'

शरणम्- शरण में; नाम, द्वि.ए.व.नपु.' शरण' ।

व्रज - जा, प्राप्त हो; क्रि.आज्ञार्थ,द्वि.पु.ए.व.' व्रज्' 1गण, परस्मै

अहम् - मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.' अस्मत्' ।

त्वा - त्वाम् - तुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व.' युष्मत्'

सर्वपापेभ्यः - सभी पापों से; नाम, पं.ब.व.पु.

मोक्षयिष्यामि - मुक्त करूंगा; क्रि.भ.का.कारक प्र.पु.ए.व.' मुच्' 1गण, परस्मै

मा - नहीं; अव्यय ।

शुचः - शोक कर; क्रि.भू.का.द्वि.पु.ए.व.' शुच्' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : सभी धर्मों का परित्याग कर मुझ एक की ही शरण आ जा। मैं तेरा सब पापों से मोक्ष करूंगा। शोक मत कर।

विवेचन : पिछले श्लोक में भगवान ने अर्जुन को अपने(भगवान में)में ही मन रखने, अपना ही भजन करने आदि का उपदेश किया है। यह किस प्रकार सिद्ध हो- ऐसी शंका होने पर, सिद्ध करने का प्रकार कहते हैं। सर्व धर्मों का परित्याग कर मुझ एक की ही शरण में आ। यहाँ सभी धर्मों का परित्याग कर भगवान की ही शरण जाने के उपदेश का तात्पर्य भगवच्छरण और शरण के अनुकूल धर्मों का त्याग नहीं बल्कि शरण के विरोधी सभी धर्मों के त्याग का उपदेश है। अतः 'सर्व' शब्द का अर्थ सभी विरोधी धर्म हैं। ऐसे(सर्व)धर्मों का त्याग कर भगवान की शरण जाना - अर्थात शरण के अनुकूल, पिछले 65 वें श्लोक में कहे गए, धर्मानुसार आचरण करना। यदि ऐसा अर्थ न लें और शरण के अनुकूल धर्मों का भी 'सर्व' शब्द में समावेश मानें तो उनके (शरण के

अनुकूल धर्म) भी त्याग का उपदेश मानना पड़ता है जिससे इस श्लोक की पिछले 65 वें श्लोक से संगति नहीं रहती। धर्मी - भगवान का आश्रय होने पर धर्मों का आचरण करना उचित नहीं लगता ।

''मुझ में ही मन रख'' - इस अध्याय 12/8 में भगवान में ही मन रखने का उपदेश किया गया है। वहाँ 'एव-ही' शब्द होने से अन्य देवों के भजन का निषेध किया गया है। अतः यहाँ भी अन्य देवों के भजन रूप सर्वधर्म का त्याग कहा है। अर्जुन मर्यादामार्गीय, अन्य देव का भजन करने वाला, था। उसको पुष्टि में प्रवेश कराने के लिए अन्य देव के भजनरूप धर्म का त्याग करने का उपदेश किया गया है। ऐसा करने पर उसको पाप की संभावना है इसलिए भगवान अपने पुष्टिपुरूषोत्तमत्व का आर्विभाव करके कहते हैं कि - ''मैं तेरा सर्व पापों से मोक्ष करूंगा''। यहाँ मूल श्लोक में 'मोचयिष्यामि' न कहकर 'मोक्षयिष्यामि' कहकर यह समझाया गया है कि सकल धर्म की मर्यादा में जिसका चित्त लगा हुआ है उस अर्जुन का, अपने आश्रितजनों का पोषण करने वाले भगवान ने, निरतिशय अनुग्रह रूप मार्ग में स्वीकार करके, उसको अन्य देव के भजन से मुक्त किया है।

पिछले श्लोक में तथा इस श्लोक में किया गया उपदेश उत्तमोत्तम है। यह श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता का साररूप है। भगवान ने यहाँ तक अर्जुन को उपदेश किया है। यहाँ से पाँच श्लोक (67-71) तक भगवान उपदेश की उत्तमता कहते हैं, फिर एक श्लोक (72) से अर्जुन को यह पूछते हैं कि उसका मोह नष्ट हुआ या नहीं और उसका अर्जुन एक श्लोक से (73) उत्तर देते हैं। तत्पश्चात पाँच श्लोक से (74-78) संजय उपसंहार करते हैं। वस्तुतः भगवान द्वारा अर्जुन को किए गए उत्तम उपदेश की इस श्लोक (66) से समाप्ति होती है। अतः इस श्लोक में किया गया उपदेश भगवद्गीता का सार रूप है।

इस श्लोक की व्याख्या की भागवत् के श्लोक 10/36/22 तथा 11/2/34 के संदर्भ में श्री सुबोधिनी में की गई है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।। 67।।

अन्वयः

ते-तुझे, तुझको ; सर्वनाम, च.ए.व. 'युष्मत्'।

इदम - यह ; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.

कदाचन - कभी भी ; अव्यय।

न - नहीं ; अव्यय।

अतपस्काय - अतपस्वी, जिनका अन्तः करण तप से शुद्ध नहीं हुआ है, उनको; विशेषण, वि. 'नराय'

वाच्यम् - कहना चाहिए ; विधेय कर्मणि, कृ.वि. 'इदम्'।

च न - और नहीं ; अव्यय।

अभक्ताय - अभक्त, जो भक्त नहीं हैं उनको ; विशेषण, वि. 'नराय'

च न - और नहीं ; अव्यय

अशुश्रूषवे - जो सुनना नहीं चाहता ; विशेषण, वि. 'नराय'।

वाच्यम् - कहना चाहिए ; विधेय कर्मणि, कृ.वि. 'इदम्'

च - और ; अव्यय।

यः - जो ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.।

माम् - मुझे; सर्वनाम, द्वि.ए.व. 'अस्मत्'।

अभ्यसूयति - द्वेष करता है, निंदा करता है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अभि+असूय्' 1गण, परस्मै

तस्मै - उसके सामने ।

न - नहीं करना चाहिए

श्लोकार्थ : गीता का यह उपदेश तुझे कभी भी तप न करने वाले को, भक्ति रहित को, सुनने की इच्छा न रखने वाले को तथा मुझ से द्वेष करने वाले को नहीं करना चाहिए ।

विवेचन : इस प्रकार गीता का संपूर्ण शास्त्रार्थ कहकर अब संप्रदाय की प्रवृत्ति के लिए नियमन करते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि शास्त्र के इस अर्थ का कौन-कौन अधिकारी नहीं है। तप नहीं करने वाले अर्थात अपने आचरण से हीन, मेरी भक्ति से रहित, इस शास्त्रार्थ को सुनने की इच्छा न रखने वाले और मुझ पुरूषोत्तम पर दोषारोपण कर मुझ से असूया करने वाले को तुझे यह शास्त्रार्थ कदापि नहीं कहना चाहिए ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। 68।।

अन्वय :

यः - जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.'यत्' ।

मयि - मुझ में; सर्वनाम, स.ए.व.'अस्मत्' ।

पराम् - परा, श्रेष्ठ; विशेषण,वि.'भक्तिम्'

भक्तिम् - भक्ति को, सेवा और प्रेम; नाम, द्वि.ए.व.स्त्री.'भक्ति' ।

कृत्वा - करके; विधेय कृदन्त

इमम् - यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.

परमम् गुह्यम् - परम गूढ़; विशेषण,वि.'ज्ञानम्'

मद्भक्तेषु - मेरे भक्तों में; नाम, स.ब.व.पु.'मद्भक्त'

अभिधास्यति - प्रदान करेगा,देगा, कहेगा; क्रि.भ.का.तृ.पु.ए.व. 'अभि+धा' 3 गण, परस्मै

सः - वह; सर्वनाम, प्र.ए.व.'तत्' ।

असंशयः - निस्संदेह; नाम, प्र.ए.व.पु.'असंशय'

माम् - मुझको; सर्वनाम, द्वि.ए.व.'अस्मत्'

एव - ही,मात्र; अव्यय

एष्यति - प्राप्त करेगा; क्रि.भ.का.तृ.पु.ए.व.'इ'2गण, परस्मै

श्लोकार्थ : जो इस परम गुह्य(शास्त्र के अर्थ में)को मेरे भक्तों को कहेगा वह मुझ में परा भक्ति प्राप्त कर मुझको ही निःसंशय प्राप्त करेगा ।

विवेचन : मात्र मेरे भक्त ही इस प्रकार से दोष रहित हैं अतः मेरे भक्तों को ही यह शास्त्रार्थ कहना उचित है। उनको यह शास्त्रार्थ कहने वाले को क्या फल प्राप्त होता है वह यहाँ बताया गया है।

न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः ।।
भविता न च मे तस्माद् अन्यः प्रियतरो भुवि ।। 69।।

अन्वय :

च न – और नही; अव्यय
तस्मात् – इसलिए, भक्तिभाव से; सर्वनाम, पं.ए.व.विशेषण,वि.' भक्तिः'
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.' अस्मत्'
प्रियकृत्तमः – अतिशय प्रिय करने वाला; विशेषण,' भक्तिमान'
मनुष्येषु – मनुष्यों में; नाम, स.ब.व.पु.' मनुष्य' ।
कश्चित् – कोई ; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.' किम्+चित्'
अस्ति – है; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व.' अस्'
च न – और नहीं; अव्यय
तस्मात् – इसलिए, भक्ति भाव से; विशेषण,वि.' भक्तिमतः'
मे – मेरा; सर्वनाम, ष.ए.व.' अस्मत्'
प्रियतरः – अधिक प्रिय करनेवाला; विशेषण,वि.' अन्य'
भुवि – पृथ्वी पर; नाम, स.ए.व.' भू' स्त्री.
अन्यः – अन्य; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.' अन्य'
भविता – होगा; क्रि.भ.का.तृ.पु.ए.व.' भू' 1गण, परस्मै

श्लोकार्थ : भूतल पर मनुष्यों में कोई भी उससे अधिक मेरा विशेष प्रिय करने वाला नहीं है और उससे अन्य कोई और मुझे विशेष प्रिय नहीं होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।। 70।।

अन्वय :

च – और; अव्यय ।
यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.' यत्'
इमम् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.' इदम्' ।
धर्म्यम् – धर्ममय, धर्म्य; विशेषण,वि.' संवादम्'
आवयोः – हम दोनों के; सर्वनाम, ष.द्वि.व.' अस्मत्'
संवादम् – संवाद का; नाम, द्वि.ए.व.पु.' संवाद'
अध्येष्यते – अध्ययन करेगा; क्रि.भ.का.तृ.पु.ए.व. ' अधि+इ ' 2गण
तेन – उसके द्वारा; सर्वनाम, तृ.ए.व.पु.' तत्' ।
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.' अस्मत्'
ज्ञानयज्ञेन – ज्ञानरूपी यज्ञ से; नाम, तृ.ए.व.पु.
इष्टः – प्रिय, पूज्य; भू.कृ.विशेषण,वि.' अहम्+इष्' 6गण
स्याम् – होऊंगा; क्रि.विध्यर्थ, प्र.पु.ए.व.' अस्' 2गण, परस्मै
इति – इस प्रकार; अव्यय
मे – मेरी; सर्वनाम, ष.ए.व.' अस्मत्'
मतिः – बुद्धि है,(मत है); सर्वनाम, ष.ए.व.' अस्मत्'

श्लोकार्थः – जो मनुष्य हमारे इस धर्म संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊंगा– ऐसी मेरी मति है।

विवेचन : अर्थ जाने बिना मात्र पाठ करने से क्या फल होता है, यहाँ यही स्पष्ट किया है।

श्रद्धावान् अनसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।।
सोऽपि मुक्तः शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ।। 71।।

अन्वयः

यः – जो; सर्वनाम, प्र.ए.व.पु.' यत्' ।
नरः – मनुष्य; नाम, प्र.ए.व.पु.' नर'

श्रद्धावान् – **श्रद्धावाला**; विशेषण,वि. 'नरः' ।
च – **और**; अव्यय
अनसूयः – **द्वेष दोष रहित**; विशेषण,वि.'नरः'।
अपि – **भी**; अव्यय
शृणुयात् – **सुन लेगा**; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व.'शृ' 5गण, परस्मै
सः – **वह**; सर्वनाम, प्र.ए.व.'तत्' पु. ।
अपि – **भी**; अव्यय
मुक्तः – **मुक्त**; भू.कृ.विशेषण,वि.'नरः' ।
पुण्यकर्माणाम् – **उत्तम (कर्म) करने वालों के**; नाम, ष.ब.व.नपु. 'पुण्यकर्माणाम्'
शुभान् – **शुभ**; विशेषण, वि. 'नरः'
लोकान् – **लोकों को**; नाम, द्वि.ब.व.पु.'लोक'
प्राप्नुयात् – **प्राप्त होगा**; क्रि.विध्यर्थ, तृ.पु.ए.व.'प्र+आप्' 5गण, परस्मै

श्लोकार्थ : श्रद्धावान और असूयारहित जो मनुष्य इस संवाद का मात्र श्रवण करेगा वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वालों के शुभ लोक को प्राप्त होगा।

कच्चिद् एतत् श्रुतं पार्थ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।।
कच्चिद् अज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय!।। 72।।

अन्वय :
पार्थ – **हे अर्जुन!** सम्बोधन ।
कच्चित् – **क्या**; अव्यय
एतद् – **यह**; सर्वनाम, प्र.ए.व.नपु.'एतद्'
त्वया – **तुम्हारे द्वारा, तुमने**; सर्वनाम, तृ.ए.व.'युष्मत्'
एकाग्रेण – **स्थिरता से**; विशेषण,वि.'चेतसा' ।
चेतसा – **चित्त से**; नाम, तृ.ए.व.
श्रुतम् – **सुना**; भू.कृ.विशेषण,वि.'एतद्'

धनञ्जय – **हे धनञ्जय**; सम्बोधन
कच्चित् – **क्या**; अव्यय
ते – **तुम्हारा**; सर्वनाम, ष.ए.व.'युष्मत्'
अज्ञानसम्मोहः – **अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह**; नाम, प्र.ए.व.पु.
प्रनष्टः – **नाश को प्राप्त हुआ**; भू.कृ.विशेषण,वि.'अज्ञानसम्मोहः'

श्लोकार्थ : हे पार्थ! तुमने एकाग्र चित्त से इस(संवाद) का श्रवण किया क्या? हे धनंजय ! अज्ञान से उत्पन्न हुआ तुम्हारा मोह नष्ट हुआ क्या ?

विवेचन : पिछले श्लोक में कहा गया है कि जो इस संवाद का श्रवण करता है वह संसार से मुक्त होकर शुभ लोक को प्राप्त करता है। अर्जुन ने साक्षात भगवान से इस संवाद का श्रवण किया तब भी उसको उक्त फल प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि वह पुनः युद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुआ – इस प्रकार की शंका को दूर करने के लिए भगवान अर्जुन को यह प्रश्न करते हैं।

।।अर्जुन उवाच ।।

नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा त्वत्प्रसादात् मयाच्युत! ।।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। 73।।

अन्वयः
अच्युत – **हे अच्युत !**; सम्बोधन
त्वत्प्रसादात् – **आपकी कृपा से**; नाम, पं.ए.व.पु.
मम – **मेरा**; सर्वनाम, ष.ए.व.'अस्मद्'।
मोहः – **मोह, चित्त का भ्रम**; नाम, प्र.ए.व.पु.'मोह'
नष्टः – **नाश को प्राप्त**; भू.कृ.विशेषण,वि.'मोहः' ।
च – **और**; अव्यय
मया – **मेरे द्वारा**; सर्वनाम, तृ.ए.व.'अस्मत्' ।
स्मृतिः – **स्मृति**; प्र.ए.व.स्त्री.
लब्धा – **प्राप्त हो गई है**; भू.कृ.विशेषण,वि.'स्मृतिः'

गतसन्देहः – जो संशयरहित हो गया है; विशेषण,वि.'अहम्'
स्थितः – स्थित; भू.कृ.विशेषण,वि.'अहम्'
अस्मि – हूँ; क्रि.प्र.पु.ए.व.'अस्' 2गण
तव – आपके; सर्वनाम, ष.ए.व.'युष्मत्'
वचनम् – वचन को, आज्ञा को; नाम, द्वि.ए.व.नपु.'वचन'
करिष्ये – पालन करूंगा; क्रि.भ.का.प्र.पु.ए.व.'कृ' 8गण आत्मने

श्लोकार्थ : हे अच्युत! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है और मैं संदेह रहित हो गया हूँ। अतः आपके वचन(आज्ञा) का पालन करूंगा ।

विवेचन : आत्मा और अनात्मा के अविवेक रूप विपरीत ज्ञान अथवा मोह का नाश हो गया है। आपके प्रसाद से संपूर्ण तत्व ज्ञान प्राप्त हुआ। प्रकृति के कार्य अनात्म(अयथार्थ) हैं। उसमें आत्मा के अभिमान रूप मोह का नाश हो गया । चिद् और अचिद् सभी वस्तु परम पुरूषत्व रूप से ब्रह्मात्मक है, वे वैसी(अर्थात ब्रह्मात्मक)नहीं है– इस प्रकार का मतिरूप मोह दूर हो गया है। भगवदर्थ जो नित्य कर्म किए जाते हैं वे भगवान की प्राप्ति करने में उपाय भूत हैं, उनको बंधनकारी मानने रूप संपूर्ण मोह का नाश हो गया हैं। आत्मा प्राकृत स्वभावरहित केवल ज्ञाता है – यह ज्ञान और आत्मा तथा अक्षर ब्रह्म के ऐक्य का ज्ञान एवं उससे भी उत्तम अलौकिक गुणों के समूह वाले प्रभु पुरूषोत्तम हैं, उनकी प्राप्ति मात्र उनके अनुग्रह से ही होती है – और वे पुरूषोत्तम आप प्रभु वासुदेव हैं – यह संपूर्ण स्मृति रूप ज्ञान आपके प्रसाद से मुझे प्राप्त हुआ है। सांख्य के उपदेश से मेरे समग्र मोह का नाश हो गया है। योग के उपदेश से मुझे स्मृति की प्राप्ति हुई है। अतः मेरे सभी संदेह दूर हो गए हैं। अब मैं आपकी आज्ञा के अनुसार चलूँगा।

।।सञ्जय उवाच।।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च माहत्मनः ।।
संवादम् इममश्रौषम् अद्भुतं रोमहर्षणम् ।। 74।।

अन्वय :
राजन् – हे राजन्! सम्बोधन
इति – इस प्रकार; अव्यय
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मत्'
वासुदेवस्य – वासुदेव का, कृष्ण का; नाम, ष.ए.व.पु.'वासुदेव'
च – और; अव्यय
महात्मनः – महात्मा का; विशेषण,वि.'पार्थस्य'
पार्थस्य – अर्जुन का; नाम, ष.ए.व.पु.'पार्थ'
इमम् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.'इदम्'
अद्भुतम् – अद्भुत; भू.कृ.विशेषण,वि.'संवादम्'
रोमहर्षणम् – रोमांचित करने वाला; विशेषण,वि.'संवादम्'
संवादम् – संवाद; नाम, द्वि.ए.व.पु.
अश्रौषम् – श्रवण किया, सुना है; क्रि.भू.का.प्र.पु.ए.व.'श्रु' 5गण, परस्मै

श्लोकार्थ : इस प्रकार वासुदेव और महात्मा पार्थ का यह अद्भुत रोमहर्षक संवाद मैंने सुना ।

व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यम् अहं परम्।।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम्।।75।।

अन्वयः
व्यासप्रसादात् – व्यास की कृपा से; नाम, पं.ए.व.
अहम् – मैं; सर्वनाम, प्र.ए.व.'अस्मद्' ।
एतद् – यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.नपु.
परम् – श्रेष्ठ; विशेषण,वि.'योगम्'
गुह्यम् – गूढ़; विशेषण,वि.'एतद्'
योगम् – योग को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'योग'
साक्षात् – साक्षात्; विशेषण,वि.'कृष्णात्'

कथयतः - कहते हुए; व.कृ.विशेषण,वि.'कृष्णात्'
स्वयम् - स्वयं ही; विशेषण,'योगम्'
योगेश्वरात् - योगेश्वर; विशेषण,वि.'कृष्णात्'
कृष्णात् - कृष्ण से; नाम, पं.ए.व.पु.'कृष्ण'
श्रुतवान् - सुना है; भू.कृ.+वत् कर्तरी, विशेषण, वि.' अहम्'

श्लोकार्थ : यह परम गुह्य योग साक्षात् योगेश्वर श्री कृष्ण ने स्वयं कहा था, वह मैंने व्यास के प्रसाद से सुना ।

विवेचन : यह संवाद मैंने व्यास जी के प्रसाद से सुना । भगवान वासुदेव ने जैसे विश्व रूप का दर्शन कराने के लिए अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान किए थे वैसे ही व्यास जी ने मुझे दिव्य चक्षु और कर्ण प्रदान किए हैं जिससे साक्षात भगवान कृष्ण का कहा हुआ वही परम गुह्य योग मैंने सुना । अतः साक्षात श्री कृष्ण के ही वचनामृत का संजय ने श्रवण किया है। श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य के अनुसार भी भगवान के मुखारविंद से ही भगवद्गीता निःसृत हुई है। श्रीमदाचार्यचरण भी निबंध में गीता को "श्री कृष्ण वाक्यो" से ही अभिहित करते हैं।

राजन! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादम् इमम् अद्भुतम् ।।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।। 76।।

अन्वय :
राजन् - हे राजन्! सम्बोधन
केशवार्जुनयोः - केशव और अर्जुन का; नाम, ष.द्वि.व.पु.
इमम् - यह; सर्वनाम, द्वि.ए.व.पु.'इदम्'
पुण्यम् - कल्याणकारी; विशेषण,वि.'संवादम्'
च - और; अव्यय
अद्भुतम् - अद्भुत; विशेषण, वि.'संवादम्'
संवादम् - संवाद को; नाम, द्वि.ए.व.पु.'संवाद'
संस्मृत्य -याद करके; विधेय कृदन्त

मुहुर्मुहुः - बारंबार; अव्यय
हृष्यामि - हर्षित होता हूँ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व.'इष्' 4गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे राजन्! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत पवित्र संवाद का स्मरण कर-करके मैं बारंबार हर्षित होता हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपम् अत्यद्भुतं हरेः ।।
विस्मयो मे महान् राजन्! हृष्यामि च पुनः - पुनः ।।77।।

अन्वय :
राजन् - हे राजन्! सम्बोधन।
हरेः हरि के ; नाम, ष.ए.व.पु. 'हरिः'
तत् - उस ; सर्वनाम ; द्वि.ए.व.नपु. 'तत्'।
अत्यद्भुतम् - अति अद्भुत ; विशेषण, वि. 'रूपम्'
रूपम् - रूप को ; नाम, द्वि.ए.व.नपु. ।
च - भी ; अव्यय
संस्मृत्य - संस्मृत्य - पुनः - पुनः स्मरण करके ; विधेय कृदंत
मे - मेरा ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
महान् - महान् ; विशेषण, वि. 'विस्मयः'
विस्मयः - विस्मय (होता है) ; नाम, प्र.ए.व.पु.
च - और ; अव्यय
अहम् - मैं ; सर्वनाम, प्र.ए.व. 'अस्मद्'
पुनः - पुनः- बार-बार ; अव्यय
हृष्यामि - हर्षित होता हूँ ; क्रि.व.का.प्र.पु.ए.व. 'हृष्' 4 गण, परस्मै

श्लोकार्थ : हे राजन् ! श्री हरि के उस अतिशय अद्भुत रूप का स्मरण कर - करके मुझे बड़ा भारी विस्मय हो रहा है और पुनः - पुनः हर्ष हो रहा है।

विवेचन : सब धर्मों के आश्रय, विभु, निरूपम महिमा वाले, सर्वदुखहर्ता, दुष्ट संहारक, हरि, पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के परम अद्भुत, अक्षर, अनेक धर्मों के

आश्रय रूप, काल और माया से भी अगम्य निरूपम महिमा वाले, पूर्व वर्णित विश्व रूप का स्मरण कर – करके मैं अत्यंत विस्मित और हर्षित हूँ। यहाँ यह सूचित किया गया है कि दैवी जीवों को ही ऐसा हर्ष होता है, अन्य को नहीं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिर् मतिर् मम।। 78।।

अन्वयः

यत्र – जहां ; अव्यय
योगेश्वरः– योगेश्वर ; विशेषण, वि. 'कृष्णः'
कृष्णः– कृष्ण ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
अस्ति–है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
च – और ; अव्यय।
यत्र – जहां ; अव्यय
धनुर्धरः – धनुर्धारी ; विशेषण, वि. 'पार्थः'।
पार्थः – पार्थ ; प्र.ए.व.पु. 'पार्थ'
अस्ति – है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'
तत्र – वहाँ, अव्यय
श्रीः – लक्ष्मी ; नाम, प्र.ए.व.पु.।
विजयः – विजय ; नाम, प्र.ए.व.पु.
भूतिः – विभूति, वैभव; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.।
च – और ; अव्यय
ध्रुवा – अचल ; विशेषण, वि. 'नीतिः'।
नीतिः – नीति ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.
अस्ति – है ; क्रि.व.का.तृ.पु.ए.व. 'अस्'।
इति – ऐसा
मम – मेरी ; सर्वनाम, ष.ए.व. 'अस्मत्'।
मतिः – मति, मान्यता ; नाम, प्र.ए.व. स्त्री.

अस्ति – है ; क्रि.व.काल, तृ.पु.ए.व. 'अस्'

श्लोकार्थ : जहां योगेश्वर कृष्ण हैं और जहां धनुर्धर पार्थ हैं वहां श्री, विजय, भूति (वैभव) और अचल नीति है – ऐसी मेरी मति है।

विवेचन : युद्ध में कौन जीतेगा – इस संबंध में मुझे कोई संशय नहीं है। जहां श्री कृष्ण और धनुर्धर पार्थ हैं वहां ही विजय होनी है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे कृष्णार्जुनसंवादे ''मोक्ष – सन्न्यासयोगो'' नाम अष्टादशोऽध्यायः।। 18।।